DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180118

UNIVERSAL
LIBRARY

Osmania University Library

Call No. 1184 M67N Accession No. PGL 2778

Author मिश्र, गोविन्द

Title दिनकर

This book should be returned on or before the date last marked below.

निबन्ध-निचय

[विश्वविद्यालय-स्तर के मौलिक निबन्ध]

सम्पादक

ब्रजकिशोर मिश्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी बुकडिपो

अमीनाबाद रोड :: फतेहगंज, लखनऊ

१९६१

मूल्य सात रुपये

इस पुस्तक में प्रकाशित निबन्धों का सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन है। प्रकाशक की अनुमति के बिना इन निबन्धों का संकलन निषिद्ध है।

मुद्रक
रामेश्वरदयाल दीक्षित
हिन्दुस्तानी आर्ट-काटेज, लखनऊ

प्राक्कथन

भाषा भावों की अनुगामिनी होती है। हमारे मन में विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म अनुभूतियाँ जाग्रत होती हैं; हम उन्हें वाणी देना चाहते हैं, व्यक्त करना चाहते हैं। यह कार्य भाषा द्वारा होता है। हमारी भाषा जितनी ही सशक्त होती है हम अपने कार्य में उतनी ही सफलता प्राप्त करते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारे पास सूक्ष्म मनोभावों को व्यक्त करने वाले जितने ही अधिक शब्द होते हैं हम उतना ही अधिक अपनी बात श्रोता तक पहुँचा सकते हैं, अतः यह बात कहने की शैली एक सुन्दर कला है। एक श्रेष्ठ वक्ता अपने श्रोताओं को अपनी इच्छानुसार भावावेश में बहा सकता है, यह उसके भाषाधिकार का सूचक है। यही कार्य लेखक को भी करना होता है, अतः भाषाधिकार उसके लिए भी आवश्यक है। जो लेखक जितने ही थोड़े तथा संगठित रूप में अपने भावों-विचारों को व्यक्त कर देता है वह उतना ही कुशल लेखक स्वीकार किया जाता है। इसी से कहा गया है—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति"—गद्य, कवियों (कृतिकारों) की कसौटी है।

हिन्दी का अधिकांश साहित्य, लगभग एक हजार वर्ष से, पद्य में ही रचा जाता रहा है। गद्य का प्रयोग कभी-कभी ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी रूपों में मिल जाता है। उसका स्वरूप बहुत ही अस्त-व्यस्त तथा विरल है। खड़ी बोली के गद्य का आरंभ अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हुआ। यह बोली भारतीय समाज के लिए कोई नयी वस्तु नहीं थी। इसका प्रयोग मेरठ, दिल्ली के आस-पास अब भी अपने मूल ग्रामीण रूप में होता है। सबसे पहले मुसलमानों ने इसको अपनाया और इसमें अरबी-फारसी के शब्दों का मिश्रण करके एक काम चलाऊ भाषा बना ली। धीरे-धीरे इसका प्रचार जनता में हो गया। अंगरेजों ने भी भारतवर्ष में आकर इसी भाषा को ग्रहण किया, इसमें पुस्तकें लिखवायीं, इसे शिक्षा का माध्यम बना दिया। इसका स्वरूप बदला; संस्कृत के शब्दों को ग्रहण करके यह साहित्य की भाषा भी बनने लगी।

सन् १८०० ई० से खड़ी बोली के ग्रन्थ लिखे जाने लगे। उस समय इसके चार प्रमुख लेखक हुए। मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। इन लोगों ने धार्मिक तथा साहित्यिक, दोनों प्रकार की रचनाएँ गद्य में कीं। इनकी भाषा यद्यपि पूर्णतया व्यवस्थित नहीं है तथापि बहुत कुछ सुधरी हुई है। इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' इन लेखकों की प्रसिद्ध गद्य-कृतियाँ हैं।

गद्य का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता रहा। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने बाइबिल का अनुवाद गद्य में प्रस्तुत किया और उसको बाँटने अथवा एक-एक दो-दो पैसे में बेचने लगे। इससे गद्य-प्रचार को बहुत सहायता मिली। इसी युग में हिन्दी समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी आरम्भ हो गया जिससे गद्य-प्रचार को और भी बल मिला।

सन् १८५७ के बाद, अंगरेजी राज्य के पूर्णतया स्थापित हो जाने पर, यद्यपि उर्दू का बल बढ़ा, किन्तु देश में नवीन विचारों का प्रवर्तन हो जाने के कारण कितने ही पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन भी होने लगा। गद्य का प्रचार तेजी से होने लगा। इस समय के दो प्रधान लेखक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द तथा राजा लक्ष्मणसिंह हैं। राजा शिवप्रसाद ने अरबी-फारसी मिश्रित भाषा का प्रयोग करके उर्दू का प्रचलन करना चाहा। यह बात हिन्दी-प्रेमी जनता को नहीं रुची। उसे राजा लक्ष्मणसिंह की वह भाषा अधिक अच्छी लगी जो उन्होंने अपने "शकुन्तला नाटक" के अनुवाद में प्रयोग की। उनकी यह भाषा शुद्ध तथा मधुर थी और उसने हिन्दी के एक सुथरे रूप का निर्माण किया।

गद्य का व्यवस्थित तथा क्रमिक प्रयोग भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से आरम्भ होता है। वास्तव में भारतेन्दु के उदय ने हिन्दी-गगन में एक नवीन प्रकाश विकीर्ण कर दिया। यद्यपि इनका जीवन-काल केवल ३५ वर्ष (१८५०-१८८५ ई०) रहा, तथापि इतने ही समय में इनके प्रयास से हिन्दी का भाण्डार प्रचुरता के साथ भर उठा, कितने ही लेखक इनके प्रयास से श्रेष्ठ साहित्य की रचना करने लगे। कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध आदि साहित्य के विविध रूप प्रस्तुत हो गये। यह युग हिन्दी को नयी चाल में ढालने वाला था, ऐसा स्वयं भारतेन्दु का विचार था।

निबन्ध-रचना का आरम्भ इसी युग से होता है। स्वयं भारतेन्दु ने निबंध-रचना का आरम्भ किया और इनके युग के अनेक लेखकों ने बड़े सुन्दर निबंध लिखे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', बालमुकुन्द गुप्त, देवीप्रसाद मुन्सिफ आदि इस युग के श्रेष्ठ लेखक थे। इन लेखकों की विशेषता इनकी सजीवता में थी। समाज, धर्म, राजनीति आदि विषयों पर ये लेखक बड़े मार्मिक, व्यंग्य-विनोद से पूर्ण निबंध लिखते थे। राष्ट्र-निर्माण, जाति-उत्थान, भाषा-प्रचार आदि इनका उद्देश्य था और इनके हृदयों में हिन्दी-हित के लिए अदम्य उत्साह था। वास्तव में शुद्ध निबंध-रचना की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था।

सन् १९०० ई० से 'सरस्वती' पत्रिका का प्रकाशन प्रयाग से आरम्भ हुआ। पहले इसके सम्पादक बाबू श्यामसुन्दर दास रहे; दो-तीन वर्ष बाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हो गये। द्विवेदी जी बड़े कड़े अनुशासक (disciplinarian) थे। भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी मौज में लिखने वाले थे अतः वे भाषा-संस्कार की ओर विशेष ध्यान नहीं देते थे। द्विवेदी जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। भाषा-औचित्य पर उन्होंने विशेष बल दिया। अशुद्ध भाषा की कटु आलोचना की, साथ ही भाषा को

समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया। नये शब्दों का निर्माण हुआ, प्रान्तीय भाषाओं से शब्द लिये गये, नये विचार तथा नये भावों को व्यक्त करने के लिए उसी के अनुरूप भाषा भी निर्मित हुई। निबंध-रचना के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति हुई। विचारपूर्ण निबंधों की रचना विशेष रूप से होने लगी। विभिन्न प्रकार की शैलियों का आरम्भ भी इसी युग में हुआ। बाबू बालमुकुन्द गुप्त इस युग में भी अपने व्यंग्य-हास्य से युक्त निबंध लिखते रहे। ये भी श्रेष्ठ विचारक तथा संतुलित बुद्धि के व्यक्ति थे। द्विवेदी जी से भाषा सम्बन्धी समस्याओं पर इनसे बड़ी रोचक झड़प भी हो जाया करती थी। पं० पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे श्रेष्ठ निबंधकार इस युग में हुए। इन्होंने हिन्दी को नवीन विचारों तथा नवीन शैलियों से युक्त निबंध प्रदान किये।

अंगरेजी तथा बँगला कविता के प्रभाव से हिन्दी क्षेत्र में छायावादी काव्य का जन्म हुआ। भाषा का एक नवीन रूप प्रस्फुटित हुआ। सूक्ष्म भावों की गहरी अभिव्यंजना की आवश्यकता हुई। भाषा में लाक्षणिकता, रहस्यात्मकता, प्रतीकात्मकता आदि की सृष्टि हुई। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी ने अपने गद्य-लेखों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया। ये निबंध बहुत-कुछ भावुकतापूर्ण शैली में लिखे गये। साथ ही कुछ लेखकों ने गद्य-गीत, गद्य-काव्य की रचना करके एक नवीन शैली का निर्माण किया। राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि के नाम ऐसे लेखकों में उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान समय में विश्वविद्यालय-क्षेत्र से निबंधों की सृष्टि विशेष रूप से हो रही है। विद्वान् अध्यापक गम्भीर, गवेषणापूर्ण निबंधों से हिन्दी-साहित्य के भाण्डार को भर रहे हैं। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पं० नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० मुंशीराम शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', डॉ० भोलाशंकर व्यास आदि अनेक विद्वान् श्रेष्ठ निबंध साहित्य की सृष्टि कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ लेखक हैं जो भावुकतापूर्ण तथा गम्भीर साहित्य की रचना कर रहे हैं। पं० परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० रघुवीर सिंह, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि के नाम इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हिन्दी का निबंध-साहित्य पर्याप्त विकसित हो रहा है। सभी प्रकार के निबंधों की रचना हो रही है। विविध विषय ग्रहण किये जा रहे हैं और भाषा-शैली का भी पर्याप्त संस्कार हो रहा है।

'निबंध' शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से होता चला आया है। बाँधने के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है। आयुर्वेद, धर्म ग्रंथों तथा व्यावहारिक जीवन में यह शब्द प्रचलित रहा। साहित्य में इसका प्रयोग जहाँ एक ओर ताड़-पत्र पर लिखे हुए पृष्ठों को एक में बाँधकर रखने के लिए हुआ वहाँ दूसरी ओर भावों तथा विचारों के संगुम्फन तथा एकत्रीकरण के लिए भी 'निबन्ध' शब्द का

व्यवहार हुआ। परन्तु अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग एक नवीन प्रकार की रचना के लिए हुआ। यह रचना 'छोटे लेख' के रूप में प्रस्तुत हुई। ऐसे लेखों की रचना, हिन्दी-साहित्य में, पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही आरम्भ हुई। जैसा हम कह चुके हैं, भारतेन्दु युग में इसका आरम्भ हुआ और पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबंधकार स्वीकार किये जाते हैं।

१६वीं शताब्दी ईस्वी में फ्रांस में एक लेखक हुआ 'मौन्तेन'। उसने सर्वप्रथम निबंध रचना की। ये रचनाएँ पूर्णतया आत्माभिव्यक्ति के लिए की गयी थीं। इनमें केवल "मुक्त मन की मौज" का आधार लिया गया था। किसी विषय का सम्यक् प्रतिपादन इनका उद्देश्य नहीं था। अंग्रेजी में अब्राहम काउले ने 'एसे' (Essay) को जन्म दिया। उनका समय १७वीं शताब्दी ईस्वी था। उनके निबंधों में भी इसी प्रकार की मुक्तता थी। इन कृतियों को देखने से प्रतीत होता है कि लेखक का उद्देश्य केवल अपने मन की भावनाओं को व्यक्त करने का प्रयास करना है। 'एसे' शब्द का अर्थ ही है 'प्रयास'। इस प्रकार केवल अपने हृदय में उठती हुई भाव-धारा का पूर्ण अथवा अपूर्ण चित्रण एक तरंगमयी शैली में कर देना ही, निबंध-रचना है।

निबंध के प्रमुख लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

१. **व्यक्तित्व-प्रधानता**—निबंध में लेखक का व्यक्तित्व ही प्रमुख होता है। वह अपने 'आत्म' की तुष्टि, अपनी रचना द्वारा इस रूप में करता है कि पूर्णतया अपनी भावनाओं के आवेश में प्रवाहित हो जाता है। निबंध में केवल उसी की भावनाओं का प्राधान्य रह जाता है। वह अपनी रुचि-अरुचि के आधार पर रचना करता है। अपनी विभिन्न वृत्तियों, हास्य, विनोद, करुणा, दार्शनिकता आदि को स्वच्छन्द-रूप में अभिव्यक्त करता है। इसमें उसके ऊपर कोई बंधन अथवा नियंत्रण नहीं होता।

२. **आत्मीयता**—आत्मीयता की भावना निबंध की दूसरी विशेषता है। अपने पाठक के अत्यधिक निकट आकर वह उससे अपनी बात कहता है। यदि इसे किसी सीमा तक 'आत्म-निवेदन' कहें तो अनुचित न होगा। वह पाठक के साथ अत्यधिक घनिष्ठता स्थापित कर लेता है और बड़ी स्वाभाविकता के साथ आडम्बरहीन भाषा-शैली में अपनी बात कहता है। इस आत्मीयता के कारण लेखक का रागात्मक सम्बन्ध पाठक के साथ स्थापित होता है। यह निबंध का आवश्यक गुण है।

३. **स्वच्छन्दता**—यह भी निबंध का आवश्यक गुण है। निबंधकार जिस विषय को चाहता है, उठा लेता है। जहाँ से चाहता है उसे आरम्भ कर देता है। इस प्रकार उसकी कृतियाँ खण्डित, अपूर्ण सी लगती हैं; किन्तु वास्तव में यह उनकी विशेषता है कि लेखक अपने मन की मौज के अनुसार अपने हृदय में उठे हुए भाव का यथातथ्य चित्रण करके, अपने हृदय का उद्घाटन कर देता है। वह किसी प्रकार की निरंकुशता का प्रदर्शन नहीं करता, केवल इतना ही प्रतीत होता है कि उसे इच्छा हुई तो अपनी बात कह चला, इच्छा हुई समाप्त कर दिया; फिर भी रचना में तारतम्य बना रहता है।

४. **निर्विषयता**—वास्तव में निबंध-रचना के लिए किसी विस्तृत विषय की आवश्यकता नहीं होती। जिस प्रकार गीत लिखने के लिए एक छोटे से मनोभाव का आधार पर्याप्त होता है उसी प्रकार निबंध लिखने के लिए भी एक छोटा सा विषय पर्याप्त होता है। थोड़ी सी बात को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करना निबंधकार की विशेषता है।

५. **संक्षिप्त**—विषय को दृष्टि में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि निबंध का आकार बहुत बड़ा हो ही नहीं सकता। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने की है कि विचारों और भावों को थोड़े में ही कह देने का प्रयास भी निबंधकार करता है। वह किसी विशेष मनःस्थिति (mood) में रचना करता है। कविता के समान, थोड़े ही समय में तथा कवित्वपूर्ण शैली में वह अपने भावों को अभिव्यक्त कर देना चाहता है। इस प्रकार निबंध-लेखक को संक्षिप्त गुण ग्रहण करना पड़ता है।

६. **शैली की विशेषता**—निबन्ध में यह अपना निज का महत्त्व रखती है। प्रायः निबन्ध-लेखक व्यंग्य, विनोद तथा चुटकियों का सहारा लेकर चलते रहे हैं। उनके कथनों में शक्तिमत्ता तथा प्रभावशालिता होती है। 'तरंगमयता' शैली का एक प्रमुख गुण है। भावना के प्रवाह में बहते हुए लिखना एक विशेषता है। इसमें कवित्वमयता, चमत्कार वृत्ति, आलंकारिकता, लाक्षणिकता, स्वच्छन्दता आदि के गुण स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं।

उपयुक्त गुण, वास्तविक निबंध के प्रमुख लक्षण हैं। हिन्दी के आरम्भिक निबंधकारों में उक्त लक्षण प्रचुरता के साथ पाये जाते हैं। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखकों में उक्त गुणों की प्रचुरता है, किन्तु आगे चलकर निबंध-रचना का रूप क्रमशः परिवर्तित होने लगा। अभी तक उसका स्वरूप भाव-प्रधान था, अब वह विषय-प्रधान हो चला।

'सरस्वती' पत्रिका ने निबंध-लेखन के प्रसार में पर्याप्त योग दिया। विभिन्न विषयों से समाविष्ट निबन्ध, जिन्हें अब 'लेख' कहना अधिक उचित होगा, उसमें प्रकाशित होने लगे। इसके पूर्व कि हम इन लेखों पर विचार करें, यह देख लेना उचित होगा कि निबन्ध तथा लेख में कौन-सा प्रधान अन्तर स्थापित हो गया? वास्तव में इन दोनों के अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। 'लेख' शब्द का अर्थ कुछ विशेष व्यापक है; जो कुछ भी लिखित रूप में उपस्थित किया जाता है वह लेख है। लेख एक क्रमबद्ध, विचारपूर्ण रचना है, जिसमें किसी विषय का सम्यक् विवेचन होता है। 'निबन्ध' के विषय में हम कह चुके हैं कि उसमें व्यक्तिगत भावनाओं का चलता हुआ मनोरंजक अभिव्यंजन मात्र होता है। इस दृष्टि से अब निबन्ध का रूप लेख ने ग्रहण कर लिया। अस्तु!

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही निबन्ध रचना में बुद्धिवाद की प्रधानता आरंभ हो गयी। भाव-प्रधान निबन्ध भी लिखे जाते रहे किन्तु विचार-प्रधान, समीक्षात्मक

तथा मनोवैज्ञानिक निबन्धों की रचना विशेष रूप से होने लगी। आचार्य द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु आदि ने इस प्रकार के निबंधों की रचना की। इनके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति तथा जीवन चरित्र सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे जाने लगे। इस समय निबन्ध का स्वरूप बहुत कुछ विकसित हो गया है। उसमें अनेक शैलियों का समावेश भी हो गया है। कथात्मकता, नाटकीयता, भावुकता, कलात्मकता आदि गुणों का समन्वय आज के निबन्ध-साहित्य में एक साथ देखा जा सकता है। ये निबन्ध अधिकतर गम्भीर, विश्लेषणात्मक तथा सोद्देश्य लिखे जाते हैं। फिर भी, भावात्मक तथा आत्मतुष्टि मात्र के लिए लिखे जाने वाले निबन्धों का सर्वथा अभाव नहीं है, वरन् इधर तो फिर उस प्रकार के निबन्धों की रचना की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। इन लेखों का प्रकाशन अधिकतर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अथवा ग्रंथों की भूमिका-रूप में होता है। इनकी भाषा व्यावहारिक तथा सर्वसाधारण के समझने योग्य होती है। वास्तव में इस युग का निबन्ध-साहित्य, लेख रूप में, उपयोगिता के दृष्टिकोण से ही प्रधानतया लिखा जाता है। इन लेखों का विभाजन निम्नलिखित श्रेणियों में किया जा सकता है :—

१. **विचार प्रधान**—बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर 'प्रसाद', डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० सम्पूर्णानन्द, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, आदि इसी श्रेणी के लेखक हैं। ये लेख विशेष रूप से विषय-प्रधान तथा विवेचनात्मक हैं। साहित्य, समाज, इतिहास आदि विषयों का सम्यक् विश्लेषण ही इन लेखों का उद्देश्य है। इनकी शैली में गम्भीरता, बुद्धिवैभव तथा व्यावहारिकता के दर्शन होते हैं।

२. **भाव-प्रधान**—राय कृष्णदास, विश्वम्भर 'मानव', दिनेशनन्दिनी चोरड्या, तारा पाण्डेय, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त आदि लेखक इस श्रेणी में आते हैं। ये लेख बहुत कुछ व्यक्ति-प्रधान हैं और निबन्ध की वास्तविक शैली के अनुरूप हैं। गद्यगीत शैली का योग भी इसी प्रभाव-प्रधान वर्ग के अन्तर्गत किया गया है। कुछ प्रतीकात्मक निबन्ध भी लिखे गये हैं। वियोगी हरि, राय कृष्णदास ऐसे लेखकों में प्रमुख हैं। इन लेखों में आरम्भिक, तरंगमयी शैली के दर्शन होते हैं। भाषा में मधुरता तथा कवित्वपूर्णता विद्यमान है। ऐसे लेख यद्यपि अधिक नहीं हैं तथापि महत्त्वपूर्ण हैं।

३. **मनोवैज्ञानिक**—अज्ञेय, मिलिन्द आदि लेखकों ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परम्परा का पालन करने का प्रयास इन लेखों में किया है। मनोवृत्तियों का विश्लेषण इन लेखों का उद्देश्य है, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नहीं है तथापि इनकी भाषा-शैली में शास्त्रीयता तथा गम्भीरता का संस्पर्श विशेष रहता है।

४. **कथात्मक तथा संस्मरणात्मक**—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, राहुल सांकृत्यायन आदि लेखक इस वर्ग

में रखे जा सकते हैं। ये लेख रोचक तथा व्यावहारिक भाषा-शैली में लिखे गये हैं। इनमें विषय के साथ-साथ व्यक्ति (लेखक) भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि उसके व्यक्तिगत अनुभवों का संयोग इन विवरणों में पग-पग पर प्राप्त होता है। कवित्वमयता भी इन लेखों में पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है; भावुकता और भावावेश दोनों के दर्शन होते हैं। यात्रा आदि से सम्बन्धित संस्मरण अत्यन्त हृदयग्राही रूप में वर्णित किये जाते हैं। आजकल इस श्रेणी के निबंधों का प्रकाशन प्रचुरता के साथ हो रहा है।

५. **हास्य-व्यंग्यात्मक**—वियोगी हरि, प्रभाकर माचवे, अन्नपूर्णानन्द आदि लेखक इस श्रेणी में आते हैं। इस वर्ग के निबंध हिन्दी में अधिक नहीं हैं; यद्यपि इनकी आवश्यकता है। इनमें व्यावहारिक, रोचक भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है। हास्य शिष्ट तथा गम्भीर है। इन निबंधों का उद्देश्य भी प्रमुख रूप से सामाजिक, राजनैतिक विकृतियों पर व्यंग्य करना है।

सामान्यतः वर्तमान युग के निबन्धों को भी हम उपर्युक्त वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

उक्त वर्गीकरण, लेखक सूची आदि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान युग निबन्धों की समृद्धि का युग है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है" (हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ५५८)। वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य है। गद्य-विकास के इस युग में निबन्ध का विषय, भाषा, शैली सम्बन्धी सर्वाङ्गीण उद्भव देख कर यह निश्चित होता है कि निबन्ध-रचना बहुत कुछ कलात्मक कौशल की सीमा को प्राप्त कर रही है। यद्यपि अभी बहुत से क्षेत्रों तक उसका प्रसार नहीं हो पाया है, तथापि उसकी प्रगति आशाप्रद है।

३५, विष्णुनगर, लखनऊ
२८ फरवरी, १९६१

—ब्रजकिशोर मिश्र

कुछ पठनीय निबन्ध-पुस्तकें

क्रम	लेखक	पुस्तक का नाम
१.	बालकृष्ण भट्ट	साहित्य-सुमन
२.	प्रतापनारायण मिश्र	निबंध-नवनीत
३.	बाल मुकुन्द गुप्त	शिवशंभु के चिट्ठे
४.	श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन
५.	महावीर प्रसाद द्विवेदी	रसज्ञ-रंजन
६.	रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि
७.	पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल	मकरंद, योगप्रवाह
८.	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	प्रबंध-पद्य
९.	धीरेन्द्र वर्मा	विचारधारा, योरोप के पत्र
१०.	हजारी प्रसाद द्विवेदी	अशोक के फूल
११.	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	हिन्दी का सामयिक साहित्य
१२.	नगेन्द्र	विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन
१३.	रायकृष्ण दास	छायापथ, संलाप
१४.	रघुवीर सिंह	शेष स्मृतियाँ
१५.	पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	कुछ
१६.	सियारामशरण गुप्त	झूठ-सच
१७.	महादेवी वर्मा	स्मृति की रेखाएँ
१८.	राहुल सांकृत्यायन	साहित्य-निबंधावलि
१९.	दिनेशनन्दिनी चोरड़्या	शबनम
२०.	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	निबंध नवनीत
२१.	भगीरथ मिश्र	अध्ययन

निबन्ध-सूची

साहित्य-सिद्धान्त

१. **जीवन और साहित्य** — श्री करुणापति त्रिपाठी, काशी विश्वविद्यालय — १
२. **काव्य में रस का महत्त्व** — डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, गोरखपुर विश्वविद्यालय — १५
३. **रस-निरूपण** — डॉ० मोहन वल्लभ पंत, वल्लभ विद्यापीठ — २६
४. **भारतीय साहित्य शास्त्र और ध्वनिवाद** — डॉ० भोला शंकर व्यास, काशी विश्वविद्यालय — ३९
५. **कविता जीवन की आलोचना है** — डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर', रुइया कॉलेज, बम्बई — ४९
६. **नई कविता—मीमांसा और मूल्यांकन** — डॉ० भोला शंकर व्यास, काशी विश्वविद्यालय — ५६
७. **हिन्दी कविता में प्रगतिवाद** — श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', जबलपुर — ७०
८. **हिन्दी साहित्य और विभिन्न वाद** — डॉ० प्रेम नारायण शुक्ल, डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर — ८१
९. **आधुनिक हिन्दी कविता और विभिन्न वाद** — श्री तपेश कुमार चतुर्वेदी, आगरा — ८७
१०. **हिन्दी साहित्य में आलोचना** — डॉ० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव, भोपाल — ९७
११. **आलोचना** — डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', आगरा कॉलेज, आगरा — १०९
१२. **इतिहास और साहित्य का संबंध** — डॉ० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव, भोपाल — १२२

प्राचीन काव्य

१३. **जायसी की विरहानुभूति का आध्यात्मिक पक्ष** — डॉ० मुंशी राम शर्मा 'सोम', डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर — १३७
१४. **लोककवि गोस्वामी तुलसीदास** — डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय — १४३
१५. **हिन्दी कृष्ण-भक्ति-काव्य में भ्रमर गीत की परम्परा** — डॉ० रामचन्द्र तिवारी, गोरखपुर विश्वविद्यालय — १४८
१६. **रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ** — डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय — १६८
१७. **भूषण के काव्य में राष्ट्रीय भावना** — डॉ० रामचन्द्र तिवारी, गोरखपुर विश्वविद्यालय — १८०

१८. ब्रज-भाषा-काव्य का माधुर्य — डॉ० श्याम सुन्दर लाल दीक्षित, महाराजा कॉलेज, छतरपुर १८६
१९. हिन्दी का हास्य काव्य — श्री कान्तानाथ पाण्डेय 'राजहंस', हरिश्चन्द्र डिग्री कॉलेज, वाराणसी १९४
२०. लोक साहित्य का महत्त्व — श्री सत्य नारायण त्रिपाठी, गोरखपुर विश्वविद्यालय २०२
२१. ग्राम्य गीत — डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर २०८

आधुनिक साहित्य

२२. प्रेमचन्द की कहानी कला — डॉ० रामविलास शर्मा, आगरा २१९
२३. गुप्त जी का युग और यशोधरा — डॉ० व्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय २२८
२४. प्रसाद और उनका आँसू — श्री गिरीशचन्द्र त्रिपाठी, लखनऊ विश्वविद्यालय २३९
२५. पन्त का काव्य — श्री कृष्णावतार, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ २४८
२६. पन्त और प्रकृति — श्री कुँअर चन्द्र प्रकाश सिंह, बड़ौदा विश्वविद्यालय २६०
२७. रत्नाकर—जीवन और काव्य — श्री शिव बालक शुक्ल, के० जी० के० कॉलेज, मुरादाबाद २६७
२८. हिन्दी की नयी कविता — डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल, वल्लभ विद्यापीठ, वल्लभ नगर २८०
२९. छायावाद की काव्य-साधना — श्री सत्य नारायण त्रिपाठी, गोरखपुर विश्वविद्यालय २८८
३०. हिन्दी-गीति-काव्य : स्वरूप एवं विकास — श्री तपेश कुमार चतुर्वेदी, आगरा २९६
३१. हिन्दी काव्य में प्रकृति-चित्रण — डॉ० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, बी० एन० एस० डी० कॉलिज, कानपुर ३०४
३२. हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय भावना — प्रो० ईश्वर लाल देसाई, डभोई कॉलिज, बड़ौदा ३१२
३३. छायावाद — श्री ऋषि कुमार चतुर्वेदी, एम-ए० एल-टी० ३२२

भाषा तथा लिपि

३४. हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव — डॉ० आनंद प्रकाश दीक्षित, गोरखपुर विश्वविद्यालय ३३३
३५. हिन्दी और उसकी जनपदीय बोलियाँ — श्री बालगोविन्द मिश्र, गोरखपुर विश्वविद्यालय ३४४
३६. राष्ट्र-भाषा की समस्याएँ — प्रो० वासुदेव नन्दन प्रसाद, गया कॉलेज, गया ३६१

३७. **राष्ट्र-भाषा की समस्या** डॉ० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी, गोरखपुर विश्वविद्यालय ३६९
३८. **हिन्दी-भाषा का भावी रूप** श्री बालगोविन्द मिश्र, गोरखपुर विश्वविद्यालय ३७५
३९. **ब्रज-भाषा बनाम खड़ी बोली** डॉ० श्याम सुन्दर लाल दीक्षित, महाराजा कॉलिज, छतरपुर ३७९
४०. **देवनागरी-लिपि का विकास एवं महत्त्व** डॉ० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी, गोरखपुर विश्वविद्यालय ३९८

विविध निबन्ध

४१. **भारतीय संस्कृति** डॉ० शिव शेखर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय ४०७
४२. **गांधीवाद और मार्क्सवाद** डॉ० राम विलास शर्मा, आगरा ४१९
४३. **जीवन में श्रम और त्याग का महत्त्व** प्रो० ईश्वर लाल देसाई, आर्ट्स कालेज, (डभोई) बड़ौदा ४२५
४४. **संस्कृति और सभ्यता** श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' आर्य कुमार रोड, पटना ४३२

साहित्य-सिद्धान्त

जीवन और साहित्य

[श्री करुणापति त्रिपाठी, काशी विश्वविद्यालय, काशी]

उक्त शीर्षक हमारे मन में अनेक भाँति की जिज्ञासाएँ जागृत करता है, जिनमें कुछ का उत्तर साहित्य की परिधि के अन्तर्गत आता है तथा कुछ का उत्तर मनोविज्ञान, विज्ञान तथा अन्य शास्त्रों की उपलब्धियों और मान्यताओं पर निर्भर करता है। हमें यहाँ जो प्रयत्न करना है, वह है केवल साहित्यालोचन की सामान्य मान्यताओं के आधार पर साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध का साधारण परिचय देना।

इस अन्योन्याश्रयण एवं अन्योन्य-सम्बन्ध के साथ-ही-साथ अन्य अनेक बातों का विचार, आनुषंगिक रूप से हमारे सामने आ खड़ा होता है। इन सभी विषयों पर विचार करना यहाँ सम्भव और आवश्यक नहीं है। फिर भी विषय को स्पष्टतर बनाने के लिए आवश्यक बातों की संक्षिप्त चर्चा की जायगी।

साहित्य में जीवन का अर्थ

सर्व प्रथम हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि जीवन या मानव-जीवन (जिसके चेतना-प्रकाश में साहित्य का सम्बन्ध समझना-समझाना है) से हमारा क्या तात्पर्य है? वैसे तो वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक और योगी—सभी अपनी-अपनी दृष्टि से अपनी-अपनी चिन्तन-पीठिका के साध्य-संपृक्त आयाम के अनुसार मानव-जीवन का विश्लेषणात्मक निरूपण करते हैं—पर साहित्यिक को उन सब पचड़ों-प्रपंचों के विस्तार में जाने की कोई खास आवश्यकता नहीं रहती।

साहित्य की परिधि

साहित्य का अपना संसार है। अपने लोक के धरातल पर स्थित होकर सहृदयता-पूर्ण आस्था और रागात्मक दृष्टि से वह मानव-जीवन के अन्तर्बाह्य में प्रवेश करता है और वहीं से जीवन के तथ्यों को, जीवन के मनन-चिन्तन को, जीवन की आसक्ति और विरक्ति को, जीवन की मधुरता-कटुता को, जीवन की श्रद्धा और घृणा को ग्रहण करता है। जीव-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, शरीर-रचना-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि अनेकानेक विज्ञान, शास्त्र अथवा दर्शन की शाखाओं में विवेचित, विकासवाद के अनुचिन्तन से

अनुप्राणित, मनोविज्ञान और मनोविश्लेष-शास्त्र से विश्लिष्ट मानव का क्या रूप है—इसके शास्त्रार्थ में साहित्यिक नहीं पड़ता। ज्ञान-विज्ञान के अणुवीक्षण को मनश्चक्षु पर लगाकर वह मानव का तत्वज्ञान नहीं ढूँढ़ता रहता। वह तो मानव की अनुभूतिमय, संवेदनामय, विचारणामय, कल्पना-भावनामय चेष्टाएँ जिस क्षितिज की ओर उड़ती रहती हैं—उसका पूर्ण चित्र अंकित करना चाहता है।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि किन-किन भूताणुओं, तत्वकणों या द्रव्यगुणों के मिश्रण से मानव बना है अथवा विकास-पथ की वैयक्तिक एवं सामाजिक चिर-यात्रा में किन-किन संघर्ष-शिखरों के अभियान में सफल होता चला है—इन सब के विवाद में न पड़कर साहित्य के लिए मानव के अन्तर्लोक एवं बाह्यलोक को ठीक-ठीक समझना अधिक अपेक्षित है। उसके लिए यह जानना अधिक आवश्यक होता है कि संवेग-आवेग से आवेष्ठित, बुद्धि और चेतना से उद्‌बोधित, भावना और कल्पना से उत्प्रेरित मानव-मन (भाव और विचार का प्रतिष्ठान) किन-किन व्यापारों में संलग्न रहता है। मानव के अन्तर्लोक का, स्व-व्यतिरिक्त समस्त विश्व के साथ कैसा सम्बन्ध है ? उसकी अनुरक्ति-विरक्ति, उसके शील-आचरण, किस सीमा तक और किस रूप में इच्छा ज्ञानात्मक मानव-मूर्ति की सृष्टि में योगदान करते हैं—यह देखना उसका कार्य होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की पदावली में उपर्युक्त विचार इस प्रकार कहा जा सकता है—साहित्य उस साधन को कहा जाता है जिसके द्वारा स्व-अतिरिक्त शेष-सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा और उनका निर्वाह होता है। और साहित्य का स्रष्टा इन्हीं का आकलन करता है और साहित्यालोचक इनका मूल्यांकन।

मानव-जीवन और साहित्य

साहित्य का सम्बन्ध मानव-जीवन के साथ सदैव से अविच्छेद्य रहा है क्योंकि मानव-जीवन के ही परिवेश में साहित्य का जन्म और परिपोषण होता है तथा उसकी उपयोगिता-चरितार्थता का मूल्यांकन भी तत्सापेक्ष्य ही है। परन्तु इस सम्बन्ध के अनेक वृत्त हैं। साहित्य का सम्बन्ध साहित्यकार की वैयक्तिक अनुभूति-चेतना के साथ है तथा उसके संकोच एवं विस्तार की परिधि के अनुसार समाज, राष्ट्र और समस्त विश्व के साथ भी है। कलाकार की साहित्य-चेतना जो निर्माण करती है उसका कुछ आधार होता है। वह शून्य में रचना नहीं करता, वरन् उसके कलाचित्र की निर्मिति किसी चित्रपट (कैनवस) पर ही होती है। जिस जगत् में वह उत्पन्न होता है, बढ़ता है और जीता है, उसकी परिस्थितियों से प्रभावित होना और वहीं से अपने लिए चित्रपट ग्रहण करना उसके लिए अनिवार्य है। वह भी समाज और संसार का ही एक अंगमात्र है। अंगों से सर्वथा पृथक् और उस पर पड़ने वाले प्रभावों से प्रभावित हुए बिना अंग रह नहीं सकता। प्रयत्न करके भी, उन प्रभावों से बचना चाहते हुए भी कलाकार उनसे अपने को अछूता नहीं रख सकता। जीवन और जगत् में घटित होने वाली क्रियाओं की

प्रतिक्रिया कलाकार में भी अवश्य होगी। जगत् में अपने चतुर्दिक अनुगुंजमान रागिनी से प्रति-ध्वनित हुए बिना उसकी अंतर-तंत्री रह ही नहीं सकती।

सामान्य जनों की अपेक्षा अधिक सहृदय और संवेदनशील होने के कारण व्यक्ति और समाज के उद्वेग-संवेग, सुख-दुख, प्रेम-घृणा, क्रोध-क्षमा, ममता-निर्ममता आदि की प्रतिक्रिया भी साहित्यकार के मनोलोक में अधिक गहरी और व्यापक होती है। इसी कारण उसकी आकुल चेतना अपनी अभिव्यक्ति के लिए मुखरित होकर साहित्य-सर्जना में प्रवृत्त होती है। उसे भावाभिव्यक्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है, जगत् से, और उसका भावाकुल अन्तर्मन, प्रतिभा और कल्पना के सौन्दर्योच्छलित उपादान-कणों से मूर्तिमन्त होकर साहित्य-मय अभिव्यक्ति बन जाता है। इसी कारण साहित्यकार की कला वाणी में (मम्मट के अनुसार सृष्टि-संचालन के नियामक बंधनों से मुक्त रहने पर भी) युग के स्पंदन-चित्रों की छाया का स्पष्ट-धूमिल आभास सदैव मिलता रहता है।

साहित्य में स्वच्छंद जीवन की प्रतिध्वनि

किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार युग का, देश का, धर्म का, राजनीति का, सामाजिक, आर्थिक वादों का, व्यष्टि या समष्टि की महत्त्वाकांक्षाओं का लाउडस्पीकर बन कर उनके सिद्धान्तों का प्रचारक बन जाय। अपने अनुभूतिमय, संवेदना-प्रवण व्यक्तित्व को वाद-प्रचार के प्रवाह तरंगों में डुबाकर यदि साहित्यकार अपनी कलामूर्ति का निर्माण, साँचा-विशेष में ही ढालकर करता रहता है तो समझना चाहिए कि वाद-संचालकों की पृष्ठ-गामिता ने उसकी हत्या कर दी है। किसी के सूत्र-संकेतों पर उछल-कूद दिखाकर नाचने वाली कठपुतली के समान कलाकार के साहित्य कर्म की इति श्री, किसी मत या वाद, व्यक्ति या समाज, संस्था या संघटन का डंका पीटने मात्र में नहीं है।

जहाँ यह आवश्यक है कि साहित्य-कर्ता पलायनवादी न हो, जीवन और जगत् के संघर्षों और उसकी उलझनों-समस्याओं से पलायित होकर काल्पनिक स्वप्नलोक में ही शरण न ढूँढ़े, वहीं कलाकार के लिए यह भी आवश्यक है कि मतवादों का पूजा-साधन बनकर अपनी कलामूर्ति को वह कलुषित न करता रहे। परन्तु 'मतवाद' की दासता या पूजा और प्रचारकता से मुक्त रह कर भी, साहित्य की पूर्ण चरितार्थता, देश-काल की लघु-परिधि में जकड़े हुए व्यक्ति या समष्टि के जीवन का चित्रण कर देने मात्र में नहीं मानी जा सकती। जीवन के चारों ओर फैले हुए दुख-वेदना, सुख-आनन्द, भूख-महामारी, रोग-पीड़ा, अज्ञान-अशिक्षा के अनुभव से साहित्यकार के अन्तर में जो आलोड़न-उद्वेलन, जो स्फुरण-स्पंदन होते हैं उसे ईमानदारी से प्रकट करना तो कलाकार का प्रथम आवश्यक कर्त्तव्य है ही; किन्तु पर इसके साथ-साथ उसका यह भी परम कर्त्तव्य है कि जीवन के क्षणिक यथार्थ को घूरने में वह इतना बेहोश न हो जाय कि जीवन का चिरन्तन सत्य तिरस्कृत-अवहेलित ही पड़ा रह जाय। इस विषय में आगे विस्तार से

चर्चा की जायगी। यहाँ इतना ही कहना है कि सच्चे साहित्य में जीवन-स्वरों का अनुरणन सदैव सुनायी पड़ता है—पर संकुचित रूप में नहीं, व्यापक चिरन्तन रूप में।

साहित्य-निर्माण में जगत् की प्रतिक्रिया का ग्राह्य रूप

ऊपर यह कहा गया है कि जीवन, समाज या जगत् में घटित होने वाली क्रियाओं की प्रतिक्रिया से साहित्यकार की अन्तश्चेतना अनिवार्यतः प्रभावित होती है; पर यदि साहित्यकार की कल्पना-प्रवण अनुभूति उतने ही क्षेत्र में चक्कर लगाकर समाचार-पत्र के रिपोर्टर (संवाददाता) सा वस्तु का वर्णन कर देती है तो उसका कदाचित् स्थायी महत्त्व न होगा। इतने मात्र से साहित्य जीवन-जगत् के साथ अपने सम्बन्ध का पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाता। देश-काल की परिधि से आबद्ध, संघर्षों, समस्याओं और द्वन्द्वों की सहानुभूति से हीन संवादना-मात्र में उसकी कृतकृत्यता नहीं है। साहित्य का साध्य वृत्त इससे कहीं बड़ा, कहीं विशाल और कहीं व्यापक है।

धर्म, अध्यात्म, विज्ञान, शास्त्र, दर्शन या कोई मानव-विद्या हो, सभी मानव-जीवन के निर्मापक उपादान तत्व हैं और साहित्य की अनुप्रेरक चेतना के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योग सदैव रहता है। इसी प्रकार सामाजिक समस्याएँ, राजनीतिक संघर्ष, परंपरागत रूढ़ियाँ और मनोवैज्ञानिक कारण, मानव के साहित्य-सर्जक अन्तर-जगत् को उद्वेलित-आंदोलित करते रहते हैं। अतः कलाकार की साहित्य-सृष्टि में उनका स्वर ध्वनित होता ही रहता है। और जब तक ये सब कला-मूर्ति के निर्माण में सहायक रहते हैं, साहित्यात्मा के अनुवर्ती रहते हैं तब तक साहित्य की स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है; किन्तु ज्यों ही वे साहित्य के साध्य, प्रवर्ती या आत्मस्थानीय हो जाते हैं त्यों ही साहित्य 'मत या वाद' का प्रचारकर्ता मात्र रह जाता है क्योंकि साहित्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है, वाङ्मय या मानव विद्या के विशाल मंदिर में उसकी अपनी स्वतंत्र-सर्वतंत्र प्रतिमा है।

उस अनुभूतिमयी ललित प्रतिमा के निर्माण में अन्य विद्याएँ जब तक सहायक उपकरण बन कर आती हैं तब तक, परस्पर योग से, पूर्ण मूर्ति के निर्माण-क्रम में प्रायः अनुकूलता रहती है; पर जब सहायक स्वयंमेव नियामक बनकर साध्य-प्रतिपाद्य को उदरस्थ कर लेता है, अर्थात् सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विचार-धाराएँ साहित्य को अपना अनुचर बनाकर अपनी सेवा के लिए विवश कर देती हैं तब साहित्य की पावन धवल सृष्टि पंकिल हो जाती है।

जीवन से पलायन अनपेक्षित

यह कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है कि हम एक ओर तो साहित्य को मानव-जीवन-सापेक्ष्य कहते हैं, जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति को कला मानते हैं और जीवन से असंपृक्त कला को भ्रांति स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि साहित्य

की अभिव्यक्ति स्वतंत्र होनी चाहिए, जीवन और जगत् में बहती हुई धारा के वेग से प्रताड़ित होकर उसी में कला को बह न जाना चाहिए। सामाजिक और आर्थिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार-धाराओं के समर्थन और विस्तारण में उसे योग न देना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जीवन के चतुर्दिक् जगत् में व्याप्त समस्याओं, प्रश्नों और तत्समाधानार्थ निर्धारित विचारों और सिद्धांतों के प्रचार तथा संचार का साधन मात्र भी उसे न बनना चाहिए क्योंकि सामने उपस्थित संघर्षों और विभीषिकाओं से भाग कर, कल्पित स्वप्नलोक की मधुमयी छलना में विश्राम ढूंढना—जीवन की कठोरताओं से पलायन करना ही होगा।

यह सही है कि जीवन की वास्तविकता से, युग की यथार्थ समस्याओं और कठिनाइयों से डर कर दूर भागना साहित्यकार की पलायनवादी मनो-वृत्ति का ही सूचक कहा जायगा और वह स्वस्थता या दृढ़ पौरुष का प्रमाण न होकर कायरता का ही परिणाम माना जायगा।

क्योंकि जब हमारे चारों ओर अकाल और अवर्षण की लपट से जनता झुलस रही हो, भूख और महामारी, रोगों का आतंक और मृत्यु की विभीषिका हमारे जीवन को निर्ममता के साथ पीस रही हो, उस समय समाज एवं यथार्थ जीवन के गुरुतम प्रश्नों को भुलाकर स्वप्नलोक के गंधर्व-नगर की काल्पनिक भूलभुलैया में अपने को और दूसरों को भुलाये और बहलाये रखना साहित्य का साध्य कभी नहीं माना जा सकता। समाज, राष्ट्र, जगत् और जीवन से दूर भागकर, मौज-मस्ती की दुनिया में ही घूम-घूम कर देश-काल के ज्वलन्त प्रश्नों और प्रभावों से अपने को दूर रखने की कृपणता को ही साहित्य का लक्ष्य मानने वाला साहित्यकार तो कुछ उसी प्रकार का रोगी-सा कहा जायगा जो अपनी असहनीय-सी पीड़ा से त्राण पाने के लिए बेहोशी या नींद की दवा खाकर अचेतन हो जाता है।

जीवन और जगत् के प्रश्नों का दर्शन और अंकन, समाधान या समन्वयन तो उनकी उपेक्षा, पलायन, और विस्मरण से नहीं अपितु उनका सामना करके, उनको अपने निकट लाकर ही किया जा सकता है। कलाकार यदि जीवन, समाज और जगत् की सदा अवहेलना करता है, देशकाल और उसके प्रश्न-चित्रों के अंकन से निरंतर भागता फिरता है तो वह या तो निकम्मा है, निरर्थक है अथवा जीवन-जगत्, देश-काल और अपनी कला के प्रति भी विश्वासघात करता है।

सच्चा साहित्य जीवन, समाज, राष्ट्र और जगत् की क्रियाओं और घटनाओं, संस्कारों और मान्यताओं, विभीषिकाओं और समस्याओं के प्रतिध्वनन, प्रतिबिम्बन से अछूता नहीं रह सकता। साहित्य-स्रष्टा के सहृदय हृदय में, संवेदनामयी चेतना में, भाव-प्रवण अनुभूति में जीवन और जगत् के राग-विरागों की रागिनी का संवादी स्वर, सबसे पहले अनुगुंजित होने लगता है। अतः साहित्यकार जीवन-जगत् से यदि भागता है तो अपने पावन उत्तरदायित्व के निर्वाह में विश्वास-हत्या करता है क्योंकि साहित्य और जीवन का संबंध, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अत्यंत घनिष्ठ और अविच्छेद्य है।

जीवन में साहित्य का आलोक

किन्तु दोनों में घनिष्ठ से घनिष्ठ संबंध रहने पर भी दोनों दो वस्तुएँ हैं। दोनों में अतर है। संबंध द्वारा दो भिन्न वस्तुएँ निकट से निकटतर लायी जाती हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे एक हैं। संबंध का अर्थ ही है अनेक को, एक से अधिक को, जो परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, एक में बाँधना। अतः जीवन और साहित्य में अन्तर सदैव बना रहेगा। जीवन तो एक सतत् प्रवहमान सरिता के समान है, जो जगत् के सम-विषम अंचल में सदा बहती रहती है। साहित्यकार उस जीवन-सरिता की सप्राण, जीवन्त, मंजुल लहरियों को, और भंगिमामय भंगों (तरंगों) को संकलित करता रहता है, जिनमें जीवन के पीयूष-गरल दोनों का संगम हुआ करता है। जीवन के कंटकाकीर्ण, तमसाच्छन्न विषम पथ में साहित्य की दीप-शिखा प्रकाश के स्फुल्लिंगों को विखेरती रहती है।

संबंध की व्यापक दृष्टि

अतः साहित्य और जीवन का संबंध देखने के लिए यदि हम देश-काल की सीमा का रंगीन चश्मा लगाकर चलेंगे तो हमें सब-कुछ उसी रंग का दिखायी देगा। हम सतत् गतिमान् समाज और प्रवहमान जीवन-धारा के यथार्थ वर्ण का, यथार्थ रूप (रंग) का परिचय, उस चश्मे को लगाकर कभी नहीं पा सकते। जीवन के विशाल आयाम को, देश-काल के मतवादों से विरूप, दुराकार साँचे में ढालकर या संकुचित चौखटे में ठूँस कर देखा जायगा तो यथार्थ रूप और आकार का परिचय नहीं मिलेगा। इसी प्रकार पूर्वाग्रह या युगाग्रह के मतवाद से विकृत चेतना को आधार मानकर, जीवन और साहित्य के संबंध का निर्धारण समाज के लिए पोषक किंवा स्वास्थ्यकर नहीं हो सकता।

इसे ठीक-ठीक समझने के लिए तो देश-काल की सामयिक, राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक आग्रहों और आवश्यकताओं के क्षितिज से ऊपर उठकर निर्मल, निराग्रह, तटस्थ मन से, जीवन-धारा और साहित्य-प्रवाह के संबंध को समझने-बूझने, देखने-परखने की आवश्यकता होती है। देश और काल की क्षणिक संकीर्णताओं से उन्मुक्त होकर ही जीवन के शाश्वत स्वरूप को, अनुभूति लोक के अनन्त विस्तार को, मानव की सार्वभौम सार्वयुगीन भाव-चेतना के संपूर्ण आयाम को, साहित्यस्रष्टा देख सकता है।

साहित्य में जीवन का यथार्थ स्पंदन

जीवन और जगत्, युग और राष्ट्र की सामयिक-सामाजिक, समस्याओं से उद्भूत, मतवादों का आलोक, जब तक जीवन के किसी स्वरूप को समझने, परखने में सहायता देता रहता है, तब तक वह साहित्य-सर्जना में उपयोगी बना रहता है। देश और काल

के सूत्रों का आधार लेकर ही साहित्यिक अपने पथ पर बढ़ता है, जीवन की दिशा और गतिशीलता का परिचय पाता है, जीवन के यथार्थ का अनुभूत्यात्मक साक्षात्कार करता है। उससे पराङ्मुख होकर कलाकार की चेतना निष्प्राण हो जाती है, जीवन के स्पंदन से, वास्तविक स्पन्दन से हीन, दरिद्र हो जाती है। जीवन की यथार्थ भूमि पर अवस्थित होकर ही साहित्य-निर्माण की कला का उन्मेष होता है। बिना यथार्थ स्पन्दन के कलाकार की भाव-प्रवण कल्पना सोयी पड़ी रहती है, उसकी नवनवोन्मेषवती प्रतिभा मूर्च्छित रह जाती है, कला में चैतन्यालोक की दीप्ति नहीं आ पाती।

किंतु जैसा कि ऊपर कहा गया है, देश-काल के प्रभाव से आविर्भूत संकोच, आकांक्षा या आग्रह आदि जब जीवन के तटस्थ दर्शन में अनुवर्तक न होकर उसके नियामक हो जाते हैं तब, युगाग्रह से विवश असर्वांगीण साहित्य-चेतना, अपने मत-समर्थन के मोह में पड़कर पथ-भ्रान्त हो जाती है। तब जीवन और जगत् के विषय में, साहित्य और कला के संबंध में, आग्रहग्रस्त दृष्टि से ही साहित्य का मूल्यांकन होने लगता है। तब साहित्य-चेतना की कसौटी, अनुभूति-आयाम की सर्वांगीण परिव्याप्ति न रहकर वाद-समर्थन की एकांगिता में चरितार्थ होने लगती है। तब जीवन और जगत्, व्यक्ति और समाज के संबंध में स्वतंत्र और आग्रहमुक्त रीति से समझने का युग-युग प्राप्त अपना अधिकार खोकर साहित्यकार नायकों का अनुचर हो जाता है, उनके संकेतों पर नाचने वाला निर्जीव अभिनेता बनकर साहित्य के रंगमंच पर उछलकूद मचाने लगता है। इतना ही नहीं, भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में भी साहित्य-रचना की नयी सरणियों के अनुगमन में साहित्य-निर्माता को उन निर्देशकों के आदेश पर चलने के लिए विवश होना पड़ता है। 'वाद' और मत के आग्रह तो स्वयं देश-काल, समाज, आर्थिक-संगठन आदि की प्रतिक्रियाओं से युग-व्याधियों की प्रयोग-सापेक्ष्य चिकित्सा के रूप में उद्भूत होते हैं। रोगी की चिकित्सा के लिए निर्धारित उपचार-पद्धति जीवन की, स्वस्थ जीवन के संचरण की, जीवन-धारा के प्रवाहन की समीचीन सरणि कैसे जान ली जा सकती है।

साहित्य और वाद

उदाहरण के लिए हम 'मार्क्सवाद' के साहित्य-निर्देशनांश को उपस्थित कर सकते हैं। युग-परिस्थितियों से प्रसूत, पूंजीवाद-सामंतवाद की प्रतिक्रिया रूप में अवतीर्ण, आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति का संदेश-वाहक, जीवन के सकल क्षेत्रों में प्रगतिशीलता का उद्घोषक, यह सिद्धान्त, देश-काल की सामाजिक व्याधि का एक प्रस्तावित प्रयोग-सापेक्ष्य उपचार मात्र है।

हम मानते हैं कि आज के युग की सर्व प्रमुख समस्या, राजनीतिक है, समाज की अर्थव्यवस्था से परितः संश्लिष्ट है, भौतिक सुख-दुःख की, जीवन के रहन-सहन की सुविधा-व्यवस्था से परिव्याप्त है। मार्क्सवाद का भौतिक द्वन्द्ववाद, उक्त अर्थ-सापेक्ष्य सामाजिक अवस्थान के रोग का विश्लेषणात्मक निदान और उपचार की एक नूतन

कारण यही है कि उनकी संवेदनाओं के आधार मानव के अनुभूतिलोक में सदा से निवास करते आये हैं, उनकी अनुभूतियों के कलात्मक उपादान चिरन्तन सौन्दर्य के तत्वाणुओं से निर्मित हुए हैं। इसी से अनेक शताब्दियों के बीत जाने पर भी पूर्वोक्त तथा विश्व के अन्य मनीषी महाकवियों की सर्जनाएं यद्यपि पूर्ववत् रमणीय, मनोहारी तथा ललित हैं और युग-युग तक उनकी चारुता अक्षुण्ण बनी रहेगी।

परिवर्तन प्रति-क्रिया की ग्राह्य मात्रा

यह कहा जा सकता है कि आज विश्व में अनेकानेक नूतन घटनाएं महावेग से घटित हो रही हैं जिनके कारण परिस्थितियाँ और प्राचीन व्यवस्थाओं के स्थान पर नवीनता आविर्भूत हो रही है। नयी उपलब्धियों के कारण जीवन के आरूप में नित नूतनतम परिवृत्तियाँ उद्भूत होती दिखायी दे रही हैं। इन परिवर्तनों के साथ-ही-साथ जीवन और समाज की मर्यादाएँ, आवश्यकताएं, उनके आदर्श और सिद्धान्त, उनकी विकासगति के क्रम तथा नैतिक और आध्यात्मिक मर्यादाएँ भी, बदलती चल रही हैं। अतः प्रगतिपूर्ण युग-जिगमिषु कलाकार के लिए अपनी-अपनी सर्वदृष्टि में आमूल परिवर्तन आवश्यक है अन्यथा वह अदूरदर्शी और कलाघाती भी हो सकता है।

जीवन के व्यवहार पक्ष में सही होते हुए भी यह आग्रह साहित्य के शाश्वत मूल्यनिर्धारण में भ्रमपूर्ण है क्योंकि आध्यात्मिक-नैतिक व्यवस्थाओं और जीवन के कार्याकार्यों एवं विधिनिषेधों का द्योतन करने वाली प्रथाओं में ही परिवर्तन होता है, उनके आन्तरिक प्राण-स्पंदन में नहीं। यह सहज-स्वाभाविक है और साहित्य की इन मर्यादाओं-सिद्धान्तों की द्योतक प्रथा-दृष्टि के बाह्यावरण में देश-कालानुसार परिवर्तन अवश्य होना चाहिए। प्रगतिशीलता की यह आवश्यक उपाधि है। किन्तु आदर्श और नैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मर्यादा-मानों का उच्छेद कर देना हमारी सांस्कृतिक हत्या होगी।

युग-युग से अविरत प्रवहमान हमारे मर्यादा-मानों में भी बाह्यावरणीय परिवर्तन हो गया है—यह कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह कहना कदाचित् अधिक तथ्यपूर्ण होगा कि जिस सांस्कृतिक अनुच्छिन्न प्राणधारा के तत्वाणु, हमारे रक्तकणों में अन्तर्बाह्य परिव्याप्त हैं, वह चिरंतन है, मूलतः अपरिवर्तित है तथा अखंड रूप में अब तक चली आ रही है। हमारी युगयुगागत सौन्दर्य-दृष्टि अविच्छिन्न है। आधुनिकतम विज्ञान और मनोविज्ञान की विश्लेषणात्मक व्याख्याओं से प्रसूत, युगवादों की परिवर्तनशाली शिक्षाओं का प्रयत्न, यदि साहित्य न भी करे और अपने चतुर्दिक् व्याप्त जीवन के सहज-स्वाभाविक चित्रों का ही अंकन करे तो उसकी कृति उत्कृष्ट साहित्य हो सकती है। हम यह नहीं कहते कि ज्ञान-विज्ञान की नूतन उपलब्धियों और ज्ञानकिरणों की ओर से मुंह मोड़कर, अन्धे की भांति मूढ़ गति से, पुरानी प्रथाओं की लीक पर ही हम बढ़ते चलें। नवान्वेषित जीवन-गतों या विकास-मान्यताओं के रूपों को हम सदा बिस्मरण

करते रहें। ऐसा करना तो सचमुच कलाकार के लिए कलाघात और आत्महनन होगा। पर इन स्थितियों के उद्वेलन से उत्थित युगवादों के प्रपंच-विस्तार में बिना पड़े हुए भी अपने जीवन के सर्वदिग्व्यापी जीवन-जगत् का यदि साहित्यकार सहृदयता, सहानुभूति और आत्मीय ममता के साथ, भाव-प्रवण चेतनापूर्वक अध्ययन करता हुआ, अपनी सुष्ठुतम अनुभूतियों का साहित्य के माध्यम से कलाकलित सहज प्रकाशन कर दे तो वह अभिव्यक्ति भी श्रेष्ठ साहित्य ही होगा। जीवन के सरस प्रसंगों और सहज भावनाओं, अनुभूति के मंगलमय चित्रों और जीवन के श्रेयस्कर चारुताओं तथा रस-भाव की सुष्ठुताओं का अभिरम्य आलोक उस साहित्य को स्पृहणीय और मान्य बनाता रहेगा। उसकी शान्त, मंजुल, कल्याणमयी आभा की शीतल छाया में आगे बढ़ता मानव, अपने भावयोग की उपासना के विकास सोपान पर चढ़ता ही चलेगा।

साहित्य में वादों की स्थिति के विषय में ऊपर बहुत-कुछ कहा जा चुका है। 'वाद' वस्तुतः जीवन-संबद्ध प्रवृत्तियों और धारणाओं का तर्कपुष्ट निरूपण मात्र है। किन्तु देश-काल सापेक्ष्य, जीवन-दृष्टियों से उपजीवित 'वादों' की परिधि प्रायः ससीम होती है और उसके द्वारा यथार्थ-जीवन का विकास और ह्रास दोनों संभावित है।

दूसरे रूप में कहा जा सकता है कि बहुधा वाद वास्तव में परिवर्तमान जीवन-व्याख्या की स्थूल दृष्टि है। समयानुसार उसकी ग्राह्यता-अग्राह्यता, सबलता-दुर्बलता, हित एवं हानिकारिता घटती-बढ़ती रहती है। युग देशानुसार, उसकी व्याख्या (इंटरप्रेटेशन) में परिवर्तन करते रहना आवश्यक होता है अन्यथा 'वाद' अगतिमय जड़ वाक्याडम्बर मात्र रह जाता है। यदि नूतन अभिव्याख्या से उसका परिष्कार नहीं किया जाता तो वह प्रगतिगामी नहीं रूढ़िगामी हो जायगा।

साहित्य और 'वाद' का परिधि-भेद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है मानव की सामाजिक जीवन-चेतना से निष्क्रमित होने पर भी साहित्य और कला में जीवन-व्यापी हार्दिक अनुभूति का प्रवाह बहता रहता है। उसमें कलाकार के व्यक्तिमुखी अनुभूति-कणों का योग रहता है। पर 'मतवाद' में रहता है सैद्धान्तिक तर्क-बुद्धि की समूहमुखी ज्ञान-दृप्ति का कर्कश स्वर। साहित्य द्वारा रागात्मक संवेदना का सर्जन और परिष्करण, उन्नयन और उज्जीवन होता है तो वाद के द्वारा तर्काश्रितहेतु-प्रमाणित, बुद्धि-संगी ज्ञान का प्रतिष्ठापन और विस्तारण है। सामाजिक विकास के साथ गतिशील रहने में 'वाद' की सफलता होने से वह ससीम क्षेत्री है। पर चिरन्तन-संवेदना सृष्टि के सौन्दर्यापेक्षी परिष्करण के कारण साहित्य का साध्य होता है चिरनव चारु रम्यता का उद्भावन, मानव के अनुभूति-संसार की शाश्वत, स्थायी एवं मार्मिक वृत्तियों का अभिव्यंजन। इसी से साहित्य की परिधि सार्वभौम, सार्वयुगीन, शाश्वत दृष्टि से कलित है। 'वाद' के समान प्रमेय वस्तु की बौद्धिक व्याख्या-परक अभिव्यक्तिमात्र न होने के कारण, स्थूल-सूक्ष्म, साधारण-

असाधारण, कर्कश-कोमल मानवीय जीवन के चित्राभिव्यंजना की भाव-प्रवण झाँकी दिखाने वाले साहित्य का स्थान मतवाद नहीं ले सकता और न उसका शासक हो सकता है। इसी कारण वादोत्थापित ज्ञान और मान्यता, जब अनुसंधानजन्य नूतन उपलब्धि के कारण आभाहीन हो जाती है तब भी वाणी के माध्यम से, सौन्दर्य कल्पना द्वारा भावमूर्ति की रम्यता क्षणे-क्षणे नवीन सौदर्य-रश्मियों को विखेरती रहती है। वह (साहित्य) सभी देश, सभी काल के रस-पंथी सहृदय के अन्तर्जगत् में समान रूप से रस-पीयूष की आनन्दचेतना प्रवाहित करती रहती है। समाज और जीवन के विश्लेषणात्मक मन्थन-बुद्धि से आविर्भावित होकर भी कभी-कभी, सामाजिक-धार्मिक मतवाद, भिन्न एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के उद्भेदन होने पर अल्पायु हो जाते हैं, महत्त्व-विहीन होकर निष्प्राण हो जाते हैं; पर साहित्य शाश्वत अनुभूति की सुधा पीकर अमर बना रहता है।

साहित्य कला का 'यथार्थ और जीवन'

'कला के लिए कला' की व्याख्या यदि ऊपर कहे हुए विचारों के प्रकाश में की जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि 'कला का साध्य है अपने भाव-क्षेत्रीय रम्य रागात्मक साधन द्वारा मानव-वृत्तियों का परिष्करणमात्र, न कि मत, वाद या सिद्धान्त का आग्रह-प्रेरित प्रचारण। इस दृष्टि से साहित्य का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है—यह भी कहा जा सकता है। चिरंतन सौन्दर्य की हृदयहारी शक्ति का सर्जनमात्र ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। वृत्ति-परिष्करण तो स्वतः एक उसका आनुषंगिक पर अवश्यंभावी अंग है। मत और वाद, जब युग-प्रवृत्तियों का यथार्थानुकरण करते हुए भी मानव-जीवन के योग-क्षेम में सौन्दर्य के रमणीय माध्यम से, साहित्य-सृष्टि द्वारा लोकमंगल के विधान में सहयोग देते हैं तभी तक वे साहित्य के उपादान हैं। और जब बुद्धि-दर्प, ज्ञान-दंभ या मनोरथ-कुंठा से प्रेरित होकर तर्क-बल के आग्रहों को 'वाद' का जामा पहना कर साहित्य के नाम से पेश किया जाता है तब साहित्य की सहज-चेतना का दम घुटने लगता है। यथार्थ के माध्यम से कुंठा की एकांगी दृष्टि साहित्य के सार्व-भौम आसन पर साम्राज्य करने का प्रयास करती जान पड़ती है।

यथार्थ का महत्त्व जीवन के सभी क्षेत्रों में और विशेष रूप से साहित्य की सृष्टि में अत्यंत आवश्यक है। पर वहाँ होना चाहिए यथार्थ का सर्वांगीण अध्ययन न कि कुंठा और आग्रह से ग्रहित मानव रागों की अभिव्यक्ति। यथार्थ के नाम पर आधुनिक युग के वादग्रस्त आलोचक लाठी लेकर जिस रूप को वास्तविक सिद्ध करने की धमकी दे रहे हैं वह तत्वतः ह्रासोन्मुख मनश्चित्र की विकृतिपूर्ण छायामात्र है। उसकी उपासना से साहित्य का अपकर्षण ही होगा, उन्नयन नहीं।

जीवन की कुरूप विकृतियों को, स्वार्थगर्हित मान्यताओं को और परिस्थिति-विवशित दुर्बलताओं को युग-शासन और अधिकार-प्रयोग के निमित्त, सामाजिक विधि-

निषेधों की दृष्टि से यथार्थ का नाम भले ही दिया जाय पर उसे मानवीय जीवन का सार्वभौम यथार्थ नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर कल्पना की स्वप्निल उड़ान में अदृश्य होकर आदर्श और सत्य को भूल कर छलना का ताना-बाना बुनना भी यथार्थ नहीं हो सकता। युग-व्याप्त कुरूप भ्रष्टता और अजागतिक कल्पना मात्र से उत्थापित पवित्रता, दोनों को छोड़ कर और दोनों के आत्मतत्वों का व्यूहन करके, सत्याश्रित कल्पना के उपकरणों से जीवन-संवेदना की शाश्वत, पर सजीवन प्रतिमा का निर्माण साहित्य का साध्य होना चाहिए।

साहित्य और मानव-जीवन के निर्माण की कसौटी होनी चाहिए मंगल-विधायिनी आलोकमाला का विधान। संहार और विध्वंस के अस्त्रों को लेकर, विध्वंसक और हिंस्र उपादानों के द्वारा अतिशीघ्र आदर्श-समाज के प्रतिष्ठान-रचना की प्रतिज्ञा करके चलने पर भी, समाजनीति और राजनीति के विधान यदि जीवन-जगत् के संघर्षों और दंभों के साथ साहित्य की ममतापुरी में अपने कालुष्य का प्रचार करेंगे तो कथमपि युग-सत्य संवेदना-चेतना, यथार्थ अनुभूति नहीं हो सकेगी। सहज रूप से विकासमान यथार्थ की गति, युग-सत्यता के भीषण प्रहारों से अवरुद्ध हो जायगी।

राजनीतिक परतंत्रता के युग में पश्चिम की बौद्धिक दासता के प्रभाव से यथार्थ के आन्तरिक आयामों को देखने में हम युग-भार के कारण असमर्थ हो गये थे। आज भी उसी गाढ़ी निद्रा की तंद्रा में पड़े हुए पश्चिम-चिन्तन की चका-चौंध में भटक रहे हैं। भौतिक, और बाह्य उन्नति के शिखरों पर पहुँच कर जो राष्ट्र, दम्भ और दर्प की मादकता में सबको आत्मसात् कर लेने अथवा स्वयं महागर्त में चले जाने की विभीषिका रच रहे हैं, उनकी वैज्ञानिक, उत्कर्षपूण, अकल्पितपूर्व, अद्भुत प्रगति के तीव्र प्रकाश से हमारी और समस्त विश्व की दृष्टि, यथार्थ संवेदना को उच्च भूमि पर अधिष्ठित, मानव की आस्थामयी चेतना के यथार्थतः मंगलकारी रूप को पहचानने में अशक्त हो रही हैं।

हम यह भूल गये हैं कि विज्ञान-विकसित होने पर भी, वैज्ञानिक-अनुसंधानकारी ऋषियों का वरदान पाकर भी, संस्कार-विकार के पथ से भटक कर आज का हमारा विश्व, आदि युगीन पाशविक बर्बरता को आत्मसंगी बनाकर जिस प्रवृत्ति को तत्वतः प्रवाहित कर रहा है वह, जीवन-के निर्माणांश की अपेक्षा उसके संहारपक्ष की दृष्टि से, अधिक खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

भौतिक विकास की उच्चतम भूमि में स्थित रहने पर भी, विश्व के प्रबलतम महान् राष्ट्र, आज मानवता की सुरक्षा और विश्व-शान्ति की स्थापना का नाम ले-लेकर बल-दर्प से उन्मत्त हो, युद्धव्यूही प्रतिद्वंदिता में डूबे जा रहे हैं और महारचना-समर्थ, अपने शक्ति पुंजों को संहारास्त्र-संग्रह में अपव्यय कर रहे हैं।

मानव-स्वतंत्रता और विश्व-बंधुत्व के यथार्थ चित्र की उनकी कल्पना एक-दूसरे से नितांत भिन्न है। कारण यह है युग-प्रश्नों से, देश-दृष्टि से बाधित, उनकी

अस्वच्छन्द जीवन-दर्शन की धारणा यथार्थ की संपूर्णता को स्वानुकूल खंडों में तोड़-तोड़ कर देखती है। भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक वृत्तों में बँधी हुई उनकी यथार्थान्वेषी शोध-दृष्टि एक पक्षीय यथार्थ को ही सर्वव्यापी मनवाने के लिए खड्गहस्त होकर सामने आ खड़ी होती है। विज्ञान और मनोमंथन की जो साधना जीवन और जगत् के प्रति यथार्थ-जीवन की श्रेयस्करी सृष्टि के निर्माण की आशा लेकर चली थी वह महत्त्वाकांक्षा और मतवाद के आग्रह की वेगमयी धारा में बहकर, साध्य-साधना के मार्ग से भटकती दिखायी दे रही है। उक्त आशा के पथ-निर्माण में मानवता के उच्च संस्कारों का सहयोग न होकर पशुता की वन्य-बर्बर शक्ति मात्र का ही अधिकार बढ़ा तो यथार्थ मानव के स्थान पर, अचिंतितपूव शक्ति-संपन्न होकर भी, ऐसी विकृत मनुजता का अवतार होगा जो पूर्व-संचित संपूर्ण परिष्कृत संस्कारों को धूलि-विलुंठित बना कर ही छोड़ेगा।

आज तो विभिन्न वर्गों के शोषण-पेषण जन्य, असफलता-प्रसूत कुंठाओं से विकृत अयथार्थ यथार्थता को, प्रेम-बंधुत्व एवं औदार्यपूर्ण ममता के द्वारा मंगलमय सौंदर्य के प्रकाश से दीप्त करना होगा, तभी जीवन के सर्वांगीण यथार्थ-मूर्ति का प्रतिष्ठापन, विश्व के चिन्तन-मंदिर में संभव होगा।

भावयोग की मंगलमयी, सुष्ठुतापरिकलित शब्द साधना द्वारा साहित्यकार जीवन के यथार्थत्व का साक्षात्कार करता आया है और यही उसका साध्य है, लक्ष्य है।

साहित्य और जीवन का संबंध-सूत्र

जीवन के इसी सर्वांगीण, श्रेयोमंडित, रुचिपरिष्करी यथार्थ दर्शन में कलाकार की प्रतिभा, भाव-प्रवण कल्पना और अनुभूति-चेतना प्रयत्नशील रही है। साहित्य की सफल निर्मिति की एकमात्र कसौटी यही होगी कि मानव-जीवन के प्रेम-ममत्व की परिधि में कल्याणकारी भावयोग की कला-साधना का विनियोग किस सीमा तक हुआ है। यदि साहित्य की आलोक-किरणें शाश्वत जीवन के अन्तर्बहिःस्थित संपूर्ण आयामों का साक्षात्कार कराने में समर्थ होती हैं तो वह साहित्य हित-सहित है अन्यथा साहित्य की भूमिका धारण कर स्व-अर्थ-लोभी अभिनेता मात्र उसे कहा जायगा।

निष्कर्ष यह कि जीवन और जगत् के प्रति, खंडों में विभक्त दृष्टि नहीं, युग-कुंठा-ग्रस्त सापेक्ष दृष्टि नहीं वरन् मानव की शाश्वतिक मंगलविधायक चिरंतन भावमूर्ति की प्रतिष्ठा का संस्थान साहित्य को होना चाहिए। जीवन तथा साहित्य का यही सार्वभौम, सर्वकालीन अन्योन्याश्रित संबंध है। यशः शरीर से युग-युग तक चिरजीवी रहने वाले कलाकार के साहित्य का, जीवन की शाश्वत भाव-धारा से सर्वदा अविच्छिन्न संबंध रहा है और सदैव बना रहेगा। जीवन से निर्गत साहित्य में जीवनानुभूति का मंगल-मंडित उच्छ्वास-प्रवाह सदैव अन्तःसलिला सरस्वती सा बहता हुआ मानव के देश-काल-शोषित अन्तःक्षेत्र को हरा-भरा, सजीव बनाये रहेगा।

काव्य में रस का महत्त्व

[डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

रस का विलक्षण स्वरूप

काव्य में 'रस' का विचार एक नितान्त पारिभाषिक शब्द के रूप में किया जाता है। विभाव, अनुभाव, संचारीभाव तथा स्थायीभाव के संयोग से जिस काव्य-रस की निष्पत्ति होती है, वह आस्वाद-रूप एक आनन्दमय अनुभूति है। यह लोक-विलक्षण अनुभूति है, क्योंकि इसमें करुण दृश्य को देखकर अथवा उसके संबंध में वर्णन पढ़कर हम रोते-कलपते नहीं,बल्कि उसका निर्विघ्न रूप में अन्तरानुभव करते हैं। यह विभावादि के संयोग से निष्पन्न तो होता है, किन्तु इसमें उनकी पृथक् अनुभूति नहीं होती और इसीलिए उनके क्रम का ज्ञान भी संलक्षित नहीं रहता। यह अनुभूति युगपत् अनुभूति कही जाती है और 'विभावादि संवलिताप्रतीति' भी इसी का नाम है। क्रम के असंलक्षति रहने के कारण यह 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। इस 'विभावादि संवलिता प्रतीति' को 'पानक-रस' के समान समझना चाहिए, जिसमें गुड़, मिर्च, धनिया, खटाई, नमक आदि अनेक मसाले मिला दिये जाते हैं और उन्हें परस्पर इतना सरल कर दिया जाता है कि उस रस को पीने पर इन पदार्थों में से किसी एक का स्वाद नहीं आता, बल्कि इनसे भिन्न एक विचित्र प्रकार का ही स्वाद आया करता है। संसार के दुःख-सुख अपने अनुभूति-काल के पश्चात् भी हमारे मन में कल्पना-बल से तदनुकूल प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं, किंतु रसानुभूति की विचित्रता यह है कि यह केवल 'विभावादि जीवितावधि' अर्थात् विभावादि की उपस्थिति में ही व्यक्त होने वाला है, उनकी अनुपस्थिति में, चाहे वह पहले हो या पश्चात्-काल में, यह व्यक्त नहीं होता। बाह्येन्द्रियगत अनुकूल-संवेदनाजन्य ललितकला के आनन्द तथा व्यावहारिक आकांक्षा- परिपूर्तिजन्य आनन्द दोनों से ही यह अनुभूति विलक्षण होती है। श्रव्य-काव्य से भी संबंध रखने के कारण यह बाह्यपदार्थ-निरपेक्ष होकर कल्पनोद्भूत सिद्ध होता है और पुत्र-प्राप्ति आदि के समान व्यावहारिक आकांक्षा परितुष्टि के 'स्व-पर' मय बोध से भी यह भिन्न ठहरता है, क्योंकि रस की दशा ममत्व-परत्व के विनाश और सत्व के उदय होने पर ही संभव है। इसकी उपस्थिति कुछ इस प्रकार होती है कि काव्यगत पात्र तथा वे घटनाएँ न मिथ्या ही प्रतीत होती हैं, न संशयात्मक ही, न उनसे सादृश्य

की भावना ही जागृत होती है न उनके प्रति संदेह ही होता है। इन्हीं तथा ऐसी ही अनेक विलक्षणताओं के कारण आचार्यों ने इसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' की संज्ञा दी है, जिससे यह ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण सिद्ध होता है और साथ ही तत्समानता का बोध भी कराता है।

दृश्य तथा श्रव्य-काव्य में रस-प्रतिष्ठा

इस महामहिम रस की काव्य में प्रतिष्ठा करते हुए आचार्यों ने काव्य-पुरुष की कल्पना की और उसमें इसे आत्मा-स्थानीय बताया। यद्यपि भरत मुनि से पूर्व किसी आचार्य का कोई ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है, तथापि स्वयं भरत के तथा अन्य आचार्यों के ग्रंथों में आये भरत-पूर्व के कई आचार्यों का पता चलता है। केशव मिश्र के 'अलंकार-शेखर' नामक ग्रंथ की सूचना के आधार पर भरत से भी बहुत पूर्व शौद्धोदनि नामक किसी आचार्य ने रस को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया था। भरत ने स्वयं 'न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते' कहकर रस के बिना किसी भी कथ्य की काव्य के रूप में प्रतिष्ठा नहीं की। रस-भाव के सम्यक् विनिवेश में ही काव्य और कवि की सिद्धि उन्हें मान्य है और उनके लिए रस ही वह केन्द्र है जिसकी ओर काव्य की समस्त रीति, वृत्ति, प्रवृति तथा अभिनय, अलंकार, गुण आदि उपादेय सामग्री की योजना की जाती है। सबकी योजना रस-परिपाक के लिए होनी चाहिए, इस संबंध में भरत का वक्तव्य अत्यन्त स्पष्ट है। किन्तु भरत 'नाट्यशास्त्र' के लेखक के रूप में ही सामने आते हैं अतएव कुछ विचारकों का मत था कि रस का संबंध दृश्य-काव्य से मानना चाहिए। किन्तु यह विचार महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि 'नाट्यशास्त्र' में वर्णन की दृष्टि से देखें तो श्रव्य-काव्य में बताये जानेवाले अलंकार, रीति, गुण आदि का विचार भी वहाँ उपलब्ध होता है। वे भी उसी से संबद्ध मान लिये जायेंगे। निःसन्देह, श्रव्य-काव्य के शास्त्रीय विचारकों ने आरंभ में रस-दृष्टि को उतना महत्त्व नहीं दिया, जिसके परिणाम-स्वरूप अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि इतर संप्रदायों की स्थापना हुई, किन्तु न तो श्रव्य-काव्य के विचारकों में अद्यतन प्राप्त सामग्री के आधार पर आद्याचार्य आलंकारिक भामह ही रस की उपेक्षा कर सके और न अन्य संप्रदायों के प्रतिष्ठाता तथा अनुगामी आचार्य ही। समन्वयवादी ध्वनि-संप्रदाय ने तो वस्तु तथा अलंकार-ध्वनि की स्वीकृति के साथ ही रस-ध्वनि को स्वीकृति देकर झगड़ा-टंटा ही मिटा दिया और बाद में समग्र संप्रदायों को विवेक्य-विषय बनाकर काव्य-विचार के ग्रंथ लिखे जाने लगे। आरंभ में 'सहितस्य भावः साहित्यम्' अथवा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' जैसी व्याकरणिक परिभाषाओं से साहित्य तथा काव्य का स्वरूप निश्चित करते हुए इन संप्रदाय-प्रवर्तक आचार्यों के मन में काव्य के संबंध में कामिनी अथवा पुरुष का रूपक जाग उठा, जिससे ये अपने-द्वारा निर्दिष्ट काव्य-तत्व विशेष को ही उसकी आत्मा तथा दूसरों के द्वारा निर्दिष्ट तत्वों को काव्य-पुरुष का शरीर तथा उनके

आभूषण मानने लगे। आचार्य भामह ने आरंभ में ही यह तो मान लिया था कि काव्य में रस का प्रयोग उसे सुस्वादु बना देता है, उसकी शास्त्रीय कटुता नष्ट हो जाती है और वह भेषज के समान स्वास्थ्य-रक्षक के रूप में मानसिक स्वास्थ्य का रक्षक समझा जाकर गृहीत होता है। उन्हीं के समान आलंकारिक आचार्य दण्डी ने भी यह स्वीकार कर लिया था कि जिस प्रकार पुष्परज को पीकर मधुप मादकता का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार रसयुक्त मधुर वचनों वाले काव्य का भी पाठक पर मादक प्रभाव पड़ता है, किन्तु महिमभट्ट अथवा आचार्य विश्वनाथ के समान न तो इन्होंने रस को काव्यात्मा ही स्वीकार किया था और न आनन्दवर्धन के समान रस-ध्वनि को प्रधानता दी थी। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि श्रव्य-काव्य में भी रस की प्रतिष्ठा प्रारंभ से ही निर्विवाद रूप से स्वीकृत थी। शान्त रस को नाट्य में अप्रदर्श्य बताकर जो उसका निषेध किया गया है, वह भी इस बात का प्रमाण है कि श्रव्य-काव्य में उसकी सत्ता के प्रति किसी को विरोध नहीं था। साथ ही आचार्य अभिनव-गुप्त के गुरु आचार्य भट्टतौत ने चित्रवत्ता तथा प्रत्यक्षता को दृश्य तथा श्रव्य का भेदक-तत्व मानकर जब यह समझा दिया कि श्रव्य-काव्य सूक्ष्मतम बातों को पकड़ में सिद्ध, प्रबुद्ध पाठकों के सामने प्रत्यक्षतः न सही उनके मानस-लोक में चित्र ही प्रतिष्ठित करता है और उन्हें उससे वैसा ही आनन्द आता है जैसा किसी को नाट्य-दर्शन से, तो श्रव्य-काव्य रस की सत्ता के प्रति आशंका के लिए अवकाश ही न रह गया। कालांतर में जिस काव्य-शरीर की कल्पना की गयी उसमें रस काव्य की आत्मा बनकर बैठ गया। 'साहित्यदर्पण' आदि ग्रंथों में इस काव्य-शरीर का इस प्रकार वर्णन किया गया है—"शब्दार्थ काव्य का शरीर है, ओज, माधुर्य आदि गुण काव्य-पुरुष के शौर्य तथा औदार्य आदि गुण हैं, उपमा तथा रूपक आदि अलंकार उसके किरीट-कुंडल आदि आभूषणों के सदृश हैं, रीति उसके शरीर का अनुपात-संबंध है और रस उसकी आत्मा।"

आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित इस रस का पूर्ण निर्वाह दृश्य-काव्य तथा प्रबन्ध-काव्यों में न केवल अपेक्षित ही है, बल्कि यह सरलतया हो भी जाता है, किन्तु मुक्तकों के लघु-शरीर में इसकी प्रतिष्ठा अति कठिन भी है और वे इससे पूर्णतया बाधित भी नहीं हैं। मुक्तक में थोड़े से शब्दों में किसी उक्ति को अलंकार, वक्रोक्ति आदि से प्रभाव-शाली बनाकर रख पाना भी पर्याप्त है अथवा किसी पूर्ण कथा के अभाव में रस-परिपाक कठिन होने पर किसी भाव का संकेत हो जाना भी श्लाघ्य है। इसीलिये आचार्य शुक्ल ने कहा है कि "मुक्तकों में तो रस के कहीं-कहीं छींटे ही उड़ा करते हैं"। आचार्य आनन्द-वर्धन ने भी इस कठिनता को स्वीकार कर लिया था, इसीलिये उन्होंने कहा है कि अमरुक कवि का तो एक-एक श्लोक रसभार के कारण शत-शत प्रबन्धों के समान लगता है। निःसंदेह, मुक्तकों में भी प्रबन्ध के समान रसामिनिवेश करा सकने वाले कवि देखे जाते हैं। "मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते" "ध्वन्यालोक"। अभिप्राय यह है कि रस की प्रतिष्ठा दृश्य के समान ही श्रव्य के भी सभी भेदों में होती

या हो सकती है और समर्थ कवि को उसका ध्यान रखना चाहिए। मुक्तक में रस-निर्वाह कठिन तो है, किन्तु यदि उसमें सफलता मिल जाय तो एक-एक मुक्तक शत-शत प्रबन्धों के समान महनीय हो जाता है। यह है रस की महिमा।

रस की काव्य में प्रतिष्ठा की ओर संकेत करने के पश्चात् हम आगे काव्य के विभिन्न तत्वों से आचार्यों द्वारा स्वीकृत रस का संबंध भी प्रदर्शित करना चाहेंगे।

अलंकार और रस

यद्यपि भामह तथा दण्डी आदि ने रस-भाव युक्त रचना का अभिनन्दन किया है, किन्तु अलंकार तथा रस के प्रचारकों में परस्पर इनके महत्त्व के संबंध में बहुत मतभेद भी रहा है। यदि आचार्य मम्मट ने अनलंकृत रचना को भी काव्य मानने में हानि नहीं समझी तो उनके विपरीत जयदेव ने अलंकार को काव्य का ऐसा व्यवच्छेदक धर्म मानने की हठ की जैसे उष्णता अग्नि का धर्म है। अलंकारवादी ने अलंकारों को काव्य का आन्तर और स्थिर धर्म माना तो रसवादी विश्वनाथ ने तथा उन्हीं के समान अन्य आचार्यों ने उन्हें अस्थिर घोषित किया और गुणों को ही काव्य का आन्तर धर्म मानकर रस को प्रतिष्ठा दी। इन सब झगड़ों का निपटारा समन्वयवादी आनन्दवर्धन तथा उनके टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने किया।

आनन्दवर्धन ने अलंकारों को आन्तर तथा वाह्य दोनों रूपों में काव्य के लिए उपयोगी और रसाभिव्यक्ति में सहायक माना है। वह रस-निर्वाह को ही प्रमुखता देते हैं और उस निर्वाह के साधन-स्वरूप प्रयुक्त अलंकारों को आन्तर मानने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। उनका कथन है कि रसों की अभिव्यंजना वाच्यविशेष से होती है। वाच्य-विशेष के प्रतिपादक शब्दों में संगुंफित रूपक आदि अर्थालंकार अतिप्रयत्नसाध्य न होने के कारण, सहजतावश आन्तर ही माने जाने चाहिए। केवल प्रयत्नसाध्य यमक आदि शब्दालंकारों को वहिरंग माना जा सकता है। किन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त दोनों के मतानुसार रस-पोषण के लिए प्रयुक्त होने में ही अलंकारों का महत्त्व है, क्योंकि आत्मा-हीन शव की अलंकार-सज्जा व्यर्थ होती है। इनका यह मत अग्राह्य इसलिये नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि यह दण्डी के वाक्य 'रस-भाव निरन्तरम्' का ही पुनरुद्धारक है। अभिनवगुप्त को इस बात में तनिक भी संदेह नहीं कि रसात्मा से प्रतिष्ठित कविता-कामिनी के शरीर को यदि अलंकारों से सजाया जाय और उस समय आत्मा की अनुकूलता का ध्यान रखा जाय तो वह अलंकार कटक-कुंडल के समान पृथक् नहीं कुंकुम के अवलेपन के समान शरीर से अभिन्न रहकर उसकी शोभा के आधायक सिद्ध होंगे, यहाँ तक कि स्वयं आत्मा प्रतीत होने लगेंगे। जिस प्रकार बालक खेलते-खेलते राजा का रूप धारण कर लेता है और वह अपने-आपको तथा उसके मित्र भी उसे राजा समझ बैठते हैं, वैसे ही रस-पोषण के लिए प्रयुक्त अलंकार भी प्रधान महत्त्व के भागी हो जाते हैं। "यत्तदुक्तं भवति सुकविः विदग्धपुरन्ध्रीवत् भूषणं यद्यपि श्लिष्टं योजयति, तथापि शरीर-

तापत्तिरेवास्य कष्ट संपाद्या, कुंकुमपीतिकाया इव।.....बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्थमुमुर्थं मनसि कृत्वाह...तत्रेति।"...लोचन।

आनन्दवर्धन से प्रभावित होकर ही अलंकारवादी रुद्रट ने रस का विशेष विवेचन किया और जिस प्रकार अलंकारवादियों ने रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावशान्ति आदि को रसवत्, प्रयस्, उर्जस्वि, समाहित आदि अलंकारों के रूप में अलंकार के ही अन्तर्गत ग्रहण कर लिया था और उन्हें रसवत् अलंकार की संज्ञा दी थी, उसके विपरीत रुद्रट ने उनको अपने ग्रंथ में स्थान ही नहीं दिया। रस को महाकाव्य के लिये आवश्यक मानना, रीतियों का रसानुकूल प्रयोग करने का आदेश देना, शृंगार रस के अन्तर्गत नायक-नायिका भेद का वर्णन करना, शृंगार रस को प्रधान रस मानना तथा काव्य-रसहीन काव्य को शास्त्र के समान उद्वेजक मानना और इस प्रकार शास्त्र तथा काव्य का भेद प्रदर्शित करना एवं रस का औचित्यपूर्ण प्रयोग करना आदि रुद्रट के द्वारा उल्लिखित कई बातें ऐसी हैं जो उन्हें रसदृष्टि से विशेष प्रभावित सिद्ध करती हैं। इसी प्रकार उद्भट ने भी रसध्वनिमत से प्रभावित होकर रसवद् अलंकारों की परिभाषाएं ध्वनिवादियों के अनुकूल उपस्थित की थीं, अलंकारवादियों के अनुकूल नहीं।

रसवदलंकार से जहाँ एक ओर अलंकारवादियों ने रीति आदि के समान रस को भी काव्य का शोभाकर धर्म मानकर उसे अलंकार की कोटि में गिना दिया, वहाँ दूसरी ओर रसवादियों ने रस को काव्यात्मा अतः अलंकार्य मानकर उसे अलंकार से पृथक् सिद्ध किया। जो अलंकार्य है वह स्वयं अलंकार कैसे और किसका होगा ? अतएव वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने रसवदलंकार की परिभाषा ही बदल दी। उन्होंने रसतुल्य अलंकार को 'रसवत्' कहा। यह रसतुल्यता सहृदयों को आह्लाद प्रदान करने में समर्थ हो जाने पर ही उत्पन्न हो सकती है, अन्यथा कोरी कल्पना उत्पन्न करने से तो अलंकारों की ही सृष्टि हो पाती है।

ऐतिहासिक विवेचन के इस प्रपंच को यहीं छोड़कर यदि व्यावहारिक दृष्टि से भी विचार करें तो यह प्रतीत होगा कि मनुष्य में अलंकार-प्रयोग की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो उसके हृदय के भावों को दूसरे तक पहुँचाने, उसके हृदय में वैसे ही भाव जगाने अथवा जगे हुए भावों का प्रभाव बढ़ाने का काम करती है। रस-परिपाक के लिए आवश्यक है विभावानुभावादि की उपस्थिति। श्रव्य-काव्य में इन सबकी योजना दृश्य-काव्य के समान सरल नहीं है। दृश्य-काव्य में सहृदय मंच पर प्रत्यक्ष रूप से जिन्हें देख लेता है, श्रव्य में उन्हीं की कल्पना करनी होती है। कल्पना का यह कार्य जो उसके मानस-चक्षुओं के सामने चित्र या मूर्ति उपस्थित कर सके, अलंकारों के या अप्रस्तुत विधान के द्वारा ही हो पाता है। साधारण कवि, जिसका प्रकृति तथा जीवन से सूक्ष्म परिचय नहीं है, इस अप्रस्तुत-विधान में या तो सफल ही नहीं होता या उसकी ओर वह ध्यान ही नहीं देता। अप्रस्तुत विधान का उद्देश्य यह नहीं है कि किन्हीं भी दो पदार्थों की तुलना कर दी जाये, बल्कि उसका अभिप्राय यह

है कि जिस वस्तु का वर्णन करना है कवि ठीक उसी के समान गुण, कर्म और स्वभाव वाली वस्तु को उसकी तुलना में प्रस्तुत करे। इस योजना में कवि को रस-भाव का ही ध्यान रखना होता है। उदाहरणतः, यदि कहीं शृंगारिक वर्णन के लिए किसी के नख-शिख का वर्णन करना है तो वहाँ सौन्दर्यमय, कोमल और मोहक उपमानों का ही सहारा लेना होगा, किन्तु यदि हास्य रस की योजना करनी है तो तदनुकूल कुछ असुन्दर या विकृत और विचित्र रूपमय वस्तुओं को उपमान के रूप में ग्रहण करना होगा। नाक को पकौड़ी कहने से जो भाव हमारे हृदय में उत्पन्न होगा वह उसे तोते की नाक की तुलना में बैठाने से न होगा। इससे प्रकट होता है कि रस-भाव का विचार करके ही उपमान प्रस्तुत किया जाता है, या करना चाहिए। अतिशयोक्ति अलंकार के द्वारा अद्भुत् की व्यंजना भी की जा सकती है, और विरह की प्रगाढ़ता के समान ही वीरतादि रसों में भी उससे सहायता ली जा सकती है। फिर भी कभी-कभी उसका प्रयोग शुद्ध चमत्कार के लिए भी हो सकता है। ऐसा केवल वहीं होता है, जहाँ भाव की प्रभावपूर्ण सघनता पर ध्यान न देकर कवि दूर की कौड़ी लाने में ही फँस जाता है। यद्यपि शब्दालंकारों, विशेषतः यमक तथा श्लेष को अन्य अलंकारों की तुलना में कुछ हीन समझा जाता है, और आनन्दवर्धन ने रस-निर्वाह की सुगमता के लिए उनको अनुपयोगी सा ही मान लिया है, तथापि यह अलंकार भी जहाँ प्रयुक्त होते हैं, किसी-न-किसी भाव को उपस्थित करने में सहायक हो सकते हैं। हास्य रस में तो यमक और श्लेष दोनों ही बड़े उपयोगी हैं। अन्यत्र भी इनका महत्त्व कम नहीं है। उदाहरणतः, बिहारी के निम्नलिखित दोहे में जहाँ श्लेष का चमत्कार है, उसी के बल पर वहाँ हल्की हास की छटा है जो बिहारी को कृष्ण तथा राधा की युगलमूर्ति के प्रति उनकी माधुर्यपूर्ण देवविषयक रति की भी सूचना देती है।

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि, ए वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

सारांश यह है कि अलंकार तथा रस का सुष्ठु प्रयोग ही कवि का कर्तव्य है। यदि उसका ध्यान वर्ण्य-वस्तु के रूप-गुण-कर्म पर जमा हुआ है, यदि उसके मन में कोई भाव अंकित करने की उत्सुकता वर्त्तमान है, तो वह तदनुकूल ही अलंकारों का चयन करके भाव की प्रगाढ़ता, उसकी विशदता और पाठक के सम्मुख कथितव्य की मूर्तिमत्ता उपस्थित करने में सफल हो सकता है। अलंकार रस के सहायक ही होकर आते हैं, हाँ, उनके दुष्ट प्रयोग से बचने की आवश्यकता अवश्य है।

ध्वनि और रस

हमने पहले ही बता दिया है कि ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन में समन्वय की दृष्टि से वस्तु, अलंकार तथा रस तीनों को ध्वनि में समाहित कर लिया है। उन्होंने रस-ध्वनि को ही प्रधानता दी है और उसी की नियोजना में कवि का साफल्य

माना है। रस को वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रखते हैं। रस को भी ध्वनि के अन्तर्गत ग्रहण करने का कारण यह है कि उसकी अनुभूति व्यंजना के सहारे ही होती है, अभिधा वृत्ति के द्वारा नहीं होती। अभिधा से ही रस-व्यंजना होती तो स्वशब्द, रस, भाव, रसाभास आदि में से किसी का नाम काव्य-पंक्तियों में आ जाने, से भी हो जाती, किन्तु आचार्यों ने उसे दोष माना है, जिससे प्रकट होता है कि रस की व्यंजना ही होनी चाहिए। साथ ही जब तक हमें विभावादि की पूरी सामग्री का व्यंजना द्वारा व्यंग्यार्थ से संकेत नहीं मिल जाता, तब तक रसानुभूति नहीं होती। अभिधेयार्थ में यह गुण नहीं है। रसादि ध्वनि को इसीलिये श्रेष्ठ कहा गया है कि उसमें वाच्यार्थ-ज्ञान के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए सहृदय को तनिक भी रुकने की आवश्यकता नहीं होती, जबकि अन्य प्रकार की ध्वनियों में यह ज्ञान तुरन्त नहीं हो पाता। वहाँ क्रम-ज्ञान बना रहता है, किन्तु रस-ध्वनि में यह ज्ञान नहीं रहता, इसी कारण उसे असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि कहा गया है। रस-ध्वनि की यह भी विशेषता है कि अन्य ध्वनि-प्रकारों के अन्तर्गत आने वाले उदाहरणों को भी व्यापक अर्थ में रस, भाव, रसाभास, भावाभासादि किसी न किसी के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, पूर्वोक्त बिहारी के दोहे के द्वारा अलंकार के माध्यम से व्यक्त कवि का माधुर्यमय देवविषयक रति का संकेत मिलता है। यही कारण है कि ध्वनिवादियों ने गुण, रीति, अलंकारादि सभी काव्य-चमत्कार या काव्य-चारुत्व-हेतुओं को रस से संबद्ध बताया। उन्होंने दण्डी द्वारा कथित वैदर्भ मार्ग के प्राणभूत 'गुण' को रस का उत्कर्षक, वामन कथित रीति को रस की अभिव्यक्ति में सहायक और उपकार करनेवाली मान लिया और अलंकार भी शब्दार्थ के धर्म के रूप में रस के ही उपकारक मान लिये गये। यहाँ तक कि चित्रालंकार को अधम काव्य के अन्तर्गत रखा गया और यमक तथा श्लेष का प्रयोग रस के लिये हानिकारक बताया गया। इन विचारकों ने दोष भी केवल रस के अपकर्षक के रूप में ही स्वीकार किये। निश्चय ही रस की ऐसी प्रधानता स्वीकृत देखकर कविराज विश्वनाथ को काव्यात्मा के रूप में रस को स्वीकार कर लेने में कठिनाई न हुई।

रीति और रस

आचार्य वामन ने रीति को ही काव्यात्मा घोषित करते हुए रस को रीति के गुणों में से एक गुण 'कांति' का आधारतत्व मात्र माना है। रीति को अधिक व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित करके उन्होंने रस को उसका अंग मात्र मान लिया है। रस दीप्ति ही कान्ति है, "दीप्ति रसत्वं कान्तिः"। जिस वैदर्भी की काव्यशास्त्र में बड़ी प्रतिष्ठा है और जिसे वामन ने भी स्वीकार किया है, वह रस-संयुक्त ही बतायी गयी है। राजशेखर ने लिखा है कि वह माधुर्य गुण को प्रस्रवित करती है। यह माधुर्य गुण कानों से चाटा जाता है। विदर्भ देश में रस को उत्पन्न करनेवाले वाग्देवता का निवास-स्थान है।

इसके विपरीत रुद्रट ने रीति को ही रस का अनुगामी मान लिया है और बताया है कि वैदर्भी तथा पांचाली नामक दोनों रीतियाँ माधुर्य से ओतप्रोत होती हैं, अतएव उनका प्रयोग शृंगार, करुण तथा भयानक रसों में होना चाहिए। रौद्र रस में ओज की प्रधानता होती है, अतएव उसके लिए लाटीया तथा गौड़ी रीति निश्चित की गयी हैं। कालांतर में भोज, शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने रीति, प्रवृत्ति तथा वृत्ति को बुद्ध्यारंभानुभाव के अन्तर्गत रखकर इन्हें रस की साधिका के रूप में ही ग्रहण किया है। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने उनका नाम संघटना रखा, जिसे वे दूसरे शब्दों में शोभन रचना ही कहेंगे। पद-संघटना ही रीति है और साहित्यदर्पण के अनुसार अंग-संस्थान की विशेषता रखती है। इस प्रकार रीतिवादियों ने जिस रीति को अंगी माना उसी को रसवादियों ने अंग-संस्थानवत् मानकर वर्ण-विन्यास तथा समास-निर्मित बताया और गुणों पर आश्रित मानते हुए उसे रस से जोड़ दिया, एक अनुगामी की तरह, उपकारकर्त्री की तरह। रीति ने काव्य के वाह्य शरीर को ही सब कुछ मान लिया तो रसवादियों ने केवल आन्तरिकता की खोज की। एक वस्तुनिष्ठ रह गया तो दूसरा व्यक्तिनिष्ठ। दोनों ने अपने-अपने को प्रधान बनाकर दूसरे को अपना सहायक सिद्ध करना चाहा। अन्ततः रस की विजय हुई और पद-संघटना उसी का मुँह देखकर की जाने लगी। अलंकारवादियों की दृष्टि में जो रीति केवल वस्तुतंत्र मात्र रह गयी थी उसे रसवादियों ने एक नया धरातल दिया। पहले जिस कवि के मनःदेश की स्थिति का ध्यान न रखकर केवल बाहरी योजना को महत्त्व दिया गया था, रसवादियों ने रीति को रस-गुणाश्रित मानकर उस कवि की मनःस्थिति को महत्त्व प्रदान कर दिया। पहले रीति अंग्रेजी के 'डिक्शन' या 'कम्पोजीशन' शब्द की समानार्थक थी तो बाद में वह 'स्टाइल' की सूचक हो गयी जिसमें कवि का व्यक्तित्व प्रकट होने लगा।

रीति के प्रसंग में गुणों की चर्चा आ जाने से उनके साथ रस के सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना उचित होगा। गुणों को रस का धर्म माना गया हैं, किन्तु अलंकारवादी अलंकार को ही काव्य का शोभाकर धर्म मानते हैं। वामन ने अलंकारों को गुणों द्वारा प्रस्तुत की गयी काव्य-शोभा का उत्कर्षक स्वीकार किया है, परन्तु आचार्य मम्मट ने गुणों को रस का उपकारक तथा उनके साथ नित्य-सम्बन्ध वाला बताया और अलंकारों को अनित्य मान लिया। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने भी कहा था कि "गुण काव्य के धर्म हैं और अलंकार शब्द तथा अर्थ से सम्बन्ध रखने के कारण शब्दार्थ के।" हमारा शरीर नहीं हमारी आत्मा गुण-युक्त कहलाती है, अतएव रस से ही इनका सम्बन्ध हो सकता है। गुणों की शब्द-धर्मिता शौर्यादि गुणों को शरीराश्रित धर्म मान लेने के समान औपचारिक मात्र है।

भरत मुनि ने श्लेष, प्रसाद, माधुर्य, समता, समाधि, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता तथा कान्ति नामक दस गुण माने थे, और कालांतर में उनकी संख्या चौबीस तक भी पहुँची, किन्तु आनन्दवर्धन ने केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन

गुण ही स्वीकृत किये। अन्ततः यही चले। इनका रसों से इस प्रकार संबंध बताया गया है —

माधुर्य चित्तद्रुति का कारण है। हृदय का द्रवण या तो विप्रलंभ शृंगार में होता है या करुण रस में। अतएव माधुर्य का संबंध इन रसों से माना गया। मम्मट ने शान्त में भी माधुर्य की सत्ता स्वीकार की है। आवेशरूप दीप्ति का प्रकाश रौद्र, वीर तथा बीभत्स रस में होता है। यही ओज है। चित्त-विस्तार रूप प्रसाद एक प्रकार की साधारण स्थिति है, जिसमें आवेशादि नहीं रहते। इसका प्रयोग सभी रसों के लिए हो सकता है। यद्यपि ओजगुण के द्वारा वीरादि रसों की सिद्धि के लिए दीर्घसमासा संघटना ही उचित मानी गयी है, किन्तु असमासा प्रसादमयी संघटना से भी कभी-कभी वक्ता के कारण वीरादि का भान हो जाता है।

वक्रोक्ति और रस

कुन्तक ने लोकोत्तर चमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धिअर्थात् अलौकिक आह्लाद को उत्पन्न करनेवाले वैचित्र्य को वक्रोक्ति कहा है। उन्होंने उसे विचित्रामिधा भी कहा है और वैदग्ध्य-भंगी-भणिति भी। विदग्धता से उनका तात्पर्य है कवि-कर्म की कुशलता। विच्छिति, चमत्कार या चारुता है 'भंगी'। कथन-प्रकार ही भणिति है। इस प्रकार वक्रोक्ति एक कथन-प्रकार है जो कवि-कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार पर आश्रित है। काव्यकला की इस सिद्धि के लिए कवि शब्दार्थ के अनेक तत्वों का व्यवहार करता है, जिनमें एक रस भी है। अतएव रस भी, कुन्तक के विचार से, वक्रोक्ति की परिसीमा में घिर आता है, ठीक वैसे जैसे ध्वनि के अन्तर्गत आ गया था। दोनों ही सिद्धान्त रस को अन्य बातों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानकर भी उसकी इस सीमा का मानों निर्देश कर रहे हैं कि ध्वनि या वक्रोक्ति रस-निरपेक्ष होकर भी काव्य का रूप स्थिर कर सकती हैं, किन्तु रस इनसे भिन्न नहीं रह पाता। वक्रोक्तिवाद के अनुसार वक्रोक्तिहीन भाव काव्य की कोटि में नहीं आते, वक्रोक्ति से ही काव्य जीवित है अतएव वक्रोक्ति ही प्राण है। भाव जब तक कला से आभूषित अर्थात् कल्पना से रंजित होकर चमत्कारकारि न बन जायेंगे तब तक काव्य-सिद्धि नहीं हो सकती। फिर भी वक्रोक्ति के सभी भेदों—प्रसंग, प्रबन्ध, प्रकरण, वचन आदि—में कुन्तक ने रस को ही ध्यान में रखा है। उनका विचार है कि वस्तु-स्वभाव काव्य में अलंकार्य होता है, अलंकार नहीं। वस्तु-स्वभाव चेतन तथा अचेतन भेद से दो प्रकार का है, जिनमें चेतन ही प्रधान है। कमनीय रस-परिपाक से चेतन, देवता, असुर आदि का स्वभाव अत्यन्त चमत्कार-कारि होता है। रस को उद्रिक्त करने पर ही वस्तु के स्वभाव में मधुरता आती है। देवता आदि के द्वारा जब कदर्थना रहित तथा प्रत्यक्ष-मनोहर रति आदि भाव परिपुष्ट होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं, तभी उन वस्तुओं का वास्तविक चमत्कार स्फुट होता है।

कुन्तक ने प्रकृति के पदार्थों में भी रसोद्दीपन-क्षमता को ही महत्त्व दिया है और वे स्वशब्द से रसप्रतीति स्वीकार नहीं करते।

कुन्तक सन्दर्भानुसार रस-प्रयोग में विश्वास रखते हैं, इतिवृत्त मात्र के निर्वाह में नहीं। उनका विचार है कि निरन्तर रसोद्गार धारण करने वाले संदर्भों से युक्त कवि की वाणी ही जीवनमयी होती है। अतएव रस-प्रयोग के समय यदि एक ही रस के परिपाक पर ध्यान रखा जायगा तो वह कुछ समय में निरन्तर एक रहने वाले भोजन के समान अरुचिकर सिद्ध होगा। इसी से बचने के लिए कवि अंग रसों का भी वर्णन करता चलता है। इसी तरह कहीं-कहीं इतिवृत्ति मात्र भी बुरा नहीं। रस-प्रयोग का उनकी दृष्टि में इतना महत्त्व है कि वे कहते है कि काव्यामृत का रस उनको समझने वाले के अन्तःकरण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है। इसी रसतत्व की प्रधानता को ध्यान में रख कर ही उन्होंने रसवत् अलंकार की नयी परिभाषा देते हुए कहा है कि रसतत्व के विधान के कारण सहृदयहृदयाह्लाद-कारक अलंकार भी जब रस के समान हो जाता है, तब उसे रसवत् कहते हैं। यह अलंकार ही 'सर्वालंकारजीवित' है। निश्चय ही वक्रोक्ति संप्रदाय में रस की परम प्रतिष्ठा के इनसे अधिक और प्रमाण क्या हो सकते हैं ?

निष्कर्ष

अभी तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रस-सिद्धान्त एक व्यापक सिद्धान्त है, जिसकी मान्यता किसी न किसी रूप में सभी काव्य-समीक्षा-सिद्धान्तों में बनी रही है। रस निष्पन्न रूप में उपस्थित करना ही यद्यपि सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है, किन्तु सभी स्थलों पर उसका परिपाक संभव न होने से भाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावशबलता तथा रसाभास तक से संतोष कर लिया जाता है। व्यापक अर्थ में इन सबको पृथक् रूप में कहीं देखकर भी हम 'रस है' ऐसा कह देते हैं। वस्तुतः जिसे हम काव्य में रस कहते हैं, वह काव्य में न होकर सहृदय के हृदय में ही होता है, किन्तु काव्य-पाठ से अथवा दृश्यकाव्य के दर्शन से सहृदय में प्रतीत होने के कारण हम साधन में ही उसकी स्थिति बताने लगते हैं। इससे प्रकट होता है कि रस-सिद्धान्त में विभाव अथवा वस्तु-सामग्री का विषयि से कम महत्त्व नहीं है। बिना विभावादि के रस निष्पन्न ही नहीं होता, बल्कि कहीं-कहीं तो केवल विभाव उपस्थित कर देने से ही रस अभिव्यक्त हो जाता है, जैसे, शृंगार में आलंबन का नखशिख-निरूपण भी पर्याप्त मान लिया जाता है। कारण यह है कि उससे हमारे सामने एक साक्षात् मूर्ति उपस्थित हो जाती है। इससे प्रकट होता है कि रस काव्य में यदि पूरी योजना के रूप में उपस्थित हुआ है तो वह मूर्ति का विधायक बनकर ही आयेगा। साथ ही रस-सिद्धान्त मानव मन में समान रूप से छिपे हुए भावों को उघार कर सबकी समानता सिद्ध करने वाला एक मानवतावादी सिद्धान्त है, क्योंकि रसानुभूति

तब तक नहीं हो पाती जब तक हमारा हृदय सत्त्वप्रधान दशा में नहीं पहुँच जाता। यह सबको समान धरातल पर लाकर उस बात को भी हमारे हृदय पर अंकित कर देता है जिसे हम बौद्धिक स्तर पर ग्रहण नहीं कर पाते। इसीलिये केवल उपदेशदाता काव्य हमें उतना आकर्षित नहीं करते, जितने रसात्मक उपदेश-मिश्रित कान्तासम्मित काव्य करते हैं। मानव-मन की सभी भूमियों का उद्‌घाटन करते हुए भी रस-वादी नैतिक सीमाओं से बाहर जाना पसन्द नहीं करता। मूलतः शृंगार भी उसके यहाँ शुचि, मेध्य और उज्ज्वल माना गया है। अनौचित्य को वह रसभंग करने का प्रधान कारण मानता है और रसाभास का विवेचन करते हुए सामाजिक आदर्शों को हानि पहुँचाने वाले सभी व्यापारों का नैतिक दृष्टि से तिरस्कार करता है। रस-की इसी व्यापिनी दृष्टि, मानव मन की गहन परख, औचित्य के प्रति उसके आग्रह, काव्य कला में सजीवता के उत्पादन की क्षमता तथा लौकिक व्यापारों से कुछ देर के लिए मुक्ति दिलाकर अलौकिक ब्रह्मानन्द सदृश आनन्द की उपलब्धि में सहायता-सिद्धि के कारण ही यह सिद्धान्त, आज तक जीवित ही नहीं है, काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक सम्मानित भी है। अपनी सीमाओं में भी यह अभिनन्दनीय है।

रस-निरूपण

[*श्री मोहनवल्लभ पंत, आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग*
सरदार वल्लभभाई विद्यापीठ, वल्लभ विद्यानगर]

काव्यानंद के संबंध में कुछ जिज्ञासा

काव्य उस भावपूर्ण रमणीय रचना को कहते हैं जो मावन-हृदय को प्रभावित कर चित्त में एक अलौकिक आनंद का संचार करती है, श्रव्य-काव्य को पढ़ने से अथवा दृश्य-काव्य का अभिनय देखने से सहृदय पाठक या सामाजिक के हृदय में जिस 'आनंद' की अनुभूति होती है उसके संबंध में तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं :—

(१) काव्य के पाठक या नाटक के प्रेक्षक के मन में उत्पन्न 'अलौकिक आनंद' का स्वरूप क्या है ?

(२) इस 'आनंद' की अनुभूति किस प्रकार होती है ?

(३) और सबसे कठिन किंतु महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि :—

शकुंतला की विदा और सीता-वनवास जैसे करुण दृश्य पाठक या प्रेक्षक के मन में दुःख न पहुँचा कर उसी करुणा के द्वारा आनंद की अनुभूति किस प्रकार कराते हैं ?

जिज्ञासा का समाधान भरत के रस-सूत्र में

भरत मुनि साहित्यशास्त्र एवं काव्यानंद के सर्व प्रथम तत्वविद् माने जाते हैं और उनका 'रस-सूत्र' इन प्रश्नों का सर्व प्रथम और प्रामाणिक उत्तर है। नाट्यशास्त्र में रूपक के तत्वों की विवेचना करते हुए उन्होंने 'रस-तत्व' को प्रधानता दी है और छठे एवं सातवें अध्यायों में रस का विस्तार से वर्णन किया है। भरत के मत के अनुसार विश्वनाथ ने इस 'अलौकिक आनंद' या 'रस' को काव्य की 'आत्मा' स्वीकार किया। भरत के अनुवर्ती आचार्य काव्य के बाह्य रूप या आवरण में ही उलझ गये। किसी ने 'अलंकार' अर्थात् शब्द और अर्थ के चमत्कार तक, किसी ने 'रीति' अर्थात् भावों की योजना के अनुरूप विशिष्ट पद-रचना तक, किसी ने 'वक्रोक्ति' अर्थात् उक्ति-वैचित्र्य या कथन के अनूठेपन तक, किसी ने 'ध्वनि' तक और किसी ने वस्तु, अलंकार, रस, आदि के 'औचित्य' तक ही अपने को सीमित कर दिया है। फिर भी इन सभी आचार्यों ने कभी-

कभी मूक भाव से और यदा-कदा स्पष्ट रूप से काव्य में 'रस-तत्व' और उसकी हृदय-स्पर्शिता को स्वीकार किया ही है।

रस-पद्धति का महत्त्व

वस्तुतः काव्यानंदानुभूति की उक्त शैलियों में से प्रत्येक का अंतर्भाव 'रस' में अनायास ही किया जा सकता है, 'अलंकारवादी' अलंकारों को काव्य का उत्कर्ष-विधायक मानते हैं। परन्तु उत्कर्ष किसका ? जो शोभा बढ़ाने वाला या उत्कर्ष-विधायक है उस अलंकार को तो काव्य की 'आत्मा' कहा नहीं जा सकता। 'रस' का तिरस्कार भी वे लोग नहीं करते—'रसवत्' और 'प्रेयान्' अलंकारों द्वारा उन्होंने 'रस' और 'भाव' के अस्तित्व को स्पष्ट स्वीकार किया है। अलंकारवादी रुद्रट के अनुसार तो काव्य को रसयुक्त होना ही चाहिए, रीतिवादी विशिष्ट-पद-रचना को 'रीति' कहते हैं। यह विशिष्टता गुणों में होती है और इन गुणों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रस से होता है, जैसे शृंगार और करुण रसों में 'माधुर्य' गुण, और रौद्र, वीर एवं अद्‌भुत रसों में 'ओज' गुण का होना आवश्यक है। 'प्रसाद' गुण तो सभी रसों के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार 'गुण' और 'रीति' काव्य के साध्य नहीं, साधक मात्र रह जाते हैं। और साध्य होता है 'रस', 'वक्रोक्तिवादी' विदग्ध (चतुर) पुरुषों की वाणी को 'वक्रोक्ति' कहते है। यह वक्रोक्ति (कथन में अनूठापन) साधारण जनों की सरलोक्ति से भिन्न होती है। कुंतक ने 'वक्रोक्ति' का जो व्यापक अर्थ लिया है उससे तो उसके बिना कोई अलंकार ही नहीं रह जाता। इस प्रकार 'वक्रोक्ति' का समावेश अलंकार-पद्धति में ही किया जा सकता है। परन्तु वक्रोक्तिवादी वाग्वैदग्ध्य को प्रधान मानते हुए भी 'रस' को ही काव्य का प्राण मानते हैं। ध्वनिवादी तो स्पष्ट ही कहते हैं कि ऐसी कविता ही नहीं करनी चाहिए जो रस-विहीन हो, ध्वनि को प्रधान मानकर भी वे 'रस' ध्वनि को ही महत्ता देते हैं। वे वस्तुतः 'रस' को ही काव्य की 'आत्मा' स्वीकार कर वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को 'रस' के प्रति सहायक मात्र मानते हैं।

भरत का रससूत्र

इस प्रकार भरत मुनि द्वारा प्रवर्तित, मम्मट, दंडी, वामन, आदि द्वारा अंशतः स्वीकृत, कुंतक द्वारा मान्य तथा आनंदवर्धन एवं अभिनव गुप्त द्वारा पूर्णतः प्रतिष्ठित यह रस-पद्धति आज विद्वानों में सर्व मान्य है और व्यवहारतः अन्य सभी पद्धतियों का उसमें समावेश हो जाता है। अतः सहृदय काव्य-मर्मज्ञों को आह्लादित करने वाले काव्य के 'आत्मा' स्वरूप 'रस' का परिचय प्राप्त करने के लिए भरत के रस-सूत्र को समझना आवश्यक है। वह प्रसिद्ध रससूत्र है:—

"विभावानुभावव्यभिचारसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

अर्थात् "विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।"

इस रस-सूत्र की व्याख्या करने के पूर्व हम इसमें आये हुए शब्दों का स्पष्टीकरण करेंगे।

विभाव, आलंबन और उद्दीपन

'विभाव' शब्द कारण, निमित्त और हेतु का पर्याय-वाचक है, अर्थात् विभाव किसी कार्य का—यहाँ भाव का—कारण होता है। भाव एक प्रकार का विकार है, कोई भी विकार अकारण ही उत्पन्न नहीं होता, अतएव जो वस्तु या बाह्य परिस्थिति भाव को विभावित करने—उत्पन्न करने—में हेतुभूत होती है उसे साहित्य-शास्त्र में 'विभाव' कहते हैं। शरद्‌रा का का पूर्ण चंद्र अपनी सोलह कलाओं से वसुधा को सुधासिक्त कर रहा है। ऐसी वैभव-संपन्न रजनी के दर्शन से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हृदयों में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न होंगे। दिन भर के स्वाध्याय से श्रान्त छात्र ऐसी सुहावनी रात में अपनी मित्र-मंडली के साथ किसी शान्त सरोवर में नौका-विहार को उत्कंठित होगा तो शाप-भ्रष्ट यक्ष के समान कान्ता-वियुक्त कोई विरही इस चाँदनी से उल्लसित होने के बदले विरहाग्नि से अत्यन्त उत्तप्त हो उठेगा। इस उत्कंठा या ताप को उत्पन्न करने वाले कारणों को ही शास्त्रज्ञ 'विभाव' कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं—'आलंबन' और 'उद्दीपन'। आलंबन विभाव ही भाव के उदय का मूल कारण है, क्यों कि रस की स्थिति ही इसके आश्रय या आलंबन से होती है। 'उद्दीपन' तो भाव का पोषक, सहायक और वर्धक मात्र है। उसका महत्त्व आलंबन के संबंध से ही है अन्यथा नहीं। उपर्युक्त उदाहरण में मित्र अथवा कान्ता एवं आस-पास की परिस्थितियाँ ही उत्पन्न होने वाले भावों के कारण होते हैं। मित्र और कान्ता दोनों कारणों के अभाव में उत्कंठा एवं उत्ताप के भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकते। अतः ये दोनों भाव क्रम से मित्र और कांता पर अवलंबित होने के कारण 'आलंबन-विभाव' हैं। पूर्णिमा का चंद्र और ज्योत्स्ना से आवृत शुभ्र रजनी मित्र की उपस्थिति के कारण पर्यटन की उत्कंठा और कांता के अभाव में विरही के शोक, दोनों अनुभूतियों को तीव्र करती है। इसलिये इन्हें 'उद्दीपन विभाव' कहा जायगा। विभाव और भावों के इस कार्य-कारण संबंध को स्पष्ट करते हुए भरत करते हैं, "रति नामक आमोदात्मक भाव प्रियजन (आलंबन) द्वारा उत्पन्न होकर ऋतुमाल्यादि (उद्दीपन) विभावों से तीव्रता को प्राप्त होता है।"

अनुभाव

आलंबन और उद्दीपन विभावों के योग से मन में भावोत्पत्ति होने पर मनुष्य के मुख पर उस भाव के अनुरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ दिखायी देने लगती हैं। हर्षित होने पर नेत्र विकसित हो जाते हैं और मुख पर हास्य खिल उठता है; किंतु शोक में आँखों से आँसू बहने लगते हैं और मुख मलिन हो जाता है। सैर करने गये हुए छात्र अकस्मात् सिंह-गर्जन सुनकर भयभीत हो उठते हैं, उनका शरीर काँपने

लगता है, घिग्घी बँध जाती है, मुख से वचन नहीं निकलते, त्रस्त होकर वे इधर उधर भागने लगते हैं, शत्रु के प्रति क्रोध आने पर हमारी आँखें लाल हो जाती हैं, होंठ फड़कने लगते हैं। इन उदाहरणों में दिखायी पड़ने वाले भिन्न-भिन्न आंगिक, वाचिक या सात्विक विकार भिन्न-भिन्न भावों के कारण उत्पन्न होते हैं और इन विकारों अथवा चेष्टाओं से यह समझ में आ जाता है कि कौन सा भाव उत्पन्न हुआ है। मुख में हास्य दिखायी दे तो 'हर्ष', अश्रु एवं म्लानता से 'शोक', छात्रों की खलबली में 'आवेग', रक्तिम नेत्रों और स्फुरित अधरों से 'क्रोध', कंपन से 'भय', नासिका-संकुचन से 'घृणा'—ये भाव स्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार विभावों के योग से भाव की उत्पत्ति होने पर भावों के पीछे-पीछे (अनु) उत्पन्न होकर सामाजिक को उनकी प्रतीति कराने वाले इन आंगिक, वाचिक और सात्विक चेष्टाओं का नाम ही 'अनुभाव' है। विभावों द्वारा भावों के उत्पन्न होने भर से ही काम नहीं चलता, उनको दूसरों की दृष्टि में लाना भी आवश्यक है। अनुभाव तो इस बात के सूचकमात्र होते हैं कि किस भाव की उत्पत्ति हुई है, विभावों द्वारा उत्पन्न और अनुभावों द्वारा सूचित ये भाव ही काव्यार्थ, या 'रस' की प्रतीति कराते हैं, तब प्रश्न यह है कि ये भाव क्या होते हैं ?

भाव

निर्विकार मन में किसी भी कारण से कोई भी विकार उत्पन्न हो तो उसे 'भाव' कहते हैं, भिन्न-भिन्न प्रसंगों में और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मनुष्य को भिन्न रूप से भाव की अनुभूति होती है। चिरकाल के पश्चात् गुरुकुल से लौटे हुए पुत्र से मिलने पर माता का हृदय 'वात्सल्य' से उमड़ आता है। प्रिय स्वजन को प्रवास गमनोद्यत देखकर मन 'व्यथा' से भर जाता है; मांस-मेद-मल-मूत्र या रक्त से लथपथ शव को, अथवा हड्डी चिचोरते हुए कुत्ते को देखकर मन में 'घृणा' उत्पन्न होती है; शत्रु के उत्कर्ष को देख कर उस पर विजय पाने का 'उत्साह' होता है; गुरुजनों की निंदा सुनकर 'क्रोध' उत्पन्न होता है। ये सब हर्ष, शोक, घृणा, उत्साह, क्रोध आदि चित्त-वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न स्थितियों में और भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होती हैं। इन्ही को 'भाव' कहते हैं। ये भाव असंख्य होते हैं। परंतु जिन चित्त-वृत्तियों का वर्णन काव्य में आया है अथवा नाटकों में जिनका अभिनय किया जाता है उन सबको भरत ने ४९ भावों में गिना दिया है, इनमें से ८ भाव 'स्थाई', ३३ भाव 'व्यभिचारी' और ८ 'सात्विक' भाव कहे गये हैं। मनुष्य के मन में आने वाला कोई भी मनोविकार इन ४९ भावों में से किसी-न-किसी प्रकार मनोविकारों में अंतर्भूत हो जाता है।

इन चित्तवृत्तियों पर विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से कुछ वृत्तियाँ बहुत देर तक मन में स्थायी नहीं रहतीं। चित्त स्वयं चंचल है, अतः उसमें

उत्पन्न होने वाली ये वृत्तियाँ भी चंचल हों तो क्या आश्चर्य। फिर भी अनुभव ऐसा कहता है कि कोई-कोई चित्त-वृत्ति हृदय में इतनी गहरी बैठती है कि अन्य चंचल वृत्तियाँ चाहे उन पर कितने ही खेल खेलें तो भी अपने स्थान से तनिक भी विचलित नहीं होतीं। उत्साह-संपन्न मनुष्य के मन में कभी शत्रु की दुष्टता पर 'क्रोध' होगा तो कभी यशःप्राप्ति की 'उत्कंठा' या पराजय की 'आशंका'; किसी समय शत्रु से अत्यन्त कष्ट पाने के कारण उसे 'ग्लानि' होगी तो कभी अंगीकृत कार्य में थोड़ा भी यश पाने पर 'हर्ष' होगा; क्षण भर के लिए उसे अपने पर 'गर्व' होगा तो दूसरे ही क्षण 'संशय', 'तर्क', आदि चित्त-वृत्तियाँ उसके मन में उत्पन्न हो जावेंगी, परन्तु इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति अथवा विलय होते हुए भी उसके मन में 'उत्साह' नामक भाव का अभाव कभी न होगा। क्रोध, उत्कंठा, आदि अस्थिर भाव समुद्र की तरंगों के समान उत्साह-समुद्र में क्षण-क्षण में उठते और तत्काल विलीन होते रहेंगे।

स्थायी-भाव

चंचल भावों से अपेक्षाकृत अधिक काल तक स्थिर रहने वाले भाव ही 'स्थायी-भाव' कहलाते हैं। चंचल भाव इन्हीं स्थायी-भावों के सहायक होते हैं और उनका पोषण कर स्वयं विलीन हो जाते हैं। भरत के रससूत्र में स्थायी-भाव का उल्लेख नहीं है; परन्तु रसोपकरणों का वर्णन करते हुए उन्होंने रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय इन आठ स्थायी-भावों का उल्लेख किया है और मनुष्यों में राजा एवं शिष्यों में गुरु के समान स्थायी-भाव को सब भावों में महान् माना है। 'स्थायी' विशेषण से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक 'स्थायी-भाव' एक स्थिर मनोवृत्ति है जो कारण-विशेष से जागृत एवं लक्षण-विशेषों द्वारा व्यक्त होकर काव्य या नाटक के रसास्वाद में समर्थ होती है।

व्यभिचारी-भाव

अस्थिर मनोवृत्तियों को भरत ने 'व्यभिचारी-भाव' कहा है और इनकी संख्या ३३ बतायी है। ये व्यभिचारी-भाव वे अचिर-स्थायी मनोवृत्तियाँ हैं जो कारण-विशेष द्वारा जागृत एवं अनुभाव-विशेषों से व्यक्त हो स्थायी-भाव का पोषण कर स्वयं विलीन हो जाती हैं। मन की अन्य वृत्तियों के सहयोग से ये व्यभिचारी-भाव काव्य या नाटक में रसास्वाद में परिणत होते हैं। ये भाव कई रसों में संचरण करते हैं, इसलिये पीछे के आचार्यों ने इन्हें 'संचारी', और स्थायी-भाव के सहकारी होने से 'सहकारी' नाम दिया है। शत्रु-विजय का 'उत्साह' वीर-रसों का स्थायी-भाव है तो विजय की 'उत्सुकता', शत्रु को कैसे जीता जाय यह 'वितर्क', लक्ष्य की सफलता पर 'हर्ष' और 'गर्व', किसी उपाय की 'स्मृति', शत्रु के प्रबल पड़ने पर 'धृति'—ये व्यभिचारी-भाव होंगे। एक ही भाव कभी 'स्थायी' होता है तो कभी 'व्यभिचारी';

'शोक' करुण-रस में 'स्थायी-भाव' है तो वियोग-शृंगार में 'व्यभिचारी-भाव'; और 'क्रोध' रौद्र-रस में 'स्थायी-भाव' है तो वीर-रस में 'व्यभिचारी-भाव'।

सात्विक-भाव

भरत के गिनाये हुए ४९ भावों में से शेष, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्विक-भाव हैं। वस्तुतः ये मनोवृतियाँ नहीं उनको व्यंजना के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं, शरीर पर दृश्यमान होने के कारण ये अनुभाव की ही कोटि में आते हैं। परन्तु भरत इन्हें अनुभाव नहीं मानते। उनके मत से सात्विक-भाव मूलतः वे मनोवृत्तियाँ हैं जिनके कार्य स्तंभ, स्वेद, रोमांचादि बाह्य लक्षण होते हैं। उक्त बाह्य लक्षण मनोवृत्तियों के अनुभाव मात्र हैं। व्यभिचारी-भावों में भी 'ग्लानि' और 'श्रम' जैसे 'भाव' गिनाये गये हैं जो मनोवृत्तियों के नहीं किन्तु उनके ही बाह्य लक्षणों के सूचक हैं। परन्तु वहाँ भी इन्हें मनोभाव ही माना है—अनुभाव नहीं। ये आठ सात्विक-भाव भी वस्तुतः मनोवृत्तियाँ ही हैं जिनके परिणाम स्वरूप ये स्तंभादि बाह्य चेष्टाएँ उत्पन्न होती हैं। रति, शोक, क्रोध, भय आदि स्थायी-भाव विभावादि से जागृत होकर क्रमशः इतने तीव्र हो जाते हैं कि स्तंभ, स्वेद, रोमांचादि में स्थित मन, सामाजिकों को शारीरिक स्तंभ, स्वेद, रोमांचादि के द्वारा प्रतीत होने लगता है। अतः ये पहले मन के धर्म हैं तब शरीर के। शरीर-धर्म की प्रधानता के कारण सात्विक मनःस्थितियों को भी वे ही नाम दिये गये हैं जो उनके अनुभावों के नाम हैं। अनुकर्ता (नट) कृत्रिम परिस्थितियों में उत्पन्न सुख-दुःखादि का अनुकरण तब तक नहीं कर सकता जब तक वह कल्पना द्वारा उस प्रकार की मनःस्थिति न उत्पन्न कर ले। शोक के बिना ही उसे दुःख का अभिनय कर 'अश्रु' दिखाने पड़ते हैं और सुख के अभाव में भी उसे 'पुलक' अभिनय करना पड़ता है। इसी सात्विक मनःस्थिति को 'सात्विक' कहा गया है। सात्विक मनःस्थिति में उपर्युक्त आठ अनुभाव प्रमुखता से दिखायी देते हैं।

अब रहे रस-सूत्र के 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द। सूत्र के सिलसिले में इन शब्दों का स्पष्ट अर्थ न होने के कारण आचार्यों ने इनकी अलग-अलग ढंग से व्याख्या की और इस प्रकार इन दोनों शब्दों को लेकर चार भिन्न-भिन्न मत खड़े हो उठे। यहाँ संक्षेप में ही उनकी चर्चा की जाती है।

भट्ट-लोल्लट का रसोत्पत्तिवाद

इस सूत्र की व्याख्या करने वाले प्रथम आचार्य भट्टलोल्लट थे। उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' लिया और 'संयोग' का अर्थ लिया 'विभावादि' के साथ 'स्थायी-भाव' का 'कार्य-कारण-सम्बन्ध'। उनके अनुसार विभावादि कारण हैं और रस 'कार्य'। विभावादि के द्वारा 'अनुकार्य' दुष्यंतादि में 'रस' की 'उत्पत्ति' होती है। नट (अनुकर्त्ता) अनुकार्य की वेशभूषा, आकृति, क्रिया आदि द्वारा ऐसा अभिनय करता है कि सामाजिक

को अनुकार्य में ही दुष्यंतादि का भान होने लगता है। भिन्न होते हुए भी वह नट को ही शकुंतला से प्रेम करने वाला दुष्यंत मान लेता है। इस आरोपित 'रस' की प्रतीति सामाजिक के मन में आनन्द का कारण होती है। सामाजिक के हृदय में वस्तुतः रस नहीं रहता, वरन् उसका प्रतीतिजन्य आनन्द रहता है।

रसोत्पत्तिवाद-समीक्षा

भट्टलोल्लट का मत अनुकार्य, अनुकर्ता और सामाजिक तीनों की दृष्टि से सदोष है। राम, दुष्यंत आदि अनुकार्यों में रस की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। उनमें रस-स्थिति स्वीकार कर भी लें तो रंगमंच पर वास्तविक दुष्यंत-शकुंतला के अभाव में नाटक में रस होना ही नहीं चाहिए। दूसरे, अनुकार्य के सुख-दुःख लौकिक सुख-दुःख होते हैं और लौकिक सुख-दुःख सर्वदा आनन्द (रस) के कारण नहीं होते। रोहिताश्व के मरण पर शैव्या को शोक ही हुआ होगा, आनन्द नहीं। पर काव्य या नाटक में करुण-प्रसंग भी आनन्द के कारण होते हैं, यह अनुभव-सिद्ध है। अनुकर्त्ता में तो, इस मत के अनुसार, रस का आरोप मात्र होता है; अतः उसमें रस स्थिति नहीं मानी जा सकती। अनुकार्य के विभावादि अनुकर्त्ता के विभावादि नहीं हो सकते। कोई भी अनुकर्त्ता (नट) यह कहता हुआ नहीं सुना जाता कि भावों को उत्पत्ति वस्तुतः उसो में होतो है। सामाजिक में ये रस की स्थिति मानते ही नहीं। किसो एक काल में दुष्यंतादि अनुकार्य में उत्पन्न होने वाला रस किसी दूसरे काल में अनुकर्त्ता (नट) में आरोपित होने की कल्पना से सामाजिक को आनन्द कैसे मिल सकता है? सामाजिक में आनन्द की स्थिति मानने के लिए उसी में कार्य-कारण की उपस्थिति मानना आवश्यक है। जिस प्रकार देवदत्त को लड्डू खाते देख कर यज्ञदत्त को आनन्द नहीं मिल सकता, उसी प्रकार अनुकार्य में दुष्यंतादि का आरोप करने से सामाजिक को रस का आस्वादन नहीं हो सकता। जहाँ कारण होगा वहाँ कार्य भी होगा। सामाजिक में न रति है न विभावादि कारण। तब उसे आनन्द कैसे होगा? रस की 'उत्पत्ति' मानने में भी एक बाधा है। कार्य-कारण में पूर्वापर सम्बन्ध होता है, अर्थात् पहले कारण होता है पीछे कार्य। विभावादि कारणों से रस की 'उत्पत्ति' स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि पहले विभावादि कारण होंगे, फिर 'रस'-रूप कार्य। पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं है। यहाँ रस का विभावादि से पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं, युगपत्-सम्बन्ध—अर्थात् विभावादि एवं रस की स्थिति साथ-साथ है। करुणादि से आनन्द क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर भी इस व्यवस्था से नहीं मिलता।

शंकुक का रसानुमितिवाद

इन आपत्तियों से बचने के लिए शंकुक ने अपना 'रसानुमितिवाद' चलाया। इन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमान' और 'संयोग' का अर्थ विभावादि के साथ स्थायी-भाव का 'अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध' लिया है, अर्थात् 'रस' अनुमाप्य है और 'विभावादि' अनु-

मापक। रस सूत्र को स्पष्ट करने के लिए ये उसमें 'नटे' (नट में) शब्द का अध्याहार करते हैं। शंकुक के मत से रस-सूत्र की व्याख्या इस प्रकार है:—

"कुशल अनुकर्त्ता (नट) अनुकार्य (दुष्यंतादि) के ही विभावादि का सफल अभिनय करता है तो सामाजिक 'चित्र-तुरंग-न्याय'* से उसे (अनुकर्त्ता को) ही अनुकार्य मान बैठता है और अनुकर्त्ता के कृत्रिम विभावादि को अनुकार्य (दुष्यंतादि) के ही यथार्थ विभावादि मानकर उसमें ही रति, क्रोध, आदि का 'अनुमान' कर लेता है। अनुमान का आधार कृत्रिम होते हुए भी अनुकार्य के अभिनय-कौशल के कारण वे विभावादि सामाजिक को सत्यवत् प्रतीत होते हैं और उसे रत्यादि स्थायी-भावों का अनुमान होने लगता है। वह अभिनय में इतना निमग्न हो जाता है कि क्षण भर के लिए उसे अनुकार्य-अनुकर्त्ता के भेद का ध्यान ही नहीं रहता। नट-प्रदर्शित विभावादि की सहायता से अनुकार्य सदृश प्रतीत होने वाले अनुकर्त्ता में वह अनुमान-परम्परा द्वारा रत्यादि की उपस्थिति मान लेता है और नट से स्वयं उसका इतना तादात्म्य हो जाता है कि 'वह दूसरे में रत्यादि का अनुभव कर रहा है', इसका उसे भान भी नहीं होता। यह अनुमान लौकिक अनुमान से सर्वथा भिन्न और अलौकिक होने के कारण निश्चय ही आनन्द का कारण है। अभिनय में तन्मय अनुकार्य (नट) को यह बोध नहीं रहता कि मैं किसी का अनुकरण कर रहा हूँ। अपने को ही अनुकार्य (दुष्यंतादि) समझने के कारण उसे ही रसास्वाद होने लगता है।"

रसानुमितिवाद—समीक्षा

भट्ट लोल्लट के दो प्रधान दोषों से शंकुक भी न बच पाये। इस बात में दोनों एक मत हैं कि नाटक में अभिनय करने वाला नट वास्तव में 'शकुंतला से प्रेम करने वाला दुष्यंत ही है।' सामाजिक को इस प्रकार का ज्ञान ही उसके आनंद का कारण होता है। यहाँ दोनों में केवल ज्ञान के प्रकार का अंतर है। लोल्लट अनुकर्त्ता में अनुकार्य की मनःस्थिति का आरोप करते हैं तो शंकुक अनुकर्त्ता में अनुकार्य की मनःस्थिति का 'अनुमान', दोनों मतों के अनुसार सामाजिक रत्यादि मनोभावों की उपस्थिति अपने में न मानकर दुष्यंतादि अनुकार्यों में ही उनका अस्तित्व मानता है। अंतर केवल इतना ही है कि एक नट में दुष्यंतादि के रत्यादि भावों का आरोप करता है तो दूसरा अनुमान। अनुकार्य के कृत्यों से, अथवा अनुकर्त्ता में उनके आरोप या अनुमान से सामाजिक में रस का उदय नहीं माना जा सकता—यद्यपि आनन्द वस्तुतः होता है सामाजिक को ही, दोनों दशाओं में विभावादि कारण अन्यत्र (अनुकार्य अथवा अनुकर्त्ता

---

*वास्तविक न होते हुए भी चित्र-लिखित घोड़े को 'यह घोड़ा है' कहा जाता है। इसी प्रकार दुष्यंत न होते हुए भी दुष्यंत के वेश में प्रवेश करने वाले नट को सामाजिक 'यह दुष्यंत आया' ही कहता है।

में) हैं और आनंद (रस) रूप कार्य कहीं अन्यत्र (सामाजिक में) है, दूसरे, दुःखात्मक अनुभवों—करुण दृश्यों—में भी 'रस' (आनंद) क्यों मिलता है इसका कोई उत्तर शंकुक नहीं दे पाये। तीसरे, शंकुक के मत से अनुमित ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान से अधिक आनंद देने वाला है। पर यह बात अनुभव और प्रमाण दोनों के स्पष्ट विरोध में है। रस और भाव प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा भावना के विषय बनते हैं—अनुमान के द्वारा नहीं। एक व्यक्ति (अनुकार्य) में उद्भूत रस (आनंद) का आस्वादन अन्य व्यक्ति (सामाजिक) में अनुमान द्वारा नहीं हो सकता। अनुकर्त्ता में भी रस की स्थिति विचारणीय है। उपर्युक्त दोनों मतों में एक और भी आपत्ति है, अभिनय में तन्मय नट, अथवा अभिनय दर्शन में निमग्न सामाजिक यह मान भी ले कि 'मैं दुष्यंत हूँ और शकुंतला का अभिनय करने वाली नटी के प्रति मुझ में रति-भाव है', तो भी अपने पूज्यों के प्रति 'मैं ही सीता-विषयक रतिमान् राम हूँ' इस प्रकार का अनुभव कर वह कैसे आनंद प्राप्त कर सकता है। न राम, हनुमान आदि के अलौकिक कार्यों की क्षमता का अपने में अनुमान कर उसके मनमें उत्साह की वृत्ति आना संभव है। इन कारणों से यह सदोष मत भी स्वीकार्य नहीं हो सकता।

भट्टनायक का रसभुक्तिवाद

उपर्युक्त दोनों मतों को सदोष पाकर भट्टनायक ने रस-सूत्र की एक और ही व्याख्या की। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ लिया 'भोज्य-भोजक-संबंध'। रस भोज्य है और विभावादि भोजक। 'निष्पत्ति का अर्थ वे लेते हैं 'भुक्ति' या 'भोग'; ये न रस की उत्पत्ति मानने हैं, न अनुमिति, न अभिव्यक्ति, संक्षेप में भट्टनायक का मत इस प्रकार है :—

"काव्य या नाटक के पाठ या दर्शन से पाठक या सामाजिक अनुकार्य में रस की उत्पत्ति, अथवा अनुकर्त्ता में रस का अनुमान, किये बिना ही काव्य या नाटक के रस का आस्वाद स्वतः करने लगता है। पहले 'अभिधा' द्वारा उसे अर्थ-बोध होता है और विभावादि उसके मनश्चक्षु के सामने आते हैं, फिर कवि के काव्य-सौंदर्य या नट के अभिनय-कौशल में पाठक इतना निमग्न हो जाता है कि वह पात्रों, अभिनय व्यापारों एवं भावों में वैशिष्ट्य को भूल कर एक सामान्य रूप में उसका अनुभव करने लगता है, इसी को 'भावना' कहते हैं और जिस शक्ति द्वारा काव्य या नाटक में यह भावना ग्रहण होती है उसे 'भावकत्व' कहते हैं, इस शक्ति से सामाजिक अपने को भूलकर—अपने पराये के भेदभाव को दूर कर—उस साधारण स्थिति में आ जाता है कि काव्य-सौंदर्य या रंगमंच के क्रिया-व्यापार के साथ अपना तादात्म्य कर रस का आस्वाद करने लगता है। दूसरे शब्दों में 'अभिधा' द्वारा शकुंतला विशेष रूप से उपस्थित होती है; परन्तु 'भावकत्व' द्वारा वह काव्य या नाटक में साधारण कान्ता के रूप में सामने आती है। इस प्रकार 'साधारणीकरण' होने पर शकुंतला देश-काल, व्यक्ति की सीमा

से हट कर—सुदूर पूर्वकाल में हस्तिनापुर के राजा दुष्यंत की भार्या मात्र न रह कर—एक सर्वयुगीन कान्ता के रूप में उपस्थित होती है, ठीक इसी प्रकार वह दुष्यंत को भी एक धीरोदात्त नायक मात्र समझता है, काव्य में वर्णित या रंगमंच पर प्रदर्शित इनके स्थायी-भाव, विभाव, अनुभाव, आदि भी व्यक्ति-विशेष के न रह कर सर्वसाधारण के हो जाते हैं। स्थायी-भाव, विभाव और अनुभाव के साधारणीकरण होने पर रसास्वाद के लिए जो तीसरी शक्ति सहायक होती है उसे 'भोजकत्व' कहते हैं। कवि के काव्य-कौशल अथवा नाटक में निपुण नट के अभिनय-कौशल से सहृदय सामाजिक की चित्त-वृत्ति एकाग्र होकर सत्वमयी हो जाती है और सत्व की प्रबलता का अर्थ है अस्थिरता और जड़ता के कारणभूत रजोगुण एवं तमोगुण का विनाश, इस सत्व के प्रभाव से सामाजिक का मन सभी वाह्य-विषयों से पराङ्मुख होकर प्रकाश स्वरूप एवं आनंदमय हो जाता है। इस प्रकार 'भोजकत्व' शक्ति द्वारा मन के सत्व-संपन्न होने पर सहृदय सामाजिक 'भावकत्व' शक्ति के द्वारा साधारणीकृत विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से प्रतीत कराये हुए साधारणीकृत स्थायी-भाव का रस-रूप में आस्वाद करने लगता है। यह 'आस्वाद' या 'भोग' सामान्य अनुभव और स्मृति से विलक्षण होता है। तटस्थ या व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण इस आस्वाद में 'अलौकिक आनंद' होता है। सत्व गुण के कारण मन में प्रकाश और आनंद के सिवा कुछ नहीं रहने पाता और इस स्थिति में प्रेमपूर्ण दृश्य ही नहीं शोक, भय, घृणा आदि के दृश्यों से भी आनंद के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल सकता।"

रसभुक्तिवाद—समीक्षा

भट्टनायक की यह व्याख्या पर्याप्त सुलझी हुई और सत्य के अधिक निकट है। पहले दो आचार्यों के मत से भावों के अन्यत्र (अनुकार्य मे) उत्पन्न होने और अन्यत्र (अनुकर्त्ता में) अनुमित होने पर भी सामाजिक को रसास्वाद होता है, पर भट्टनायक ने 'साधारणीकरण' के सिद्धांत द्वारा इस दोष को दूर करने का प्रयत्न किया है। साधारणीकृत स्थायी-भाव, विभावादि देश-काल, व्यक्ति-निरपेक्ष हो जाते हैं, यही सामाजिक के रसास्वाद का रहस्य है। दुःखात्मक दृश्यों में भी सुख क्यों?—इस प्रश्न का समाधान भी रसवादियों में सर्व प्रथम इन्होंने किया। इनके मत से सत्व गुण की प्रबलता के कारण काव्य और नाटक के सभी प्रसंगों में, चाहे प्रेम के हों चाहे करुण के, समान आनंद होता है। इतने पर भी इस व्याख्या में दो दोष रह ही गये हैं, एक तो यह कि उन्होंने 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नाम से दो अतिरिक्त व्यापारों को काव्य-शास्त्र में स्थान दिया, जिनका शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं, न इनकी आवश्यकता ही थी। अतः वे अमान्य हैं, दूसरे भट्टनायक के अनुसार रसास्वाद सामाजिक को होता तो है परन्तु जिन भावों को वह रस-रूप में आस्वाद करता है वे उसके निज के स्थायी-भाव नहीं, अनुकार्य के साधारणीकृत स्थायी-भाव हैं, वस्तुतः सहृदय को काव्य पढ़ने

या नाटक देखने से जो परमानंद मिलता है वह उसके निज के स्थायी-भावों से ही मिलना चाहिए न कि दूसरे के स्थायी-भावों से। साधारणीकरण के सिद्धान्त द्वारा इस दोष को दूर करने की चेष्टा उन्होंने की सही, पर वह इस सत्य तक नहीं पहुँच पाये कि सामाजिक अपने अंतःकरण में ही स्थित आह्लादिका वृत्तियों के जागृत एवं पुष्ट होने पर रस का आस्वादन करता है।

अभिनवगुप्त का रसाभिव्यक्तिवाद

उक्त दोनों दोषों का निराकरण करने में सबसे पहले सफल हुए 'अभिनवगुप्त'। पूर्ववर्ती तीनों आचार्यों ने भरत के रस-सूत्र का पर्याप्त मनन और विश्लेषण किया; परन्तु इन लोगों की वाणी और बुद्धि का विकास तर्क-वितर्क के जाल में इतना उलझ गया कि वे भरत के वास्तविक अभिप्राय को खोज निकालने में असमर्थ रहे, वस्तुतः भरत ने स्वयं रस-सूत्र को स्पष्ट कर दिया है और उसका वास्तविक अर्थ जानने के लिए इधर-उधर न भटक कर भरत के ही शब्दों में उनके तात्पर्य को खोज निकालने की आवश्यकता थी। यह काम अभिनवगुप्त ने किया।

अभिनवगुप्त ने 'निष्पत्ति' का अर्थ लिया 'अभिव्यक्ति', वस्तुतः विभावादि से रस नामक किसी नयी वस्तु का जन्म नहीं होता, बल्कि वह कोई ऐसी वस्तु है जिसका अस्तित्व पहले से ही है और इन तीनों की सहायता से वह विकसित होकर 'रस' रूप में अभिव्यक्त होती है। 'संयोग' का अर्थ है "स्थायी भाव को विभावादि की सहायता से रसत्व के निकट लाना।" स्थाई भाव को रसत्व के निकट लाने का अर्थ है—उपयुक्त सामग्री की सहायता से इसे सुषुप्त स्थिति से निकाल कर अभिव्यक्त करना। दूसरे शब्दों में स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सामूहिक संबंध को 'संयोग' कहते हैं, अब अभिनवगुप्त के शब्दों में रस-सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है।

रस-सूत्र की व्याख्या

सहृदय के अंतःकरण में कुछ वासनाएँ संस्कार रूप से उपस्थित रहती हैं। काव्य-शास्त्र की भाषा में इन वासनाओं को स्थायी भाव कहा जाता है। काव्य-सौंदर्य द्वारा विवृत या निपुण अभिनय से प्रदर्शित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की सामूहिक शक्ति से पहले अनुकार्य के स्थायी भाव व्यंजित होते हैं। सामाजिक (पाठक या प्रेक्षक) इन विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव और स्थायी भावों की व्यक्तिगत विशेषता को भूलकर इनको साधारण रूप में समझ लेता है, इन साधारणीकृत विभावादि की सहायता से सामाजिक के सुषुप्त स्थायी भावादि जागृत हो जाते हैं और वह व्यक्तिगत वैशिष्ट्य को भूलकर—इन्हें अपने निज के न मानकर—इनको भी सर्व-साधारण के समझने लगता है। सहृदय सामाजिक में उद्भूत ये स्थायी-भाव एवं विभा-

वादि अनुकार्य के स्थायी-भाव एवं विभावादि के समतुल्य होते हैं। काव्य-सौंदर्य और कुशल अभिनय के कारण सामाजिक का चित्त, वाह्य-विषय-पराङ्मुख होकर इन जागृत एवं साधारणीकृत स्थायी-भावों में एकाग्र हो जाता है और वह रस का आस्वाद करने लगता है। रस को इन शब्दों में और भी स्पष्ट किया जा सकता है, "प्रकृति और मानव-प्रकृति से परिचित, मानव-जीवन का अनुभवी, काव्य एवं काव्य-शास्त्र का अध्येता और नाटक का प्रेक्षक 'सहृदय' अपने को ऐसी परिस्थितियों में पाता है कि वह अपने व्यक्तित्व को भी भूल जाता है—उसे इस बात का भान भी नहीं रहता कि कौन नट (अनुकर्ता) किस पात्र (अनुकार्य) का अभिनय (अनुकरण) कर रहा है। रंगमंच के नट उसके सामने व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं, साधारण पात्र के रूप में आते हैं। उनके अभिनय से वह भावों का साधारणीकरण कर लेता है। फलतः सहृदय होने के कारण उसके मनोभाव जागृत हो जाते हैं। देश-काल, व्यक्ति-निरपेक्ष होने के कारण जागृत-भाव अत्यंत विलक्षण एवं सुखद प्रतीत होते हैं और 'सामाजिक' लौकिक सुख-दुःख की भावना से परे ब्रह्मानंद-सहोदर काव्यानंद, अर्थात्, 'रस' में निमग्न हो जाता है।"

करुणादि में आनंद कैसे

करुणादि से रस या आनंद किस प्रकार होता है, इसका समाधान रस-सूत्र की इस व्याख्या में स्पष्ट मिल जाता है। कवि या नट अपनी सुन्दर रचना या अभिनय के द्वारा हमारे हृदय की प्रच्छन्न भावनाओं को अभिव्यक्त करता है और यही हमारे आनंद का कारण होता है। अनुकार्य के हृदय में जिन भावों की अनुभूति हुई थी, वे भावनाएँ ठीक उसी रूप में हमारे हृदयों में उद्बुद्ध नहीं होतीं। निर्वासन के समय सीता को जो शोक हुआ था, वह वास्तविक था। उस दृश्य को वास्तविक रूप में देखकर हमारे हृदय की करुणा जागृत हो उठती है पर निर्वासन के दृश्य को रंगमंच पर देखकर या काव्य में उसका वर्णन पढ़कर हमारे हृदय में जो सुषुप्त करुणा-भाव जागृत हो उठता है वह वास्तविक शोक नहीं। भावना की सच्ची अनुभूति तो अनुकार्य को होती है और रस का आस्वाद सामाजिक लेता है। बनवास-कष्ट भोगा सीता ने, पर करुण-रस का आस्वाद लेता है सामाजिक। राम द्वारा निर्वासन की आज्ञा में करुणा का लौकिक रूप होने से वह सीता के दुःख का कारण हुई; पर वही आज्ञा सहृदय सामाजिक के हृदय की करुणा को जगाने के लिए 'निमित्त-कारण' होने से 'विभाव' हो गयी। लौकिक सुख में वास्तविक सुख होता है और 'लौकिक शोक, घृणा, भय' आदि शोक, घृणा, भय आदि के ही कारण होते हैं; परन्तु व्यक्ति-निरपेक्ष सुख-दुःख सामाजिकों के आनंद का ही कारण होता है। अनुकार्य की दुःखात्मक भावनाएं लौकिक होती हैं—उनसे आनंद की उत्पत्ति नहीं हो सकती, पर जब अनुकर्ता (नट) अनुकार्य की इन भावनाओं का कुशल अभिनय करता है तो सामाजिक का, और कवि जब अपनी सामग्री इनको ही स्वाभाविक रूप में उपस्थित करता है तो पाठक का, चित्त अनुकार्य के भावों में इतना एकरूप हो जाता है कि

वह कुछ काल के लिए अपने व्यक्तिगत आत्म-चैतन्य को विस्मृत कर जाता है। चित्त की इसी एकरूपता या भाव-तादात्म्य को आचार्यों ने 'साधारणीकरण' नाम दिया है। इस साधारणीकरण के कारण लौकिक विभावादि से सामाजिक की शोक, घृणा, भय आदि सुषुप्त भावनाएँ जागृत हो जाती हैं और उनमें अलौकिकता आ जाती है। इसी अलौकिकता के कारण उनसे आनंद की उपलब्धि होती है। साधारणीकरण की अवस्था में केवल आनन्दानुभूति होती है, सुख-दुःख का लौकिक अनुभव नहीं होता। इस प्रकार करुणादि रसों में भी परम-सुख की प्राप्ति होती है, इसमें संदेह नहीं, सहृदयों का अनुभव ही इसका प्रमाण है।

उपसंहार

रससूत्र के उपर्युक्त चार व्याख्याताओं में से प्रत्येक ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में जो कमियाँ पायीं उनको क्रमशः दूर करने की चेष्टा की और इस प्रकार यह व्याख्या उत्तरोत्तर पूर्णता की ओर अग्रसर होती गयी। अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' की व्याख्या अंतिम होने के साथ ही सत्य के निकटतम है। भरत के वास्तविक अर्थ को समझने में ये ही सफल हुए। रससूत्र का सच्चा अर्थ भरत के शब्दों में ही ढूँढ़ निकालना इस व्याख्या की विशेषता है। आगे के रसवादी विश्वनाथ और जगन्नाथ ने इसी व्याख्या को स्वीकार कर लिया।

'रससूत्र' के साथ ही 'रस-सिद्धान्त' के भी प्रवर्तक भरत मुनि ही हैं। उनके अनुसार कोई भी काव्यार्थ रसहीन—नीरस—नहीं होना चाहिए। इसी से इन्होंने 'रस' को ही काव्य का एक अनिवार्य तत्त्व माना। परवर्ती रसवादी आचार्यों ने भी 'रस को ही काव्य की आत्मा' स्वीकार किया। वस्तुतः रसवादी काव्य में अभिव्यक्ति-पक्ष का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी अनुभूति-पक्ष को ही प्रधानता देते हैं। यही इस संप्रदाय की विशेषता है। रसवाद भारतीय साहित्य-शास्त्र को विश्व की महती देन है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने जीवन की व्याख्या को अधिक महत्त्व दिया है जिसके फलस्वरूप उनके यहाँ संघर्ष और बुद्धितत्त्व को प्रधानता मिल गयी है। पर रसवादियों ने 'रस' को काव्य की आत्मा मान कर 'आनंदतत्त्व' (हृदयतत्त्व) को प्रमुखता दी है। और जीवन का ध्येय ही 'आनंद' की प्राप्ति है। इसलिए हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने जीवन को अधिक मार्मिकता एवं पूर्णता से समझा।

भारतीय साहित्य-शास्त्र और ध्वनिवाद

[डॉ० भोलाशंकर व्यास, हिन्दी विभाग, हि० वि० वि०, काशी]

यदि साहित्य अथवा काव्य, जीवन की आलोचना है, तो साहित्य-शास्त्र "जीवन की आलोचना की आलोचना" है। भारतीय साहित्य भारतीय संस्कृति की अध्यात्मवादिता, समन्वयवादिता तथा लोकोत्तर आनंदपरकता का संदेश लेकर उपस्थित होता है, तो भारतीय काव्यालोचन भी एक निश्चित दार्शनिक दृष्टिकोण लेकर आता है। भारतीय दर्शन का चरम परिपाक जिस प्रकार विश्वात्म के आत्म-दर्शन में, उनके अद्वैतत्व में है, वैसे ही भारतीय काव्य-दर्शन का चरम परिपाक भी ध्वनिवाद की उस रस-संबंधी धारणा में है, जिसकी आनन्दोपलब्धि के समय सहृदय भावुक देश-काल से ऊपर उठकर अपने को काव्य-विषय से—काव्य में वर्णित रामादि से—साधारणीकृत कर लेता है। भारतीय काव्यालोचक ने काव्य को वेद जैसे आदेशपरक शास्त्र, पुराण जैसे उपदेशपरक धार्मिक वाङ्मय से भी अधिक उच्चतर स्थान दिया है, क्योंकि वेद तथा पुराण जहाँ केवल बुद्धि तथा विचारपक्ष को उद्बुद्ध करते हैं, वहाँ काव्य रागात्मिका वृत्ति को भी उत्तेजित करता है, वह रसमय 'उपदेश' ठीक उसी तरह देता है, जैसे कांता के सरस वचन स्वतः प्रिय को किसी कार्य की ओर प्रेरित करते हैं।[1] भारतीय काव्यालोचक ने 'काव्य' को महज़ मन बहलाने की चीज कभी नहीं माना है, उसके लिये 'काव्य' का सदा नैतिक और सामाजिक महत्व रहा है, यह दूसरी बात है कि सामन्तवादी जमाने के पिछले खेवे के संस्कृत कवियों ने, और उनकी गतानुगतिक लीक पर चलने वाले हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने काव्यादर्श को धूमिल बना डाला, वह निःश्वासान्ध हो गया। फिर भी आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और उनके शिष्यों, प्रशिष्यों ने जिस नैतिक औचित्य-परक धरातल की सृष्टि की, उसने कालिदास तक की कविता के अनुचित चित्रों की ओर उँगली उठाने का साहस किया। काव्य को खाली कला ही नहीं, विज्ञान और दर्शन से भी अधिक गुरुतर पद पर आसीन कर भारतीय काव्यालोचक ने इसे सामाजिक मानव के लिए जीवनोपयोगी तत्व सिद्ध किया, और बहुत पहले ही भामह ने घोषणा की कि "काव्यानुशीलन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष जैसे चतुवर्ग में विचक्ष-

१. 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'—मम्मट. १. २.

णता, कलाओं में दक्षता, कीर्ति तथा प्रीति को जन्म देता है।"[1] यूरोप के कला-वादी निकाय की तरह हमारे यहाँ किसी ने भी "काव्य, काव्य के लिये" या "कला, कला के लिये" जैसी घोषणा न की। काव्य के सामाजिक मूल्य पर यहाँ काव्यालोचकों में कभी भी दो राय न रही और यह अच्छा ही हुआ। किंतु इसका मुख्य कारण यही था कि भारतीय समाज कभी भी केवल लौकिक सुखवादी नहीं रहा।

इसीलिए हमारे यहाँ काव्य के बारे में ऐसे सवाल अधिक उठाये गये, जिनका सीधा संबंध काव्य की शैली से तथा उसकी आत्मा से है। काव्य में जिस भाषा का, शब्दावली का प्रयोग होता है, क्या उसकी अर्थवत्ता ठीक वैसी ही होती है, जैसी बोल-चाल की भाषा की, या शास्त्रों की; दर्शन, वेद-पुराण, आयुर्वेद, ज्योतिष जैसे विविध वाङ्मय की, भाषा की। भारतीय साहित्य शास्त्र के पुराने पंडितों ने इस सवाल को या तो उठाया ही नहीं या उसमें कोई दिलचस्पी न ली। भरत, भामह, दण्डी, उद्भट या वामन जो 'ध्वनिवाद' के जन्म के पहले हो चुके हैं, या उसके समय मौजूद होने पर भी विरोधी थे, कदाचित् दोनों प्रकार की भाषा में कोई भेद न मानते थे। वे केवल इतना ही मानते थे कि साधारण बोल-चाल की भाषा और शास्त्रों की भाषा में अलंकारों की जरूरत नहीं है, जब कि काव्य की भाषा में अनुप्रास, यमक, श्लेष जैसे शब्दालंकारों; उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, समासोक्ति, दीपक जैसे अर्थालंकारों का होना लाज़मी है, इनके बिना कविता सौभाग्यवती न रहेगी। वह अनलंकृत विधवा की तरह श्री हीन हो जायगी।[2] भामह और दण्डी ने इस तरह काव्य का मूलाधार, उसका विधायक तत्त्व, दूसरे शब्दों में उसकी आत्मा ही, अलंकारों को मान लिया। वामन ने माधुर्य, ओज, प्रसाद जैसे गुणों को महत्त्व देकर काव्य की पद-रचना, उसकी संगठना पर, काव्यशैली के 'पैटर्न' पर, जोर दिया और वैदर्भी, गौडी या पांचाली रीति को काव्य में महत्ता दी। वे कह उठे "रीतिरात्मा काव्यस्य"—काव्य की आत्मा रीति है। केवल अलंकारों या रीति को ही काव्य की आत्मा मान लेना न केवल काव्य ही के साथ, बल्कि वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी और सूर जैसे रससिद्ध कवियों के साथ और रस के निर्झर से आप्लावित सहृदय पाठक के साथ बहुत बड़ा अन्याय था। कालिदास, तुलसी, सूर जैसे कवियों से सैकड़ों उदाहरण ऐसे दिये जा सकते हैं, जहाँ कोई स्पष्ट अलंकार न होने पर भी रस-प्रवणता पायी जाती है और ऐसे स्थल उन्हीं कवियों के अलंकृत उदाहरणों से हजारों गुना अधिक कलात्मक है। सूर के उत्प्रेक्षा की लड़ी वाले या दृष्टकूट अतिशयोक्तिपरक अनेक पदों को उसके रस-निर्भर अनलंकृत पदों पर सैकड़ों बार न्यौछावर किया जा सकता है। इसी तरह तुलसी के निम्न पद्यार्थ का अनलंकृत परिवेष भी इसकी उत्तम कोटिकता में कोई बाधा नहीं पहुँचा पाता।

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिषेवणम् ॥—भामह

२. गुणालंकार रहिता विधवेव सरस्वती ॥—दण्डी

"राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाहीं॥ (कवितावली)

भामह, दण्डी और वामन इस असलियत से नावाकिफ़ हों यह बात न थी, वे बखूबी जानते थे कि ऐसे अनेकों, अपितु अधिकांश स्थल महाकाव्यों में और मुक्तकों में मिलेंगे जहाँ किसी शब्दालंकार या अर्थालंकार के न होने के बावजूद भी काव्यात्मक सौंदर्य, स्निग्धता, दिल को गुदगुदाने वाली कोई न कोई चीज, कोई आस्वाद्य 'वस्तु' पाई जाती है। भरत ने इस काव्यात्मक तत्त्व को लाक्षणिक पदावली में 'रस' कहा था; वह चीज जो चखी जा सके (रस्यते आस्वाद्यते इति रसः)। यह पद इन्होंने जीभ से चखने वाली खट्टी, मीठी, चरपरी चीजों के गुण—रस—से चुना। भामहादि इसकी सत्ता का अपलाप तो कर नहीं सकते थे, फलतः उन्होंने इसे भी अलंकार—एक तरह का अर्थालंकार—मान लिया और रसवत् जैसे कुछ अलंकारों की कल्पना कर डाली गयी। पर यह तो ठीक वैसे ही हुआ जैसे घर के मालिक को भी निकालकर नौकरों की कतार में खड़ा कर दिया गया हो। बेचारा 'रस' विषण्ण मुद्रा में नौकरों की तरह टहलकदमी करता रहा, उसकी सारी गौरव-गरिमा, तेजो-दीप्ति, मलीमस हो गई और वह किसी पारखी के आने का इन्तजार करता रहा, जो उसकी वास्तविक स्थिति घोषित कर उसे काव्य-मंदिर का उपास्य सिद्ध करे।

काव्य में कुछ वर्णन ऐसा होता है, जिसमें कवि का अभीष्ट कुछ वस्तु, तथ्य या 'बात' का कहना होता है, तो कुछ स्थानों पर उसका प्रमुख लक्ष्य उक्ति-वैचित्र्य या अलंकार की प्रतीति कराना होता है। किन्हीं विशेष स्थलों पर कवि न तो केवल तथ्य-कथन की प्रणाली तक ही सीमित रहता है न उक्ति-वैचित्र्य तक ही, अपितु वह सहृदय पाठक के हृदय में रति, हास, शोक, जुगुप्सा आदि भावों को उद्बुद्ध कर उसे 'विगलित वेद्यान्तर' आनन्द की, रस को, प्रतीति कराना चाहता है। इस प्रकार काव्यार्थ या तो वस्तुपरक होगा, या अलंकारपरक, या रसपरक। इनमें भी रसपरक अर्थ उत्कृष्ट माना जाता है, क्योंकि वस्तु कथन या इतिवृत्त वर्णन से ही कोई व्यक्ति कवि-पद पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।[1] ध्वनिवादियों से पहले के कवियों ने समस्त कवि-प्रतिक्रिया को केवल उक्ति-वैचित्र्य में ही समाविष्ट कर लिया था। अलंकारों की वे दो कोटियाँ मानते थे; स्वभावोक्ति और प्रौढ़ोक्ति, और इस तरह उनके यहाँ 'रस' भी एक तरह की 'प्रौढ़ोक्ति' ही था। भामह, दण्डी और वामन काव्य-भाषा में केवल दो तरह के अर्थ मानते थे, वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। इनके पूर्व मीमांसक, वैयाकरण और नैयायिकों ने शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का विवेचन कर यह निष्कर्ष दिया था कि शब्द में अभिधा तथा लक्षणा ये दो ही शक्तियाँ पाई जाती हैं। अभिधा शक्ति के द्वारा शब्द के साक्षात् सांकेतिक अर्थ की प्रतीति होती है, इसी अर्थ को हम वाच्यार्थ कहते हैं, जैसे 'शेर' का मतलब एक खास प्रकार का 'हिंस्रक वन्य पशु' है। लेकिन हम किसी पहल-

१. न हि इतिवृत्तमात्रेणात्मपदलाभः संभवति। (आनंदवर्धन)

वान को देख कर कहें कि 'यह शेर है', तो यहाँ शेर का असली मतलब, उसका वाच्यार्थ, ठीक तौर पर लागू नहीं होता। मुख्यार्थ का बाध होने से, हम उससे संबद्ध किसी दूसरे अर्थ को लेते हैं, और इस अर्थप्रतीति में हमारा प्रयोजन यह है कि हम "उस व्यक्ति में शेर जितनी ताकत है" इस समानता को व्यंजित करना चाहते हैं। ऐसे स्थलों पर अभिधा शक्ति से अर्थ-प्रतीति न होने से 'लक्षणा' की कल्पना करनी पड़ी है। हमें यहाँ लक्षणा के भेदोपभेद से कोई प्रयोजन नहीं है। अभीष्ट केवल इतना है कि इस मान्यता से 'रस' का मसला पूरी तौर पर हल नहीं हो पाता। हम देखते हैं कि वस्तु-कथन, तथा अलंकार-वैचित्र्य की मीमांसा केवल अभिधा-वृत्ति से हो सकती है। लेकिन 'रस' का संबंध न तो अभिधा से ही है, न लक्षणा से ही। खाली शब्दों का साक्षात् अर्थ जान लेने भर से रस प्रतीति नहीं होती, न रस का संबंध शृंगार, हास्य जैसे शब्दों से ही है। अगर हम कहें "शकुंतला को देखकर दुष्यंत के हृदय में रतिभाव उद्बुद्ध हुआ", तो इससे सहृदय पाठक को रतिभाव की कोई प्रतीति नहीं होती और यह तब तक न होगी, जब तक हम विभाव (आलंबन तथा उद्दीपन विभाव), अनुभाव और संचारी भाव का वर्णन न करें। अगर सहृदय के समक्ष हम इनके ब्यौरेवार वर्णन को उपस्थित करें तो 'रतिभाव' या 'शृंगार रस' का नाम न लेने पर भी उसे 'रस' की प्रतीति होगी—

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः॥

इस पद्य में अलंकारों का उक्ति वैचित्र्य होने पर भी अलंकृत ढंग से शकुन्तला (आलंबन विभाव) का वर्णन और दुष्यंत का 'चिंता' नामक संचारी-भाव जिस 'रस' की प्रतीति कराता है, वही इस पद्य का सच्चा सौंदर्य है, महज अलंकार-विधान नहीं। और यह अर्थ शब्दों का वाच्यार्थ नहीं है।

स्पष्ट है कि 'रस' वाच्यार्थ न होकर सदा व्यंग्यार्थ होता है, वह शब्दों से अभिहित न होकर व्यंजित होता है।[1] वस्तु तथा अलंकार दोनों तरह के हो सकते हैं :—वाच्य वस्तु; वाच्य अलंकार; व्यंग्य वस्तु; व्यंग्य अलंकार। इन्हीं के साथ 'व्यंग्य रस' को जोड़ कर हम कह सकते हैं कि काव्यार्थ इन्हीं पाँचों में से किसी न किसी प्रकार का होता है। 'रस' की समस्या को सुलझाने के लिए ही ध्वनिवादी को पुराने आचार्यों की 'शब्द-शक्ति' की धारणा में कुछ रद्दो-बदल करने की, कुछ नयी चीज जोड़ने की, जरूरत महसूस हुई। यह नयी चीज थी—"व्यंजना-शक्ति"। आनंदवर्धन ने, जो ध्वनिवादी काव्यालोचन के संस्थापक थे, यह सिद्ध किया कि भले ही दर्शन और व्याकरण के लिए, शास्त्रीय बौद्धिक क्षेत्र के लिये, अभिधा और लक्षणा से काम चल जाता हो, क्योंकि वहाँ केवल 'कोष' के अर्थ या उससे संबद्ध अन्य अर्थ से ही वक्ता की इष्ट-सिद्धि हो

१. रसादि लक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। (आनंदवर्धन)

जाती है, पर काव्य में प्रायः ऐसा अर्थ रहता है, जो वाच्यार्थ से साक्षात् रूप में संबद्ध न होकर उससे भिन्न होता है। काव्य के इस रागात्मक या 'प्रातिभ' अर्थ को केवल 'सहृदय' ही समझ पाते हैं। अगर कोई यह समझे कि किसी अच्छे-से शब्द-कोष को पास में रखकर वह कालिदास, तुलसी, सूर, प्रसाद जैसे कवियों की कविता का रसास्वाद कर लेगा, तो यह उसकी निरी बेवकूफी होगी। 'प्रतिभा' के बिना कोई भी पाठक काव्य के 'रागात्मक' अर्थ को न समझ सकेगा भले ही वह उसके वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ को समझ ले।[1] और आज से लगभग सवा हजार वर्ष पहले ही भारत का काव्यालोचक अपनी अपूर्व मेधा और पैनी प्रतिभा के बल पर उस नतीजे पर पहुँच चुका था, जहाँ यूरोप का काव्यालोचन बीसवीं सदी के प्रथम चरण में किसी तरह पहुँच पाया है। एबरक्रॉम्बी ने मानों ध्वनिवादी के ही स्वर में स्वर मिलाते कहा है :—

In fact, literary language differs from the ordianary language precisely by the conscious and deliberate use in it of powers additional to the force of grammatical meaning powers which are only casually employed in common speach."[2]

काव्य तथा साहित्य इसीलिए सदा 'व्यञ्जक' या 'व्यञ्जनाप्रधान' होता है,[3] इस तथ्य पर पाश्चात्य आलोचक जोर देने लगा है।

ध्वनिवादी ने इस प्रकार काव्य के लिए अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना इन तीनों शब्द शक्तियों की कल्पना की। (वैसे एक चौथी वृत्ति या शब्द-शक्ति, तात्पर्य वृत्ति की कल्पना भी पायी जाती है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है, किंतु इससे हमें यहाँ विशेष प्रयोजन नहीं है।) ध्वनिवादी ने बताया कि 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति अभिधा या लक्षणा से कभी भी नहीं हो पाती, यद्यपि समस्त व्यंजना किसी न किसी वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ की नींव पर टिकी होती है। इस संक्षिप्त निबंध में 'व्यंजना' के विविध भेदोपभेदों का विवेचन असंभव है, हम केवल इतना ही समझ लें कि 'व्यञ्जना' मोटे तौर पर दो तरह की होती है :—(१) अभिधामूला और (२) लक्षणामूला। प्रयोजनवती लक्षणा में हमेशा 'प्रयोजन' व्यंग्यार्थ होता है और वहाँ सदा द्वितीय कोटि की व्यंजना पायी जाती है। व्यंग्यार्थ के लिए यह जरूरी माना गया कि श्रोता या पाठक को 'प्रकरण' (Context) का पूरा ज्ञान हो, वाक्य के वक्ता, बोधव्य (जिससे कहा गया है), देश-काल आदि के भेद से एक ही वाक्य का अलग-अलग अर्थ हो सकता है, इस पर खास तौर पर ध्यान दिया गया, क्योंकि काव्यगत

१. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥—ध्वन्यालोक १·७.

२. Abercrombie : Principles of Literary Criticism, p. 38.

३. Literary art, therefore, will always be in some degree 'suggestion.'—Ibid, p. 39.

व्यंग्यार्थ, दर्शन के अर्थ की तरह "सामान्य अर्थ "न होकर खास प्रकार का प्रकरण-निविष्ट "विशेष अर्थ" होता है।

'व्यञ्जना' नये भारतीय काव्यालोचक का वह पैमाना था, जिसके द्वारा उसने काव्य के 'रागात्मक' या 'प्रातिभ' अर्थ की जाँच पड़ताल करना शुरू किया, और इसी पैमाने को मूल बनाकर उसने 'ध्वनिवाद' की इमारत खड़ी की और उसमें 'ध्वनि', काव्य-मंदिर के उपास्य, की मूर्ति स्थापित कर घोषणा की :—"ध्वनि ही काव्य की आत्मा है" (काव्यस्यात्मा ध्वनिः)। 'ध्वनि' से आनंदवर्धन का मतलब काव्य के उस 'प्रातिभ' अर्थ से था, जिसकी व्यंजना काव्य में उदात्त शब्द तथा अर्थ कराते हैं। इसी आधार पर 'ध्वनि' अर्थात् 'प्रातिभ' अर्थ से युक्त काव्य को भी औपचारिक शैली में 'ध्वनि' काव्य कहा जाने लगा।

"जहाँ काव्य में प्रयुक्त अर्थ या शब्दार्थ अपने आपको तथा अपने अर्थ को गौण बनाकर किसी विशेष अर्थ की व्यंजना कराते हैं, उस काव्य को सहृदय पंडित 'ध्वनि' कहते हैं।"[१]

काव्योपात्त वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ (प्रातिभ अर्थ) की तुलना कर ध्वनिवादी ने ही सबसे पहले इसी पैमाने के आधार पर काव्य-कोटि-निर्धारण करने की हिम्मत की। ध्वनिवादी के पहले काव्य के अच्छे बुरे की पहचान महज़ अलंकारों, गुणों या वैदर्भी आदि रीति की सत्ता मानी जाती थी। ध्वनिवादी ने काव्य की तीन कोटियाँ मानीं हैं:—

(१) ध्वनि काव्य—वह जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी या सुंदर हो। (उत्तम कोटि)

(२) गुणीभूतव्यंग्य काव्य—वह जहाँ व्यंग्यार्थ कलापूर्ण तो हो, पर या तो वह वाच्यार्थ का सहायक बन जाय या उसकी समकोटि में हो। (मध्यम कोटि)

(३) चित्र काव्य—वह काव्य जहाँ शब्दालंकार या अर्थालंकार का, केवल वाच्यार्थ का चमत्कार हो, व्यंग्यार्थ इतना नगण्य हो कि उसकी प्रतीति सर्वथा धूमिल हो जाय। (अधम कोटि)

इस बारे में इतना संकेत कर देना जरूरी होगा कि प्रत्येक काव्य में 'व्यंग्यार्थ' होना लाज़मी है, तीसरी कोटि के काव्य में भी वह होता ज़रूर है, किंतु कवि का, अनुप्रास, यमक या श्लेष जैसे शब्दालंकार, या उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति जैसे अर्थालंकार के प्रति, आवश्यकता से अधिक अभिनिवेश उसकी स्थिति को दबा देता है, कवि उक्ति वैचित्र्य के फेर में इतना पड़ जाता है कि पाठक के हृदय में रागात्मक अनुभूति पूरी तौर पर नहीं उभर पाती, ऐसी कविता पाठक की बुद्धि को ही खास तौर पर झकझोरती है। अगर किसी पद्य में 'व्यंग्यार्थ' बिलकुल है ही नहीं तो वह केवल 'पद्य' है काव्य नहीं।

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनी कृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
—ध्वन्यालोक १.१३.

ध्वनिवादी के इस नये सिद्धांत से कई लोग बौखला उठे, उन पुराने लोगों की सारी 'सहृदयता' को, जो महज श्लेषालंकार या दूरारूढ बौद्धिक उड़ान (wit) की वाह-वाही करते थे, चुनौती दे दी गयी।

आनंदवर्धन की नयी धारणा ने कई ऐसे पद्यों को, जिन्हें शायद पुराने आलोचक भामहादि केवल 'वार्ता' मान बैठते, जिनमें उनके मत से न तो कोई मन को खुश करने-वाली वस्तु ही थी, न विशेष व्युत्पन्न पद-रचना ही, न वक्रोक्ति का चमत्कार ही था, न अलंकारों और गुणों का समावेश ही, 'ध्वनि' से समन्वित काव्य घोषित कर डाला था। ध्वनिवादी की इसी हिमाकत की भर्त्सना करते हुए एक अज्ञात ध्वनिविरोधी ने कहा था कि ध्वनिवादी का दिमाग खराब हो गया है, फूहड़ पद्यों को वह उत्तम काव्य घोषित कर 'ध्वनि-ध्वनि' चिल्लाता अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बन रहा है, जब कि उससे 'ध्वनि' की परिभाषा या स्वरूप पूछने पर वह क्या जवाब देगा, इसे खुदा ही जाने।

"यस्मिन्नास्ति न वस्तु किंचन मनः प्रह्लादि सालंकृति
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समान्वितमिति प्रीत्या प्रशंसञ्जडो।
नो विद्नोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः॥"

और असलियत तो यह थी कि कविता को भी दर्शन की तरह बुद्धि का क्षेत्र समझने वाले ध्वनि विरोधी पंडितों के गले यह चीज उतर ही नहीं पाती थी कि काव्य में ऐसी चीज ही महत्त्वपूर्ण है जिसका ताल्लुक दिमाग के बजाय दिल से कहीं अधिक है। ध्वनिवादी ने ध्वनि विरोधियों की पर्वाह न की, उसे पूरा विश्वास था कि सहृदय भावुक ही नहीं, भावुक आलोचक भी उसकी मान्यता की दाद देगा, और हुआ भी यही, ध्वनि-वाद समस्त भारतीय काव्य-दर्शन का गुरुतम एवं उच्चतम शिखर बन बैठा।

ध्वनिवादी ने 'ध्वनि' की परिभाषा निबद्ध करते हुए यह बताया कि 'ध्वनि' कविता का वह वास्तविक आभ्यन्तर 'लावण्य' या सौंदर्य है, जो शब्द, अर्थ या पद-रचना (रीति) का, तत्तदंग का बाहरी सौंदर्य न होकर समस्त काव्य शरीर के भीतर झिलमिलाता सौंदर्य है। जैसे किसी स्त्री के अलग-अलग अंगों के सौंदर्य के अलावा समस्त शरीर की आभा कुछ विशिष्ट होती है, वैसे ही कविता-कामिनी का सच्चा सौंदर्य भी यही विशिष्ट काव्यतत्त्व (ध्वनि) है।[1] ध्वनिवादी का इस धारणा का तात्पर्य यह था कि काव्य की आलोचना करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि काव्य की प्रभावोत्पा-दकता किसी खास अंग में न होकर समग्र काव्य में होती है। इस प्रकार काव्य की इकाई, उसका एकनिष्ठ संस्थान (Unitary pattern) ही काव्य के सौंदर्यासौंदर्य की परख का क्षेत्र है, क्योंकि काव्य का लावण्य इसी एकनिष्ठ संस्थान की एकता, समरूपता तथा संश्लिष्टता में निहित है। इस तरह ध्वनिवादी ने दूसरे शब्दों में ठीक

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु॥—ध्वन्यालोक।१८४.

वही बात कही है, जो उसके पूर्व यूरोपीय दार्शनिक संत आगस्टाइन ने भी एक अन्य प्रसंग में कही थी :—

"Any beautiful object whatsoever is more worthy of praise in its totality as a whole than in any one of its parts. So great is the power of integrity and unity that what pleases as a part pleases much more in a unified whole"[1]

काव्य के समस्त अंग—शब्द, अर्थ, अलंकार, गुण, रीति—इसी काव्यात्म के उपस्कारक हैं तथा इसके विरुद्ध होने पर काव्य की शोभा बढ़ाने के बजाय काव्य की शोभा को विकृत बना देते हैं और 'दोष' पद के भागी होते हैं। काव्य-दोष की कल्पना वस्तुतः काव्य के तत्तदंग के अनुचित संनिवेश से घनिष्ठतया संबद्ध है, जो काव्यात्म—रस या ध्वनि—की सौंदर्य-प्रतीति में बाधा डालते हैं। यद्यपि ध्वनिवादी ने 'ध्वनि' के खास तौर पर तीन भेद माने थे— १. वस्तुध्वनि, २. अलङ्कारध्वनि, तथा ३. रसध्वनि, तथापि वहीं इस बात का भी संकेत किया गया है कि काव्य का सच्चा लावण्य 'रसध्वनि' ही है, वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि उसी में पर्यवसित हो जाते हैं।[2] इस तरह ध्वनिवादी काव्य की आत्मा खास प्रकार की 'ध्वनि' को—रसध्वनि को ही—मानने की व्यंजना कराता है। आगे चलकर 'रसध्वनि' की दृष्टि से ही काव्य के तत्तदंग की मीमांसा की गयी। अलंकारों के बारे में ध्वनिवादी का यह निर्णय था कि यदि किसी काव्य में 'रस' का अस्तित्व है, तो अलंकार उसी की शोभा बढ़ाने वाले तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होने चाहिए। काव्य में ये ठीक उसी तरह रस के उपस्कारक होते हैं, जैसे हार, कटक, कुण्डल पहनने वाले के आभ्यंतर लावण्य, आत्म-सौंदर्य, में चार चाँद लगा देते हैं।[3] लेकिन रसहीन पद्य में प्रयुक्त अलंकार मुर्दे को पहनाये गये गहनों की तरह व्यर्थ होते हैं। रस काव्य की आत्मा है, तो शब्दार्थ, गुण, अलंकार तथा रीति क्रमशः उसका शरीर, आत्मा के धर्म (वीरतादि), ऊपर से पहने गहने हारादि तथा अवयवसंस्थान (आँख, नाक, कान का काँट-छाँट) हैं।

जैसा कि इस विवेचन से स्पष्ट है, ध्वनिवादी ने ही सबसे पहले 'रस' को काव्य में महत्त्व दिया। ध्वनिवादी के पहले भरत मुनि ने नाटकों (दृश्य काव्य) में तो 'रस' की सत्ता स्वीकार की थी, पर श्रव्य काव्य की कसौटी अलंकार या उक्ति-वैचित्र्य ही मानी जाती थी। श्रव्य काव्य के क्षेत्र में 'रस' की प्रतिष्ठापना कर ध्वनिवादी ने काव्य की दोनों कोटियों की आलोचना के भेद को कम कर दिया। बाद में चलकर

1. W. K. Wimsate and Cleanth Brooks: Literary Criticism (A short history) p. 653.
२. वस्त्वलंकारध्वनि तु तं (रसं) प्रति पर्यवस्येते।—ध्वन्यालोक
३. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्ते ऽनुप्रासोपमादयः॥—मम्मट ८. २.

ध्वनिवादी आनंदवर्धन के मत का ही पल्लवन करते हुए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने रस-निष्पत्ति पर विस्तार से विचार करते हुए रसानुभवदशा की मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक मीमांसा की। ध्वनिवादी ने बताया कि काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का वर्णन पढ़कर या रंगमंच पर इन्हें अभिनीत देखकर सहृदय को 'रस'—शृंगार, हास्य आदि—की प्रतीति होती है। यह 'रस' विभाव आदि के द्वारा ठीक उसी तरह पैदा नहीं होता जैसे कुम्हार मिट्टी, पानी, चाक, डंडे और धागे से घड़े को बनाता है। न यही बात है कि जैसे हम धुएँ को उठता देखकर कहीं आग का अनुमान कर लेते हैं, वैसे शकुन्तला और दुष्यंत के अभिनय को देखकर 'शृंगार रस' का अनुमान कर लेते हों। वस्तुतः हमारे अवचेतन मन में वासना के रूप में अपने ही लौकिक अनुभवों के बीज, रति, हास, शोक, जुगुप्सा आदि स्थायी भावों के रूप में छिपे पड़े रहते हैं। जब हम नाटक देखते हैं या काव्य पढ़ते हैं, तो काव्य के विभाव, अनुभाव और संचारी-भाव तीनों मिलकर इस मन में छिपे स्थायी भाव को ठीक वैसे ही रस-रूप में व्यंजित कर देते हैं, जैसे दीपक अँधेरे में पहले से ही पड़े घड़े को प्रकट कर देता है, अथवा जैसे नये मिट्टी के सकोरे में छिपी सौंधी बास को पानी व्यक्त कर देता है। भाव यह है, 'रस' कहीं बाहर से नहीं आता, यह सहृदय पाठक, श्रोता या दर्शक की स्वयं की ही आभ्यंतर मानसिक अनुभूति है। रस की अनुभूति-दशा में सहृदय स्वयं अपने सीमित देश-काल से ऊपर उठकर निर्वैयक्तिक हो जाता है तथा काव्य में वर्णित विभाव,अनुभाव तथा संचारी-भाव भी देश-काल के विशिष्ट व्यक्तित्व को छोड़कर सामान्य बन जाते हैं। इसी प्रक्रिया को 'साधारणीकरण' कहा जाता है। चूँकि इस दशा में व्यक्ति के निजी देश-काल का अनुभव तिरोहित हो जाता है, अतः ऐसे वर्णन भी जो लौकिक अनुभव में दुखःदायी होते हैं, काव्य में प्रयुक्त होने पर सहृदय को आनंद ही देते हैं, तभी तो करुण, भयानक, बीभत्स जैसे रसों की अनुभूति भी दुःखपरक नहीं मानी गयी है। चूँकि रस-प्रतीति लौकिक अनुभवों से विशिष्ट है, तथा सुख-दुःख की श्रेणी में न मानी जाकर केवल 'विगलित-वेद्यान्तर' आनन्द है, इसीलिए अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इसकी तुलना समाधि-दशा के आनंद से कर इसे 'ब्रह्मास्वादसहोदर' कह दिया था। आगे चलकर कई लोगों ने 'रस' की इस अलौकिकता पर जरूरत से ज्यादा जोर देना शुरू किया; पर यह कभी न भूलना होगा कि रस सर्वथा लौकिक अनुभव है,वैसे भेद यह है कि यह साधारण जीवन के अनुभवों से विशिष्ट अवश्य है क्योंकि इसका क्षेत्र यह भौतिक स्थूल जगत् न होकर काव्य या कला के अनुशीलन से संबद्ध मानसिक सूक्ष्म जगत् है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जो काव्य के क्षेत्र में हर जगह आध्यात्म की दुहाई देने वालों से चिढ़े हुए थे, सच ही कहा था कि रस का संबंध हृदय की मुक्त दशा से है। उन्होंने रस को अलौकिक मानने से इन्कार कर इसे दर्शन रहस्य तथा तत्त्वज्ञान के पंजे से छुटकारा दिलाया।

अन्त में, हम देखते हैं कि ध्वनिवादी ने ही सर्व प्रथम काव्यालोचन के सभी पहलुओं पर केवल कवि की सर्जनात्मक शक्ति तथा काव्यकृति की ही दृष्टि से विचार न कर

सहृदय पाठक की दृष्टि से भी विचार किया। ध्वनिवादी ने इस बात को पूरी तरह समझा था कि काव्यलोचन का क्षेत्र कवि-काव्य-सहृदय का त्रिक-संबंध (The relation of the triod of poet-poem-reader) है। ध्वनिवादी को इसके लिए न केवल काव्यालोचन की धारणा को ही आमूलचूल बदलना पड़ा, बल्कि एक नये शब्दार्थ विज्ञान (semantics) को भी जन्म देना पड़ा। "व्यंजना" वृत्ति की कल्पना कर उसने काव्य को दर्शन तथा विज्ञान के क्षेत्र से सर्वथा भिन्न सिद्ध कर 'काव्यार्थ' (poetic meaning) की महत्ता सिद्ध की। आधुनिक आंग्ल साहित्यालोचक आइ. ए. रिचर्ड्ज ने अर्थ को दो कोटियों में विभक्त किया है:— १. सांकेतिक (cognitive) तथा २. रागात्मक या भावात्मक (emotive)।[1] ध्वनिवादी इस निष्कर्ष पर सैकड़ों वर्ष पहले पहुँच चुका था। साथ ही ध्वनिवादी ने यह भी संकेत किया कि दर्शन या शास्त्र की भाषा में, उसकी शैली में साक्षात् प्रतिपादकता, स्पष्टता (unambiguity) का होना आवश्यक है, किन्तु काव्य का सौंदय तभी अक्षुण्ण रहेगा जब कि वहाँ तार्किक स्पष्टता (logical clearity) न होकर 'कथ्य' को इस तरह उपस्थित किया जाय कि वह टेनीसन के शब्दों में "अर्ध-निहित तथा अर्ध-स्पष्ट हो" (halfconcealed and half revealed) हो। तभी तो ध्वनिवादी ने कहा था:—"अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्ठवधूकुचाभः।" काव्य का "प्रातिभ अर्थ" न तो विशेष स्पष्ट ही हो, न विशेष अस्पष्ट ही, बल्कि झीने रेशमी पर्दे में झिलमिलाते सौंदर्य-सा हो। उर्दू के कवि दाग़ की नाजनीन की तरह काव्य का 'व्यंग्यार्थ' भी कुछ इसी तरह का होना चाहिए:—

"क्या ही परदा है कि चिलमन में छिपे बैठे हो।
साफ़ छिपते हो न साफ़ नज़र आते हो॥"

काव्यार्थ की यह अर्धपिहितता दोष न हो कर गुण बन जाती है।[2] काव्य के इसी व्यंग्याथ को, रस को, ध्वनिवादी ने काव्य का चरम सौदर्य घोषित करते हुए भी उसके नैतिक तथा सामाजिक पहलू को कभी नहीं भुलाया; नीति-विरुद्ध अनौचित्यपरक चित्रण में 'रसध्वनि' न मानकर 'रसाभास' या 'भावाभास' की कल्पना की गयी। ध्वनिवादी ने परंपरावादी आलोचक के रूप में काव्य के शिल्पपक्ष पर जोर देते हुए भी, स्वच्छन्दतावादी आलोचक के रूप में कवि की भावात्मक व्यंजना पर भी उतना ही जोर दिया और उसने कई ऐसी मान्यताएँ स्थापित कीं, जो आज भी काव्यालोचन के लिए अमूल्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं।

---

1. Richards: Principles of Literary Criticism p. 267.

२ मिला०— "The old rhetoric treated ambiguity as a fault in language, and hoped to confine or eliminate it; the new Rhetoric sees it as an insuitable consequence of power of language and as an indispensable means of most of our important utterances—especially in poetry and religion" (Richards 'Philosophy of Rhetorics', p. 40)

कविता जीवन की आलोचना है

[डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर', रुइया कालेज, बम्बई]

आनन्द अनादि काल से मानव को सुख पहुँचाता हुआ आत्म-विभोर करता आ रहा है। आत्म-विभोर होने में एक तन्मयता है और यह तन्मयता शिव के समीप ही फलती और फूलती आयी है। कभी मन शिवत्व की कल्पना मात्र से आनन्द-विभोर हो उसके प्रकाशन के लिए अभिभूत हो उठता है और कभी 'शिवेतर' की कल्पना पर ही 'शिव' के लिए विद्रोह कर उठता है। एतदर्थ, चाहे घनीभूत तन्मयता के व्यापक प्रभाव में अन्तर इतना रसमय हो उठे कि कंठ से स्वत: कुछ फूट निकले अथवा अशिव के विद्रोह में अंतर के ज्वालामुखी से प्रलंयकारी विस्फोट कर अणु-अणु में आग लगा दे; कविता ही है।

सूक्ष्म रूप से देखें तो कविता-धारा इन्हीं दो कगारों की दृढ़ भुजाओं में कसी-कसी तब से अब तक प्रवाहित होती रही है। कवि कभी आनन्द-विह्वल हो रस-कलश उड़ेलता चलता है, कभी अभाव की विवशता में अपने अन्तर की आनन्द-मूलक टीस को प्रत्येक हृदय में भर देता है। कभी प्राचीनता की जर्जर दीवालें ढहाकर मंगलमय नवीन प्रासाद खड़ा करने का शंखनाद करता है, तब उसका कंठ आग उगलता है, विद्रोह की ज्वाला भड़काता है। किसी न किसी रूप में इन्हीं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति साहित्य के इतिहास में होती आयी है। ये अनुभूतियाँ न तो निरपेक्ष वस्तुगत आधारों पर खड़ी ही की जा सकती हैं और न इनका कोई चिरन्तन मूल्य ही होता है। कवि फोटो-केमरा नहीं होता और न उसका हृदय चित्र-फलक ही, जिस पर ज्यों का त्यों स्वरूप उतर जाय। उसका चेतन-हृदय तो अपनी मान्यताओं के बल पर जीता है और उसे ही हर वस्तु में ढूँढ निकालता है। इस प्रकार देश, काल और माया के रंगों में रंग भर कर विषय की सुन्दरता और असुन्दरता सज-सँवर कर आती रहती है। इसलिए उमड़ते हुए बादलों में कभी अपना ही उमड़ता हुआ यौवन दिखाई पड़ता है। चाँदनी कभी प्रिय को पास बुलाती है और कभी 'साँपिन सी डसकर' उलटी हो जाती है। सागर कभी विह्वलता में बेसुध हो कगारों के पत्थरों पर सर पटकता है और कभी प्यार की उमंगें भर तरंगों की भुजाएँ बढ़ा पास बुलाता है। अत: इसमें दो मत नहीं हो सकते कि रसानुकूल वातावरण की सृष्टि में समर्थ विकल अन्तर की सशक्त अभिव्यक्ति ही कविता है।

वस्तुतः कवि अपने आकुल अंतर की अभिव्यक्ति के लिए ही दृष्टिगत और अनुभूति गत इन अनेक साधनों का आश्रय लेता है। अपनी इस दिशा में कवि जड़ या चेतन में अपना सब कुछ भर देता है। वहाँ वह विषय और विषयिगत दूरी समाप्त कर विषय के माध्यम से आत्म प्रकाशन करता है। यही कारण है कि विधवा की व्यथाओं को व्यक्त करने के लिए कवि को विधवा होने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

महलों में रहकर झोपड़ियों के बीच भूख से तड़पते दीन-दुखियों की बेचैनी का हृदय-स्पर्शी चित्रण करने के लिए कवि अपने अगल-बगल के वातावरण, महल और स्वयं अपने को भूल कर उस आत्मा में अपनी आत्मा भर देता है जो भूख की पीड़ा में तड़प रही है। यह तादात्म्य कवि की गहराई नापने में तुला का काम करता है; यहाँ जो जितना ही सफल होता है उसे उतना ही महत्त्व दिया जाता है।

श्री नलिनी मोहन सान्याल ने कवि की परिभाषा देते हुए कहा है कि कवि वे हैं—'जो वृक्षों के प्रशान्त अवयव में, पत्रों की मर्मर ध्वनि में, वायु-कम्पित वनों में, परिवर्तनशील नभ-मंडल में, तारिका-राजि की दीप्ति में, मेघों के गंभीर गर्जन में, जलधि के अविराम नर्तनों में सजीवता का अनुभव और प्रकृति के रहस्यों की उपलब्धि करते हैं।' कवि में कल्पना शक्ति प्रबल रहने के कारण वह अपनी अनुभूतियों को प्रकृति में आरोपित करता हुआ पशु-पक्षियों की बोलियों को समझता है, लता-पादपों के अंतर की वेदनाओं का अनुभव करता है, मेघ या हंस को दूत बनाकर नायक की प्रियतमा के पास संदेश भेजता है, खिले हुए फूलों को हँसता पाता है। संक्षेप में समूची कविता में कल्पना की कमनीयता तथा अनुभूतियों का अद्‌भुत सामंजस्य रहता है। अनुभूतियाँ जब कवि के 'स्व' को शेष सृष्टि में तन्मय करने को विवश करती हैं तभी कविता का कंठ फूट पड़ता है। एक शब्द में अपने अहम् को शेष सृष्टि से मिलाने की रागात्मक बलवती स्पृहा से ही कविता की उत्पत्ति हुई है।

जब विदग्ध हृदय रस सिद्ध कवियों ने कविता के विषय में अपनी स्वानुभूति दी तो कविता कागज की कुछ उभड़ी रेखाओं तक ही न सिमट कर अपने उद्‌गम-स्रोत कवि-हृदय की चित्रमयी पीठिका पर बन-ठन कर आयी। वह विषय-वर्णन के भारी-भरकम बोझ से उबर कर उन्मुक्त अभिव्यक्ति के रूप में फूट पड़ी। फलतः मूल्यगत मान-दण्डों के परिवर्तन के साथ ही साथ स्वरूप और आकार-गत परिवर्तन भी अपनी मान्यता स्थापित करने लगा। इस प्रकार कविता अनेकानेक परिभाषाओं का परिधान पहन कर आयी।

जीवन के दो रूप होते हैं—उसका वाह्य रूप ज्ञान-गोचर होता है; जहाँ हमें भौतिक समस्याओं से, घात-प्रतिघातों से टक्कर लेनी पड़ती है। जगत की विषमताओं से, घात-प्रतिघातों से टक्कर लेनी पड़ती है। जगत की विषमताओं पर खीझते और रोष प्रकट करते हैं। दुख से हम विह्वल हो जाते हैं, सुख से खिलखिला उठते हैं।

स्वाधीनता में हम झूमकर गाते हैं और पराधीनता में आँसू बहाते हैं। जीवन का यह स्थूल रूप है, यह उसका खण्ड चित्र है। किन्तु काव्य-गत जीवन, जीवन का एक संश्लिष्ट चित्र देता है। संश्लिष्ट जीवन की तसवीर कवि खींचता है, वह अपनी सूक्ष्म अनुभूति और अद्भुत परिवीक्षण शक्ति द्वारा वाह्य-दृश्य जीवन और आन्तरिक अदृश्य जीवन में समन्वय स्थापित करता है। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव समष्टिगत एकता में ही अपनी सार्थकता पाते हैं। किन्तु शरीर की इस समष्टिगत एकता में जब तक प्राणों का स्पन्दन नहीं होता तब तक वह निर्जीव है और प्राणों के बावजूद भी शरीर निष्प्राण ही समझा जायगा यदि उसमें भावों की सत्ता न हो। जीवन की यही भावसत्ता दृश्य और अदृश्य जगत से एक साथ तदाकार होकर काव्यमय हो उठती है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते उसका निज का जीवन भी समाजगत परिस्थितियों पर आधारित रहता है। वह अपने कमरे के एकान्त कोने में बैठकर अपने व्यक्तिगत सुख-दुख, विरह-मिलन, आशा-निराशा, के गीत गा सकता है किन्तु कमरे से बाहर निकलने पर वह अपने सामाजिक परिवेश से आवृत्त हो जाता है। कवि के अंतर मन की भावाभिव्यक्ति के लिए विभावों की नितान्त आवश्यकता पड़ती हैं। दृश्य जगत के सारे पदार्थ, सारी परिस्थितियाँ, स्त्री, पुत्र, पुर, परिजन सभी विभाव के अंतर्गत लिये जा सकते हैं। यदि हृद-गत आवेगों की सशक्त अभिव्यक्ति ही कविता है तो निश्चयतः कवि के वाह्य-जीवन का भी उसमें योग रहता ही है अन्यथा वह पागल का प्रलाप भले ही हो वह कविता नहीं कहला सकती। वास्तव में कवि का अंतर-मन भी मूलतः उसका नहीं होता। उस अदृश्य मन में दृश्य जगत की नाना प्रकार की छाया-छवियों का प्रतिविम्ब पड़ता है। छायावाद युग की कविताएँ जो अत्यन्त आत्मपरक और व्यक्तिनिष्ठ हैं उनमें भी जीवन का स्पन्दन और प्राणों की थिरकन है।

"साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी,
क्या किसी की याद आई ओ विकल व्याकुल प्रवासी"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि नरेन्द्र शर्मा की व्यक्तिगत जीवन की तसवीर भले ही देखने को मिल जाती हो किन्तु उन विशेष परिस्थितियों में जिनसे हार मानकर कवि ने अपनी पीड़ा को वाणी दी थी, हम भी उसे एकांत में गुन-गुनाते हैं और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि इस कविता का एक शब्द अपने जीवन से लिपट जाना चाहता है।

कालिदास, वाल्मीकि, होमर, दाँते, गेटे, सूर, तुलसी आदि ने अपने चरितनायकों के माध्यम से समाज के परिपार्श्व में ही रखकर अपनी ही संवेदनाएँ व्यक्त की हैं। इसी प्रकार कवि की व्यक्तिगत भाव-भूमि जन-जन की अनुभूति बन जाती है। यहीं पर कविता और जीवन का अभिन्न संबंध स्थापित हो जाता है। काव्य में आत्माभिव्यक्ति का अर्थ संकीर्णता नहीं है। कवि की अभिव्यक्ति सीमित होने पर भी उसमें

असीम का गौरव समाया रहता है। इस प्रकार कवि का संबंध जीवन से ही नहीं सम्पूर्ण जगत् से स्थापित हो जाता है।

ससीम मनुष्य असीम और अनन्त को अपनी परिधि में बाँधना चाहता है, अपनी छोटी-सी शक्ति को विस्तार देना चाहता है। वह एक से अनेक बन कर अमरता-प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहता आया है। आत्म-विस्तार की यह अभिलाषा मनुष्य को जन्म से ही मिली है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसी आत्मविस्तार और अमरता के लिए गौतम ने सिंहासन छोड़ दिया, अशोक ने जगह-जगह शिला-लेख खुदवाये, शाहजहाँ ने ताजमहल का निर्माण किया तथा अष्टम एडवर्ड ने इंगलैंड की राजगद्दी छोड़ दी। कवि इन सब को समेट कर चलता है और जीवन के ऐसे अनेक घटना-चक्रों से उसका सम्बन्ध रहता है। इसीलिए महान् कवि को युग विशेष की सीमा रेखा में ही आबद्ध नहीं किया जा सकता। वे युग के हों या न हों युग-युग के अवश्य होते हैं। किसी भी देशी या विदेशी कवि की कविता का सच्चा मूल्यांकन उसके मरने के बाद ही किया गया है। जीवन का वह सत्य जो आज है कल नहीं रहेगा, उसे कवि छोड़ देता है, वह तो शाश्वत सत्य को अधिक पकड़ता है। यही उसकी निरपेक्षता है, क्योंकि कवि हमारी संवेदनाओं को जगाता है, वह हमारी तर्क-शक्ति को पैनी नहीं करता (He appeals not to the reason but to the emotions)। इसीलिए काव्य-गत सत्य—जीवन और जगत् के सत्य से अधिक प्रभावोत्पादक और चिरस्थायी होता है।

जीवन के अधिकांश सत्य विज्ञान की पीठिका पर बनते और मिटते हैं किन्तु काव्य-गत सत्य की लकीर अनुभूति की अमिट स्याही से हृदय-फलक पर खींची जाती है, इसी कारण कविता सहृदयों के निमित्त होती है, नीरस व्यक्ति उससे कम प्रेरणा ग्रहण करता है। बुद्धि और अन्तर्दृष्टि दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है। बुद्धि विज्ञान का विषय है। इस विज्ञान ने मानव के हाथों में अपरिमित शक्ति दे रखी है। इस शक्ति का सस्कार और परिष्कार उस शक्ति से होता है जो मानव की आत्म समर्पण की भावना से शुद्ध प्रबुद्ध मंगलमय सत्य के रूप में स्फुरित हुई है। कविता का प्रकृत रूप यही सत्य है। वह अपनी इसी विशेषता के कारण विज्ञान से भी बढ़ी-चढ़ी शक्ति प्रमाणित हुई, क्योंकि विज्ञान मानव को शक्तिशाली बना सकता है, उसके हाथों सृष्टि की बागडोर समर्पित कर सकता है, लेकिन उसमें संयम, मंगल एवं स्थायी आनन्द की प्रतिष्ठा कविता के ही हाथों होती है।

विज्ञान नये-नये प्रयोगों से मानव-जगत् और जीव-जगत् में नये चमत्कारी प्रयोग करके जहाँ उसने काँच की नली से बालक उत्पन्न करने का प्रयोग किया वहाँ उसने एटम बम और हाइड्रोजन बम जैसे विस्फोटकारी अस्त्र-अस्त्र बनाकर प्रलयंकर संहार के साधन जुटाये और अब उसकी चेष्टा हो रही है कि केवल पृथ्वी के ऊपर कुछ मीलों तक व्याप्त वायुमंडल की संकुचित परिधि पार करके इस विराट् शून्य में व्याप्त अगणित

अनंत ग्रहों,नक्षत्रों और सौर-मंडलों का साक्षात् परिचय प्राप्त करके उन लोकों के वासियों से सम्पर्क बढ़ाये किन्तु काव्य का क्षेत्र सृष्टि के प्रारम्भ से ही कवि को मनीषी, स्वयंभू और परिभू बनाये हुए है। किन्तु इस मार्ग से भिन्न एक दूसरा मार्ग भी है जिसमें मनुष्य ने इस प्रत्यक्ष लोक का समस्त वैभव छोड़कर केवल कल्पना लोक में नयी-नयी सृष्टि करके मानसिक आनन्द तथा मानसिक उल्लास का नया नन्दन वन खोल दिया जिसमें काव्य रूपी कल्पतरु और उस कविता रूपी कामधेनु की सृष्टि की, जिसके सम्बन्ध में राज शेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में कहा है "वह सूक्ति धेनु रूपी सरस्वती हमारे हृदय में विराजमान हो जिन्हें कवि रूपी दुहने वालों ने रात दिन दुहा फिर भी उसका दूध अभी तक दुहा ही नहीं जा सका।" अतः विज्ञान और दर्शन दोनों से सब बातों में काव्य रूप से अधिक समर्थ, व्यापक और शक्तिशाली है।

द्विवेदी युगीन कविता की स्थूल इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया में छायावाद का आविर्भाव हुआ और छायावाद की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना और अपार्थिव ऐन्द्रियिकता की प्रतिक्रिया में प्रगतिवाद का आविर्भाव हुआ। प्रगतिवाद का आविर्भाव प्रसार और प्रतिष्ठापना एक प्रकार से सूक्ष्म पर स्थूल के, अपार्थिव पर पार्थिव के, कल्पना पर यथार्थ के और पलायन पर प्रत्यावर्तन के रूप में लिया जा सकता है। किन्तु राजनीतिक और आर्थिक मतवादों के आग्रह के कारण ही हिन्दी काव्य की स्वस्थ और ऐतिहासिक चेतना, प्रगतिवाद के ऊपर भ्रम का एक बड़ा जाल फैल गया। सामान्य पाठकों और आलोचकों के अन्दर यह धारणा दृढ़ होती दिखायी पड़ने लगी कि राजनीति ने साहित्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। ऐसी दशा में जीवन के बदलते हुए मूल्यों के साथ कविता के भी स्वर बदले, भाव बदले। जीवन को स्थूल भौतिकवादी चश्मे से देखा जाने लगा; इसलिए काव्य के शाश्वत उपादान कुछ समय के लिए खटाई में पड़ गये। राजनीति और उसकी मान्यताएँ उसकी छाती पर जम कर खड़ी हो गयीं। काव्य के वस्तु प्रतिपादन और उद्देश्य सिद्धि के बदले राजनीतिक लड़ाइयों की हार-जीत अधिक महत्त्वपूर्ण साबित हुई। किसान-मजदूर एवं शोषितों को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत न कर विभिन्न वर्गों को संघर्षशील पर उत्पीड़ित और पददलित प्राणी के रूप में सामने लाया गया। मनुष्य के अन्दर छिपी हुई महानता को न उभार कर उसे चारों ओर से घेरे हुए वर्गगत विषमताओं, तज्जन्य नफरत और हिंसा प्रतिहिंसा आदि की भावनाओं को उभारा गया। ऐसे साहित्य के साथ राजनीति के चलने के लिए एक विशेष परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी। जिन साहित्यकारों और कवियों ने यथार्थवाद के नाम पर जीवन की भ्रष्टताओं को भ्रष्टताओं के लिए, विकृत गंदगियों को केवल गंदगियों के लिए अपनाया, उन्हें या तो अपनी दिशा बदलनी पड़ी या वे साहित्य के नाम पर केवल कूड़ा-करकट बटोरते रहे।

जीवन की भौतिक सुख-सुविधाएं जीवन का एकांगी रूप ही प्रस्तुत करती हैं, इसलिए इन विषयों पर आधारित कविताएँ समूचे जीवन का चित्र देने में असमर्थ रहीं।

साहित्य में ऐसी रचनाएँ सम-सामयिक कहलाती हैं जिनकी जड़ें सम-सामयिक भूमि से खाद लेती हैं किन्तु भूमि के बदलते ही ऐसी रचनाएँ भी मरु-थल के पौदे की भाँति सूख जाती हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कविता किसी 'वाद' विशेष के कठोर बाड़े में कैद नहीं की जा सकती और न तो उसे चलाने के लिए किसी विशेष राजनीतिक या धार्मिक अंकुश की आवश्यकता है। वह तो समग्र जीवन को संचालित करती है, समूचे जीवन से प्रभाव ग्रहण करती है और उसे उसी मात्रा में प्रभावित भी करती है। किसी वाद विशेष से प्रभावित कविता में प्रचार (propoganda) की गंध अधिक होती है और कविता के शाश्वत तत्व कम।

फिर भी इतना निःसंकोच कहा जा सकता है कि जीवन की विवश अनिवार्यताओं से भी कविता का स्वर फूटता है। यह दूसरी बात है कि वे अनिवार्यताएँ नितांत स्थूल और क्षणिक हैं। फिर भी जीवन में हमारे एक क्षण का भी मूल्य होता है, उस क्षणिक क्षण को भी कविता के माध्यम से हम पकड़ने की चेष्टा करते हैं क्योंकि वह क्षण भी एक क्षण के लिए हमारे अन्तर्मन को झकझोर देता है। मन के उद्वेलन में संवेदनाओं और भावों की कसमसाहट से कविता बरबस कठ से फूट पड़ती है और इन परिस्थितियों के लोप होने पर उस कविता का भी अस्तित्व मिट जाता है। इस तरह जैसे-जैसे जीवन गतिमान होता जाता है कविता भी उसकी अनुगामिनी होती है। निश्चयः ही इसी कोटि में वे महान् कवि नहीं आते जो युग विशेष के होते हुए भी अनेक युगों के होते हैं और जिनकी कविता एक-देशीय न होकर सर्व-देशीय होती है। वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपीयर तथा तुलसी आदि इसी कोटि में आते हैं। ऐसे कवि युग से उतने अधिक नहीं प्रभावित होते जितना वे युग को स्वयं प्रभावित करते हैं।

विज्ञान के इस युग में जीवन बहुत ही अनिश्चित हो गया है। उसके स्थायी मान शीघ्रता से बदल रहे हैं। उसने हमारी पुरानी मान्यताएँ एवं आस्थाओं की जड़ें हिला दी हैं जिसके फलस्वरूप सामाजिकता एवं सामूहिकता की अपरिहार्य अनिवार्यताओं एवं मर्यादाओं के समक्ष भी व्यक्ति के इकाई-रूप अस्तित्व का महत्त्व कुछ पहले से अधिक उतर कर सामने आया है।

इसलिए आज का कोई भी व्यक्ति जिसमें कुछ शक्ति है, समूह के सम्मुख इतना हीन या नगण्य मानने को प्रस्तुत नहीं कि समूह के सम्मुख उसका कोई महत्त्व ही नहीं। इसलिए अत्याधुनिक कविताओं में 'स्व' का स्वर अधिक मुखरित हो रहा है। अतः आज की कविता में अनिवार्य रूप से युग जीवन की आशा-आकांक्षाओं और अन्यानेक समस्याओं की अभिव्यक्ति न होकर कवि की कुंठाग्रस्त मनःस्थितियों की अभिव्यक्ति भी होने लगी है। कवि अपने अंतर में अवदमित वासनाओं और काम-वर्जनाओं को पाल कर भी ऊपर से बुद्धिवादी बनने का स्वांग करने लगा है। उसने चिंतन भी किया किन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा, उलटे वह और उलझता गया। फल-

स्वरूप उसकी आत्माभिव्यक्ति का रूप भी उसी अनुपात में उलझा हुआ सम्मुख आ रहा है। कविता में निगूढ़ता और उसकी रूप-योजना में असंबद्धता के जो दर्शन होते हैं उसके मूल में काव्य सम्बन्धी किसी सुनिश्चित मान्यता का अभाव ही विद्यमान है। ज्यों-ज्यों कवि की मानसिक उलझनें दूर होती जा रही हैं त्यों-त्यों कविता उसके मस्तिष्क के वात्याचक्र से बाहर आकर कभी-कभी सामान्य भाव-भूमि पर भी खड़ी होने लगी है। काव्य के आधार-विषय-प्रतीक और उपमानादि भी सामान्य दृष्टि से परिचित क्षेत्रों से लिये जाने लगे हैं।

कविता में आज़ जीवनगत तमाम असंगतियों एवं विपर्यस्तताओं के प्रवेश के बावजूद कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जिनके बल पर मानव मस्तिष्क और हृदय के समीप उसका महत्त्व बना हुआ है। और जीवन जब तक स्पंदित होता रहेगा तब तक कविता उसमें प्राण फूंकती रहेगी, वह जीवन के साथ 'मुस्कान' बन कर आयी है और उसी के साथ 'शांति' बन कर जायगी।

नयी कविता–मीमांसा और मूल्यांकन

[डॉ० भोलाशंकर व्यास, हिंदी विभाग, हि० वि० वि०, काशी]

प्रथम महायुद्धोत्तर भारतीय परिस्थितियों ने हिन्दी काव्य के क्षेत्र में 'छायावाद' को जन्म दिया, तो द्वितीय महायुद्धकालीन भारतीय परिस्थितियों ने हिन्दी की 'नयी कविता' की नयी पौध को अंकुरित बनाने और सरसाने में योग दिया। छायावाद की मूल प्रेरणा वस्तुतः सामाजिक अथच साहित्यिक क्षेत्र में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की पुकार थी। छायावाद ने जहाँ नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना की थी, वहीं नये काव्यगत और कलागत मूल्यों की भी अवतारणा कर हिन्दी जगत् के सौन्दर्य बोध को नयी दिशा प्रदान की थी। किन्तु छायावादी कवि के ये मूल्य वस्तुतः वस्तुगत सत्य तथा यथार्थ से अधिकाधिक दूर हो गये थे, उसने काव्यगत सत्य को इतने शुद्ध आदर्श के रूप में रूपायित कर दिया था कि वह कल्पनालोक की वस्तु ही रह गया, छायावादी कवि ने जटिल यथार्थ से ऊबकर उस स्वप्निल नीड़ में ही अपने आपको दबका लिया, वह 'घोंघे का कीड़ा' बन गया। आत्मरति, कुण्ठा, विषाद और निराशा की रागिनी से उसकी कविता बेहद गूँज उठी, उसमें यथार्थ की कटुता को स्वीकार कर उसे चुनौती देते हुए आगे बढ़ने की कर्मण्यता, साहस और शक्तिमत्ता का ह्रास हो गया। छायावाद में राष्ट्रीय भावना, मानववादी दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक समुन्नयन जैसी स्वस्थ दिशाएँ भी थीं, किन्तु छायावाद के परवर्ती कवियों ने उसके दूसरे पक्ष को ही अपनाया तथा महादेवी की कविताएँ और तथाकथित 'हालावादी' प्रवृत्ति इसके प्रमाण हैं। हालाँकि इन कवियों ने हिन्दी काव्य को निःसन्देह प्रगीतात्मक अन्विति (lyrical unity) की दृष्टि से रुचिर कलात्मक कृतियाँ दीं, लेकिन ऐसा जान पड़ने लगा कि हिन्दी कविता सामाजिक जागरूकता से दूर, बहुत दूर निकल पड़ी है। शैली-शिल्प, रचनातंत्र, या टेकनीक की दृष्टि से यद्यपि बच्चन जैसे कवियों ने 'नयी सामान्य भाषा और नया भाव-विन्यास' देकर परवर्ती छायावादी कविता को बोधगम्य बनाने में योग दिया, फिर भी उनमें सामाजिक चेतना तथा सार्वजनिक भावना का प्रसार नहीं मिलता। हिन्दी कविता जैसे अन्तर्पीड़ा से उमड़-घुमड़ रही थी, किसी नयी दिशा की खोज में दिग्भ्रान्त-सी।

यदि छायावादी निकाय की स्थापना में, उसकी हवाई दुनिया, 'हाथी दाँत की अट्टालिका' (आइवरी टावर) के निर्माण में, उसके कला-शिल्प के प्रणयन में, खास तौर

पर पन्त और निराला का हाथ था, तो इन्होंने ही छायावादी कविता को युग की माँग पूरी करते न पाकर नयी राह भी ढूँढ निकाली थी। 'छायावाद' के संकुचित सूक्ष्म छायालोक को छोड़कर इन्होंने ही सबसे पहले जिन्दगी की असलियत को भी वाणी देना शुरू किया। पन्त की 'युगवाणी', 'युगान्त' और 'ग्राम्या' इसके सबूत हैं, निराला का 'कुकुरमुत्ता' इसका गवाह है, और हिन्दी की कविता ने जिस दिन 'छन्द के बंध', 'प्रास के रजतपाश', को झकझोर कर मुक्त गीतों से वातावरण को अनुगुंजित किया, उसी दिन 'नयी कविता' का जन्म हो चुका था, भले ही उसका नामकरण संस्कार, बपतिस्मा या उपनयन बहुत बाद में हुआ हो। और 'नयी कविता' का मसीहा चाहे किसी भी 'स्वयंभू' या 'परिभू' को मान लिया जाय, इसके पुरस्कर्ताओं में पन्त और निराला को भुला देना शायद बहुत बड़ी साहित्यिक ग़द्दारी होगी।

छायावादी कवि की राजनीतिक तथा सामाजिक मान्यताएँ प्रायः गाँधीवाद से प्रभावित थीं, यह दूसरी बात है कि गांधीवादी दर्शन का जो प्रभाव गुप्त जी के द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक एवं उपदेशवादी काव्यों में और प्रेमचंद के उपन्यासों में मिलता है, ठीक उसी रूप में नहीं। १९३६ में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना ने भारतीय साहित्यिक को एक नयी आधारशिला प्रदान की। मार्क्सवाद की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक मान्यताओं की ओर हिन्दी का साहित्यिक उन्मुख होने लगा। साहित्य अब केवल 'शुद्ध साहित्य' न रहकर सामाजिक प्राणी का वह सशक्त अस्त्र माना जाने लगा, जो समाज में नयी चेतना, प्रेरणा और जागरूकता पैदा कर सकता है। पन्त की 'ग्राम्या' तथा निराला के 'कुकुरमुत्ता' में ही नहीं, प्रेमचंद के 'गोदान' तक में मार्क्सवादी विचारधारा के स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित किये गये हैं। कवि के काव्य गत सत्य को वस्तु सत्य से असंपृक्त रखने वाली 'शुद्ध काव्य' या 'शुद्ध कला' की मान्यता का गढ़ ढह गया था और कवि के विचार और भावतति को अधिकाधिक प्रेषणीय बनाने की माँग ने नये कवि को छायावादी कवि की रोमानी टेकनीक को छोड़कर प्रत्यक्ष शैली अपनाने को मजबूर किया, जो जन-भाषा के अधिक नजदीक हो। इस आन्दोलन में पन्त के द्वारा संपादित अल्पजीवी 'रूपाभ' तथ प्रेमचंद के द्वारा संस्थापित 'हंस' नामक मासिक पत्रों का कितना अधिक योग-दान था, इसे बताना जरूरी न होगा।

छायावादोत्तर हिन्दी कविता मूलतः दो धाराओं में विभक्त हो चली थी, एक उन कवियों की राह थी जो सामाजिक जागरूकता से सम्पन्न थे और किसी निश्चित सामाजिक दृष्टिकोण का प्रसार अपने काव्य के माध्यम से कर रहे थे, यह दूसरी बात है कि उनमें कुछ गांधीवाद के भक्त हों, कुछ मार्क्सवाद के जनतांत्रिक अथवा सर्वहारातांत्रिक किसी भी पद्धति के पुजारी हों। दूसरे कवि अपनी बँधी बँधाई रोमानी दुनिया के तंग दायरे में ही चक-फेरी लगा रहे थे। यद्यपि 'तार सप्तक' के प्रकाशन से पूर्व का काल हिन्दी कविता के इतिहास में 'प्रगतिवादी युग' के नाम से चल पड़ा है, लेकिन असलियत में ऐसी कोई नपी-तुली तराजू नहीं है, जो 'नयी कविता' के अलग-अलग

आयामों की पृथक्-पृथक् नाप-जोख कर सके। मैं 'तार सप्तक' के प्रकाशन के ऐतिहासिक महत्त्व से इन्कार नहीं करता, लेकिन हम देखते हैं कि इस 'सप्तक' के कई कवि मार्क्सवादी हैं, और उन्हें प्रगतिवादी कहना भी उतना ही सच होगा, जितना प्रयोगवादी कहना। दरअसल किसी कवि को हम कोई एक लेबिल चिपका कर विशिष्ट वर्ग का घोषित नहीं कर सकेंगे। यही कारण है कि 'प्रगतिवाद' और 'प्रयोगवाद' मूलतः कवि की निजी सामाजिक मान्यताओं, जीवन दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्रीय धारणाओं से अधिकाधिक रूप में संबद्ध है, उसके जाती समाजी रुझान से इसका गहरा ताल्लुक जान पड़ता है। और आज तो जब 'प्रयोगवाद' का नाम चालू करने वाले लोग ही, इसे उस नाम से पुकारना गुनाह समझ कर 'नयी कविता' कहना ठीक समझते हैं तब सवाल यही होता है कि 'नयी कविता' से उनका मतलब सारी छायावादोत्तर कविता से है, या एक खास फ़ैशन की, 'सप्तक' की गूँज से अनुप्राणित कविता से है। शायद 'नकेनवादी' इसे भी 'नयी कविता' मानने से इन्कार करें और केवल उसी को 'नयी कविता' कहें जो 'प्रपद्य' की द्वादश-सूत्री योजना का पालन करती हो। कुछ भी हो, मेरी समझ में 'नयी कविता' संज्ञा से हम उस सारी हिन्दी काव्य की गतिविधि का संकेत करना चाहते हैं, जिसका उदय यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के कुछ दिन पहले ही हो चुका था, किन्तु जिसका विकास और प्रसार द्वितीय महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में अधिक हुआ, और जो आज तक, अद्यतन हिन्दी कविता तक अखण्ड रूप में प्रवहणशील है। 'नयी कविता' का प्रत्येक कवि भले ही वह किसी भी राजनीतिक विचारधारा का रहा हो, वस्तु सत्य, यथार्थ, सामाजिक जागरूकता के प्रति सचेत रहा है। उसने नयी परिस्थितियों, नयी समस्याओं, नये सामाजिक तथा साहित्यिक मूल्यों को अपने चिंतन का लक्ष्य बनाया है, साथ ही टेकनीक के क्षेत्र में भी नयी भाषा, नयी लय तथा नये बिंब-विधान को अपनाकर युग सत्य को अधिकाधिक सशक्त रूप में प्रेषणीय बनाने की चेष्टा की है। छायावादी कवि की तरह वह नियतिवादी तथा निराशावादी नहीं है। वह अपने आप में विश्वास और आस्था रखता है, यह दूसरी बात है कि यह आस्था व्यक्तिवादी अहं-वाद से अनुप्राणित हो या निर्वैयक्तिक समाजवाद से।

इस के पहले कि हम 'नयी कविता' की विषय-वस्तु, शैली-शिल्प तथा टेकनीक की जाँच पड़ताल करें, उसकी वैचारिक मान्यताओं के मूलाधार की मीमांसा जरूरी होगी। यद्यपि छायावादी कवि ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की आवाज़ बुलंद की थी, फिर भी वह अपने कतिपय संस्कारों से मुक्त न हो सका था। मनुष्य को वह सीमित-शक्ति-सम्पन्न मानता था तथा उसके भविष्य के निर्माण में किसी अदृश्य सत्ता का-नियति का-जिस पर उसका कोई बस नहीं चलता था, अस्तित्व स्वीकार करता था। यह मान्यता हमें यूरोप के उन्नीसवीं सदी के रोमैंटिक कवियों में भी मिलती है, तथा उन्हें यह जर्मनी के दार्शनिक हीगेल और शोपेनहावर की देन है, जो किसी 'पूर्ण सत्ता' (Absolute) की कल्पना करते थे। छायावादी कविता की यह आस्तिकता इस युग के भारतीय राजनीति, दर्शन,

गाँधीवाद में भी मिलती है तथा दर्शन एवं तत्वज्ञान में इसकी गूँज विवेकानन्द और अरविंद में देखी जा सकती है। मार्क्सवाद ने मानव-जीवन को संचालित करने वाली किसी भी अदृश्य शक्ति को मानने से इन्कार किया, उसने तो पाश्चात्य दर्शन में ही हीगेल के सिर के बल खड़े 'आदर्शवादी द्वन्द्ववाद' को पैरों के बल खड़ा कर 'भौतिकवादी द्वन्द्ववाद' या 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' की आधारशिला रख दी।[१] मानव को अपना भविष्य निर्माण करने में किसी अदृश्य सत्ता का मुँह नहीं जोहना है, वह स्वयं अपना भाग्य-विधाता जो है, इस दार्शनिक मान्यता ने मानव को नयी प्रेरणा, नयी शक्ति, नयी आस्था दी। किन्तु यूरोप में कुछ ऐसी भी दार्शनिक मान्यताएँ बीसवीं सदी में पनपी हैं, जिन्होंने मार्क्सवाद को न मानते हुए भी 'मानव' को स्वयं ही अपना भाग्य-विधाता घोषित किया है। इस सम्बन्ध में 'सार्त्र' के 'अस्तित्ववाद' का संकेत किया जा सकता है, जो किसी भी अदृश्य सत्ता या 'ईश्वर' का निषेध करते हुए मानव की सीमित किन्तु महत्त्व-पूर्ण इच्छा-शक्ति पर काफी जोर देता है। 'मनुष्य कुछ नहीं केवल वही है जो वह अपने आप को बनाता है।'[१] मनुष्य जिस रूप में अपने आपका अनुभव करता है ठीक उसी रूप में उसका अस्तित्व है, वह कुछ नहीं अपने कार्यों का योग मात्र है, वह वस्तुतः ठीक वही है जो उसका अपना जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति वही बनता है जो वह अपने आपको बनाना चाहता है और अपने स्वयं के व्यक्तित्व को रूपायित करने में वह समाज को भी रूपायित करता है। इस प्रकार 'व्यक्ति' अपने ही लिए उत्तरदायी न होकर समस्त मानव जाति के लिए उत्तरदायी है।[२] सार्त्र का दार्शनिक दृष्टिकोण 'व्यक्ति' के सामाजिक महत्त्व तथा अनुदान से इन्कार न करते हुए भी, 'व्यक्ति' की स्वतन्त्र सत्ता पर काफी जोर देता है, जिसे मार्क्सवादी ठीक इसी हद तक नहीं मानता। 'नयी कविता' के जिन कवियों ने मार्क्सवादी सामाजिक-दार्शनिक दृष्टिकोण को नहीं अपनाया है तथा जो 'व्यक्ति' की, 'अहं' की स्वतन्त्र सत्ता को 'सामाजिक सत्ता' में सर्वथा घुला मिला देने से सहमत नहीं हैं वे फ्रेंच दार्शनिक सार्त्र के 'अस्तित्ववाद' की ही शरण लेते दिखायी पड़ते हैं। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, विजयदेव नारायण साही, प्रयागनारायण त्रिपाठी आदि के सिद्धान्त वाक्यों तथा कविताओं में सार्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों की गूँज सुनायी पड़ती है। अज्ञेय ने मानव के इसी व्यक्तित्व को 'नदी के

---

१. दे० Plekhanov: Fundamental Problems of Marxism, P. 22
तथा V. Adoratsky: Dialectical Matrialism. P. 23

1. 'Man is nothing else but that which he makes of himself'.—'Age of Analysis' (Jean Paul Sartre) P. 124.

2. When we say that man is responsible for himself, we do not mean that he is responsible for his own individuality, but that he is responsible for all men. Ibid. P. 125

द्वीप' और 'दीप' की प्रतीकात्मकता से संकेतित किया है, किन्तु वह चाहता है कि इस 'दीप' को भी पंक्ति को दे दिया जाय।

'इसे भी पंक्ति को दे दो' (अज्ञेय)

शुद्ध मार्क्सवादी कवि की तरह इस निकाय का 'नया कवि' अपने व्यक्तित्व को सर्वथा नहीं भुला देता, उसका 'अहं' सर्वत्र मुखरित हो उठता है—

मुझमें कुछ है
जो मेरा बिलकुल अपना है।
जो है मेरे क्षीरोज्ज्वल मन के मंथन का कोमल माखन'
(तीसरा सप्तक : प्रयाग नारायण त्रिपाठी)

किन्तु इतने पर भी वह सामाजिक जिम्मेदारी से मुँह नहीं मोड़ता, वह स्पष्ट कहता है—

'सोऽहं जब त्वं हो जाय तभी सोऽहं है,
सोऽहं का त्वं में लय ही लक्ष्य परम है।'
(वही, लक्ष्य)

अज्ञेय के बाद यह 'अहंवादिता' शायद सबसे ज्यादा साही के 'वक्तव्य' में मुखरित हुई है, किन्तु वहाँ भी उसकी नैतिकता का सामाजिक पक्ष मौजूद है।

'मैं परम स्वतन्त्र हूँ। मेरे सिर पर कोई नहीं है। अर्थात् अपने किये के लिए मैं शत-प्रतिशत जिम्मेदार हूँ। अर्थात् मेरे लिये नैतिक होना सम्भव है।'

'नयी कविता' से हम केवल 'तार सप्तक' (१९४३ ई०), 'दूसरा सप्तक'(१९५१ई०) तथा 'तीसरा सप्तक' (१९५९ ई०) में संकलित कवियों और कविताओं का ही अर्थ नहीं लेते, बल्कि ऐसे कई कवि भी इसमें योगदान देते रहे हैं, जो किसी न किसी कारण से चाहे 'सप्तकों' में स्थान न पा सकें हों, फिर भी छायावादोत्तर कविता को उनका महत्त्वपूर्ण अनुदान रहा है। केदारनाथ अग्रवाल, स्व० गोविन्द व्यास, त्रिलोचन शास्त्री जैसे अनेक पुराने महत्त्वपूर्ण नामों की तालिका दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त दुष्यन्तकुमार जैसे नये कवियों ने भी 'नयी कविता' के विकास में योग दिया है। फिर भी तीनों 'सप्तक' समग्र रूप में 'नयी कविता' की समस्त विशेषताओं को उपस्थित करते हैं, तथा इससे 'नयी कविता' की गतिविधि का खाका पूरी तरह समझ में आ जाता है। सोलह वर्ष के अन्तराल में प्रकाशित ये तीन संग्रह 'नयी कविता' के तीन आयाम कहे जा सकते हैं। 'नयी कविता' के प्रसार में 'प्रतीक' ने काफी हाथ बटाया था, आज 'कल्पना' पत्रिका का इसके प्रतिनिधित्व में महत्त्वपूर्ण योग है, और छुटपुट अल्पजीवी पत्र-पत्रिकाएँ भी इसे मुखरित कर रही हैं। 'नयी कविता' का पुराना विरोध अब मन्दा पड़ गया है, यों कहिये कुछ लोगों को छोड़कर जैसे समाप्त हो चुका है, और 'अज्ञेय' के शब्दों में-'पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्राह्य हो गयी हैं, सम्पादक-गण (चाहे आतंकित होकर ही) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी

अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं। उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरन्धर आलोचकों ने भी उसके अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया है, चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बनाकर ही।[1]

'नयी हिन्दी कविता का कवि पुराने कवि की अपेक्षा सम-सामयिक पाश्चात्य कविता से अधिक प्रभावित हुआ है। छायावादी कवियों में अकेले पन्त ही ऐसे कवि हैं, जिन पर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के आंग्ल रोमैंटिक कवियों का अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला तथा महादेवी में हमें किसी रोमैंटिक कवि की साक्षात् गूंज कहीं नहीं दिखायी पड़ती। जबकि 'नयी कविता' का प्रत्येक कवि ऐसा है, जिसने रोमैन्टिक आंग्ल कवियों की रचनाओं और वाल्ट ह्विटमैन, होपकिन्स, एजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट जैसे आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों के जन्मदाताओं की ही नहीं, आडन, स्पेंडर, लेविस जैसे अन्य आधुनिक कवियों की कविताओं की भी जानकारी प्राप्त की है। इन कवियों की सामयिक जागरूकता, अभिनव परम्परावादी रुझान, नयी काव्यात्मक टेकनीक से वह काफी वाक़िफ है, और उसने उसके अनुरूप अपनी कविता को भी समयानुकूल मोड़ देने की कोशिश की है। यही कारण है, हिन्दी की 'नयी कविता' को समझने के लिए सभवत: अन्तर्राष्ट्रीय कविता की गतिविधि की मोटी रूपरेखा, खासतौर पर अंग्रेजी कविता की, दो महायुद्धों के बीच की और बाद की, प्रगति का आवश्यक ज्ञान बहुत जरूरी हो जाता है।

परवर्ती उन्नीसवीं सदी और आरम्भिक बीसवीं सदी की यूरोपीय कविता एक प्रकार से 'युगान्त' (फां द स्येक्ल: fin de siecle) की 'ह्रासोन्मुखी' प्रवृत्तियों से युक्त थी। प्रतीकवाद की अतिशय दुरूह कलात्मकता, और निराशावादिता इस काल की कविता की खास विशेषता है। पुराने यीट्स, आर्थर सायमन्स वाल्टेरड ला मारे और यहाँ तक कि हार्डी में भी कमो-वेश ये विशेषताएँ मिल जायँगी। बीसवीं सदी में जहाँ पुरानी परम्परावादी ढंग की तथा प्रि-रेफैलाइट सम्प्रदाय की परवर्ती रोमैंटिक कवियों की गूंज सुनायी पड़ रही थी, वहीं कुछ नये कवि रोमैंटिक परम्परा का विरोध कर कविता को आधुनिक नागरिक जीवन के अधिक नजदीक लाकर यथार्थवादी बाना पहना रहे थे।[1] भौतिक विज्ञान, नृतत्वविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा राजनीति में नयी खोजों और मान्यताओं ने आधुनिक मानव की समस्त परम्पराओं, आस्थाओं, विश्वासों को झकझोर दिया है। उसके सारे पुराने मूल्य जैसे ढह पड़े हैं, वह उन्हें संदेह की दृष्टि से देखने लगा है। पुराने मूल्यों का विसर्जन किन्तु नये मूल्यों का अभाव इस युग को 'अंध युग' की संज्ञा दे रहा है। धर्मवीर भारती के शब्दों में,

यह अन्धा युग अवतरित हुआ
जिसमें स्थितियां, मनोवृत्तियां, आत्माएं सब विकृत हैं
है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की
पर वह भी उलझी है दोनों ही पक्षों में **(अन्धायुग)**

१—तीसरा सप्तक (भूमिका) पृ० ११

प्रथम महायुद्ध के बाद से ही जिस आर्थिक तथा राजनीतिक विप्लव को यूरोप ने देखा, उसकी झलक द्वितीय महायुद्ध के दिनों में और बाद में भारत को देखनी पड़ी। भारत की अर्थ-व्यवस्था, विशेषतया मध्यवर्ग की आर्थिक दशा और अधिक लड़खड़ा उठी, राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय परिवर्तन हुआ, फासिज्म और नाजिज़्म के ज़मींदोज़ होने के साथ ही औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की नींव भी हिल उठी, एशिया में बरसों से सुलगती राष्ट्रीय भावना की ज्योति और लहलहा उठी। इसी बीच भारत आजाद हुआ, किंतु भारतीय जनता ने आजादी का जो खाका खींच रक्खा था, उसे साकार रूप में न पाया, आदर्शवादी गाँधीवाद, व्यावहारिक राजनीति के यथार्थ धरातल पर आकर अपना असली रूप न रख पाया। नये कवि की सारी मान्यताओं को करारा धक्का पहुँचा। एटम बम, हाइड्रोजन बम या कोबाल्ट बम की खोजों ने समस्त मानव सभ्यता के प्रलय की विभीषिका पैदा कर दी। शायद अन्तर्राष्ट्रीय मानव के सम्मुख ऐसी जटिल समस्याएँ पहले कभी भी एक साथ मुँह बाये न खड़ी थीं। इन समस्याओं ने निःसन्देह मानव को विक्षुब्ध, विषण्ण, दिग्भ्रान्त तो बनाया जरूर, वह सन्देह वादी हो उठा, लेकिन फिर भी उसने रोमैन्टिक कवि की तरह इनसे मुँह नहीं मोड़ा, वह अपनी सीमित शक्ति को जुटाकर उससे जूझने उठ खड़ा हुआ, नयी आस्था, नया विश्वास लेकर, और 'नयी कविता' में इसी आत्म-चेतना का प्रतिबिम्ब है। छायावादी कवि की तरह नया कवि केवल भावुक न रहा, वह विचारक और दार्शनिक भी हो गया, उसकी कविता भावात्मक ही नहीं रही, विचारात्मकता और बौद्धिकता से बोझिल हो उठी, छायावादी की नफ़ीस और नाज़ुक शैली, उसका रोमानी बिम्ब-विधान इसकी अभिव्यंजना को न सम्हाल सका। उसे नया बिम्ब-विधान, नयी भाषा शैली, नया छन्दोविधान, समग्र रूप में नयी टेकनीक, नया काव्यात्मक संस्थान (पैटर्न) अपनाना पड़ा। संक्षेप में, 'नयी कविता' की मूल मनोवृत्ति यही है।

अन्तर्राष्ट्रीय नयी कविता का जन्म मूलतः रोमेन्टिसिज्म की रोमानी पलायनवादिता के विरोध में हुआ था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमैन ने एक नयी काव्य-परम्परा डाली थी, जो राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीय मानववाद की पोषक थी। ह्विटमैन मूलतः रोमैन्टिसिज्म के गर्भ से उत्पन्न यथार्थवादी कवि था[२]। अमरीकी प्रजातन्त्र का, यह कवि सदा पुरोहित रहा है, जिसने गुलामी प्रथा का खुल कर मुकाबला किया था। भाषा-शैली और रचनातन्त्र की दृष्टि से भी इस कवि ने अमरीकी कविता को आंग्ल परम्परा से मुक्त कर अमरीकी जनता की मनोवृत्ति का वाहक बनाया, तथा तुकान्त शास्त्रीय छंदों को छोड़कर 'मुक्त छंद' का

१—Geoffery Bullough : The Trend of Modern Poetry. p. 46.

२—"He was in fact a realist who emerged from the womb of Romanticism.' Walt Whitman (Poetry & Prose) Ed. Abe Capek. p. 391

प्रयोग धड़ल्ले से करना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों रोमैंटिक कविता का विरोध करने वाले एक अन्य सम्प्रदाय का भी उदय हुआ था, जो 'बिंबवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। 'बिंबवाद' का मूल उदय परम्परावादी पद्धति को लेकर हुआ था। बर्गसाँ से प्रभावित होकर, आंग्ल कवि टी० ई० ह्यूम ने एक नयी परम्परावादी कविता की नींव डाली थी[1], जिसमें वह मानववादी भावना से प्रेरित था, किन्तु उसका आधार धूमिल तथा जटिल था। 'बिंबवादी' कवि काव्य-प्रतिभा के 'प्रातिभ' महत्त्व पर ज़ोर देता था और नये प्रतीकों या बिम्बों की सृष्टि कर रहा था, क्योंकि इनके बिना वह अपने मूल्यवान् सत्य को असंप्रेष्य समझता था। ह्यूम की अपेक्षा इस सम्प्रदाय के कवियों में एजरा पाउन्ड ने विशेष ख्याति प्राप्त की। इस सम्प्रदाय के कवियों की मूल विशेषता काव्य के रचनातन्त्र तथा कलात्मक संस्थान पर जोर देना है। ये कवि (१) विषय के साक्षात् प्रतिपादन, (२) प्रतिपादन शैली की संक्षिप्तता, (३) बिंब संबंधी सिद्धान्त तथा (४) लयात्मक एकनिष्ठता के प्रयोग पर विशेष ध्यान देते थे[2]। 'बिंब' के विषय में पाउन्ड का कहना था कि "बिंब वह साधन है जिसके द्वारा कवि एक काल सीमा में बौद्धिक तथा भावात्मक संश्लेष (intellectual and emotional complex) को रूपायित करता है।" पाउन्ड राजनीतिक दृष्टि से फासिज्म का समर्थक था, किन्तु कविता के क्षेत्र में, वह आचार, धर्म, समाजविज्ञान तथा मानववाद से कोई वास्ता नहीं रखता। उसकी अभिरुचि केवल 'कला' से रही है, वह केवल सौंदर्यशास्त्री है[3]। नये कलात्मक बिंब-विधान की ओर पाउन्ड की रुझान रही है और अज्ञेय तथा शमशेर जैसे हिन्दी कवियों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। आंग्ल कविता के क्षेत्र में तीसरा सबसे प्रबलतम व्यक्तित्व है टी० एस० इलियट का। इलियट की धार्मिक तथा राजनीतिक विचारधारा भले ही कैथोलिक ईसाई धर्म तथा राजतन्त्र हो, किन्तु इलियट का कवि समग्र रूप में आधुनिक चेतना से संपन्न है। इलियट अपने समय की समस्त समस्याओं के प्रति जागरूक है[4]। इलियट की इसी विशेषता ने उसे नयी काव्य परम्परा का मसीहा बना दिया है। आंग्ल कविता के भविष्य की ओर संकेत करते हुए, इलियट की परम्परा की ओर आशा बांधे मि० लीविस ने आज से लगभग १७ वर्ष पूर्व कहा था।

"That Mr. Eliot could be so decisive shows, of course, that he was not a mere individual in isolation : he had a more important kind of originality. He was more aware

1—Frank Kermode: Romantic Image, p. 126.
2—Bullough: The Trend of Modern Poetry, p. 81.
3—Mr. Pound's Main concern has always been art: he is in the most strict sense of the word, an aesthete.
F. R. Leavis: New Bearings in English Poetry. p. 140.
4—वही p. 224.

of the general plight than his contemporaries, and more articulate: he made himself the consciousness of his age, and he did this the more effectively in that he was a critic as well as a poet.[2]

'नयी कविता' की भाषा शैली को प्रेरित करने में उन्नीसवीं सदी के पिछले दिनों के एक अप्रसिद्ध कवि होपकिन्स की कविताओं का खास हाथ रहा है, जो उसके मरने के बाद विशेष प्रसिद्ध हुई। सम-सामयिक काल में होपकिन्स दुरूह तथा विकृत कवि माना जाता था, किन्तु आज के साहित्यिक के लिए उसमें अधिक मौलिकता दिखाई पड़ती है। उसने भाषा तथा लय के साथ नये प्रयोग किये थे और कविता को जीवंत भाषा के विशेष नज़दीक ला रक्खा था।[3] हिन्दी की 'नयी कविता' को खास तौर पर इन चारों कवियों से काफी प्रेरणा मिलती रही है।

'तारसप्तक' के सात कवि—मुक्ति बोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, राम विलास शर्मा, और अज्ञेय—जब अपने सहकारितामूलक संग्रह को लेकर हिन्दी पाठक के सामने पेश हुए, तो इनकी बौद्धिक दुरूहता, भावात्मक अपरिपक्वता, रचनातन्त्र की विचित्रता से हिन्दी पाठक बौखला उठा। काव्य-क्षेत्र में 'राहों के अन्वेषी' इन सातों कवियों की कविताएँ—जो जीवन-दर्शन, सामाजिक और राजनीतिक मान्यताएं, काव्य और कला संबंधी धारणा, किसी भी बात में एकमत न थे—जिन्हें खुद संपादक ने ही 'प्रयोगवाद' या 'प्रयोगशीलता' का बिल्ला लगाकर खड़ा किया था,[4] बहुत दिनों तक आलोचना का विषय बनी रहीं। डा० नगेन्द्र ने इन कवि-ताओं को 'अनिवार्य रूप से ही नहीं सिद्धान्त रूप से भी दुरूह' घोषित किया,[5] और आचार्य वाजपेयी जी ने इन्हें अतिरिक्त बुद्धिवाद से ग्रस्त, वैचित्र्य-प्रिय तथा वैयक्तिक अनुभूति की ईमानदारी और सामाजिक उत्तरदायित्व से अछूती बताया।[6] असल में 'तार सप्तक' के अधिकांश कवियों में जरूरत से ज्यादा बौद्धिकता, गद्यवक्ता, बिंब-विधान और भाषा के साथ खिलवाड़ की मनोवृत्ति इतनी अधिक दिखाई पड़ी, कि पाठक गिरजा कुमार माथुर जैसे अपवादों को छोड़कर प्रायः इस संग्रह के कवियों को आस्वाद्य न बना सका। 'प्रयोगवादी' कवियों ने खुद भी इस गलती को महसूस जरूर किया, 'दूसरा सप्तक', के कवियों में 'शमशेर', को छोड़कर शायद ही दूसरा कवि ऐसा मिले, जिस पर दुरूहता का आरोप लगाया जा सकता है। इस 'सप्तक' के अधिकांश कवि विचार पक्ष के प्रति सजग होते हुए भी 'रसात्मकता' या समात्मकता के प्रति उदासीन

१—वही, p. 196.
2—New Bearings in English Poetry p. 168,
३—तार सप्तक (विवृत्ति और पुरावृत्ति) पृ० ५-६।
४—नगेन्द्र : विचार और विवेचन (हिन्दी की प्रयोगवादी कविता) पृ० १४६।
५—नन्द दुलारे वाजपेयी-आधुनिक साहित्य (प्रयोगवादी रचनाएँ) पृ० २४।

नहीं हैं।,और 'तीसरा सप्तक' में भी केदार नाथ सिंह जैसे कवि मिल जायँगे, जो रस की महत्ता मानते हुए कहते हैं—'यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि रस की सत्ता से इनकार करना काव्य की सत्ता से ही इनकार करने के समान है।'[१] यह अवश्य है कि नयी कविता के विषय में हमें रस की पुरानी धारणाओं में जरूर रद्दो-बदल करना पड़ेगा।

प्रयोगवादी कविता की विचित्र विषय-चयनिका, वस्तु-संगठन (कन्टेन्ट) तथा रचना-तंत्र (टेकनीक) हिन्दी के लिए बिलकुल नयी चीज थी। अब तक के कवि केवल रागात्मिका वृत्ति को सहलाते थे, लेकिन ये कवि विचारपक्ष को भी रागात्मक बनाकर उपस्थित कर रहे थे। इस वैचारिक तथा बौद्धिक बोझिलता ने कई कवियों की कविताओं को अस्पष्ट एवं दुरूह और कई कवियों की कविताओं को गद्यवत् रुक्ष बना दिया था। फिर भी काव्य-सौन्दर्य के परिवर्तित मापदंड की दृष्टि से देखने पर ये कविताएं कलात्मक अवश्य थीं। नये कवि ने काव्य के विषय-क्षेत्र को विस्तृत कर दिया था, रीतिकालीन या छायावादी कवि की तरह उसके विषय कुछ चुने हुए क्षेत्र तक सीमित न रहे। मदन वात्स्यायन के शब्दों में—'ऊषा देवता से लेकर गधे तक, नग्न यौन-भावना से लेकर सामाजिक क्रांति तक, देहाती अमराई से लेकर कलपुर्जों तक, अवचेतन से लेकर स्थूल के अनुत्तेजित चित्रण तक इतना व्यापक विस्तार शायद पहले किसी 'वाद' की कविता का न हुआ।[२] विषय के विस्तार के साथ ही वस्तु (कन्टेन्ट) में भी परिवर्तन हुआ। प्रायः विषय तथा वस्तु को एक समझ लिया जाता है, किन्तु ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। नये विषय को लेकर भी ऐसी कविता लिखी जा सकती है, जिसकी वस्तु, कवि का दृश्य बिन्दु तथा 'एप्रोच', पुरानी ही हो। इसी तरह हम पुराना विषय चुनकर भी उसकी वस्तु सर्वथा नयी रख सकते हैं। 'शुक्रतारा' का वर्णन 'छायावादी' कवि तथा 'नये कवि' दोनों ने किया है पर दोनों का वस्तु संगठन सर्वथा भिन्न है, उदाहरण के लिए हम पंत की 'सांध्य तारा' तथा मदन वात्स्यायन की 'शुक्रतारा' कविताएँ तुलनार्थ ले सकते हैं। पंत की कविता में रोमानी बिंब-विधान, नदी में रल-मल करती शुक्र की ज्योति, तथा एकाकी शुक्र के निःसंग आत्म-दर्शन की झलक है, तो मदन की कविता में सूर्य, चंद्र तथा तारे के लिए प्रयुक्त व्यावसायिक युग से चुने बिंब तथा बीच में मिनिस्टरों, एम० एल० ए० आदि पर करारा व्यंग्य कविता का दृष्टि-कोण ही बदल देता है—

'इंजन के हेडलाइट-सा, शोर-गुल के बीच।
सूरज निकल गया।
गार्ड की रोशनी-सा पीछे-पीछे गुमसुम अब
शुक्रतारा जा रहा है॥

❀ ❀ ❀

---

१. तीसरा सप्तक (केदारनाथ सिंह : वक्तव्य) पृ० १८२।

२. तीसरा सप्तक : मदन वात्स्यायन

शहर को अँधेरा कर, हवाई जहाज से
मिनिस्टर चले गये।
'जनता' से एम० एल० ए०-सा पीछे-पीछे यह
शुक्रतारा जा रहा है।'[1]

'नया कवि केवल सामाजिक, राजनीतिक तथा दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण कर दार्शनिक का बाना ही नहीं पहनता, वह इस कटु विषम जीवन पर करारा व्यंग्य भी कसता है, जिसमें यत्र-तत्र 'करुणा' का भाव भी लिपटा रहता है। निराला ने 'नयी कविता, को 'कुकुरमुत्ता' के द्वारा व्यंग्य (Satire) दिया, नये कवि ने इस तीक्ष्ण अस्त्र को अपना लिया है। शायद इस युग के पहले हिन्दी कविता ने कभी भी व्यंग्य-शैली को इतनी सफलता से नहीं अपनाया था—

(१) **खाना खाकर कमरे में बिस्तर पर लेटा**
सोच रहा था मैं मन ही मन, हिटलर बेटा
बड़ा मूर्ख है, जो लड़ता है तुच्छ-क्षुद्र मिट्टी के कारण
क्षणभंगुर ही तो है रे! यह सब वैभव-धन!
अन्त लगेगा हाथ न कुछ, दो दिन का मेला।
लिखूँ एक खत हो जा गांधी जी का चेला॥
(भारत भूषण अग्रवाल)

(२) **बड़े घरों के श्वान पालतू**
बाथ रूम में पानी की हल्की ठंडक में
नैन मँद कर लेट गये थे
(शकुन्तला माथुर)

'नये कवि का 'रोमानी वर्णन' भी अधिक यथार्थवादी है, वह छायावादी कवि का 'अप्सरावाद' (Nympholepsy) नहीं है। गिरिजा कुमार माथुर तथा धर्मवीर भारती का रोमांस अधिक मांसल है।

'रख लिये तुमने नजर में बादलों को साध कर
आज माथे पर, सरल संगीत से निर्मित अधर,
आरती के दीपकों सी झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर!'
(भारती)

'नये कवि ने केवल यांत्रिक घर्र-घर्र रव से विक्षुब्ध नागरिक जीवन की विपण्णता और ऊब का ही वर्णन नहीं किया है, उसमें ग्रामीण प्रकृति की ताजगी भी मौजूद है।

---

१. तीसरा सप्तक (मदन वात्स्यायन) पृ० ११९।

(१) **उधर उस नीम की कलगी पकड़ने को**
झुके बादल।
नयी रंगत सुहानी चढ़ रही है
सबके माथे पर।
उड़े बगुले, चले सारस
हरस छाया किसानों में।
बरस भर कर नयी उम्मीद
छायी है बरसने के तरानों में।। (हरिनारायण व्यास)

(२) **धूप ढरे तुलसी-बन झरेंगे**
सांझ घिरे पर कनेर,
पूजा की बेला में ज्वार झरेंगे
धान-दिये की बेर
आना जी बादल जरूर
धान पकेंगे कि प्रान पकेंगे
पकेंगे हमारे खेत में
आना जी बादल जरूर ! (केदार नाथ सिंह)

नये कवि ने अपने उपमान, प्रतीक और बिंब का चयन अनेकानेक क्षेत्रों से किया है। फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से प्रभावित होकर उसने स्वप्न-प्रतीकों और यौन-बिंबों का अधिकाधिक प्रयोग किया है। 'अज्ञेय' की 'सावनमेघ' कविता इसके लिए काफी मशहूर हो चुकी है।

'घिर गया नभ, उमड़ आए मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष-
वज्र-सा, यदि तड़ित् से झुलसा हुआ-सा। (अज्ञेय)

कई कवियों ने ऐसे बिंब भी चुने जो अब तक 'भदेस' समझे जाते थे—

'निकल रही छपकली-सी
लड़की दरवाजे से
गली का पिल्ला बन
फिर रहा बच्चा
लिये खाली बोतल
मट्टी के तेल की।' (शकुन्तला माथुर)

नरेश मेहता की 'समय-देवता' नामक कविता अभिनव बिम्बविधान के लिए बहुत प्रसिद्ध हुई। नये कवि का बिम्बविधान भी प्रायः चमत्कार वैचित्र्य, बौद्धिक-क्रीड़ा, दूरारूढ़ कल्पना, दिमागी कसरत[1] और उक्ति की करामात में अधिक भरा है।

'सोने की वह मेघ चील
अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार अब बैठ गयी दिन अंडे पर
नदी बधू की नथ का मोती चील ले गई।

(नरेश)

नये कवि ने छायावादी भाषा-शैली को जीवन की अद्यतन जटिलता को अभिव्यक्त करने में असमर्थ पाकर उसे अधिकाधिक बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है, यद्यपि कुछ कवियों विशेषतः अज्ञेय तथा शमशेर की शैली दीक्षा द्वारा गम्य (Esoteric) तथा दुरूह हो गयी है, जो अज्ञेय के शब्दों में 'उसकी शक्ति नहीं, धर्म नहीं, आपद्धर्म है'।[2] नये कवियों में से कई ने काव्य-भाषा को बोल-चाल के विशेष नजदीक ला रक्खा है, और कई ने ग्रामीण बोलियों के सशक्त अभिव्यंजनामय शब्दों को भी अपनाया है। नये कवि ने कई शब्दों को अर्थवत्ता भी प्रदान की है। विषय वस्तु के अनुरूप एक ही कवि 'क्लेसिकल', 'रोमेंटिक' तथा 'रियलिस्ट' तीनों तरह की भाषा-शैली अपनाता देखा जाता है। बोल-चाल की भाषा तथा लय का एक नमूना यह है—

'सुनिए जनाब
मेरी एक दिक्कत है
एक मिनट दीजिए
इतना कष्ट कीजिए
मुश्किल में जान है
आप भी इनसान हैं
सुन तो लीजिए !'

(विजय देव नारायण 'साही': चांद की चाह)

भाषा के अलावा नये कवि ने छन्दोविधान में भी बहुत रद्दो-बदल की है। तुकान्त मात्रिक वृत्तों में उसने नयी गूँज भर दी है। त्रिलोचन शास्त्री ने परम्परागत रोला छंद को ही लेकर उसे नया पालिश, नयी 'केडेन्स' देकर अद्यतन रूप दिया है और शमशेर, भारती, त्रिलोचन शास्त्री, रुद्र काशिकेय जैसे कवियों ने 'गजलों' का सफल प्रयोग किया है। कई कवियों ने लोकगीतों और फिल्मी संगीत की तान को भी अपनाया है। किन्तु 'नये कवि' का सशक्त माध्यम 'मुक्त छंद' (Verslibre) रहा है। 'मुक्त छंद' की लय के साथ प्रत्येक कवि ने भावानुकूल नये प्रयोग किये हैं। गिरिजा-

१. तुलनीय—'Wit, play of intellectual, stress of cerebral muscle' (Leavis)

२. तार सप्तक (अज्ञेय) पृ० ७६

कुमार माथुर तथा शकुन्तला माथुर के अलावा हरिनारायण व्यास ने भी 'मुक्त छंद' का रोमानी प्रयोग किया है और नाटकीय संवादों तथा गीतिनाट्य के लिए धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' में इसी को अपनाया है। 'मुक्त छंद' के लिए लयात्मक संस्थान (Rhythmic pattern) की अक्षुण्णता और इकाई बहुत जरूरी है। यह लय न तो परम्परागत छंदों की ही हो, न गद्य की ही, बल्कि उसमें बोल-चाल की लयात्मक अन्विति का होना लाजमी है। 'लय' का अनुशासन 'मुक्त छंद' के लिए अत्यावश्यक है। खेद है कि अधिकांश नये कवि 'मुक्त छंद' को अपनाते तो हैं, पर 'लय' की ओर ध्यान नहीं देते, फिर भी कुछ कवियों ने इसका ख्याल रक्खा है। अन्त में हम देखते हैं कि नयी कविता ने समग्र रूप में 'विषय, वस्तु, बिंब-विधान, भाषा-शैली, छन्दोविधान सभी की दृष्टि से, नये प्रयोग किये हैं, और नयी उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, और 'नयी कविता' के कुछ राहगीरों से भविष्य की आशा की जा सकती है, जो इसका प्रमाण है कि अद्यतन हिन्दी कविता प्रगतिशील है, उसमें 'गत्यावरोध' कदापि नहीं।

हिन्दी कविता में प्रगतिवाद

[श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', जबलपुर]

स्वच्छन्दतावाद साहित्य की, विशेषकर कविता की एक अत्यन्त स्वस्थ मनोभूमि है। उसके प्रभाव से कविता का रूप और अंतरस्थ दोनों बदल जाते हैं। कविता में नये-नये स्वरों की सरिताएँ बहती हैं और अभिव्यंजना के सारे गतानुगतिक उपकरण परिवर्तित हो जाते हैं। छन्द, भाषा, अलंकार सबमें नवीनता का स्फुरण होता है। कवि के भीतर आत्म-विश्वास की दीप्ति जागती है। वह मुक्त होकर अपनी आत्मानुभूति का प्रकाशन करता है। इस प्रकार भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के बाद हिन्दी कविता स्वच्छन्दतावादी युग में प्रवेश करती है, छायावाद जिसका केवल एक पक्ष है। इस सम्पूर्ण युग को छायावादी युग नाम देना जैसा बहुत से आलोचक देते हैं मेरी दृष्टि में उचित नहीं। कविता का जीवन-दर्शन भी विद्रोह से प्रभावित होकर बदल जाता है। हृदयानुभूति अधिक पैनी हो जाती है। जीवन की अपूर्णताओं, असौष्ठवों और कुरूपताओं के प्रति दुर्दम्य प्रतिरोध और प्रतिशोध की भावना कवि अनुभव करता है। कविता में जिसे विप्लववाद के नाम से पुकारा गया है उसे भी मैं स्वच्छन्दतावाद के व्यापक दायरे के भीतर लेता हूँ। समय की विषमताएँ कवि को पराजित करने का यत्न करती हैं। जब वह उनसे पराजित हो जाता है तो उसके भीतर से नैराश्य और दुखवाद के स्वर फूटते हैं। जब वह अपने को अपराजेय अनुभव करता है तब उसके भीतर से विद्रोह की वह अदमनीय ललकार निकलती है जो एक बार विधाता को भी चुनौती देकर विश्व-व्यवस्था को बदल देना चाहती है। कहा जा सकता है कि १९३० तक हिन्दी कविता का विकास स्वच्छन्दतावाद का सर्वांगीण प्रसार है। प्राचीन साहित्य की रूढ़िगत परंपरा के संकीर्ण भाव-क्षेत्र और जीवन-दृष्टि के प्रति पहले एक उत्साहपूर्ण विरोध शुरू हुआ। कुछ समय तक यह स्वच्छन्दतावाद सैद्धान्तिक रहा। साहित्यिक जीवन को रीतिकाल के संकुचित दृष्टिकोण से निकाल कर उसे अधिक व्यापक, विशुद्ध और उच्च भावना-भूमि पर लाना था। कविता में अतिशय नियमबद्धता के स्थान पर सहजोद्रेक की प्रतिष्ठा होनी थी। यह स्वच्छंदतावाद जो पहले साहित्यिक-आन्दोलन मात्र के रूप में आरंभ हुआ था, धीरे-धीरे कलात्मक और दार्शनिक होता चला गया। कविता में विविधरूपता के दर्शन होने लगे। रस और अलंकार

का स्थान ध्वनि और व्यंजना ने लिया। कविता में गीति-तत्व और नाद-सौन्दर्य बढ़ने लगा। विषय और भाव के अनुकूल छन्दों का प्रयोग आरंभ हो गया। निराला जी ने मुक्तछंद का प्रयोग कर प्राचीन रूढ़ियों और नियमों के प्रति विद्रोह की घोषणा की। साथ ही कविता में रमणीय कल्पना अधिक महत्त्व पाने लगी। कवि उसका आश्रय लेकर चित्रमय और व्यंजनापूर्ण दृश्यों की अवतारणा करने लगे।

छायावाद या स्वच्छन्दतावाद के बाद हिन्दी कविता तीव्र गति से नवीन आरोह की ओर बढ़ी है और एक नयी धारा हिन्दी कविता में बही है जिसे प्रगतिवादी काव्य धारा कहा जाता है। काव्यालोचन की दृष्टि से प्रगतिवाद को हिन्दी कविता की एक प्रयोगकालीन स्थिति कहा जा सकता है। इसमें हमारे अति आधुनिक काव्य के भिन्न-भिन्न रूपों की अवतारणा हुई है। सामाजिकता और उससे आगे बढ़कर मानवता की अभिव्यञ्जना के प्रति जागरूकता इस धारा की प्रमुख पहिचान है। भौतिक समस्याओं के समाधान की ओर कवियों की दृष्टि गयी है और पूंजीवाद के शोषण, सामाजिक असमानता, क्रान्ति, श्रेणीजन्य विषमता, साम्यवाद के प्रति आकर्षण—कल्पना के अतिरेक के स्थान पर कटु वास्तविकता के प्रति आग्रह आज कविता में अधिक है। कविता में पौराणिक भावनाओं, संस्कारों, एवं रीतिबद्ध वर्णन-शैली के प्रभावों को छोड़ा जा चुका है। काव्यात्मक पदावली का चयन अब कम हो गया है। लोक-व्यवहार की भाषा कविता में प्रतिष्ठित हो चली है। निराला जी जैसे छायावाद के प्रवर्तक कवि ने भी बाद में भाषा के इसी व्यावहारिक स्वरूप को अपनाने की चेष्टा की है। इन नये कवियों में केवल सामाजिक चित्रण हो और उनमें वैयक्तिक इन्द्रियानुभूति की अभिव्यक्ति न हो ऐसी बात नहीं। सच यह है कि इन समस्त प्रगतिवादी कवियों ने तरह-तरह के प्रयोग किये हैं। उनके कुछ प्रयोग अधिक सार्थक जीवन-भूमि पर हैं और कुछ कवियों के प्रयोग केवल प्रयोग के लिए होकर रह गये हैं।

नयी कविता या उस कविता पर लिखने के पूर्व जो कल्पना-प्रधान छायावाद के प्रति विद्रोह कर आगे बढ़ी, हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों की सामाजिक शक्तियों की रूप-रेखा दिखानी होगी। हमारे यहाँ का जैसा सामाजिक संगठन है उसके कारण जमींदारों और किसानों के दो बड़े दल हैं। जनता के विभाजन की दृष्टि से इस उच्च वर्ग, मुट्ठी भर स्थिर स्वार्थी सामन्ती सरदारों और निम्न स्तर के कोटि-कोटि नंगे भूखे कृषकों के बीच एक मध्य-वर्ग है जिसमें व्यापारी, प्रोफेसर, दूकानदार, अध्यापक, क्लर्क और साहित्यिक हैं। यह मध्य वर्ग मुख्यतः जमींदारों, ताल्लुकेदारों और देशी पूंजीपतियों या अंगरेजी साम्राज्यवाद के कृपाछत्र के नीचे रहता और पनपता था। स्वतंत्रता के आन्दोलन के विकास और कांग्रेस की परिधि के प्रसार के साथ-साथ इस मध्य वर्ग में एक प्रकार की आवेगात्मक स्वदेश भक्ति और व्यावहारिक राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। सन् १९३० के लगभग जब महायुद्ध के बाद आर्थिक संकट का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ और जब जनता मध्य वर्ग या निम्न मध्य वर्ग के नेतृत्व के

इन्द्रजाल से मुक्त होने को अग्रसर हुई उस समय इस मध्य वग ने किसी ठोस, निश्चित और यथार्थ शक्ति की ओर ध्यान देने का यत्न किया। जनता की ओर उसकी दृष्टि गयी। उसे सर्वहारा की शक्तियाँ उभरती और पनपती जान पड़ीं।

भारतीय जनता में उस समय समाजवाद का तेजी से प्रवेश हो रहा था। किसान-आन्दोलनों का रूप निर्धारित हो रहा था और श्रमजीवी मजदूर संघों का विकास हो रहा था। देशी रियासतों की जनता में राजनीतिक चेतना आ रही थी। सोवियत यूनियन में विराट् समाजवादी प्रयोग तेजी से आगे बढ़ रहा था। सारा यूरोप बेरोजगारी और अन्न-वस्त्र के अर्ध दुर्भिक्ष के दलदल में पड़ा बिलबिला रहा था। यूरोप के दिवालिया और अधः पतित मध्य वर्ग ने अधिनायकवाद (फैसिज्म) की शरण ली। उधर दूसरे साम्राज्यवादी युद्ध के खतरे की घंटी मन्चूरिया, स्पेन, आस्ट्रिया, एबीसीनिया और चीन में बज उठी। यह मध्य-वर्ग उस समय एक चौराहे पर खड़ा था जिसके सामने दो मार्ग थे। वह सोच समझ न पाता था कि क्या करे। एक मार्ग था पूंजीपतियों के संगठनों और ऐसी ही इतर संस्थाओं द्वारा जनता का शोषण करते हुए अधिनायकवाद की ओर और दूसरा था जनता के साथ अपने को खपाकर, मिटाकर, एकाकार कर समाजवाद की ओर। मध्य-वर्ग के एक हिस्से में वे लोग थे जो पूंजीवादियों के साथ रहे और उनके किराये के टट्टू बने। उस समय उच्च मध्य वर्ग के एक भाग ने तो राष्ट्रीयतावादी पूंजीपतियों और ब्रिटिश पूंजीपतियों के साये के नीचे उनकी अनुकम्पा के सहारे जनता के संगठन और व्यापक दल बनाने शुरू किये। दूसरे दल ने जो अग्रगामी था मजदूरों और किसानों के साथ अपने को खपा दिया। दोनों एक हो गये। एक छोटा सा दल उन शिक्षा-शास्त्रियों, इन्जीनियरों, सिविल सर्वेण्ट और साम्राज्यवाद एवं नौकरशाही के दूतों का था जो शक्ति और व्यवस्था कायम रखने वाले होते हैं। संक्षेप में यही सामाजिक शक्तियाँ थीं जो हिन्दी भाषी प्रान्तों में काम कर रही थीं। छायावादी युग के बाद आने वाली हिन्दी कविता जो प्रगतिशील कही जाती है हमारे मध्य वर्ग के बुद्धिवादी युवकों पर पड़ी इन शक्तियों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का फल है। यह पृष्ठभूमि सन् १९३० और ४० के बीच की है।

मानवीय चेतना आज अपने ही अज्ञात, अविज्ञात संघर्षों में उलझी हुई है। एक ओर वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को अनजान साम्राज्यों के ऊपर प्रभुता प्रदान की है। दूसरी ओर आज के समुन्नत मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र ने उसे यह अनुभव कराया है कि स्वयं अपने ऊपर उसका कितना कम अधिकार है। स्वयं अपने भीतर की अचेतन, अर्धचेतन वृत्तियों ने उसे कितना विवश कर रक्खा है। उसकी बुद्धि पर अपरिज्ञात अगोचर भावनाओं के जो गुप्त आक्रमण हुआ करते हैं वे बड़े से बड़े बुद्धिवादी मानस-शास्त्रज्ञ की बुद्धि को भी चकित कर देते हैं। उत्तर राजनीतिक सत्ता के रूप में उठने वाली सामाजिक परिस्थितियों ने उसे बता दिया है कि उसके जैसे मानवों के इस संसार को पूंजीवाद ने कैसा जघन्य स्वरूप दे रखा है। प्रगतिशील कविता के

स्वर और आवेग में इन्हीं सब की नवीनता और विचित्रता है। प्रगतिशील कविता जीवन के दैनिक चित्रों के पीछे की विराट् पृष्ठभूमि को जगाती है—उस पृष्ठभूमि को जिसमें हमारी प्रवृत्तियों के यथार्थ मूल्य निहित हैं।

छायावाद के समानान्तर हिन्दी कविता में दूसरी धारा भी चल रही थी जो उस समय आरंभिक अवस्था में थी। उसका अधिक स्वस्थ और निखरा रूप बाद में छायावाद के समाप्त हो जाने पर उभरा। उसे यथार्थवाद की धारा कह सकते हैं। 'नवीन' को एक प्रकार से उसका प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। यह यथार्थवाद आगे चल कर नैराश्यवाद का रूप लेने लगा। इसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि है। महायुद्ध के बाद मानसिक संक्रान्ति और संदेहात्मकता का जो युग आया उसके प्रवाह में बह कर एक बड़े वर्ग ने पुरानी धारणाओं और विश्वासों को त्याग तो दिया पर उनके स्थान पर उसने नये-नये विश्वास ग्रहण नहीं किये। छायावाद की एक बड़ी देन मानी जाती है। उसने द्विवेदी युग की रूढ़िबद्ध नैतिकता और मुर्दापन के बोझ से दबे हुए साम्प्रदायिक भावों की अवहेलना करना सिखाकर आचारिक परिवर्तन या क्रान्ति के लिए धरती तैयार की। मनुष्य का चाल-चलन या विश्वास—जहाँ तक वह दूसरों की स्वाधीनता में विघ्न न डाले—विशुद्ध व्यक्तिगत प्रश्न समझे जाने लगे। दैवी रुष्टता के प्रति लोगों का पहले जैसा विश्वास और भीति न रह गयी। विषय की प्रधानता का युग न होकर वह कलाकार या कवि-विशेष की प्रधानता का जमाना था। राजनीतिक या सामाजिक चेतना उस युग के कवियों में कम थी। या तो वे काल्पनिक प्रिया, भावुकता और छाया के स्थान में तल्लीन रहे या रोमान्सवाद और यथार्थवाद में कुछ समय तक इधर उधर रहकर उस परिधि में आये जहाँ वे सम्राट् हैं। जीवन और संघर्ष के बोझ से टूटे, युद्ध से निचुड़े और चुसे, अन्ध-विश्वासी, पराजित और निराश मानव की अन्तिम विजय के गीत हम उनसे नहीं सुन पाये।

प्रगतिशील काव्य शैली ने छायावादी शैली तक ही अपने को सीमित नहीं रखा है। छायावाद की शैली आदर्शवादी शैली थी। आधुनिक जीवन की संघर्षमयी वास्तविकता के अनुभवों का चित्रण करने के लिए—इस कठोर अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रगतिवाद ने हिन्दी कविता को नयी यथार्थवादी शैली दी है। छायावाद में प्रतीकों के प्रयोग की अतिशयता थी। पर प्रतीकों का प्रयोग आज के जटिल युग का हिंसा, क्रूरता और बर्बरता से भरे समाज के अन्तर्विरोधों का सजीव चित्रण नहीं कर पाता। संभव है वैसा महान् कवि अभी अवतरित होने को हो जो विश्व की विभीषिकामयी विकरालता का चित्रण प्रतीकों की शैली में कर सके। इस प्रकार प्रगतिवाद ने काव्य-शैली में भी ऐतिहासिक विकास का परिवर्तन किया है। सामाजिक अनुभव और प्रेरणाओं को यह शैली अधिक सजीवता के साथ व्यक्त करती है।

प्रगतिवादी कविता में सामाजिक विषमताओं और असंगतियों के कटु चित्र मिलते हैं। यदि उसमें एक ओर पूँजीवाद के नाश की, साम्यवाद की स्थापना की दृढ़ हुंकार

है—समाजवादी विप्लव और क्रान्ति की चेतना है तो दूसरी ओर उसमें जन-कर्म और जन-रस की माँग की जाती है। उसमें हमें सामूहिक आवेग मिलता है। जगजीवन की विप्लवी गेयता का सामूहिक रस उसमें फूटा है। केवल कोमल-कान्त-पदावली और इन्द्र धनुषी रंगीनियों वाली कविता ही कविता नहीं वरन् वह भी कविता है जो जन-शक्ति को संगठित करने वाली बल-योजना को ले कर चले। समाज की समस्याओं और आवश्यकताओं के अनुसार कला में सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ बदलती रही हैं। नैतिकता के विशुद्धतम समाजोन्नायक रूप का पूर्ण समर्थक होते हुए भी मैंने कला और उसकी आलोचना के धार्मिक और आचारिक मानों के बीच कभी कोई संबंध नहीं देखा। कुरुचि और सुरुचि, श्लीलता और अश्लीलता की कसौटियाँ बदलती रहती हैं। आदर्श की संकुचित व्याख्या और रूढ़ियों के प्रतिक्रियाशील वातावरण की सृष्टि नैतिकता नहीं है।

प्रगतिवाद अनुभव करता है कि देश में महान् परिवर्तन, आमूल क्रान्ति, एक सांस्कृतिक नवविन्यास की आवश्यकता है। महाजनी पूँजीवाद और जमींदारवाद ने देश को तबाह कर दिया है। पूँजीवादी व्यवस्था भारत की महान् सभ्यता और संस्कृति के निरन्तर ह्रास और पतन का ही पर्याय है। छायावादी कविता कला के दृष्टिकोण से क्रान्तिकारी थी। यह आवश्यक नहीं कि वह सामाजिक दृष्टिकोण से भी उतनी ही क्रान्तिकारी हो। प्रसाद, निराला और पन्त की अधिकांश छायावादी रचनाएँ या आज के युग में लिखी जाने वाली अधिकांश अचेतनवाद (सुररियलिज्म) की कविताएं कला की दृष्टि से क्रान्तिकारी हैं परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण अर्थात् जनता के साथ उनके संबंध को सोचते ही उनका क्रान्तिकारी स्वरूप न जाने कहाँ उड़ जाता है।

छायावादी कविता के इतने लम्बे काल में समाज के अगोचर स्तर में बहने वाले रस-स्रोत को तो इन कवियों ने खूब साधना और निष्ठा के साथ अपनाया (इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें और इनके से विचार रखने वाले आलोचकों और प्रशंसकों को शहद खाने वाले—गुलाब की रूह सूँघने वाले कहा है) पर समाज की गोचर रुक्षता, विभीषिका, वैषम्य और विकृतियों की ओर इन रहस्यवादी और छायावादी कवियों की दृष्टि कम गयी है। प्रगतिवादी कविता में सामाजिक जीवन की सतत् घटनाओं और संघर्ष करती हुई उसकी उच्चतम सामूहिक अभिलाषाओं, मानव के पारस्परिक संबंधों में नव आर्थिक और सामाजिक स्वातंत्र्य की योजनाएँ मिलती हैं। मनुष्य के सामाजिक अन्तर्जगत् में, उसके दैनिक जीवन के सम्पूर्ण सामाजिक क्रियाकलापों में, उसके सुख-दुख और पाप-पुण्य की वर्ग-चेतनाओं में जितने संघर्ष चलते हैं वे प्रगतिशील कविता में वाणी पाते हैं।

अक्सर कहा जाता है कि प्रगतिवादी कविता में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति या रोमान्स के लिए स्थान नहीं है। कुछ आलोचकों विशेषकर पार्टीबाज आलोचकों ने प्रगतिवाद को केवल राजनीतिक नारे-बाजी का साधन घोषित कर रक्खा है। वास्तव में बात ऐसी

नहीं है। रोमान्सवाद या स्वच्छन्दतावाद जीवन के प्रति असन्तोष, विद्रोह या बगावत का दूसरा नाम है। अन्य देशों की भाँति हमारे देश में भी राजनीतिक जागरण के साथ-साथ साहित्य में उसका प्रवेश हुआ। हिन्दी कविता के रोमान्टिक जागरण या छायावाद के आरम्भ में वह रोमान्स का ही देशभक्ति पूर्ण विह्वल स्वर और आकुल विदग्धता थी जिसने "एक भारतीय आत्मा", निराला, नवीन और मिलिन्द के गीतों में प्रेरणा भर दी थी। उस समय सम्पूर्ण हिन्दी भाषी राष्ट्र का हृदय अद्भुत जाग्रति से धड़क उठा था। स्वच्छन्दतावाद यदि स्वस्थ और सजीव है, जीवन की चालक वृत्तियों का अवरोध न कर यदि वह उनके विकास के स्रोतों को मुक्त और प्रशस्त करता है, वर्तमान की विभीषिका, दुःख और समस्याओं का अतीत के ध्यान में भुलाने की चेष्टा न कर यदि वह व्यक्ति-व्यक्ति को जाग्रत कर समस्त समाज-संबंधों को नव-निर्माण के लिए उत्कंठित करता है तो वह अभीष्ट है।

प्रगतिवाद उस रोमान्स का विरोध करता है जो क्षयी और मरणशील इतिहास का मोह लेकर जीवन में आता है जो प्राचीन-प्रियता के नशे में हमें भुलाकर आदि मानव की ओर ले जाता है। जो समाज के वर्तमान बलवान् प्रवाहों के भीतर शिव के आदर्श की खोज करने का संकल्प नहीं प्रदान करता। जो राजनीतिक प्रगतिवादी कविता को रोमान्टिक प्रभावों से बिलकुल मुक्त कर उसे विशुद्ध विज्ञान की वस्तु बना देना चाहते हैं वे भूल जाते हैं कि इस प्रकार के प्रयोग असफल रहे हैं। वह रोमान्स जो मानव की ऊर्ध्वगामिता का सन्देशवाहक है—जो मानवीय चेतना को समाज की अखंडित, उपकारक क्रिया की लौ से मिलाकर उसे तेजस्विता और बल प्रदान करता है, कवि के लिए ग्रहणीय है। इस रोमान्स की दीप्ति, जीवन की दीप्ति है—जय की दीप्ति है। जो रोमान्स व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को लेकर खड़ा होता है वह वैयक्तिक विद्रोह को लेकर चलता है। उसमें समाज को एक बनाये रहने वाली सूत्रबद्धता ढीली होती है। ज्ञान पक्ष में भी वह समाज के अस्तित्व को अस्वीकार करता है और मनुष्य के मस्तिष्क को स्वाधीनता की ओर नहीं वरन् अनियम और आराजकता की ओर ले जाता है। प्रेम में हृदय फटता नहीं वरन् बली हो जाता है और आत्मा गहरी हो जाती है।

जब नर-नारी के प्रेम के पीछे बलवती सामाजिक प्रेरणा, प्रगतिशील मनोभूमि होगी तब यह न देखा जायगा कि प्रेम के नशे में मनुष्य अपने दहके हुए टूटे-फूटे हृदय और फटी आत्मा के छिद्रों को ही कुरेदता रहे और अन्तर्मुख होता-होता अपने में सदैव के लिए विलीन हो जाय। इसके विपरीत सच्चा रोमान्सवादी जो सामाजिक प्रगति में विश्वास रखता है सदैव सोचता है कि वह समाज का सदस्य है और कला के द्वारा उसे सामूहिक रसोद्रेक को जाग्रत करने की चेष्टा करनी चाहिए, उसकी अनुभूतियों को जनता अपनी कह सके। यहाँ व्यक्ति के महत्त्व को कम नहीं किया जा रहा। प्रगतिवाद का लक्ष्य ही उस समाज की स्थापना है जिसमें व्यक्ति और समाज के पार्थक्य

की रेखा न होगी। उस वैयक्तिक अनुभूति का क्या महत्त्व है जो व्यक्तित्व को सर्व-प्रधान बनाकर समाज के लिए अपरिचित रह जाती है ?

प्रगतिवाद की मान्यता है कि जिस रोमान्स के गीत अब गाये जायँ वह ऐसा हो जहाँ मानव सर्वजनीन आनन्द और उल्लास, स्फूर्ति और प्रमोद के क्षेत्र में प्रवेश करे। ऐसे स्वस्थ और सामूहिक आनन्द की सृष्टि करने वाला रोमान्स मानव की न्याय-प्रियता को उभारेगा, उसकी त्यागमयता को बलवती करेगा और उसमें आन्तरिक सामाजिक अनकूलता होगी। जो रोमान्स जीवन में विरक्ति न भर कर सभी उपस्थित अड़चनों और अन्तर्विरोधों को नष्ट करने का मंसूबा देता है वह कैसे प्रगतिवाद के विरुद्ध होगा ? प्रगतिवाद के अन्तर्गत रोमान्स संघर्ष की उपादेयता को स्वीकार करता है। जिस रोमान्स में जीवन के आदर्श निखरते हैं, जिसके भीतर सब के जीवित रहने और सुखपूर्वक जीवित रहने का विमल बोध उदित होता है, शत्रु से मोर्चा लेने की जीवन-शक्ति संचित होती है—मानव-मात्र की एकता और समानता का सिंहनाद जिसके भीतर से फूटता है वह सजीव विद्रोह का सृजन करता है। सौन्दर्य के प्रति दुर्बल किन्तु दुर्दमनीय खिंचाव और उत्कट आसक्ति कवि के अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के बीच अलंघ्य प्राचीर खड़ी कर देती है और रूप की पिपासा से डसे कवि-व्यक्तित्व के साथ जब बाह्य सामाजिक चेतना का संबंध नहीं हो पाता तब रोमान्स आत्मरति होकर रह जाता है। प्रगतिवाद उसका तिरस्कार करता है।

समाज की वर्ग-विषमता और हीनता की अन्य चेतनाओं से मुक्त हो जाने पर भी मानव का मन उन सुकुमार भावनाओं पर स्वभाव से दृढ़ विश्वास रक्खेगा जो अनवरत दुख, शोक, थकावट, क्लान्ति और निरुत्साह के बीच उसे दृढ़ रखती हैं। प्रगति की भावना यदि सामाजिक क्रिया के रूप में काम करती है और जीवन के समाजीकरण में योग देती है तो वह हृदय की सुकुमार वृत्तियों की अवहेलना नहीं कर सकती। एक-निष्ठ प्रेम का आदर्श समाज में सदैव रहेगा और उसी के प्रकाश में जब कवि के व्यक्तित्व के साथ सामाजिक या बाह्य तत्व का समन्वय हो जायगा तभी उस परम्परा और रस की नियोजना साहित्य में होगी जो जन-जन के हृदय में चलने वाली सामाजिक चेतना और व्यक्तिगत चेतना का विरोध नष्ट कर सके।

कविता जिस आदर्श या सत्य की प्राप्ति का उद्देश्य लेकर चलती है वह अमूर्त, अपरिवर्तनशील और ध्रुव नहीं है। सत्य या आदर्श का जन्म यथार्थ से होता है। यथार्थ सामाजिक मनुष्य के संग्राम-मुखर, विरोधों से भरे जीवन का दूसरा नाम है। कविता इस यथार्थ के आत्मीकरण और उपलब्धि का एक उपाय है। प्रगतिवादी कवि इसी यथार्थ के साथ अविच्छिन्न संग्राम कर उसे रूपान्तरित करता है। जीवन सत् और असत् के बीच हो कर चलने वाली मानवीय जययात्रा का प्रतीक है। रोमान्सवादी कवि इस जययात्रा के बीच में जो विराम और विश्राम, जो पड़ाव चाहिए उनका कवि है। मनुष्य के सक्रिय सामाजिक जीवन के संग्राम में—उसके परिवर्तनशील वातावरण

के युगान्तर में, स्वच्छंदतावादी कविता में वर्णित रस-संवेदना और रस-चेतना प्रत्येक युग में आत्म-प्रकाश करती है। साहित्य की समस्याएं समाज के रूप परिवर्तन और नव-निर्माण की समस्याएँ होती हैं इसे भूल जाना साहित्य और समाज के संबंध की अभिन्नता और अविरलता को भूलना है। कविता सामाजिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और कवि के सामाजिक अनुभवों की स्वतंत्र वर्णना है।

प्रगतिशील कविता ने कवि के खोये हुए सामाजिक संपर्कों को फिर से न केवल स्थापित किया है वरन् उन्हें नयी चेतना और स्फूर्ति से अनुप्राणित भी किया है। कविता स्वप्नलोक और कल्पना के मनोरम अतीन्द्रिय जगत् से फिर कर्म-कोलाहल और संघर्ष भरे जीवन में लौट आई है। जो हिन्दी कविता शताब्दियों तक 'राधिका कन्हाई सुमिरन का बहाना' बनी रही या फिर विलास, सुख-भोग, मानसिक सौन्दर्य-पान और रस-सौख्य का साधन मानी जाती रही, वह जनता के कवियों के हाथ में पड़ कर संघर्ष-शील जन-वर्गों की स्वाधीनता की लड़ाई और क्रान्ति की आकांक्षाओं की तस्वीर बन गयी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पहले तक जो हिन्दी कविता रूढ़ियों और रीतियों के जाल में फंसी फड़फड़ा रही थी वह बाद में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता की चेतना को शक्ति प्रदान करने वाली ऐतिहासिक परम्परा बन गयी। मैथिलीशरण गुप्त, 'एक भारतीय आत्मा', रामनरेश त्रिपाठी, माधव शुक्ल, माता दीन शुक्ल, 'विदग्ध', निराला, पन्त, नवीन, दिनकर, और मिलिन्द जैसे प्रगतिशील कलाकारों और गायकों की उस युग की प्रबल स्वातंत्र्य-निष्ठा ने हिन्दी कविता के सदियों से रुके पड़े अनुभूति और चिन्तन के स्रोतों को मुक्त तथा प्रवाहित कर दिया।

प्रगतिवाद का आन्दोलन आज हिन्दी कविता में मंद है। हिन्दी में प्रगतिवाद के प्रायः सभी प्रवर्तक कवियों ने दिशा बदल दी है। उनका ध्यान काव्य के स्थाई मूल्यों की ओर चला गया है। वे सांस्कृतिक पुनरुत्थान चाहते हैं और केवल नारेबाजी या स्थूल वाह्य-चित्रणों से आगे बढ़कर उनकी कविता अब आत्मा के अविनाशी संगीत के स्वरों की खोज कर रही है। देश में आज का युग राष्ट्र-रचना और सांस्कृतिक प्रयत्नों का युग है। प्रगतिवादी कविता में काव्य का व्यापक और महान् सत्य आत्मानुभूति का निचोड़ कम उतरा है। प्रगतिवाद ने नयी शैलियाँ और नये प्रयोग तो दिये हैं किन्तु नये प्राणों का निर्माण वह नहीं कर पाया। ये कवि समय की उन शक्तियों को धुँधले रूप में ही पहचान पाये जो भविष्य का निर्माण करती हैं। ये कवि सामाजिक सत्य को अनुभव तो कर पाये पर उसे अपने काव्य द्वारा लोकधर्म और विश्व-बोध में परिणत न कर सके। कविता नयी जीवन-भूमि पर जाकर भी अपने लिए अधिकाधिक प्राण-पोषक तत्वों का संचय न कर सकी। प्रगतिवाद बहुत जल्द रूढ़ और गतिहीन हो गया। कविता में भूत और भविष्य दोनों की ओर पलायन अच्छा नहीं कहा जाता। ऐतिहा-सिक सत्य अर्थात् इतिहास-विज्ञान के आधार पर भविष्य की मनुष्य की मनुष्यता और सामाजिकता को चित्रित करना और वाणी देना एक बात है। पर वर्तमान की कुरूपता

और विभीषिका से ग्लानि और कुंठावश होकर भविष्य के सपने देखते रहना अतीत की ओर पलायन का ही दूसरा रूप है जो अकर्मण्यता का प्रसार है।

प्रगतिवाद को आज विदेशी वाद-निर्देशों की ओर न देख कर भारतीय राष्ट्र की रचना में योग देना है। कविता के लिए आवश्यक है कि वह हमारे भीतर स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखने और उसकी रक्षा के लिए सर्वस्व-समर्पण की भावना को बलवती करे। आज समाज की वास्तविक और प्रगतिशील चेतना साहित्य से जनता के मनोबल को दृढ़ता प्रदान करने वाली क्षमता माँगती है। कविता के अधिक से अधिक जीवन के निकट आने का यही अर्थ है। कविता में राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति देखकर या कहीं किसी लौकिक अज्ञेय शक्ति का संकेत पाकर जो कविता को अप्रगतिशील मान बैठते हैं वे भूल करते हैं। भौतिकतावाद की भी सीमा है। केवल जीवन की काली गंदी विषमताओं के भीतर घुस कर या सतह पर तैर कर उत्तेजित होना, खीझना और पूँजीवादी वर्गों का तीखे व्यंग, ज़िद-भरी कुढ़न और चिढ़ के साथ चित्रण करना ही पर्याप्त नहीं। काव्य में यथार्थवाद का अर्थ यही नहीं कि केवल कुरूपता का चित्रण किया जाय और अधूरे, एकांगी, भ्रामक निष्कर्ष निकलते जायँ वरन् सौन्दर्य, परिपूर्ति, सुषमा, सौख्य और शान्ति आदि जो काव्य के स्थाई प्रतिमान हैं उन्हें उसी निष्ठा के साथ अपनाये रहना होगा। प्रगतिवाद में जिस व्यंग के लिए अत्यधिक आग्रह देखा जाता है वह कोई सात्विक व्यापार नहीं। व्यंग का उद्भव सदैव मन की हीनता की भावना से होता है। उससे मन की खोट और मानसिक अवसाद व्यक्त होता है। हमारे यहाँ काव्य की जो सात्विक परंपरा रही है उसमें ध्वनि के रूप में भले व्यंग की उपादेयता स्वीकार की गयी हो, पर हलकी उपहास-वृत्ति और परछिद्रान्वेषण और परनिन्दा के रूप में उसे हीन कोटि का सृजन ही माना गया है।

प्राचीनता या पौराणिकता के उल्लेख मात्र से कविता में प्रगति-तत्व का ह्रास हो जाता है ऐसी कुछ आलोचकों की धारणा है। यह भ्रान्ति है। काव्य में लौकिक और आध्यात्मिक आदर्श की समान प्रतिष्ठा हो सकती है। यथार्थवाद हमारे देश में कभी जीवन-दर्शन बनकर नहीं आ सकता। अधिक से अधिक वह चित्रण-शैली बन सकता है। प्रगतिवाद मार्क्सवाद को आधार मान कर चलता है। यहाँ तक ठीक है, पर दूसरे जीवन-दर्शनों को वह उपेक्षा की दृष्टि से क्यों देखता है? गांधीवाद के प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्त भी मानवता के कल्याण के उतने ही बड़े उपकरण हैं। गांधीवादी साहित्य में भी जीवन के मार्मिक और स्थाई स्वरूपों के जीते-जागते चित्र उतरे हैं। प्रत्येक देश की परम्पराएँ और अपनी स्वतंत्र जीवन-दृष्टियाँ होती हैं। हमारे देश की परंपरा मानव न बना कर देवता बनाने की रही है। इसका अर्थ केवल यह है कि हमारी अडिग आस्था मानव की महत्ता और उसके उत्कर्ष के भविष्य पर है। नीचे मैं हजारों वर्ष पूर्व लिखे गये यजुर्वेद के दो अंश देता हूँ जो मेरी समझ में आज की सर्वोत्कृष्ट प्रगतिशील कविता के रूप में देखे जा सकते हैं। प्रगतिशीलता को अन्तर्राष्ट्रीयता

का ही पर्याय मानने वाले और विदेशों को ही सामाजिक-दार्शनिकता का स्रोत मानने वाले देखें कि इन काव्यांशों में कैसी उग्र सामाजिकता है। वर्ग-चेतना और पूंजीवाद के प्रति घृणा की भावना न होकर भी उनमें कैसी अपूर्व राष्ट्रीयता है, कितना मनोरम लोक-संग्रह है।

"हे अतुलित शक्ति वाले ब्रह्म ! हमारे राष्ट्र में ओजस्वी परम सत्य के ज्ञाता उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में बड़े-बड़े रथारोही, शत्रुओं को कुचल देने वाले महा-पराक्रमी योद्धा उत्पन्न हों। हमारे देश में गायें खूब दूध देने वाली, बैल खूब पराक्रमी और दुर्वह बोझ वहन करने वाले और स्त्रियाँ स्नेहमयी कुल-लक्ष्मी हों। राज्य में सभी को जीवन-वृत्ति मिले। हमारे युवक आकर्षक और तेजवान् हों। हमारे राष्ट्र में हमेशा समय पर बादल बरसें। हमारी औषधियाँ और फसलें खूब पकी पकाई, फलवती हों। हमारे राष्ट्र में जो कुछ पहले न था वह सभी वैभव सुलभ हो, और जो वैभव अभी है वह सदा सुरक्षित रहे।"

—यजुर्वेद (२२-२२)

"ओ हरे भरे खेतों में, गोपद चिह्नित कुटीरों में, सुन्दर लोक गीतों से गूँजते हुए गाँवों में वास करने वाली सूर्य की किरणों के समान निष्पाप, और उज्ज्वल आनंद बिखेरने वाली महान् जनता ! राष्ट्र की सच्ची शक्ति तुम्हीं हो। ये लहलहाती फसलें तुम्हारे ही श्रम का वरदान हैं। दुनिया को जीवन की देन देने वाली तुम्हीं हो। जिस प्रकार मधुर जल वाली नदियाँ एक दूसरे से मिल कर अनन्त विस्तार वाली हो जाती हैं उसी प्रकार तुम्हारे सभी वर्ग आपस में घुल मिल कर अनन्त सौन्दर्य और शक्ति को प्राप्त हों। राष्ट्र के भविष्य के लिए लड़ने वाले योद्धाओं को तुम्हारा आशीर्वाद और बल प्राप्त हो और अपने असीम बलशाली राष्ट्रपति से सुशोभित हो कर तुम अजेय और महान् बनो।"

—यजुर्वेद (१०-४)

ये दो उद्धरण रूसी या किसी अन्य मार्क्सवादी देश के कवि की कविता से नहीं वरन् इसी पिछड़े हुए देश के एक प्राचीनतम धार्मिक ग्रन्थ से दिये गये हैं। भारतीय आदर्शों के उपासक कवि को इनमें उन्नतिशील राष्ट्र की जीवन-दशाओं का कितना भव्य रूप मिलता है। आज हिन्दी कविता में ऐसी ही प्रगतिशील राष्ट्र-पूजा और जन-शक्ति के आह्वान की आयोजना होनी चाहिए। प्रगतिशील कविता में हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं, नव-निर्माण की प्रवृत्तियों और रचनात्मक प्रेरणाओं की प्रभापूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए। प्रगतिवादी कवियों को परिवर्तन के क्रम को समझना होगा। कवि अपनी प्रशस्त कल्पना के द्वारा वर्तमान हलचलों का यथार्थ रूप अंकित करता है। साथ ही स्वाभाविक और कृत्रिम समस्याओं में भेद भी करना चाहिए।

प्रगतिवादी कविता में आज प्राणवान् सांस्कृतिक अनुवर्तन की आवश्यकता है। कला का लक्ष्य सृष्टि और कविता का लक्ष्य रस की प्राण-प्रतिष्ठा है। प्रचार वह

अपना और अपने में निहित भावनाओं का स्वयं कर लेती हैं। कविता की प्रेषणीयता उसका सब से बड़ा प्रचार का सामर्थ्य है। प्रगतिवादी कविता का यही बड़ा दोष अब तक रहा है। कविता की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार न कर उसे राजनीतिक पार्टी का प्रचारक बना कर रख छोड़ा गया। परिणाम यह हुआ कि जिन रससिद्ध कवियों ने छायावाद या कल्पनात्मक विद्रोह का सूत्रपात हिन्दी में किया था उन्होंने इसे भी अपनाकर धीरे-धीरे छोड़ना आरंभ कर दिया। कवि स्वतंत्र चेता होता है। वह किसी वाद के घेरे में नहीं बँधता। प्रगति प्राकृतिक नियम है। कवि अधिक अनुभूति प्रवण होने के कारण उसकी शक्तियों को सबसे पहले पहचान लेता है और काव्य में उनका आकलन करता है।

हिन्दी साहित्य और विभिन्न वाद

[डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० ए० वी० कालिज, कानपुर]

चेतना के रथ पर गमन करने वाला मानव-हृदय अपनी यात्रा में अनन्त काल से गतिमान है। उसकी इस यात्रा का अन्तिम लक्ष्य क्या है यह तब तक नहीं कहा जा सकता है जब तक मानवता की विकास क्रिया का अंतिम पग निश्चित न किया जाय। एक साहित्यकार अपनी यात्रा की अनुभूतियों का दर्शन साकार रूप में उस समय करता है जब प्रकारान्तर से उसके जीवन का सत्य, भाषा और लिपि की वाणी में मुखरित हो उठता है। उसकी बोध-वृत्ति उसे उसके यात्रा-पथ का अनुभव-दान देती है और यह अनुभव ही उसकी अहंता को परितोष प्रदान करने के लिए अभिव्यक्ति के रूप को वरण करता है।

मानव की अहंता में आत्म और अनात्म भावों की व्याप्ति है। ये दोनों ही भाव उसके जीवन में एक संघर्ष विशेष की सृष्टि करते हैं। संघर्ष का परिणाम होता है अशांति, आकुलता। यह संघर्ष किसी क्षण विशेष, अथवा काल-विशेष का नहीं है, अपितु चेतना के प्रारंभिक क्षणों में ही संघर्ष की सृष्टि हो जाती है। इस संघर्ष-जनित आकुलता के शमन के लिए मानव आत्म-साक्षात्कार करना चाहता है। आत्म-साक्षात्कार करने की पुण्य वेला में वह जीवन और जगत् के विभिन्न रूपों में अपने को तन्मय होता हुआ पाता है। उसकी यह तन्मयता उसके हृदय को एक विचित्र कुतूहल से भर देती है और वह भाव-विभोर होकर कभी रेखाओं, कभी स्वरों और कभी अक्षरों-शब्दों के रूप में बोल उठता है। उसके ये बोल ही कला का रूप धारण करते हैं।

कलाकार की यह क्रिया साधना-सापेक्ष्य होती है। इसीलिए वह कलाकृति द्वारा मानो अपनी साधना का उत्सव मनाता है। उसकी यह साधना युग की पगडंडियों पर चलती हुई आती है। अतः कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता है कि उसकी साधना का अमुक प्रतिफल नितान्त मौलिक है। यह स्पष्ट है कि कलाकार की वर्तमान कला उसके अतीत का वरदान है जिसे वह वर्तमान के पात्र में सँजोकर भविष्य के लिए सुरक्षित रख सकने की कामना से पाल-पोस रहा है।

प्रायः लोग साहित्य या कला को परिभाषा की सीमा में बाँधना चाहते हैं, पर सच तो यह है कि साहित्य की कोई निश्चित परिभाषा एक-दो वाक्यों में नहीं की जा सकी।

इसका विषय परिभाषा सापेक्ष्य न होकर व्याख्या-सापेक्ष्य अवश्य माना जा सकता है। और इस व्याख्या की क्रिया में भी व्याख्याकार के रुचि-वैचित्र्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। चिन्तकों के मानस-पटल पर भिन्न-भिन्न रूपों में जो भाव-रूप चित्रित होते रहते हैं उन्हीं के अनुरूप उसकी व्याख्या होगी। यह निश्चय है कि युग-पथ पर चलने वाली साधना ही साहित्य का रूप धारण करती है। अतः जब तक युग को मानव की चेतना का योग प्राप्त होता रहेगा तब तक इस गतिशील संसार में साहित्य और कला के भी अनेकानेक रूप उपस्थित होते रहेंगे। अनुभव द्वारा इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि साहित्य में जीवन का प्रतिबिंब होता है, उसमें साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति होती है और वह उस तार की झंकार को झंकृत करना चाहता है जो प्रत्येक मानव-हृदय में विद्यमान है। मानव-मानव का रागात्मक संबंध ही समाज की सृष्टि करता है, इसी से परम्पर उन भावों का व्यापार चलता है जिनकी अभिव्यक्ति साहित्य में होती है।

साहित्यकार का वातावरण उसे निरंतर प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्रदान करता रहता है। जिसके परिणाम स्वरूप वह अपनी साहित्यिक सृष्टि का स्रष्टा बनता है। अपने इस रचना-विधान में वह अपने अतीत और वर्तमान दोनों ही की उपासना करता है। और इसी उपासना के परिणाम-स्वरूप वह भविष्य के लिए अपने मनोरम उपहार सँजोने में समर्थ होता है।

स्वतंत्र उद्भावक साहित्यकार प्राचीनता के प्रति न तो विमूढ़ आग्रह ही रखता है और न नवीनता के प्रति अविवेक पूर्ण उत्साह ही। उसके सम्पूर्ण कृतित्व में उसकी शोध-वृत्ति निरन्तर जागरूक रहती है। इसी जागरूकता के परिणाम स्वरूप वह भविष्य का द्रष्टा भी बन जाता है। कबीर, सूर, तुलसी आदि ऐसे ही महान् साहित्यकार थे जिनकी क्रांत-दर्शिता ने न केवल वर्तमान को ही सम्हाला, अपितु भविष्य के लिए भी मार्ग प्रशस्त किया। शताब्दियाँ व्यतीत हो गयीं और न जाने कितनी शताब्दियाँ आगे भी व्यतीत हो जावेंगी, पर उनके चित्र धूमिल होने के नहीं। इन रस सिद्ध महात्माओं की अपनी साधना में सफलता का एकमात्र कारण है उदार एवं विशाल दृष्टिकोण का होना। वे अपनी कल्पना-प्रवण एवं उर्वर मानसिक शक्ति द्वारा जन-जीवन का निरन्तर दर्शन एवं चिंतन करते रहते थे। इसी के परिणाम स्वरूप जीवन की विविधता का उन्हें पूर्ण परिज्ञान प्राप्त था। उनकी यह पूर्णता ही उनके साहित्य की पूर्णता का एक मात्र हेतु बनी। ये संत एवं महात्मा कवि कभी किसी वर्ग विशेष के होकर नहीं रहे। इनकी दृष्टि की व्यापकता ही इनकी महानता का एक मात्र हेतु बनी। पर कालान्तर में साहित्य अपने विशाल प्राङ्गण को छोड़कर स्थल विशेष की संपत्ति बनने लगा। उसका दृष्टिकोण समस्त मानवता एवं व्यापक भाव-जगत् से हटकर भिन्न-भिन्न भाव-खंडों एवं दृश्य-चित्रों के बीच सीमित हो गया। दृष्टि की इस सीमा ने साहित्यकार के महत्त्व को भी सीमित कर दिया। आज हमारे समक्ष

ऐसे अधिकांश साहित्यकार हैं जो अभिनयात्मक भावों की अभिव्यंजना में ही अत्यधिक कौशल का प्रयोग करते हैं, उन्हें, जीवनोदधि के अन्तराल में प्रविष्ट होकर भाव-मणियों के संचय का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो पाता। कहना न होगा कि तथाकथित सभ्यता एवं संस्कृति के विकास के साथ ही साथ इस प्रकार की स्थिति का उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक है। परिवर्तित संस्कृति एवं सभ्यता के चकाचौंध के बीच साहित्य में भी रंग-बिरंगे परिवर्तन परिलक्षित होते रहते हैं। ये परिवर्तन कुछ तो युग की माँग पर और कुछ साहित्यकार की स्वतः प्रवृत्ति-वशात् होते हैं। समस्त देशों का साहित्यिक इतिहास इस तथ्य के पृथुल उदाहरण अपने में संगृहीत किये हुए चल रहा है। हिन्दी साहित्य भी इस तथ्य का अपवाद नहीं है। रीति काल के पश्चात् आधुनिक काल तक आते-आते भारतवर्ष में जो राजनीतिक परिवर्तन एवं जागृति के दृश्य दृष्टिगोचर हुए उनके परिणामस्वरूप हिन्दी साहित्य की विविध धाराएँ प्रवाहित हुई। राष्ट्र की इस नव जागरण वेला में केवल राजनीति में ही नहीं, अपितु सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी उथल-पुथल उत्पन्न हुई। विदेशी प्रभावों ने भी जन-जीवन को अछूता न छोड़ा। फलतः समूचे राष्ट्र की विचार-धारा में एक युगान्तरकारी परिवर्तन प्रतिभासित होने लगा। भारतेन्दु काल से लेकर द्विवेदीकाल तक का साहित्यिक-इतिहास चिन्तनशील मस्तिष्क की भव्य-चेतना का इतिहास है। विदेशों में होने वाली राजनीतिक क्रान्तियों ने भी हमारे देश की साहित्यिक चिंतन धारा पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपनी छाप अवश्य ही छोड़ी। इस सबका परिणाम यह हुआ कि इस युग का साहित्यकार अधिकांशतः बुद्धिवादी बन गया। यही कारण है कि इस युग की साहित्यिक-कृतियों में बौद्धिकता अधिक है और भावात्मकता कम। इस बौद्धिकता के परिणामस्वरूप ही हिन्दी का आधुनिक काल विभिन्न वादों का काल बन गया है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, राष्ट्रीयतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, आदि वाद इसी युग की देन हैं।

वस्तुतः वाद है क्या ? साहित्यकार अपनी कृति द्वारा कुछ न कुछ अभिव्यक्त करना चाहता है। उसकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध या तो उसके 'स्व' से होता है, या 'स्व-जगत' से और या फिर 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' से। जब तक उसकी अभिव्यक्ति का सम्बन्ध उसके 'स्व' से रहता है तब तक उसकी रचना पूर्णतः स्वांतःसुखाय होती है, विशेषता यह होती है कि उसके स्वांतः सुख में ही जग का सुख भी समाहित हो जाता है। 'स्वजगत्' से संबंधित होकर साहित्यकार पूर्णतः जगत् का अनुरंजन करना चाहता है जो कानून उसे जगत् से प्राप्त हुआ है उसे वह जगत् को ही बाँट देना चाहता है। 'स्व-पर-भिन्न-स्वत्व' की भूमिका में प्रतिष्ठित होकर साहित्यकार एक ऐसे अलौकिक आनन्द की उद्भावना करता है जिसकी प्राप्ति होने पर सूर का यह कथन चरितार्थ होने लगता है —

"परम स्वादु सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावै।"

स्पष्ट है कि अभिव्यक्ति के इन सभी रूपों में साहित्यकार का अनुभव ही प्रमुख है। अनुभूति से पूर्ण अभिव्यक्ति साहित्य बनती है, अन्यथा वह वादी बनकर विवाद के स्वरूप की सृष्टि करती है। प्रत्येक साहित्यिक अभिव्यक्ति का उद्देश्य होता है भावों को उत्तेजित करना। जो साहित्य भावों को जाग्रत करने की क्षमता नहीं रखता है उसे साहित्यिक मर्यादा नहीं प्राप्त हो पाती है। ऐसा साहित्य वाद या विचारधारा का प्रचारक मात्र माना जाता है।

'वाद' का लेबिल लगाकर रचा गया साहित्य स्थायी साहित्य के महत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकता क्योंकि साहित्य स्वतः कोई वाद नहीं है। विभिन्न साहित्यकारों की एक ही प्रकार की एक विशिष्ट अभिव्यंजना प्रणाली साहित्यिक क्षेत्र में एक विशिष्ट नाम से पुकारी जाने लगी। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रसूत अवसादमय वातावरण के आरंभ में जब कवि गण प्राचीन पद्धतियों में वासनात्मक प्रेम के गीत न गा सके तब उनकी रागात्मक प्रवृत्तियों ने अभिव्यक्ति का एक नवीन मार्ग निकाला जिसमें विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों के साथ ही साथ ध्वन्यात्मकता एवं अन्योक्ति प्रधानता व्यापक रूप से अपनायी गयी। कथन की इसी शैली में जीवन से हारे, थके मानव-हृदय की आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ भी यत्र-तत्र गोचर हुई। अभिव्यंजना के इस स्वरूप में कवि की सौंदर्य भावना, शृंगार अथवा प्रेम की भावना, करुणा की विवृत्ति, प्रकृति प्रियता तथा जीवन-दर्शन के नाना मनोरम भाव-चित्र सामने आये। और इन चित्रों को 'छायावाद' की संज्ञा प्रदान की गयी।

मानव का राम जब लौकिकता से हटकर अलौकिकता की ओर उन्मुख होता है तब उसकी संज्ञा होती है 'अध्यात्म'। इसी अध्यात्मतत्व के अन्वेषण में नाना प्रकार के कुतूहल की सृष्टि हुई है। इस कुतूहल के परिणामस्वरूप अनेकानेक नवीनातिनवीन समस्याएँ, पहेलियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार एक रहस्य, एक उलझन एवं उसे जानने समझने की एक विशिष्ट प्रेरणा की सृष्टि होती है। भारतीय प्रवृत्ति अध्यात्मपरक रही है। प्रत्येक चिंतक-विचारक इस प्रवृत्ति से उत्पन्न होने वाली गवेषणा में किसी अचिन्त्य शक्ति तक पहुँचने का सतत् उपक्रम करता रहा है। इस उपक्रम में वह उस शक्ति से अपने विभिन्न संबंधों की उद्भावना भी करने लगा। स्पष्ट है कि सम्बन्ध-भावना पूर्णतः लौकिकी प्रवृत्ति है। असम्बन्ध में सम्बन्ध की दृढ़ता और वेग उत्पन्न करने वाली सबसे बलिष्ठ भावना दाम्पत्य-भावना है। अनेकानेक संतों ने अपनी इस लोक-बाह्य साधना में सफलता प्राप्त की और अपनी अनुभूति का दान जन-जीवन को प्रदान किया। ये अनुभूतियाँ प्रभु के प्रति जिज्ञासा, कुतूहल, विस्मय, प्रभु का पूर्ण महत्त्व एवं उसकी अनिर्वचनीयता, प्रभु के दर्शन करने का प्रयत्न, प्रभु से विभिन्न संबंधों की उद्भावना, तथा प्रभु से एकाकारिता के रूप में आयीं जिन्हें हम रहस्यवाद के नाम से जानने लगे। छायावाद और रहस्यवाद के रचनाकारों के रूप में जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा प्रभृति साहित्यकारों ने विशिष्ट स्थान प्राप्त किया।

आधुनिक काल विभिन्न विचारधाराओं का प्रयोग काल है। जिस प्रकार राजनीतिक रंगमंच पर अनेकानेक वाद (साम्यवाद, समाजवाद आदि) दृष्टिगोचर होते हैं उसी प्रकार साहित्य का क्षेत्र भी अनेक वादों का रंगमंच बन गया है। राजनीति की दल-प्रधान प्रवृत्ति ने हमारी साहित्यिक चिंतनाओं को भी प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप साहित्यिक कृतियों में एक विशिष्ट आग्रह ने स्थान प्राप्त किया। पूंजीवादी प्रथा एवं रूढ़िवादिता के प्रति एक क्रान्तिकारी मनोवृत्ति की सृष्टि ने साहित्य में भी एक नया नारा बुलंद किया। अस्तु, साहित्य को प्रगति की दिशा में ले चलने के लिए 'प्रगतिवाद' का जन्म हुआ। साधारणतः साहित्य तो सदैव ही प्रगतिशील रहा है। वीरगाथा काल से लेकर आज तक का साहित्य विभिन्न प्रगतियों का ही इतिहास है। विकासोन्मुख मानव-सृष्टि अपनी गतिशीलता में ही शाश्वत एवं महान् है। साहित्य भी विकास-शील मानव-सृष्टि की आकांक्षाओं-कल्पनाओं को निरन्तर सँजोया करता है। साहित्यकार अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं शक्ति द्वारा बड़ी निपुणता के साथ जीवन और साहित्य दोनों को ही गति प्रदान करता रहता है। पर आज की प्रगतिवादी धारा के अधिकांश साहित्यकारों ने एक विशिष्ट जीवन-दर्शन देना चाहा। इस कार्य के लिए उन्होंने अपना एक अलग प्लेट-फार्म बनाया और उस प्लेट-फार्म पर खड़े होकर घोषणा की कि साहित्य के द्वारा रूढ़ियों का विरोध, शोषितों के प्रति सहानुभूति, शोषकों के प्रति आक्रोश एवं घृणा तथा जड़ सामाजिकता के प्रति क्रान्ति की भावना की सृष्टि नव-निर्माण के लिए आवश्यक है। इस नव-निर्माण के प्रति अधिकाधिक आकर्षण उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार की रचनाओं में रस का गुण-गान भी पर्याप्त मात्रा में किया गया। वर्ग संघर्ष की भावना को भी इस प्रगतिवादी साहित्य ने विशेष बल प्रदान किया।

साहित्य की प्रगतिवादी धारा के अंदर या उसके समकक्ष एक दूसरी धारा भी आयी जिसका नामकरण 'प्रयोगवाद' हुआ। इसने समस्त प्राचीन उपमान-विधान, रूपक-विधान आदि अभिव्यंजना प्रणालियों की अनुपयोगिता सिद्ध करते हुए सबका नवीनीकरण करने का महदोत्साह व्यक्त किया। पर इन उत्साही साहित्यकारों के कला-निर्माण सम्बन्धी समस्त सपने उन्हीं की अभिव्यंजना-प्रणाली में "इस तरह टूट गये जैसे भुंजा हुआ पापड़।"

प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी साहित्य के विषय में अभी किसी विशिष्ट बात का उल्लेख नहीं किया जा सकता। अभी तो उनका शैशव काल ही है। शिशु की तुतला-हट मिश्रित वाणी में जो अस्पष्टता होती है वह अस्पष्टता इस साहित्य में है। पर साथ ही शिशु की बोली में जो माधुर्य एवं आकर्षण होता है उसका भी दर्शन यत्र-तत्र हो जाता है। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" की बात भी इस प्रसंग में स्मरण हो आती है। अभी तक का प्रस्तुत समस्त साहित्य अपने जिस रूप में है उससे कुछ अधिक आशा नहीं की जा सकती। हाँ, यदि इस खेवे के साहित्यकार अनुभूति की

व्यापकता, गंभीरता, सजगता एवं अभिव्यंजना के सहज कौशल को सिद्ध कर सकेंगे तो निश्चय ही इनकी देन अपना निजी महत्त्व रखेगी।

भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम काल का अधिकांश साहित्य समुज्ज्वल राष्ट्रीय भावनाओं से पूर्ण है। इस क्षेत्र में सर्व श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा,' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, राजाराम शुक्ल 'राष्ट्रीय आत्मा', दिनकर, सुभद्राकुमारी चौहान, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त आदि अनेक कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा राष्ट्र के स्वर को निनादित किया। इन कवियों द्वारा रचित राष्ट्रीयतावादी साहित्य स्वतंत्रता-संग्राम काल का एक सजीव चित्र उपस्थित करता है। इसमें तत्कालीन राष्ट्र की आत्मा का दर्शन निहित है।

साहित्य के क्षेत्र में आदर्श और यथार्थ के प्रश्न को लेकर अनेकानेक प्रश्न उपस्थित हुए। वस्तुतः जिस प्रकार जीवन के यथार्थ और आदर्श का समन्वय जीवन को प्रशस्त एवं समुन्नत बनाता है, उसी प्रकार साहित्यिक अभिव्यक्तियों में भी आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय कृति को अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध करता है। न तो कोरा आदर्श ही और न अतिशय यथार्थ ही हमारे काम का है। विकसनशीला प्रवृत्तियाँ कभी भी एकोन्मुखी नहीं बन सकतीं। जीवन में आदर्श एवं यथार्थ दोनों की ही उपयोगिता है। साहित्य को भी उपयोगी बनना है, उसका कोरा मनोरंजन-कलाविधान जीवन के साथ अधिक समय तक चल नहीं सकता है।

साहित्यकार का मुख्य लक्ष्य होना चाहिए जीवन के सत्य का उद्घाटन करना। उसकी सार्थकता इसी सत्य के सँवारने में है। यह सत्य इतना महान् एवं व्यापक होता है कि समस्त वाद इसी में विलीन हो जाते हैं। जिस किसी भी वाद में चिरन्तन सत्य का दर्शन प्राप्त होने लगता है वही वाद अथवा वाणी अमर हो जाती है। अस्तु, साहित्य में यदि कोई वाद हो सकता है तो वह है जीवन का चिरन्तन सत्यवाद। साहित्यकार को अपनी साधना में उसी चिरन्तन सत्य का दर्शन करना है। किसी वाद विशेष की सीमा में समा जाने वाला साहित्यकार अपनी स्वतंत्र चेतना एवं उद्भावना शक्ति को खो बैठता है और ऐसी स्थिति में वह आत्मदर्शन नहीं कर पाता है। फलतः उसके समक्ष एक प्रकार की मानसिक दासता प्रतिभासित होने लगती है। यह दासता न केवल उसकी स्वतंत्रता का ही अपहरण करती है अपितु उसकी समस्त कलाकृति को भी प्रभावहीन करके उसे कलंकित कर देती है। साहित्य को मानव की एक ऐसी अक्षय संपत्ति बन कर आना है जिसके द्वारा अमंगल का विनाश और मंगलमयी शिव की सृष्टि सम्पन्न हो सके। इसी रूप में जीवन का सत्य और साहित्य का सत्य एक हो सकता है।

आधुनिक हिन्दी कविता और विभिन्न वाद

[श्री तपेश कुमार चतुर्वेदी, दयालबाग, आगरा]

परिचय

आधुनिक हिन्दी कविता के जन्म एवं पोषण काल पर विचार किये बिना उसे ठीक प्रकार नहीं समझा जा सकता। मानव-प्रवृत्तियों ने अनेक रूप धारण किये हैं; अनेक रंगों में रंगकर प्रकाश में आयी हैं। आज के युग में वह इस प्रकार उलझी हुई मिलती है कि उनका सुलझाना और विश्लेषण करना सरल नहीं। कुछ प्रवृत्तियाँ अध्यात्मोन्मुखी हैं तो कुछ साम्योन्मुखी। एक का सम्बन्ध आदर्श से है तो दूसरी का यथार्थ से। यदि एक अन्तर्मुखी है तो दूसरी बहिर्मुखी। कहीं-कहीं ये आपस में लिपट कर एक अनोखा रूप ग्रहण किये हुए मिलती हैं। उन्हें न तो शुद्ध अध्यात्मवादी कहा जा सकता है और न ही विशुद्ध भौतिकवादी। इस प्रकार आधुनिक काल की कविता में विभिन्न प्रवृत्तियों का ऐसा संघटन है जो आकर्षक होते हुए भी उलझा हुआ है। जो कविता अन्तर्मुखी होकर प्रकृति के अन्तर में स्पन्दन एवं प्राण चेतना की अवतारणा करने लगी उसे छायावाद कहा जाने लगा। जो इस अन्तर्मुखी-प्रवृत्ति से पराङ्मुख होकर भौतिकवादी विचारधारा को विद्रोह के स्वरों में प्रस्तुत करने लगी उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गयी। शनैः-शनैः एक नवीन प्रवृत्ति ने जन्म लिया। यह प्रगतिवाद की भाँति छायावादी प्रवृत्ति की विद्रोही और भौतिकवाद की पोषक थी। परन्तु अन्तर केवल इतना था कि जहाँ प्रगतिवाद छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और तरल अमूर्त अनुभूतियों का विरोधी था वहाँ यह नयी प्रवृत्ति बौद्धिक तत्व की सहायता से नूतन शैली-शिल्प तथा नाना प्रकार की नूतन काव्य-सामग्री के प्रति भी आकर्षित हुई और उसे आग्रह पूर्वक ग्रहण किया। इस नयी प्रवृत्ति को प्रयोगवाद के नाम से पुकारा गया। इसका मूल तत्व चिर प्रयोगशीलता व अन्वेषण माना जा सकता है। अतः वस्तुतः आधुनिक कविता को विषय वस्तु व शैली की दृष्टि से मुख्यतः तीन वादों—छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में बाँधा जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुछ न्यून महत्त्व वाले वाद भी गिनाये जा सकते हैं जैसेः—प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, मांसलवाद, हालावाद आदि। इनका विवेचन स्थानाभाव के कारण यहाँ अधिक समीचीन नहीं जान पड़ता। इसके अतिरिक्त उनका अपना स्वतंत्र, पृथक् अथवा निजी अस्तित्व भी नहीं है। वे किसी न किसी रूप में उक्त वादों के अंग मात्र ही हैं।

आधुनिक कविता का विकास क्रम

आधुनिक कविता का आरम्भ भारतेन्दु काल से माना जाता है जिसकी अवधि १८६५ से १९०० तक के बीच का समय है। नवयुगीन चेतना ने रीतिकालीन परम्परा को तोड़ कर जन-जीवन को काव्य की वस्तु बनाया। इस चेतना का प्रादुर्भाव तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के फलस्वरूप हुआ। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम और तत्पश्चात् कांग्रेस की स्थापना ने युग-भावना को काफी प्रभावित किया। सामाजिक रीतियों, रूढ़ियों आदि में आंग्ल सम्पर्क ने परिवर्तन उत्पन्न किया। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था को आर्य समाज की स्थापना ने भी प्रभावित किया। समाज सुधारकों ने गोहत्या, बाल-विवाह आदि के विरोध में आवाज उठायी। धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता की भावना बढ़ी। मत-मतान्तरों का लोप होने लगा और लोग प्राचीन संस्कृति व धर्म को समवेत रूप से अपनाने लगे। आर्थिक दृष्टि से देश विपदा-ग्रस्त था। राष्ट्रीयता के विकास के साथ-साथ आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की ओर भी ध्यान दिया गया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया गया। आत्म-निर्भरता का उपदेश सर्वत्र प्रचारित किया गया।

भारतेन्दुकालीन कविता के रचयिताओं में प्रेमधन, प्रतापनारायण मिश्र, बाल-मुकुन्दगुप्त, राधाचरण गोस्वामी और स्वयं भारतेन्दु जी के नाम उल्लेखनीय हैं। बाल मुकुन्द के आर्थिक आत्म निर्भरता सम्बन्धी भावों का कितना सफल चित्रण हुआ। देखिये—

अपना बोध आप ही खावें, अपना कपड़ा आप बनावें
माल विदेशी दूर भगावें, अपना चरखा आप चलावें।

भारतेन्दु की कविता के दो-एक उदाहरण भी दे देना समीचीन होगा क्योंकि उनकी कविता तत्कालीन परिस्थितियों को प्रकाश में लाने वालों में अग्रणी व प्रतिनिधि रूप है। अंग्रेजों की शोषण नीति से टैक्स (कर) का जन्म हुआ जिसने दुखी-दरिद्र जनता को पीस डाला। लगान की प्रथा ने किसानों को अधमरा कर दिया था। सूदखोर बनियों की धूर्तता व क्रूरता ने मध्यवर्गीय जनता का खून चूस लिया था। उक्त तीनों उक्तियों को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए भारतेन्दु जी क्रमशः लिखते हैं :—

(अ) मंहगी औ टिक्कस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाय।
(ब) अहा बिचारो दुख के मारे निसदिन पच-पच मरे किसान।
जब अनाज उत्पन्न होय तब सब उठवाले जाय लगान।
(स) कुप्पा भये हैं फूल के बनियाँ बर्फ ते माल।
पेट उनका दमकता है कि भैया जो है सो है॥

इस प्रकार कविता का आधुनिक रूप यथार्थ के प्रति सचाई बरतता हुआ एक नये परिधान (खड़ी बोली) में हमारे सामने आया। इसमें रीतिकालीन शृंगारी कल्पना तथा उद्दाम वासनात्मक चित्रण के विरोधी तत्व स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

आधुनिक कविता का द्वितीय चरण द्विवेदी युगीन कविता में (१९००-१९२०) मिलता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा की सरलता, शुद्धता और वस्तु की सरलता, शुद्धता और वस्तु की सहजता व सत्यता में विश्वास रखते थे। इतिवृत्तात्मकता का आग्रह और शृंगारी-कल्पना के प्रति प्रतिक्रिया का भाव इस युग की विशेषता है। नीति एवं सदाचार के योग से आदर्शवाद की स्थापना द्विवेदी युगीन कविता का उद्देश्य था।

राजनीतिक चेतना और संवेदनशील मानवता वादी दृष्टिकोण को लेकर रची जाने वाली इस युग की कविता रीतिकालीन ऊहात्मक पद्धति अथवा वासनात्मक प्रणाली से नितान्त भिन्न थी। मैथिली शरण गुप्त इस युग के प्रतिनिधि कवि माने जा सकते हैं। उनकी आदर्शवादी दृष्टि नारी के 'खिलौना रूप' से हटकर उसके 'संयम-त्याग रूप' पर जम गयी। गुप्त जी की वाणी भारत का 'वास्तविक वैभव' प्रस्तुत करने में जुट गयी। 'भारत-भारती' की रचना हुई जो देश-प्रेम व राष्ट्रीयता में कंठ तक डूबी हुई है। जन-जागृति की ओर ध्यान गया। शोषित वर्ग व अछूत वर्ग के उद्धार की भावना ने करवट ली। जाति भेद की जंजीरें टूटने लगीं। कवि का उद्‌बोधन गूंज उठा—

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई-भाई॥ (रूपनारायण पांडे)

स्वतंत्रता के लिए जाति-भेद मिटाकर 'कुर्बानी' देने को कवि आह्वान करता है—

मन्दिर में हो चाँद चमकता, मस्जिद में मुरली की तान।
हिन्दू-मुस्लिम दोनों भाई, आओ हिलमिल हों कुर्बान॥
('भारतीय आत्मा')

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के माध्यम से समाज की कुरीतियों को मिटाने व जीवन में सक्रियता उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण पर कुठाराघात व पूंजीवाद का बहिष्कार किया गया। नारी जीवन को आदर्शमय बनाने के लिए विचारधारा को नया मोड़ दिया गया। देश में स्वतंत्रता की लहर जोर पकड़ रही थी जिससे कविता में स्वच्छन्दता ने प्रवेश किया। स्वच्छंदतावाद के प्रवर्तक श्रीधर पाठक माने जाते हैं। स्वच्छन्दतावाद का पोषक कवि यथार्थ का विरोधी नहीं अपितु नित्य नूतनता का अन्वेषी होता है। पाठक जी ने प्रकृति के मानवीकरण के साथ-साथ उसमें पारलौकिकता का समन्वय किया। नये-नये छन्दों में काव्य-सृजन उनकी विशेषता है।

द्विवेदी युग की कविता में मानवतावादी विचार धारा को भी प्रश्रय मिला है। इसके अनुसार जन-सेवा में ही भगवद्‌भक्ति निहित है। मैथिली शरण गुप्त ने 'साकेत' में इसी विचार-धारा को व्यक्त रूप दिया है। यथा—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?

भारतेन्दु युगीन जनवादी विचार-धारा का सम्मिलन, इस युग में, मानवतावादी विचारधारा से हुआ। इस प्रकार कविता की आत्मा तो पुष्ट एवं सुसंस्कृत हो गयी परन्तु इतिवृत्तात्मकता ने इसके शरीर पक्ष में कोई विशेष सौंदर्य की वृद्धि न होने दी। इसलिए गीत शैली का अधिक विकास न हो सका। स्थूल के प्रति आग्रह ने कल्पना के सौंदर्य व माधुर्य को कविता में न आने दिया। कविता का उद्देश्य केवल उपयोगिता ही रह गया।

विभिन्न वाद

छायावाद :—द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता की स्थूलता ने मानव-मन को प्रभावित नहीं किया था। उसकी उपदेशात्मक शुष्कता ने जनता को उबा दिया था। हृदय को स्पर्श करने, मर्म को प्रभावित करने वाली कविता की आवश्यकता थी। स्वच्छन्दता वाद की स्थापना हो ही चुकी थी। सन् १९२० से कवियों की दृष्टि में तीक्ष्णता बढ़ी जिसने सूक्ष्म-सौंदर्य तक पहुँच कर, उसे, कल्पना के माधुर्य से सिक्त करके प्रस्तुत किया। इस नयी कविता में रागात्मकता, लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता आदि का प्राधान्य रहा। इस प्रकार की कविता को छायावादी कविता के नाम से अभिहित किया गया।

यह छायावादी प्रवृत्ति वाह्य न होकर अन्तर्मुखी थी। मानव-मन नयी-नयी भावनाओं को जन्म देता रहा, परन्तु उन्हें, अभिव्यक्ति का माध्यम न मिलने के कारण, अन्तर्मुखी होना पड़ा। अवचेतन में पहुँच कर ये भावनाएँ काल्पनिक छाया-चित्रों की सृष्टि करने लगीं। जीवन के वास्तविक क्षेत्र में इन भावनाओं को अभिव्यक्ति का अवसर न मिला। अतः वे परोक्ष सत्ता के प्रति आकृष्ट हुई। परोक्ष सत्ता का आभास प्रकृति में मिलने के कारण प्रकृति के मानवीकरण की प्रकृति जागी। इस प्रकार सूक्ष्म के प्रति उसका आग्रह बढ़ा।

छायावादी दृष्टि में सूक्ष्म का महत्त्व अधिक रहा। मनुष्य का प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ। सर्वात्मवाद में कवि की आस्था बढ़ी। असीम और ससीम के सम्बन्ध पर अलौकिक व्यक्तित्व का आरोप हुआ। एक आलोचक का कथन है कि 'वस्तुगत सौंदर्य और उसके अन्तर्निहित रहस्य की प्रेरणाएँ ही कविता की जड़ हैं।' इस रहस्य की प्रेरणा से ही 'परोक्ष' के प्रति आकर्षण बढ़ता है। उस 'परोक्ष' की सत्ता का आभास जड़-चेतन में होने लगता है। उसी 'आभास' के सौंदर्य का प्रतीकात्मक वर्णन कविता में छायावाद के नाम से पुकारा जाता है। छायावाद और रहस्यवाद में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। मेरे विचार से प्रकृति को चेतनता देना छायावाद है और ब्रह्म के प्रति प्रणय-निवेदन करना रहस्यवाद। प्रकृति परोक्ष ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। कवि की अन्तरात्मा और प्रकृति के सहज सम्बन्ध की काव्यगत अभिव्यञ्जना ही छायावाद है। छायावादी कवियों के अनुसार जगत् ब्रह्म के रूप की छाया-मात्र है। इन दोनों का सामंजस्य स्थापित हो जाना रहस्यवाद से एक कड़ी नीचे रह जाना और छायावाद का आविर्भाव है।

छायावाद को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ उठ खड़ी हुई। कुछ आलोचकों ने छायावाद रहस्यवाद को एक ही वस्तु समझा।

अध्यात्म के आरोप को वे छायावाद के लिए अनिवार्य मानते रहे, जो रहस्यवाद की वस्तु है। इनमें रामकुमार वर्मा, नन्द दुलारे वाजपेयी तथा महादेवी वर्मा मुख्य हैं। कुछ ने छायावाद को योरुप के रोमांटीसिज्म से प्रभावित अथवा उसका परिवर्तित रूप माना। इनमें सुमित्रानन्दन पंत का नाम उल्लेखनीय है। कुछ आलोचकों ने छायावाद को शैली का केवल एक रूप-मात्र माना है। रामचन्द्र शुक्ल इनमें प्रमुख हैं। "इनके अनुसार छायावाद के दो आधार हैं काव्य वस्तु और प्रतीक पद्धति। जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन मानकर, अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यञ्जना करता है वहाँ वस्तुपरक छायावाद होता है। जहाँ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन हो वहाँ प्रतीक पद्धति सम्बन्धित छायावाद की अवतारणा होती है। इन सब आलोचकों से भिन्न मत डॉ० नगेन्द्र का है। इनके अनुसार 'छायावाद एक विशेष प्रकार की भाव पद्धति है: जीवन के प्रति एक विशेष भावात्मक दृष्टि कोण है।' छायावाद के आविर्भाव एवं प्रेरणा-तत्व के सम्बन्ध में उनका कथन है, "इस दृष्टिकोण का आधेय नव जीवन के स्वप्नों और कुण्ठाओं के सम्मिश्रण से बना है, प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तथा वायवी है और अभिव्यक्ति हुई है प्रायः प्रकृति के प्रतीकों द्वारा। विचार-पद्धति उसकी तत्वतः सर्वात्मवाद मानी जा सकती है। पर वहाँ से इसे सीधी प्रेरणा नहीं मिली।"

उक्त समस्त मतों के पर्यवेक्षण के पश्चात् निष्कर्ष यही निकलता है कि छायावाद एक प्रतिक्रिया का ही प्रतिफल है। यह शैली न होकर एक विशेष भाव-पद्धति है। नव-जीवन के मूल्यों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। इसका सम्बन्ध वाह्य-जगत् से होते हुए भी इसकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। इसमें इतिवृत्तात्मकता का विरोधी तत्व भावात्मकता एवं आत्मपरकता की सबलता है। शृंगारिकता, अतीन्द्रिय सौंदर्य का चित्रण और प्रकृति पर प्रतीकों के माध्यम से मानव-व्यक्तित्व का आरोप—इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

प्रगतिवाद :—सन् १९३६ के लगभग छायावाद की प्रवृत्ति ह्रासोन्मुख हो चली थी। छायावादी कविता में सूक्ष्म भावों एवं कल्पनाओं का समावेश उसकी दुरूहता का कारण बन गया था। अतः प्रवृत्ति पुनः वहिर्मुखी हो चली। युग की परिस्थितियों ने कवियों को स्वर्णिम कल्पना की चहार-दीवारी और अतीन्द्रिय सौंदर्य के रेशमी डोरों के बन्धन से मुक्त करके ठोस धरातल पर ला बिठाया जहाँ से वह जीवन की विभीषिकाओं का सत्यावलोकन कर सके। महादेवी वर्मा के अनुसार छायावाद 'व्यष्टिगत सत्य की समष्टिगत परीक्षा में अनुत्तीर्ण रहा।' छायावाद व्यष्टि में रमा हुआ, संसार की वास्तविकता से पराङ्मुख हो, कल्पना के अदृश्य रमणीक लोक में उड़ा जा रहा था। पन्त के शब्दों में इस व्यष्टिगत कल्पना की उड़ान को 'एक हरी-भरी ठोस

जन पूर्ण धरती' की आवश्यकता थी। प्रगतिवाद यही 'हरी-भरी ठोस जन-पूर्ण धरती' लेकर आगे बढ़ा। तत्कालीन परिस्थितियों ने इसे सहारा दिया और उसने छायावाद के रम्य किन्तु असत्य महल को रज सम कर दिया।

यों तो प्रगति का अर्थ अग्रसर होना अथवा उन्नति करना है; परन्तु विशिष्ट 'वाद' की सीमा-रेखाओं में बँध जाने के कारण इसका अर्थ भी विशिष्ट हो गया है। इस वाद या सिद्धान्त के अनुसार वही साहित्य प्रगतिशील है जो जीवन को उन्नत बनाने में सहायक हो। इस दृष्टि से साहित्य का पर्याप्त अंश प्रगतिशील माना जा सकता है। परन्तु प्रगतिवादी साहित्य में एक 'खास बात' होती है जो कि यदि उसमें नहीं है तो वह प्रगतिवादी नहीं हो सकता। यह 'खास बात' है भौतिक जीवन के प्रति दृढ़ आस्था जिसे प्रश्रय देता है समाज; और जिसकी आधारशिला है अर्थ। अर्थ के क्षेत्र में दो विरोधी शक्तियाँ काम करती हैं—पूँजीवाद और साम्यवाद। प्रगतिवाद साम्य का समर्थक और पूंजीवाद का विरोधी है। साम्यवाद का समर्थक होने के नाते प्रगतिवाद साहित्यवाद को व्यष्टि का नहीं अपितु समष्टि, समाज का प्रतिनिधि मानता है। समाज की 'जागृत' शक्तियाँ हैं शोषित वर्ग और दलित वर्ग। अतः इनके दुःखी मन, इन पर होने वाले अत्याचारों को मुखरित करना प्रगतिशील का मूल धर्म है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवाद की आधार भूमि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical Materialism) है। प्रगतिवाद भावना के उदय के सम्बन्ध में डा० रांगेयराघव कहते हैं—'इस नयी भावना का जन्म कार्ल मार्क्स से हुआ जिसने वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक जानकारी प्रस्तुत की। मार्क्स, ऐंगिल्स, लेनिन, स्टालिन तथा माओत्सेतुंग ने साहित्य पर अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं। इनकी विवेचना का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और ऐतिहासिक भौतिकवाद की कसौटी पर रहा है।' मार्क्स ने, वास्तव में, अपने मत का आधार भौतिकवाद बनाया और निरूपण-प्रणाली को द्वन्द्वात्मक रूप दिया। द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद को समझने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मार्क्स के अनुसार सृष्टि के दो तत्वों, स्वीकारात्मक तथा नकारात्मक, में एक सतत् संघर्ष चल रहा है जो चेतना को जन्म देता है, जिसका आधार 'पदार्थ' है। चूंकि यह चेतना द्वन्द्व का प्रतिफलन है, उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। इसी द्वन्द्व का ऐतिहासिक क्रम में निरीक्षण ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा जा सकता है।

मार्क्स के अनुसार समाज में स्थित समस्त वैषम्य तथा तज्जनित संघर्ष केवल 'अर्थ' की समस्या के कारण ही है। यदि अर्थ की समस्या को सुलझा लिया जाय तो सारा शोषण, असन्तोष, उत्पीड़न का उन्मूलन सम्भव हो सकता है। यह समस्या साम्य-भाव से सुलझायी जा सकती है। अतः सारा प्रगतिशील साहित्य इसी साम्यवाद को लेकर चला है जिसमें मजदूरों व शोषित गरीबों की आहों का उद्घोष किसानों के बिवाई फटे पैरों की चरचराहट और श्रमिकों के पसीनों की गन्ध भरी हुई है। दूसरे

शब्दों में यह कह सकते हैं कि मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति ही प्रगतिवाद है।

प्रगतिवादी कविता में विषय-वस्तु का साम्यवादी होना तो अनिवार्य है ही, कला के प्रति भी दृष्टिकोण स्वस्थ व उपयोगिता की ओर झुका हुआ है। यथार्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रगतिवादी कवि वक्र-भाषा अथवा विविध रंगों का प्रयोग नहीं करता। वह अभिव्यक्ति की शुद्धता के लिए भाषा-शैली का सारल्य, उसकी मर्म-स्पर्शिता तथा व्यावहारिकता को प्रधानता देता है। छायावादी प्रतीकों के स्थान पर ऐसे प्रतीकों अथवा उपमानों को व्यवहार में लाया जाना युक्तिसंगत समझा गया जो जन-साधारण की बुद्धि-परिधि में आ सके। वस्तुतः प्रगतिवाद की साहित्यिक अभिव्यंजना स्थूल भौतिकता, संघर्ष क्रान्ति, सरलता, यथार्थ, आशा, उत्साह, निर्माण आदि में हुई और प्रेरणा श्रोत रहे, श्रमिक, शोषित व निम्न तथा मध्य वर्ग के भोले-भाले व्यक्ति।

प्रगतिवादी स्वर के साधकों में निराला, पंत, केदारनाथ, नागार्जुन, रांगेयराघव, भवानी प्रसाद मिश्र, रामबिलास शर्मा, दिनकर, नरेन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें पन्त और निराला छायावादी कवियों के प्रतिनिधि रूप हैं, परन्तु इनमें ही प्रगतिवाद के बीज का स्फुरण सर्वप्रथम देखा गया। पन्त ने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाया है। ऐसा माना जाता है कि प्रगतिवाद का आलम्बन जन-जीवन है; और जन-जीवन ग्राम में मिलता है। अतः पन्त ने ग्राम्या में ग्राम्य नर-नारियों का सुन्दर चित्रण किया है। निराला के प्रगतिवादी रूप में नयी भाषा, नये भाव व नयी शैली मिलती है। सर्वहारा वर्ग का चित्रण बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से किया है। पूँजीवाद की कड़ी भर्त्सना की है। 'भिखारी', 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी' आदि में उनका प्रगतिवादी रूप दर्शनीय है। केदारनाथ अग्रवाल ने ग्रामीण वातावरण की सड़ाँध को निम्न पंक्तियों में किस निराले ढंग से प्रस्तुत किया है —

सड़े घूर की गोबर की बदबू से दबकर
महक जिन्दगी के गुलाब की मर जाती है।

बंगाल के अकाल, भुखमरी, महामारी, मँहगाई, बेकारी आदि का सजीव अंकन नागार्जुन ने थोड़े से शब्दों में ही कर दिया है। यथा—

कहीं बाढ़ भूचाल कहीं पर कहीं अकाल कहीं बीमारी।
मंहगाई की क्या नजीर दूं मानो द्रुपद सुता की सारी।
भूखों मरो चबाओ पत्ती, मगर अन्न का नाम न लेना।

कहने का तात्पर्य यह कि प्रगतिवाद ने साम्यवाद की तूलिका थामकर अर्थ-समस्या की भित्ति पर विविध विषमताओं के रंगों से सजीव चित्र उतारे हैं, जिनमें सामाजिक यथार्थवाद, क्रान्तिवाद का उद्घोष, सांस्कृतिक समन्वय की भावना, मानवतावाद एवं शोषित की आर्त पुकार मुखर हो उठी है।

प्रयोग वाद—प्रयोग (Experiment) कोई नवीन वस्तु नहीं। कविता के आदि काल से आधुनिक काल तक सदा नवीन प्रयोग, शैली तथा वस्तु में होते रहे हैं। प्रयोग से ही किसी वस्तु को अभिनव रूप दिया जा सकता है। परन्तु वर्तमान युग में जो कविता सम्बन्धी प्रयोग हुए हैं और जिन्होंने एक नवीन धारा—प्रयोगवादी धारा—प्रवाहित की है उनका एक विशेष अर्थ है। इसने एक प्रवृत्ति विशेष का रूप ले लिया है। इस प्रवृत्ति का मूल तत्व अन्वेषण है। यह जीवन के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के कारण उसी के समान गतिशील व शोध-साधना प्रिय है। नित्य नूतनता इसे सर्वाधिक प्रिय तथा प्राचीनता इसे सर्वाधिक घृण्य है। नूतन सामग्री जुटाने के प्रयास में प्रयोग-वादी अनोखे उपादानों को अपने काव्य में रखते हैं। डा० नगेन्द्र के शब्दों में 'वास्तव में नये कवि ने अतिशय कोमलता और मार्दव से ऊबकर अनगढ़ और भदेस को कुछ अधिक ही आग्रह के साथ ग्रहण किया।' इसका उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

निकट तर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नत ग्रीव
धैर्य-धन गदहा।

इस अनोखत्व, भदेसपन तथा नूतनता के लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ भी कुछ सीमा तक उत्तरदायी हैं। राजनीतिक तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था ने मानव चेतना पर गहरा प्रभाव डाला। राजनीति तथा संस्कृति का सम्मिलन हो जाने से अविश्वास की गुत्थी और उलझ गयी। विज्ञान के चमत्कारों ने अध्यात्म पर चोट की। ब्रह्म के प्रति जो न्यूनाधिक आस्था थी वह भी हिल गयी। ऐसी दशा में मनुष्य की दृष्टि केवल वस्तुगत होकर रह गयी। विषय-सामग्री जीवन और जगत् से ली गयी है। फ्रायड के प्रभाव से यौन-वर्जनाओं का चित्रण भी कहीं-कहीं हुआ है। बौद्धिकता के समावेश और कलापक्ष के विकास में आंग्ल कवि टी० एस० इलियट का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। कहने का तात्पर्य यह कि भाव, भाषा, छन्द उपमान—प्रत्येक दिशा में नवीनता लाने का चरम लक्ष्य लिये हुए प्रयोगवाद काव्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ और इस नवीनता के मोह-जाल में फँस कर दुरूहता, अस्पष्टता, वैयक्तिकता, कुण्ठा आदि को कविता में ढालने में ही अपने उद्देश्य की इति मान बैठा।

प्रयोगवाद का जन्म सन् १९१३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से माना जा सकता है। इसमें सात कवियों गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारत भूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामबिलास शर्मा तथा अज्ञेय की कविताओं का संग्रह मिलता है। यह अज्ञेय का प्रथम प्रयास था। दूसरा सप्तक १९५७ में प्रकाशित हुआ जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनरायन व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती की कविताएँ संग्रहीत हैं। 'प्रतीक' 'पाटल'

तथा 'नयी कविता' नामक पत्रिकाएँ प्रयोगवादी कविता को प्रोत्साहन देने के निमित्त ही आरम्भ की गयीं और आज इस कविता को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के प्रयास में हैं। अज्ञेय ने स्पष्ट करते हुए लिखा है—"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों का, नयी यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।" यह दावा आरम्भ की कविताओं को देखते हुए ठीक माना जा सकता है; परन्तु इधर बौद्धिकता के उन्मेष-काल में यह सर्वथा अशुद्ध व प्रलाप-मात्र लगता है। शिवमंगल सिंह 'सुमन', धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर आदि ने प्रयोग वाद को नव युग की माँग, सामाजिक सत्य का उद्घाटन, प्रेरणाओं का स्रोत, यथार्थ का चित्रण आदि कहकर इसकी भौंडी, अनगढ़ एवं बेढंगी शक्ल पर एक सुन्दर व आकर्षक नकाब डालने का प्रयास किया है। परन्तु वास्तविकता इससे नितान्त भिन्न है। इसमें अतियथार्थ का आग्रह, सामाजिकता का अभाव, बौद्धिकता का अतिशय समावेश, कल्पना का भदेसपन, दुरूहता, वैचित्र्य प्रदर्शन आदि तत्व इस प्रकार आ घुसे हैं कि उन्होंने इसे सर्वथा अग्राह्य बना दिया है। आशा है कि भविष्य में शायद इसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन हो और इसे सुरुचि पूर्ण व सुन्दर काव्य का रूप मिल सके, यद्यपि इस समय ऐसा कोई आभास नहीं मिलता।

सारांश

सारांश यह कि आधुनिक कविता रीतिकालीन शृंगारी शृंखलाओं से मुक्त होकर भारतेन्दु कालीन स्वच्छन्द वातावरण में देश-प्रेम, मानवता वाद आदि का आंचल पकड़ कर विचरने लगी। यहाँ इसके रूप और आत्मा में परिवर्तन हुआ। द्विवेदी युग के आदर्श वाद ने इसका प्रक्षालन किया, इसमें नव चेतना भरी और इसे इतिवृत्तात्मक रूप देकर जीवन के विभिन्न पक्षों की अभिव्यक्ति के योग्य बनाया। आगे चलकर छायावाद की मधुर वायवी अन्तर्मुखी कल्पना की छाया में इसने पायलों की रुन-झुन, सितारों की गुन-गुन और कलियों की कुनमुन सुन कर झपकियाँ ली। अनेक भाव-तरंगों की कोमल, सुखद थपकियों व अगोचर, अपार्थिव परियों की लोरियों ने इसे प्रकृति की रम्य गोद में सुलाया। यह आनन्द दायिनी निद्रा शोषितों के करुण-क्रन्दन से टूट गयी। कविता ने पुनः करवट ली। आँखें मलकर देखा तो फटे-पुराने चीथड़ों में लिपटी मानव-काया काँप रही थी; झोपड़ों से चीत्कार का मर्मभेदी स्वर सुनायी दे रहा था; शोषक वर्ग हुंकारें भर रहा था। कविता से यह न देखा गया। उसने अपनी कोमलता का परित्याग किया, कल्पना के रेशमी आँचल को झटक दिया और जन-जीवन को आत्मसात् किया। प्रगतिवाद का जन्म हुआ, जिसके पोषण के लिए नये छन्द, नये भाव-विचार और नयी भाषा का सहारा लिया गया। पूंजीवाद घबरा उठा। उसकी जड़ें हिल उठीं। उसने कविता को अपने ऊपर हावी होते देखा तो काँप गया। कोई युक्ति सोचने लगा। अपने धन की

शक्ति से उसे खरीदना चाहा। कुछ सीमा तक सफल भी हुआ। नयी कविता के नाम से एक नूतन धारा बही। प्रगतिवाद को निष्प्रभ करने का प्रयास किया गया। नये प्रयोग किये गये। नये छन्द, नये विचार, नये उपमान, नयी भाषा—सभी वस्तुएँ नयी लायी गयीं। जीवन के प्रति यथार्थ दृष्टिकोण का प्रचार किया गया। प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ। इसे सशक्त बनाने के नये-नये उपाय सोचे गये। परन्तु जनता इसकी रुग्णता से परिचित हो गयी, वह इससे दूर भागी। इसका विरोध हुआ। पर इसके समर्थक अब भी प्रयत्नशील हैं। वे इसे हर प्रकार स्वस्थ प्रमाणित करने के लिए नित्य नयी योजना बना रहे हैं।

'वाद' के सीमित घेरे से, उसके दमघोंट वातावरण से दूर, 'गीत' अपने मधुर कण्ठ से जन-जीवन को आनन्दित और पुलकित कर रहे हैं। आधुनिक कविता की यही कहानी है, यही उसका इतिहास है।

हिन्दी साहित्य में आलोचना

[डॉ० ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव, भोपाल (म० प्र०)]

साहित्य-निर्माण यद्यपि 'स्वान्तः-सुखाय' होता है तथापि कवि की यह लालसा रहती है कि —

"साधु समाज भनिति सनमानू"

साहित्यकार की मान्यता भी इसी दृष्टिकोण को प्रकट करती है जब वह कहता है —

'जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कवि करहीं' ॥

प्राचीन आचार्यों ने साहित्य-रचना के उद्देश्य का विवेचन करते हुए इसीलिए काव्य को 'यशसे'—यश प्राप्ति का साधन भी कहा है।

साहित्यकार 'आत्म-सुखाय' तथा 'आत्म-परितोष' के लिए अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है, यह ठीक है किन्तु यहीं तक बात समाप्त नहीं हो जाती। वह अपनी कृति को प्रशंसा तथा अपने यश एवं प्रतिष्ठा का साधन भी बनाना चाहता है। पाश्चात्य विद्वानों में सिगमण्ड फ्रायड ने आन्तरिक कुण्ठाओं की क्रियाशीलता को ही साहित्य-सृजन का कारण माना है। इसी प्रकार दूसरे विद्वान् एडलर ने हीनता-ग्रन्थि की पृष्ठभूमि में आत्मप्रकाशन एवं विजय-कामना को साहित्यसृजन का प्रेरक कहा है। और इन दोनों सिद्धान्तों के अन्तर्गत भी साहित्यकार की आत्माभिव्यक्ति एवं उसके द्वारा यश-प्राप्ति की इच्छा स्पष्ट प्रतिलक्षित होती है।

उधर दूसरी ओर मानस की कुतूहलवृत्ति दूसरों के कार्य-कलापों के संबंध में मानव को जिज्ञासु बना देती है। दो व्यक्ति एक तीसरे व्यक्ति के संबंध में कुछ कहते-सुनते हैं ही। इस कुतूहलवृत्ति की जिज्ञासा का लक्ष्य स्वयं साहित्यकार की अपनी कृति के संबंध में दूसरों से कुछ सुनने की लालसा के साथ एक बिन्दु पर मिल जाता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति दो रूपों में प्रकट होती है —

(i) काव्य-रचना।

(ii) रचित काव्य पर अन्य व्यक्तियों की व्यक्त सम्मति।

इन दोनों रूपों को 'काव्य' अथवा 'साहित्य' ('साहित्य' शब्द अब 'काव्य' के लिए रूढ़ हो चला है) तथा

'आलोचना' के नाम से अभिहित करते हैं।

"काव्यं यशसेऽथकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये,
सद्यः परिनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।"—काव्यप्रकाश

सुयश अथवा प्रशंसा प्राप्त करने की प्रवृत्ति के ही कारण साहित्यकार की दृष्टि समाज की ओर लगी रहती है और वह जन-रुचि के अनुकूल ही अपने साहित्य का निर्माण करता है। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा गया है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। कभी-कभी परिस्थितिवश समाज में कुरुचि भी आधिपत्य जमा लेती है। उस समय साहित्यकार के दो व्यक्तित्व प्रकट होते हैं।

१—कुरुचि को शुद्ध एवं परिष्कृत करने वाले साहित्यकार।

२—कुरुचि के अनुकूल साहित्य-सृजन करने वाले व्यक्ति।

समाज की रुचि का परिष्कार करने वाले साहित्यकार अपने व्यक्तित्व तथा आदर्शों के द्वारा समाज को जाग्रत करते तथा उसके विचार-प्रवाह में अपेक्षित मोड़ दे देते हैं। ऐसे साहित्यकार तत्कालीन परिस्थितियों में, यह अवश्य है, कि समाज द्वारा यातना एवं कष्ट पाते हैं तथा समाज से समादृत नहीं हो पाते किन्तु भविष्य के लिए उनकी कीर्ति अक्षुण्ण हो जाती है। ऐसे लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार ही लोक-नायक तथा राष्ट्र-कवि आदि उपाधियों से विभूषित होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही लब्ध-प्रतिष्ठ साहित्यकार थे जिनकी यश-लाभ की लालसा कदाचित् उनके जीवन काल में पूरी न हो सकी; किन्तु समाज की सुरुचि के साथ वह साहित्य के सूर्य घोषित किये गये।

दूसरे प्रकार के साहित्यकार समाज की कुरुचि में बह जाते हैं तथा उनका नाम शीघ्र ही विस्मृत हो जाता है। इस प्रकार आलोचना का लक्ष्य जहाँ एक ओर सत्साहित्य को प्रोत्साहित करना तथा उसकी ख्याति के द्वारा उसका प्रसार करना है वहाँ दूसरी ओर कुरुचिपूर्ण साहित्य को निरुत्साहित तथा समाज से बहिष्कृत करना भी है। समालोचना के द्वारा साहित्य की व्याख्या भी होती है जिससे साहित्य पाठक के लिए सहज एवं बोध-गम्य हो जाता है। साहित्य के सौन्दर्य का उद्घाटन समालोचना ही करती है। प्राचीन कवियों को प्रकाश में लाने तथा समाज में उनकी प्रतिष्ठा करने का कार्य आधुनिक हिंदी आलोचना ने किया है। सूर,तुलसी,आदि प्राचीन विश्व-विश्रुत कवियों को यथोचित स्थान एवं सम्मान प्रदान करने का श्रेय आधुनिक आलोचना को ही है।

आलोचना सदाशयता, सहृदयता एवं न्याय पूर्ण हो इसके लिए यह आवश्यक है कि आलोचक में सूक्ष्म-बुद्धि, न्याय-प्रियता, अध्ययनशीलता, अपना मत प्रकट करने के लिए निर्भीकता, विवेचनगत शैली के लिए गंभीरता तथा निर्णय के लिए सूझ-बूझ आदि गुण हों जिससे वह सफल आलोचना कर सके। समालोचना द्वारा मूल-काव्य के संबंध में पाठकों का पथ प्रदर्शन हो, सत्काव्य का चयन संभव हो सके तथा पाठक की जिज्ञासा मूल ग्रन्थ को पढ़ने के लिए जाग्रत हो उठे। ऐसा न हो कि पाठक आलोचना पढ़कर ही संतोष कर ले। आलोचक को न्याय प्रिय एवं चरित्रवान् व्यक्ति होना चाहिए। यदि किसी साहित्यकार के प्रभाव में आकर वह उसकी कृति की सुन्दर आलोचना का उपक्रम कर देता है तो इससे अधिक अनर्थ नहीं हो सकता!

अस्तु ! स्पष्ट है कि साहित्यकार के कार्य से आलोचक का कार्य कहीं अधिक गंभीर एवं गुरुतर है। इसीलिए साहित्यकार के साथ आलोचक में भी प्रतिभा की उद्‌भावना की गयी है। साहित्यकार की प्रतिभा विधायकी होती है तो आलोचक की प्रतिभा विश्लेषणात्मक। दोनों का उत्तरदायित्व अपने-अपने क्षेत्र में महान् है। समाज के हित की कामना एवं लोक-मंगल की साधना दोनों का लक्ष्य होना ही चाहिए। इस मत के संबंध में यद्यपि विवाद चले हैं किन्तु इसकी आवश्यकता एवं अपेक्षा से कोई असहमत नहीं हो सकता।

साहित्य के पश्चात् ही आलोचना का जन्म होता है। यही क्यों, आलोचना के सिद्धान्त भी साहित्य के आधार पर निर्मित होते हैं। काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन साहित्य के विश्लेषण के आधार पर ही होता है। साहित्य के ग्रन्थों से ही आदर्श प्राप्त करके आलोचना के सिद्धान्तों का स्रजन होता है। यहाँ "महाजनो येन गतः स पन्थः" युक्तियुक्त कहा जा सकता है। संस्कृत साहित्य में शास्त्रीय ग्रन्थों की एक विशाल परंपरा उपलब्ध है जिसके अन्तर्गत साहित्य के संपूर्ण तत्वों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हिन्दी साहित्य में भी शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना हुई है। किन्तु यह कार्य संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद एवं छायामात्र ही है। हिन्दी के आचार्यों ने हिन्दी काव्य-ग्रन्थों का अनुशीलन एवं विश्लेषण करके हिन्दी काव्य-शास्त्रों की रचना नहीं की। यह विषय आज भी अनुशीलन अपेक्षी है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यो में आचार्य केशव, आचार्य चिन्तामणि आदि उल्लेखनीय हैं। आचार्य चिन्तामणि के बाद काव्य-शास्त्र के प्रणयन की परंपरा कुछ समय के लिए चली किन्तु इन महानुभावों का कार्य भी मौलिक एवं विश्लेषणात्मक प्रणाली पर आधारित नहीं रहा जिससे हिन्दी में अपने काव्य-शास्त्रों का निर्माण न हो सका।

संस्कृत साहित्य में समालोचना की पाँच विशिष्ट शाखाएँ पल्लवित हुई हैं जिनको संक्षेप में निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं—

(१) रसवाद, प्रतिपादक भरत।
(२) ध्वनिवाद, ,, आनंद वर्धनाचार्य और मम्मटाचार्य।
(३) अलंकारवाद, ,, दण्डी और भामह।
(४) रीतिवाद, ,, वामन।
(५) वक्रोक्तिवाद, ,, कुंतक।

हिन्दी के आचार्यों ने रस और अलंकार को ही प्रश्रय दिया। इन्हीं का विवेचन किया गया और उदाहरण उपस्थित किये गये। आजकल भी रस और अलंकार की प्रधानता स्वीकार की गयी है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष वादों की अभिव्यक्ति भी हिन्दी काव्य में नहीं हुई। कहने का तात्पर्य यह है कि रस और अलंकार को ही शास्त्रीय विवेचन के लिए लिया गया, शेष को नहीं। संस्कृत के उपर्युक्त पाँचों वाद साहित्य की विभिन्न विशेषताओं का उद्‌घाटन करते हैं। इसलिए प्रत्येक साहित्य में

उनका प्रकटीकरण संभव है। यही बात हिन्दी साहित्य के संबंध में भी अनुस्यूत है। बात यह है कि संस्कृत के आचार्यों ने साहित्य की विभिन्न विशेषताओं का अनुशीलन किया और उनसे वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को ही उसके अन्तर्गत समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। कहना न होगा कि उनकी सूक्ष्म दृष्टि से यह कार्य सफल एवं संभव हुआ और भिन्न-भिन्न वादों के रूप में उनकी विचारधारा को प्रश्रय प्राप्त हुआ।

हिन्दी साहित्य में आलोचना का प्रारम्भ बहुत बाद में हुआ। हिन्दी साहित्य का प्रारम्भ ईसा की आठवीं शताब्दी से माना जा सकता है। उस समय से आज तक साहित्य की धारा अबाध गति से प्रवाहित होती चली आ रही है। राजनीतिक परिस्थितियों का हमारे साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा। यदि यह कहा जाय कि साहित्य की धारा को मोड़ देने का कार्य राजनैतिक परिस्थितियों ने किया तो अत्युक्ति न होगी। इनका विवेचन यहाँ आवश्यक नहीं है। यहाँ इस ओर संकेत करने का तात्पर्य यही है कि आलोचना के आविर्भाव के लिए भी उपयुक्त परिस्थितियाँ होती हैं। हिन्दी साहित्य की आलोचना विलंब से प्रारंभ हुई इसके लिए विद्वानों ने विभिन्न कारणों की खोज की। गद्य का अभाव, शास्त्रीय ग्रन्थों का अभाव, साहित्य का सीमित क्षेत्र में प्रयोग, आलोचना की अपनी परंपरा का अभाव आदि-आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके साथ में, मैं कहना चाहूँगा कि राजनीतिक अशान्ति भी आलोचना के उद्भव में बाधक सिद्ध हुई। साहित्य के प्रारंभिक काल में साहित्य के दो प्रमुख प्रयोग थे—

(१) युद्ध की प्रेरणा देना (२) राज दरबार में कौशल प्रदशन, जो बाद में मनोरंजन तथा शृङ्गार रस के वर्णन में परिवर्तित हो गया।

इन परिस्थितियों में कवियों की कृति की मौखिक आलोचना तो होती ही थी। साथ ही अच्छे कवियों को राजदरबार से अर्थ-लाभ भी हो जाता था। उनके काव्य का यह समादर अलम् समझा जाता था। आलोचना के लिखित रूप के लिए कोई गुँजाइश इसीलिए नहीं थी कि उसकी माँग करने वाले अथवा उसकी आवश्यकता अनुभव करने वाले ही न थे। उन परिस्थितियों में लिखित आलोचना राजदरबार में समादृत न हो पाती न अर्थ-लाभ होता। इसलिए इस प्रकार के प्रयास को कौन करता ?

साथ ही आलोचना के लिए—व्याख्या एवं विवेचना के लिए गद्य का होना आवश्यक था। पद्य में यह कार्य संभव न था। यदि किसी प्रकार पद्य में यह प्रयास किया जाता तो निर्णायात्मक अथवा व्यक्तिगत मत का संक्षेप में प्रकाशन ही संभव होता। इसलिए आलोचना के प्रारंभिक रूप इसी प्रकार के मिलते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना भी आवश्यक है कि संस्कृत में भी आलोचना के ऐसे ही रूप प्रचलित थे तथा उनकी छाया में ही हिन्दी के इन रूपों की उद्भावना हुई। संस्कृत में भी वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक आलोचना का अभाव रहा जब कि आलोचना के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा वादों की उद्भावना संस्कृत में ही अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हो चुकी थी।

आलोचना के प्रारंभिक रूपों को दो भागों में रख सकते हैं—

(१) कवि के संबंध में प्रकट मत।

(२) कृतिगत विशेषताओं के संबंध में व्यक्त कथन।

कवियों के संबंध में निर्णयात्मक मत प्रकट करनेवाली आलोचनाओं के कतिपय उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

तत्त्व तत्त्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥

काव्यगत विशेषताओं के संबंध में प्रकट कथन का एक उदाहरण निम्नलिखित है—

उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बरबीर।
केसव अरथ गँभीरता, सूर तीन गुणधीर॥

इस प्रकार समालोचना का प्रारंभिक रूप गुण-दोष विवेचन तक सीमित रहा। साथ ही यह कार्य व्यक्तिगत रुचि पर ही आधारित रहा। इसीलिए तुलसी के स्थान में सूर को साहित्य का सूर्य कह डाला गया। समालोचना का यही रूप गद्यकाल के आविर्भाव के समय भी रहा। हिन्दी गद्य के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का बहुत बड़ा हाथ रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में ही समालोचना के गद्यात्मक प्रारंभिक रूप उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में प्रकट हुए। इस प्रकार भारतेन्दु युग से ही समालोचना का भी प्रारंभ हुआ। उनके समय की दो पत्रिकाएँ 'कविवचन सुधा' तथा 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' या 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' उल्लेखनीय हैं जिनमें समालोचना के प्रारम्भिक रूप प्रकट हुए हैं। यह समालोचना नोट के ढंग की थी जिनमें दोषों का दिग्दर्शन कराया जाता था। इसी प्रकार की एक पत्रिका 'आनंद-कादंबिनी' थी, इसमें भी समालोचना निकली जो समालोचना के प्रारम्भिक रूप को प्रकट करती है। श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने श्री निवास दास कृत संयोगिता-स्वयंवर और गदाधर सिंह द्वारा अनूदित बंग विजेता की समालोचना इसमें निकाली थी। समालोचना के इस युग में काव्य के दोष दर्शन के साथ भाषा-संबंधी दोषों का भी विवेचन किया जाता था। द्विवेदी जी ने लाला सीताराम द्वारा अनूदित कालिदास के ग्रन्थों की आलोचना करते हुए भाषा दोषों की ओर मुख्य रूप से लेखक का ध्यान आकृष्ट किया था। इस प्रकार की आलोचना के साथ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भूमिका रूप में आलोचना प्रस्तुत करने का प्रारम्भ अपने नाटक 'मुद्राराक्षस' की भूमिका लिखकर किया जिसका अनुकरण परवर्ती साहित्यकारों ने उनके समय में ही प्रारम्भ कर दिया था।

सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि समालोचना के प्रारम्भिक रूपों में उसके विकास के अंकुर थे तथा समालोचना के विभिन्न प्रकारों का भी बीजारोपण हो चुका था। निम्नलिखित तीन रूप उस समय स्पष्टतया प्रकाश में आ चुके

थे तथा भविष्य में विकसित होने वाले अन्य रूपों की प्रेरणा इनमें निहित थी, यह भी स्पष्ट था।

(१) गुण-दोष निरूपण
(२) परिचयात्मक टिप्पणी (Review)
(३) भूमिका रूप

बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशक में 'समालोचक', 'सुदर्शन', 'सरस्वती' पत्रिकाओं के नाम समालोचना को विकसित करने के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पत्रिकाओं में 'पुस्तक-परीक्षा' नाम से एक पृथक् स्तम्भ ही की योजना कर दी गयी थी। इन्हीं दिनों में काशी नागरी प्रचारिणी सभा से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जिससे समालोचना के 'खोज और अनुशीलन' रूप का आविर्भाव एवं विकास हुआ। डॉ० श्यामसुंदरदास तथा उनके पश्चात् मिश्र बंधुओं ने इस कार्य को आगे बढ़ाया जिसके फलस्वरूप हजारों पुस्तकें प्रकाश में आयीं तथा प्रसिद्ध पुस्तकों की विभिन्न प्रतिलिपियाँ प्राप्त हुईं। इस प्रयास से नवीन पुस्तकों का प्रकाशन हुआ तथा प्राप्त पुस्तकों के संशोधन हुए। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ साहित्य के इतिहास का आकलन। यों तो साहित्य के इतिहास की परंपरा भी प्राचीन काल से चली आ रही थी किन्तु उसको वैज्ञानिक खोज का रूप इससे पूर्व प्राप्त नहीं हुआ था। 'मिश्रबंधु-विनोद' से ही हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन की नींव पड़ी जो आगे चलकर आचार्य शुक्ल के इतिहास में विकसित हुई। इतिहास लेखन के क्षेत्र में आज डा० रामकुमार वर्मा, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० वार्ष्णेय व डॉ० श्रीकृष्णलाल के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन खोजों के आधार पर संशोधित एवं परिवर्धित किया तथा आज तक के इतिहास को प्रस्तुत किया है।

इस काल में शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन की प्राचीन परंपरा के भी दर्शन हुए। रीतिकाल में आचार्य केशवदास तथा चिन्तामणि शुक्ल पद्यात्मक रूप में संस्कृत के आचार्यों का अनुकरण करते हुए शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण कर चुके थे जिसके संबंध में इससे पूर्व कुछ कह चुके हैं। इस समय अँग्रेजी साहित्य तथा उसके समीक्षा सिद्धान्तों से भी परिचय हुआ। इसलिए संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा के साथ पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों का भी अध्ययन एवं अनुकरण प्रारम्भ हुआ। कतिपय ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए जिनमें जगन्नाथदास रत्नाकर का 'समालोचनादर्श' जो 'एसे आन क्रिटिसिज्म' का अनुवाद था, विशेष उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों की परंपरा में कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवान दीन तथा जगन्नाथ प्रसाद भानु के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आचार्यों ने रस, अलंकार तथा छंदों पर शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। पोद्दार जी का 'अलंकार प्रकाश', लाला जी का 'अलंकार मंजूषा' तथा भानु का 'छंद-प्रभाकर' महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इन ग्रन्थों से प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों का उद्घाटन हुआ तथा प्राचीन ग्रन्थों की

संबंधित विशेषताओं पर प्रकाश पड़ा जिससे रीतिकालीन कृतियों का महत्त्व प्रकट हो सका। यह परंपरा आज आचार्य विश्वेश्वर द्वारा लिखित तथा डा० नगेन्द्र द्वारा संपादित प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों की व्याख्या में प्रकट हुई है।

भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा सिद्धान्तों के समन्वय तथा दोनों को मिलाकर एक विशेष रूप की उद्‌भावना डा० श्यामसुंदरदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' से हुई। इस ग्रन्थ में भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों का सुंदर सामञ्जस्य हुआ है।

व्याख्यात्मक आलोचना का अनुकरणीय रूप मिश्रबंधुओं के 'नवरत्न' में प्रकट हुआ। हिन्दी के दस सर्वोत्तम कवियों की आलोचना का यह सफल प्रयास रहा जिसमें इन कवियों के संबंध में विशद आलोचना की गयी।

समालोचना के उपर्युक्त विकास के साथ व्यक्तिगत अथवा प्रभाववादी समालोचना का रूप भी पद्मसिंह शर्मा की आलोचना में प्रकट हुआ। बिहारी की 'सतसई' की आलोचना करते हुए उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सम्मति को मुशायरों की शैली में प्रकट किया और अपने पक्ष का सुंदर समर्थन किया। शर्मा जी ने तुलनात्मक अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया। 'देव और बिहारी' उनकी चर्चा के विषय थे जो आगे चलकर विवाद के विषय बन गये तथा एक से दूसरे को बड़ा सिद्ध करने के प्रयत्न हुए।

समालोचना का अन्तिम विकसित रूप आचार्य शुक्ल की वैज्ञानिक आलोचना में प्रकट हुआ। उन्होंने साहित्यकार की आलोचना के लिए उसकी कृतियों के परिश्रमपूर्वक अध्ययन तथा उसकी व्यक्तिगत परिस्थितियों एवं वातावरण आदि के अनुशीलन पर बल दिया। जिन परिस्थितियों में तथा जिस उद्देश्य से साहित्यकार ने अपनी कृति का निर्माण किया उसकी उसी रूप में समीक्षा की जाय, इस बात पर आचार्य जी का बल रहा। उनकी सफलता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उन्हीं के प्रयत्नों से आलोचना का वैज्ञानिक रूप स्थिर हुआ तथा मध्ययुग के विश्वविश्रुत साहित्यकार सूर, तुलसी व जायसी प्रकाश में आ सके। कलाकार तथा जनता के बीच आचार्य जी की आलोचना ने माध्यम का कार्य किया जिससे इनकी कृतियों को समझने में सुविधा प्राप्त हुई। आचार्य जी तक आकर समालोचना का पूर्ण विकास हो चुका था तथा काव्य के अन्यान्य अंगों के विकास में समालोचना का योग स्पष्ट गोचर होने लगा था।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि शुक्ल जी रसवादी आलोचक थे। पाश्चात्य समीक्षा का उन्होंने गहन अध्ययन किया था तथा उससे वह प्रभावित भी हुए थे किन्तु उनकी निष्ठा भारतीय रसवाद में सदा स्थिर रही। यही नहीं उन्होंने पाश्चात्य सिद्धान्तों को भी रसवादी दृष्टिकोण से देखा तथा उसके संबंध में अपना विवेचन प्रस्तुत किया।

आचार्य शुक्ल के पश्चात् अद्यतन काल में समालोचना के विविध रूप प्रस्फुटित हुए हैं तथा उसका समुचित विकास हुआ है। आज की पत्रिकाओं को देखें तो उनमें समालोचना के पृथक् स्तम्भ ही नहीं हैं प्रत्युत कुछ पत्रिकाएँ तो केवल समालोचना

ही करती हैं और उनको समालोचना पत्रिकाएँ कह सकते हैं। इनमें आलोचना, सम्मेलन पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, साहित्य संदेश, समालोचक, अजंता, कल्पना, आदि अपनी समालोचनाओं तथा खोजपूर्ण लेखों के लिए प्रसिद्ध हैं। पुस्तकाकार समालोचनाओं के स्थान में आजकल लेख बद्ध आलोचनाओं का ही अधिक प्रचार है। इन लेखों के अवलोकन से आलोचकों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही नहीं अपितु उनकी नवीन मान्यताएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं। ऊपर अभी तक समालोचना के तीन दृष्टिकोणों का उल्लेख किया जा चुका है—

(१) व्यक्तिवादी या आत्म प्रधान।
(२) सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय।
(३) व्याख्यात्मक तथा निर्णयात्मक।

इनसे इतर आज-कल दो और प्रमुख दृष्टिकोण प्रचार एवं प्रसार पा रहे हैं। वे हैं—(१) मार्क्सवादी दृष्टिकोण। (२) मनोविश्लेषण वादी या फ्रायडियन दृष्टिकोण। मार्क्सवादी दृष्टिकोण साहित्य की प्रगतिशीलता पर बल देता है तथा समाज-शास्त्रीय विवेचन तथा वर्ग संघर्ष के आदर्शों एवं विचारधाराओं को अपनी परीक्षा का आधार मानता है। साहित्यकार की राजनीतिक और सामाजिक प्रगतिशीलता का अध्ययन-मात्र ही इसका उद्देश्य रहता है। इस प्रकार साहित्यकार की परिस्थितियों का अपूर्ण चित्र ही प्रस्तुत हो पाता है। उसकी भावात्मक एवं कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों का अध्ययन संभव नहीं होता। इसीलिए कतिपय विद्वान् इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं तथा इसको विदेशी मान्यताओं का अपने साहित्य एवं समीक्षा पर अनावश्यक भार समझते हैं। मार्क्सवादी या समाजवादी आलोचकों में राहुल सांकृत्यायन, डॉ० राम विलास शर्मा, डॉ० रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान आदि प्रमुख हैं।

इस समीक्षा शैली को इसके प्रगतिशील दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवादी समीक्षा-शैली भी कहा गया है। इस समीक्षाशैली की अपनी देन है जिसका उल्लेख पं० नन्द दुलारे बाजपेयी ने किया है यद्यपि वह स्वयं इस शैली के पक्ष में नहीं हैं, यह हम ऊपर संकेत कर चुके हैं।

'उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं। प्रथम यह कि काव्य साहित्य का संबंध सामाजिक वास्तविकता से है, और वही साहित्य मूल्यवान् है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है। द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना दूर होगा वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जायगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य की सौष्ठव संबंधी एक नयी माप रेखा और एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है।'

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्य की प्रगतिवादी धारा भी इसी दृष्टि-

कोण को अपनाये हुए है और प्रगतिवादी काव्य के अंतर्गत वर्ग-संघर्ष की भावनाओं तथा सामाजिक वास्तविकता को प्रश्रय प्राप्त हुआ है। इसीलिए अति साधारण पात्रों जैसे मजदूर, भिखारी आदि पर भी इन कलाकारों की दृष्टि गयी है तथा शोषित वर्ग की भावनाओं को प्रकाश में लाया गया है।

दूसरा दृष्टिकोण मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा का जनक है। आज के साहित्य की प्रमुख विशेषता मनोवैज्ञानिक पक्ष का उद्‌घाटन है। आज का कलाकार फ्रायडियन विचार धारा से प्रभावित है और उसी दृष्टि से मानव व्यापारों का अध्ययन करना चाहता है। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि समालोचक भी उसी दृष्टि से मूल्यांकन करे। नवीन कलाकारों तथा समालोचकों के साथ प्राचीन रसवादी एवं प्राचीन शास्त्रीय परंपरा का पुनरुत्थान करने वाले आचार्य डॉ० नगेन्द्र भी आज फ्रायडियन विचारधारा से प्रभावित हो गये हैं और वह भी, ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी मान्यताओं को नया रूप देना चाहते हैं। 'दीप-शिखा' के संबंध में उनके अधुनातम विचार यहाँ अवलोकनीय हैं—"वास्तव में सभी ललित कलाओं के विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।"

मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण अतृप्त काम वासनाओं की तृप्ति ही काव्य-निर्माण में देखता है। फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुकूल कामवासना ही हमारे समस्त क्रियाकलापों की प्रेरक है तथा सामाजिक बंधनों के कारण वह अतृप्त रहती तथा कुंठाओं को जन्म देती है। ये कुंठाएँ आत्म-आलोचक की दृष्टि को बचाती हुई प्रच्छन्न रूप में अपनी तृप्ति के लिए क्रियाशील रहती हैं। हमारे स्वप्न, काव्य-निर्माण, कल्पना, व्यापार आदि सब इसी तृप्ति के प्रच्छन्न रूप हैं। इस प्रकार यह दृष्टिकोण साहित्यिक रचनाओं में अतृप्त कुंठाओं अथवा दमित योग-कामना की खोज करता तथा उन्हीं में साहित्य की प्रेरणा के स्रोतों का अध्ययन करता है।

इलाचंद जोशी आज के मनोविश्लेषणात्मक समीक्षकों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने फ्रायडियन दृष्टिकोण के साथ समाजशास्त्रीय दर्शन को भी महत्त्व दिया है। इस प्रकार उन्होंने फ्रायडीन दृष्टिकोण को सामाजिक आदर्शों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। इस समीक्षा शैली में साहित्य की मूल प्रेरक प्रवृत्ति पर तो प्रकाश पड़ता है किन्तु उसमें व्यक्त भावों की समीक्षा संभव नहीं हो पाती।

समालोचना के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में हो रहे शोध-कार्य का भी विशेष महत्त्व है। इन प्रबंधों पर पी-एच० डी० तथा डी० लिट् की उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं। इन प्रबंधों के लिए चुने गये विभिन्न विषयों को स्थूल रूप से निम्नलिखित वर्गों में श्रेणीबद्ध कर सकते हैं—

(१) तुलनात्मक अध्ययय।

(२) भाषा वैज्ञानिक अध्ययन।

(३) संपादन कार्य ।

(४) लोक साहित्य का संकलन तथा अध्ययन ।

(५) समीक्षात्मक अध्ययन ।

तुलनात्मक अध्ययन के अन्तर्गत विभिन्न भाषाओं के साहित्य के कवियों की, कृतियों की, परंपराओं आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है । इस अध्ययन से जहाँ दो कलाकारों की मान्यताओं की तुलना और अध्ययन होता है वहाँ विश्व-व्यापी समन्वय भावना अथवा एक विशिष्ट विचार-धारा का प्रसार भी दृष्टिगोचर हो जाता है । इस प्रकार की उपलब्धि आज के युग में कितनी महत्त्वपूर्ण है यह बताने की आवश्यकता नहीं है ।

भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र अभी-अभी खुला है । दकन कॉलेज पूना के भाषा-विज्ञान विभाग तथा ग्रीष्म एवं शीतकालीन शिविरों की योजना ने इस क्षेत्र में शोध के नये विषयों की उद्‌भावना की है । आगरा विश्वविद्यालय के संरक्षण में हिन्दी विद्यापीठ आगरा भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय काम कर रहा है । भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भाषा के शब्द, रूप, अर्थ आदि विभिन्न समस्याओं पर विचार किया जा सकता है जो अनेक विषयों की शोध-सामग्री सिद्ध होगी । राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होने के फलस्वरूप हिन्दी व्याकरण तथा भाषा के संबंध में ही अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं जिनका समाधान आवश्यक है । लिंग की समस्या, भाव वाच्य में 'ने' का प्रयोग, अनुस्वार तथा पञ्चम वर्ण, क्रिया के रूप इत्यादि—आदि आज की चर्चा के विषय हैं । इस दृष्टि से भाषा वैज्ञानिक अनुशीलन विशेष महत्त्व रखता है ।

संपादनकार्य के अन्तर्गत प्राचीन कृतियों का प्रामाणिक संपादन आता है । हिन्दी साहित्य के लिए यह वास्तव में दुर्भाग्य का ही विषय है कि उसके प्राचीन साहित्य के प्रामाणिक पाठों के संबंध में निश्चय नहीं हो पाया है । सूर-तुलसी जैसे महाकवियों की कृतियों में कितनी प्रक्षिप्त सामग्री का समावेश हो गया यह आज के अनुशीलन का विषय रहा है तथा इस पर विद्वानों ने कार्य किया है और कर रहे हैं । वीर गाथा-काल की जिस सामग्री को आचार्य शुक्ल ने इतिहास का आधार बनाया था, उसमें से प्रायः नोटिस-मात्र निकली और आज के इतिहासकारों को उस समय के इतिहास के लिए अन्य उपलब्ध सामग्री को आधार बनाना पड़ा । इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों की प्रामाणिक प्रति प्रस्तुत करना तथा अप्राप्य ग्रन्थों को खोजकर उनको प्रकाश में लाना साहित्य-सेवा का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है जिसकी पूर्ति आज के साहित्य का विद्यार्थी करना चाह रहा है ।

लोक-साहित्य के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ हुआ है तथा उसको साहित्य के समकक्ष स्थान प्राप्त हुआ है । लोक-साहित्य का अपार भंडार शोध की प्रतीक्षा कर रहा है । यह आशंका है कि यदि इस समय लोक-साहित्य का संकलन एवं शोध नहीं किया गया तो वर्तमान सभ्यता के प्रभाव में वह शीघ्र ही विलीन हो जायगा । हमारी लड़कियाँ

जो बी० ए० और एम० ए० कर रही हैं कदाचित् ही लोक-गीतों को गा सकें। सिनेमा के गीतों ने उनके मानस को अभिभूत कर रखा है। दादी-नानी से आज लोक साहित्य की जो सामग्री मिल सकती है उसे देने वाला संभवतः कल न रहे या कल जो लोग उनके स्थान को ग्रहण करें वे लोक-साहित्य से परिचित ही न हों। इसलिए इस दिशा में किया गया कार्य स्वयं साहित्य के कार्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

समीक्षात्मक अध्ययन प्राचीन दृष्टिकोणों में संशोधन एवं परिवर्द्धन करता है। प्राचीन मान्यताओं के सम्बन्ध में नये विचार प्रस्तुत किये जाते हैं। इस प्रकार समीक्षात्मक अध्ययन स्वयं समीक्षा की समीक्षा है और नवीन मान्यताओं को जन्म देता है।

आज शोध प्रबंधों की भरमार सी हो गयी है। प्रत्येक विश्वविद्यालय से प्रति वर्ष अनेक अनुसंधित्सुओं को उपाधियाँ प्रदान की जाती हैं और उनके प्रबंध स्वीकृत हो रहे हैं। इन शोध-प्रबंधों की आलोचना होती है। कतिपय विद्वानों का मत है कि इन प्रबंधों में उपाधिग्रहण का दृष्टिकोण रहता है। इसलिए कुछ प्रबंध स्तर के अनुकूल नहीं आ पाते। साथ ही कुछ प्रबंधों में बड़ी ठोस सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इस प्रयास में वैज्ञानिक अनुशीलन को प्रोत्साहन मिला है यह तो सब लोग मानते हैं। यह तथ्य साहित्य के विकास के लिए अति महत्त्वपूर्ण हैं। वैज्ञानिक अनुशीलन की प्रणाली से साहित्य की समीक्षा के लिए उपयुक्त मानदण्ड निर्धारित हुए है जिनके संबंध में व्यक्तिगत रुचि अथवा मतभेद की गुंजाइश नहीं रहती। इस प्रकार आलोचना का स्वरूप भावात्मक एवं व्यक्तिगत से विकसित होकर विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक हो गया है। हिन्दी आलोचना के लिए यह विकास बड़े महत्त्व का सूचक है तथा भविष्य के लिए उसकी गति-विधि के संबंध में प्रगति का निश्चय किया जा सकता है।

आजकल आलोचना की एक नवीन विद्या भी चल रही है। वह है साहित्यकारों से साक्षात्कार प्राप्त करके एक प्रश्नावली के आधार पर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के संबंध में जानकारी प्राप्त करना। पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' की दो पुस्तकें 'मैं इनसे मिला' इसी प्रकार की समालोचना का प्रारूप हैं। इस प्रकार के प्रयत्न में काव्य के समझने तथा काव्य के संबंध में स्वयं साहित्यकार की मान्यताओं को समझने तथा उनसे अवगत होने का अवसर प्राप्त होता है।

इस विद्या के संबंध में एक आशंका यही हो सकती है और है कि साक्षात्कार करते समय साहित्यकार अपने संबंध में अथवा अपनी कृति के संबंध में सत्य का प्रकटीकरण न करे किन्तु उच्चकोटि के साहित्यकारों से इस प्रकार की आशा नहीं की जाती। इसलिए इस प्रकार की आशंका के लिए कम गुंजाइश रह जाती है।

हिन्दी समालोचना की वर्तमान गति-विधि का अध्ययन कर लेने के पश्चात् यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि उसका भविष्य क्या है? जैसा कि ऊपर यह दिखा चुके हैं कि आजकल समीक्षा की मुख्य चार विधाएँ चल रही हैं—(१) साहित्यिक (२) प्रगतिवादी (३) मनोविश्लेषणात्मक (४) व्यक्तिगत।

इन चारों में प्रगतिवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक आज प्रमुखता प्राप्त किये हुए हैं। साहित्यिक एवं व्यक्तिगत प्राचीन परंपरा में चल रही हैं और नवीन मान्यताओं के अनुकूल विकसित भी हुई हैं। यहाँ समीक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न अवरोध की ओर संकेत कर देना आवश्यक है। आज का समीक्षक, समीक्षक बाद में है, वादी पहले है। कहने का तात्पर्य यह है कि समीक्षक किसी न किसी वाद से प्रभावित है और बहुत से वाद के समर्थक ही नहीं प्रत्युत उसके अनुयायी भी हैं। इस प्रकार समीक्षक के लिए जो सबसे बड़ा गुण निस्पृहता अथवा व्यक्तिगत रागद्वेष से विरक्ति आवश्यक है, उसकी आज के समीक्षक में कमी प्रतीत हो रही है। यह सोचकर कि पाश्चात्य प्रभाव विगर्हणीय है, पाश्चात्य मान्यताओं से पराङ्मुख होना आज के विकासशील युग में उचित न कहा जायगा। दूसरी ओर अपना सब कुछ पुराणपंथी है, यह सोचकर उसकी उपेक्षा करना भी भ्रमात्मक है। उचित तो यह है कि देश अथवा विदेश जहाँ कहीं से संग्रहणीय एवं अनुकरणीय सामग्री एवं सिद्धान्त प्राप्त हों उनको अपनाया जाय, अपनी परिस्थितियों के अनुकूल उनको ढाला जाय और समन्वय की भावना को प्रोत्साहन दिया जाय।

आज की प्रमुख चारों समीक्षा शैलियों का अपना-अपना महत्त्व है इस बात से कोई असहमत नहीं हो सकता। अतएव इन चारों शैलियों का समन्वित रूप ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हम काव्य की शास्त्रीय सिद्धान्तों से परीक्षा करें, समाजवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्तों से भी उसका अनुशीलन करें तथा व्यक्तिगत तत्वों के आधार पर उनका समन्वय करें। इस प्रकार से की गयी समीक्षा एकाङ्गी न होगी तथा न व्यर्थ का विरोध एवं विवाद ही खड़ा होगा। समालोचना को अखाड़ेबाजी का भी विषय बनाया जा सकता है जैसा कि बिहारी-देव के संबंध में हम देख चुके हैं किन्तु इस प्रकार की आलोचना से काव्य, साहित्यकार तथा पाठक किसी का भी भला नहीं होता। आज की परिस्थितियों में इस प्रकार की अखाड़ेबाजी की आशंका स्वाभाविक हो सकती है; किन्तु यह इसलिए संभव प्रतीत नहीं होती कि हमारे समीक्षक अपने-अपने दृष्टिकोण को प्रकट करने तक अपना लगाव रखते हैं और दूसरों के पृथक् दृष्टिकोणों का भी समादर करते हैं। इस दृष्टि से समालोचना का भविष्य उज्ज्वल है और साहित्य की अभिवृद्धि एवं विकास में उसका पूर्ण योग रहेगा, यह आशा करनी चाहिए। भविष्य में साहित्य के समकक्ष ही समालोचना जीवन के समग्र चित्रों का उद्घाटन कर सकेगी तथा साहित्य के समान ही जीवन के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य सिद्ध होगी।

आलोचना

[डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', आगरा कालिज, आगरा]

आलोचना का पूर्व रूप—हिन्दी में आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु युग में पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हुआ था और उसका विकास आगे चलकर द्विवेदी-युग और छायावाद-युग में हुआ; लेकिन भारतेन्दु-युग से पूर्व भी किसी न किसी रूप में आलोचना मिलती ही है। बात यह है कि साहित्य और आलोचना समानान्तर चलने वाली दो धाराएँ हैं। प्रत्येक युग का रचनात्मक साहित्य अपने युग के अनुकूल आलोचना का, और आलोचना अपने युग के अनुकूल साहित्य का प्रपरण करती रहती है। हिन्दी आलोचना का विकास भी इसी सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। आदि काल और भक्ति काल में रचनात्मक साहित्य की सृष्टि हुई। आदि काल राजाओं के गुण-गान का समय था और भक्ति काल भगवान् के। इन कालों में, विशेष कर भक्ति काल में कबीर और तुलसी ने क्रमशः 'मसि कागद' न छूने और 'कवित्त विवेक' न होने की घोषणा की है। इस विनम्रता के बावजूद तुलसीदास ने अपने काव्यादर्श की प्रतिष्ठा की है। 'कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' अथवा 'कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुर सर सम सब कँह हित होई', में एक ओर 'प्रकृत जन' (राजे महाराजे) का गुण-गान, जो आदि काल में होता था, तुलसी के आक्रोश का लक्ष्य बना है तो दूसरे में भक्ति काल के काव्य का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। पूर्व युग की त्रुटियों की ओर संकेत और अपने युग की परिस्थिति के अनुकूल काव्यादर्श की स्थापना करना ही तो आलोचक का कार्य है, जिसके आधार पर स्वयं आलोचना और साहित्य आगे बढ़ते हैं। कवियों के अतिरिक्त उसके समकालीन भक्तों तथा श्रद्धालुओं ने भी आलोचना की ओर अपनी रुचि दिखायी है। 'नाभादास' का भक्त माल और गोकुल नाथ की वार्ताएँ भक्तों की जीवनियाँ ही नहीं हैं, उनके कवि-कर्म पर टिप्पणियाँ भी उनमें मिलती हैं। वैष्णव भक्तों के आचार्यों का भक्ति-निरूपण भी काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रकाश में हुआ है। 'सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास, अब के कवि खद्योत सम जहँ-तहँ करत प्रकास', 'तुलसी गंग दुवौ भये सुकविन के सरदार, उनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार, और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया' आदि सूक्तियाँ भी भक्ति कालीन आलोचना का एक रूप प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार भक्ति काल में आलोचना काव्य-रचना के समानान्तर चली है।

रीति काल में आलोचना के दो रूप मिलते हैं :—(१) सैद्धान्तिक समीक्षा और (२) व्यावहारिक समीक्षा। 'कवि प्रिया', 'रसिक प्रिया' 'कवि कुल कल्पतरु', 'काव्य सरोज' 'काव्य-निर्यण' आदि ग्रन्थ सैद्धान्तिक समीक्षा के हैं। दूसरे प्रकार की आलोचना 'राम-चरित मानस' और 'विहारी सतसई' की टीकाओं, 'कुलपति', श्रीपति, चिन्तामणि और सोमनाथ द्वारा लिखी गयी वचनिका वार्ता, तिलक आदि के रूप में मिलती है। यह रीतिकालीन सैद्धान्तिक आलोचना संस्कृत-काव्य-शास्त्र का आधार लेकर चली है, जिसमें अलंकार और रस सम्प्रदाय का प्रभाव है। केशव अलंकारवादी सम्प्रदाय के माननेवाले हैं, और देव, मतिराम, सेनापति, श्रीपति, दास आदि रस सम्प्रदाय के। रीतिकालीन, व्यावहारिक आलोचना में प्रमुख जो टीका-पद्धति है उसमें रीति काल के अन्तिम चरण में सरदार कविकृत 'मानस रहस्य' को श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें काव्यांगों के लक्षण, उन लक्षणों के अनुसार मानस से उदाहरण, और अन्त में उन स्थलों की गद्य में व्याख्या देकर सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक आलोचना :—भक्तिकालीन और रीतिकालीन आलोचनाएँ अपनी युग की काव्य रचनाओं के अनुशीलनार्थ हुई थीं। भारतेन्दु के आगमन से हिन्दी में जो नव युग का सूत्रपात हुआ उसमें पाश्चात्य शिक्षा संस्कृति के सम्पर्क से नवीन विचारों का उदय और उनके प्रकाशन के माध्यम के रूप में गद्य का आविर्भाव हुआ। गद्य में नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध आदि की रचना होने लगी तो उसके मूल्यांकन के लिए आलोचना का भी प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु युगीन आलोचना साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं से प्रकाश में आयी। आलोचना का सूत्रपात्र करने वाले प्रमुख पत्रों में कवि वचन सुधा (१८६८) 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३), हिन्दी प्रदीप (१८८१) 'आनन्द कादम्बिनी' (१८९१), नागरी प्रचारिणी पत्रिका (१८९७), उल्लेखनीय हैं। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका के मुखपृष्ठ पर जहाँ 'अन्य कितने ही विषयों का उल्लेख है वहाँ 'और आलोचना संभूषिता' भी लिखा हुआ है। जिससे यह प्रकट है कि भारतेन्दु ने ही समालोचना का प्रारम्भ किया। 'कवि वचन सुधा' (१८७२) में 'हिन्दी कविता' नाम से पहला आलोचनात्मक निबन्ध भी उन्होंने लिखा था। भारतेन्दु के इन पत्रों और 'आनन्द कादम्बिनी' तथा 'प्रदीप' आदि उनके सहयोगियों के पत्रों में जो आलोचनाएँ छपती थीं वे 'पुस्तक-परिचय' मात्र थीं। होता यह था कि पुस्तक प्राप्त होने की सूचना के साथ कुछ टिप्पणियाँ भी छाप दी जाती थीं।

भारतेन्दु के पश्चात् परिचयात्मक आलोचना का अपेक्षाकृत गम्भीर रूप बालकृष्ण भट्ट तथा बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना में मिलता है। इन दोनों ने सन् १८८५ में लाला श्रीनिवास दास के 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' में की थी। 'आनन्द कादम्बिनी' की आलोचना में आलोच्य कृति की त्रुटियों की ओर संकेत करने के साथ-साथ स्वाभाविकता और

गम्भीरता की रक्षा का प्रयत्न परिलक्षित होता है। अन्य पत्रकार भी भट्ट जी और 'प्रेमघन' जी के अनुकरण पर ऐसी ही आलोचना लिखा करते थे।

इस व्यावहारिक आलोचना के परिचयात्मक रूप के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना का सूत्रपात भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' निबन्ध से किया, जिसका उद्देश्य युगानुकूल नाटक-रचना के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके तत्कालीन नाटककारों को श्रेष्ठ नाटक लिखने के लिए प्रेरित करना था। भारतेन्दु युग पर रीतिकाल का प्रभाव होने से इस काल की आलोचना में पांडित्य प्रदर्शन की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। इतना होने पर भी आलोचना का निश्चित आदर्श भारतेन्दु-युग के लेखकों के सामने नहीं था। सन् १८९७ में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से भारतेन्दु युगीन परिचयात्मक आलोचना ने अनुसन्धान और अनुशीलन का गम्भीर रूप ग्रहण किया।

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में पहले ही वर्ष में पं० गंगा प्रसाद अग्निहोत्री ने 'समालोचना', बाबू जगन्नाथ रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' और अम्बिकादत्त व्यास ने 'गद्य-काव्य मीमांसा' जैसे सैद्धान्तिक आलोचना के गम्भीर निबन्ध लिखे। इनमें से रत्नाकर जी का निबन्ध पोप-कृत 'एसे आन क्रिटिसिज्म' का पद्यबद्ध अनुवाद था। इनमें सर्वाधिक महत्त्व का निबन्ध पं० गंगा प्रसाद अग्निहोत्री द्वारा लिखित 'समालोचना' है। इन लेखकों के अतिरिक्त 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' द्वारा महाबीर प्रसाद द्विवेदी श्याम सुन्दर दास, मिश्रबन्धु आदि के आलोचनात्मक निबन्ध भी प्रकाश में आये। यों नागरी प्रचारिणी पत्रिका के 'हिन्दी-आलोचना' के अतिरिक्त 'सुदर्शन' (१९००), 'सरस्वती' (१९००) और 'समालोचक' (१९०२) ने आधुनिक आलोचना को सँवारने का कार्य किया। इनमें 'सरस्वती' की सेवाएँ सर्वाधिक महत्त्व की हैं।

आचार्य महाबीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में आलोचना को नयी दिशा दी, सन् १९०४ में उन्होंने 'सरस्वती' में 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ द्वारा और पुस्तक रूप में आलोचना की प्रणाली आरम्भ की। उन्होंने 'सरस्वती' में कुछ व्यंग-चित्र भी प्रकाशित किये, जो हिन्दी साहित्य की तत्कालीन दशा का बोध कराते हैं। ये व्यंग-चित्र भी एक प्रकार की आलोचना ही थे। द्विवेदी जी कालिदास और भवभूति आदि कवियों के भक्त थे। हिन्दी के प्राचीन कवियों में सूर और तुलसी की भावुकता तथा नवीन कवियों में भारतेन्दु और मैथिली शरण गुप्त की देश-भक्ति से वे प्रभावित थे। उन्होंने अपनी आलोचना में भी भारतीय रस सिद्धान्त को पूरा-पूरा महत्त्व दिया, पर नवीनता की भी उपेक्षा नहीं की। उनकी आलोचना गुण-दोष तक ही सीमित थी। उन्होंने 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' में लाला सीताराम द्वारा अनूदित कालिदास के नाटकों की आलोचना की और अनुवाद की भाषा तथा भाव सम्बन्धी त्रुटियों पर प्रकाश डाला। 'विक्रमांक देव चरित्र-चर्चा' और 'नैषध चरित्र-चर्चा' में उनके नाम के अनुरूप संस्कृत के उन ग्रन्थों की चर्चा भर है। उनकी दोष-दर्शन पद्धति का परिचय 'कालिदास की निरंकुशता' में उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित कालिदास की भूलों के प्रद-

र्शन से मिलता है। इन आलोचनाओं से हिन्दी पाठकों में कृतियों के गुण-दोष समझने की बुद्धि जाग्रत हुई।

'हिन्दी नवरत्न' की उनके द्वारा की गयी आलोचना उनकी गम्भीर आलोचना-शैली का परिचय देती है। इनके अतिरिक्त 'कवि और कविता'—जैसे विषयों पर लेख लिखकर उन्होंने सैद्धांतिक आलोचनात्मक कार्य भी आगे बढ़ाया। सारांश यह है कि निश्चित आदर्श के अभाव में भी द्विवेदी जी ने आलोचना की विविध प्रणालियों का सूत्रपात किया।

द्विवेदी युग में मिश्रबन्धु-कृत 'मिश्रबन्धु विनोद' और हिन्दी नवरत्न द्वारा पहली बार ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक आलोचना का रूप प्रस्तुत हुआ। उस समय 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित होने वाले अनुसन्धानात्मक और 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले गुण-दोष विवेचनात्मक लेखों के समन्वय की प्रणाली पर अपना पथ बनाया। 'हिन्दी नवरत्न' में पहले कवियों का श्रेणी विभाजन हुआ और 'मिश्रबन्धु विनोद' में विस्तार से कवियों और उनकी काव्य-कृतियों का काल-विभाजन करके विश्लेषण किया गया। अंग्रेजी साहित्य के ज्ञाता होने पर भी मिश्रबन्धुओं ने रीति कालीन सैद्धांतिक आधार पर गुण-दोष विवेचन-पद्धति को ही अपनाया है। इतना होने पर भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी परिस्थिति के प्रकाश में उसकी रचनाओं का मूल्यांकन करने से आलोचना के क्षेत्र में इतिहास-लेखन की उस प्रणाली का सूत्रपात हुआ, जिसका चरम विकास आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में पीछे चलकर देखने को मिलता है।

यों तो मिश्रबन्धु कृत 'हिन्दी नवरत्न' में कवियों के श्रेणी विभाजन में ही तुलनात्मक आलोचना का क्षीण आभास मिल जाता है, पर उसको व्यवस्थित रूप पं० पद्मसिंह शर्मा ने दिया। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ १९०७ की सरस्वती में प्रकाशित शर्मा जी की 'बिहारी' और फारसी कवि 'शेखसादी' की तुलनात्मक आलोचना से माना जाता है। जब मिश्रबन्धुओं का हिन्दी नवरत्न निकला और उसमें देव को बिहारी से कुछ बड़ा सिद्ध किया गया तो शर्मा जी ने 'आर्या सप्तशती', 'गाथा सप्तशती', 'अमरुक-शतक' आदि संस्कृत-प्राकृत के ग्रंथों तथा हिन्दी और फारसी के अन्य कवियों से 'बिहारी सतसई' की तुलना करके बिहारी को शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध किया। शर्मा जी के इस विद्वत्तापूर्ण कार्य से आलोचना के क्षेत्र में रीतिकालीन कविता के मूल्यांकन का नया द्वार खुला। विभिन्न कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त भाव और भाषा की सूक्ष्मता से छान-बीन करने की प्रवृत्ति को बल मिला। अंग्रेजी साहित्य में ड्राइडन ने इस तुलनात्मक आलोचना द्वारा आलोचना को विकास के पथ पर अग्रसर किया था, परन्तु हिन्दी में शर्मा जी द्वारा आविष्कृत इस महत्त्वपूर्ण प्रणाली को व्यापकता न देकर संकीर्ण कर दिया गया। परिणामस्वरूप 'कृष्ण बिहारी मिश्र' ने 'देव और बिहारी' पुस्तक द्वारा फिर देव को बढ़ा कर बताया और लाला भगवान दीन ने 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखकर इसका प्रतिवाद किया। यों एक समय

हिन्दी जगत् देव-बिहारी द्वन्द्व का अखाड़ा हो गया। इससे चाहे और कुछ लाभ न हुआ हो, पर हिन्दी के पाठकों को रचना कौशल और उक्ति चमत्कार का बोध तो हुआ ही।

जिस समय देव और बिहारी या बिहारी-देव का विवाद चल रहा था उसी समय अर्थात् सन् १९२०-२१ के लगभग आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल आलोचना के क्षेत्र में अपने नये आदर्श के साथ अवतरित हुए। शुक्ल जी ने पहली बार कवि विशेष के प्रादुर्भाव-काल की सामयिक परिस्थितियों, उसके पूर्व युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों और स्वयं उसकी निजी आन्तरिक मनोवृत्तियों के प्रकाश में उसकी काव्य-कृतियों की आलोचना की प्रणाली प्रारम्भ की। यह पाश्चात्य आलोचना प्रणाली व्याख्यात्मक-आलोचना प्रणाली कही जाती है। भारतीय आलोचना प्रणाली में शास्त्रीय कसौटी पर कवि-विशेष की कृतियों को कसकर उसके गुण दोषों का उद्घाटन करने और अपना निर्णय देने की प्रथा थी। शुक्ल जी ने इन दोनों प्रणालियों के सुन्दर समन्वय द्वारा जायसी, सूर तथा तुलसी के काव्य का अनुशीलन इसी समन्वित प्रणाली पर किया। शुक्ल जी हृदय से कवि थे और मस्तिष्क से आलोचक। इसीलिए उनकी आलोचना में विश्लेषण और भावावेश का सुखद संगम है। वे तुलसी और उनके काव्यादर्शों से प्रभावित थे। तुलसी के आध्यात्मिक और सम्प्रदायवादी रूप की ओर अधिक ध्यान न देकर उन्होंने उनके मर्यादावाद को अधिक महत्त्व दिया। इसी मर्यादावाद की दृष्टि से उन्होंने भारतीय काव्य-शास्त्र के आधार पर उनकी रचनाओं की समीक्षा की और व्यावहारिक आलोचना का नया रूप प्रस्तुत किया। वाल्मीकि और कालिदास से भी उन्होंने प्रेरणा ली, पर वह केवल संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन के स्पष्टीकरण के लिए ही। प्रकृति-वर्णन को दृष्टि से उन्होंने तुलसी को महत्त्व नहीं दिया। सन् १९३० में प्रकाशित उनका 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' उनकी आलोचना का विकसित रूप प्रस्तुत करता है। उनके इतिहास में ऐतिहासिक आलोचना की ऐसी वैज्ञानिक प्रणाली है, जो उसे आज भी साहित्य के इतिहासों में अन्यतम बनाये हुए है। लोकवाद, संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण, संगीत मुक्तकों को अपेक्षा प्रबन्ध कार्यों की श्रेष्ठता, साधारणीकरण का सिद्धान्त आदि जिन मान्यताओं को उन्होंने अपनी व्यावहारिक आलोचना का आधार बनाया है, उसका निर्माण उन्होंने स्वयं किया था। तुलसी के नैतिक आदर्श के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण एक ओर तो वे कबीर आदि निर्गुण कवियों की काव्य-दृष्टि को हृदयंगम न कर सके और दूसरी ओर उपन्यास, कहानी, नाटक आदि गद्य के नये रूपों तथा छायावादी काव्य के प्रति भी उदार न रह सके, फिर भी उन्होंने व्याख्यात्मक आलोचना प्रणाली को प्रचलित किया, उसी पर हिन्दी-आलोचना का भव्य प्रासाद खड़ा है।

शुक्ल जी के समकालीन दो अन्य आलोचकों ने सैद्धान्तिक समीक्षा द्वारा हिन्दी आलोचना को सम्पन्न किया। वे हैं बाबू श्यामसुन्दर दास और पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) में गंगा प्रसाद अग्निहोत्री की 'समालोच

चना' शीर्षक निबन्ध से हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना का आरम्भ हुआ था। बाबू श्यामसुन्दर दास के 'साहित्यालोचन' में उसको प्रौढ़ता मिली। अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचकों हडसन और वर्सफोर्ड के ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया यह ग्रन्थ अंग्रेजी आलोचना-शास्त्र का साहित्यिक हिन्दीकरण है। फिर भी काव्य-शास्त्र के अनुशीलन के लिए आज भी उसकी महत्ता है। 'रूपक-रहस्य', 'भारतीय नाट्यशास्त्र' एवं 'भाषा-रहस्य', तथा 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में हिन्दी भाषा और साहित्य का विवेचन उन्होंने स्पष्ट, शुद्ध और परिमार्जित शैली में किया है। बाबू साहब अपनी आलोचना में शुक्लजी की भाँति मौलिक भले ही न हों, सैद्धान्तिक आलोचना का विधिवत् आरंभ उन्होंने ही किया था। उच्च कक्षाओं में हिन्दी के पठन-पाठन के स्तर की रक्षा इन्हीं ग्रन्थों से हुई है। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'विश्व साहित्य' नामक ग्रन्थ में यूरोपीय साहित्य के सौंदर्य का उद्घाटन करते समय पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रतिपालन करके श्यामसुन्दर दास के कार्य को पूर्णता देने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इन दोनों के सम्मिलित रूप में सैद्धान्तिक आलोचना की एक रूप-रेखा निश्चित हुई। सारांश यह है कि द्विवेदी युग में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा व्यावहारिक समीक्षा और बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा सैद्धान्तिक समीक्षा का एक निश्चित आदर्श सामने रखा गया, जिसमें भारतीय और पाश्चात्य आलोचना प्रणालियों का समन्वय करने की चेष्टा की गयी है।

शुक्लोत्तर आलोचना—द्विवेदी युग की आलोचना का पूर्ण परिपाक आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना पद्धति में दिखायी देता है, यह हम बता चुके हैं। यह भी इंगित किया जा चुका है कि उनकी आलोचना पद्धति भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के समन्वय के बावजूद भारतीय साहित्य-शास्त्र को लेकर चली है, जिसका स्वरूप तुलसीदास की नैतिकता और मर्यादावादी विचारधारा से निर्मित हुआ है। भारतीय रस-शास्त्र पर आधारित और आई० ए० रिचर्ड जैसे पश्चिमी नीतिवादी आलोचकों के सिद्धान्तों से पुष्ट शुक्ल जी की आलोचना, कबीर आदि निर्गुणवादी एवं पंत आदि छायावादी कवियों के सौंदर्य बोध और गद्य की उपन्यास-कहानी जैसी विधाओं और उनके लेखकों के प्रति ठीक न्याय नहीं कर सकी, इसका भी उल्लेख हो चुका है। शुक्लोत्तर आलोचना में यों तो सामान्यतः शुक्ल जी द्वारा निर्धारित आलोचना के आदर्श का ही पालन हुआ है, पर कुछ प्रतिभाशाली आलोचकों ने शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति की त्रुटियों को दूर करके नवीन साहित्यिक चेतना के अनुरूप उसे पूर्णता देने का भी प्रयत्न किया है। ऐसे आलोचकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र और हजारीप्रसाद द्विवेदी अग्रगण्य हैं।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी कृत 'महाकवि सूरदास', 'जयशंकर प्रसाद' 'हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', 'नया साहित्य : नये प्रश्न' आदि कई महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं जिनसे उनकी आलोचना-सम्बन्धी, मान्यताओं और उपलब्धियों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। उन्होंने तब

आलोचना लिखना आरम्भ किया जबकि छायावाद के प्रति लोगों का दृष्टिकोण नकारात्मक था और पंत, निराला आदि को अपनी काव्य सृष्टि की महत्ता समझाने के लिए लम्बी-लम्बी भूमिकाएँ या निबन्ध लिखने पड़े थे। उन्होंने बिना परम्परा की दासता स्वीकार किये हुए सौंदर्यवादी दृष्टि से कलाकार की मौलिकता पर मुग्ध होकर कलाकृतियों की आलोचना की और युगानुकूल ललित तथा भाव-पूर्ण आलोचना प्रणाली को जन्म दिया। वे कवि या काव्य प्रवृत्ति के अध्ययन में समाज-शास्त्र, दर्शन, साहित्य-शास्त्र, कवि के अन्तर्मन, उसकी परिस्थिति आदि सबका समन्वय करके तुलना और विवेचन द्वारा सूक्ष्मता के साथ मूल्यांकन करते हैं। उनके निष्कर्षों के पीछे उनकी गहरी दृष्टि और चिन्तन स्पष्ट झलकते हैं।

डॉक्टर नगेन्द्र भी वाजपेयी जी की भाँति छायावाद के प्रति सहानुभूतिशील दृष्टिकोण और सौंदर्य-शास्त्र के सिद्धान्त लेकर आलोचना क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उनकी प्रथम कृति छायावाद के कुशल शब्द-शिल्पी सुमित्रानन्दन पंत की आलोचना थी। उन्होंने राष्ट्र-कवि मैथिलीशरण की प्रतिनिधि रचना 'साकेत' की भी सरस आलोचना की। उसके बाद रीति-काव्य के गम्भीर अध्ययन के फलस्वरूप वे भारतीय काव्य-शास्त्र के मन्थन में लग गये और उनका पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया। बीच में वे फ्रायड के सिद्धान्तों की ओर भी झुके, लेकिन पीछे चल कर वे आचार्य शुक्ल की परम्परा को पुष्ट करने में लग गये। आज हिन्दी में वे शुक्ल जी द्वारा प्रस्थापित समन्वयशील आलोचना प्रणाली के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं। वे अपने 'विचार और विश्लेषण', 'काव्य-चिन्तन' आदि निबन्ध-संग्रहों और 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' जैसे तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के सम्पादक और यूरोपीय भाषाओं के काव्य-शास्त्राचार्यों के अनूदित ग्रन्थों के भूमिका लेखक के नाते अपनी आलोचना पद्धति का रूप स्पष्ट कर रहे हैं जिसमें कहीं-कहीं प्राचीन सिद्धान्तों की नवीन व्याख्या भी मिलती है। वे शुक्ल जी के सच्चे उत्तराधिकारी हैं और उनकी सूत्रात्मक शैली गम्भीर होने पर भी स्वच्छ तथा विचारोत्तेजक है। शुक्ल जी के बाद अपने सिद्धान्तों को दृढ़ता से प्रस्तुत करने की उनमें अद्भुत क्षमता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र ने आधुनिक साहित्य की समीक्षा के अनुकूल शुक्ल जी की आलोचना-प्रणाली में संशोधन, परिवर्द्धन किया, तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'हिन्दी साहित्य का आदि-काल', 'विचार और वितर्क', 'साहित्य का साथी', 'कल्पलता', 'अशोक के फूल' आदि रचनाओं में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से शुक्ल जी के कार्य को आगे बढ़ाया। जीवन में सन्तों का आदर्श लेकर रवीन्द्र की प्रेरणा से जिस मानववादी दृष्टिकोण का विकास द्विवेदी जी ने किया था उसे संस्कृत, पाली और प्राकृत ही नहीं, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य के अनुशीलन से ऐसा आत्मसात् कर लिया कि वे हिमालय से निःसृत गंगा की भाँति ज्ञान-विज्ञान की सीमाओं में साहित्य की जन-

हितकारी परम्परा का गंगा-जल लिये उपस्थित होते रहते हैं। उनकी लोक-जीवन में भी अटूट आस्था है; अतः व्यापकता और गहराई उनकी आलोचना प्रणाली की प्रमुख विशेषता है। साहित्य को वे समाज शास्त्रीय और उदारवादी, दोनों दृष्टिकोणों से देखते हैं। सामान्य से विषय पर वे प्राचीन काल से लेकर आज तक की जानकारी प्रस्तुत कर देते हैं और बीच-बीच में पांडित्य, भावुकता और व्यंग-विनोद से पाठक को अपने साथ लिये चलते हैं।

शुक्ल जी के बाद यह जो सौंदर्य शास्त्र पर आधारित समन्वयात्मक, स्वच्छन्दतावादी और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना प्रणाली विकसित हुई है, उसे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'तटस्थ' और ऐतिहासिक भूमिका पर उद्भासित 'साहित्यिक समीक्षा' का नाम दिया है, उन्होंने लिखा है कि "भारतेन्दु युग से आरम्भ होने वाली साहित्यिक समीक्षा यहाँ आकर एक प्रकार की पूर्णता ग्रहण करती है" (नया साहित्यः नये प्रश्न, पृष्ठ २)।

साहित्यिक समीक्षा को पूर्णता की सीमा पर पहुँचाने में उपर्युक्त आलोचकों के अतिरिक्त जिन अन्य अनेक आलोचकों ने अपना योग दान दिया, उनमें बाबू गुलाबराय, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कृष्णशंकर शुक्ल, पं० रामकृष्ण 'शिलीमुख', गिरीश, डॉक्टर सत्येन्द्र, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉक्टर भगीरथ मिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, डॉक्टर श्री कृष्णलाल, डॉक्टर वार्ष्णेय आदि प्रमुख हैं। बाबू गुलाबराय समन्वयवादी आलोचक माने जाते हैं और वे शुक्ल जी के समय से लिखते चले आ रहे हैं। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में उनका यह समन्वयवादी रूप खूब निखरा है। वे अपनी सुबोध शैली के कारण बड़े लोकप्रिय हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने सबसे पहले छायावादी काव्य की सहानुभूति पूर्ण आलोचना करके उसके सौंदर्य-पक्ष का उद्घाटन किया। 'सामयिकी' 'संचारिणी' और 'ज्योति विहग' आदि उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। उनकी आलोचना स्वयं एक कला-सृष्टि है, जो हिन्दी में अलग महत्त्व रखती है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'भूषण', 'बिहारी', और 'घनानन्द' के ग्रन्थों का सम्पादन-संशोधन किया है। वह उन्हें रीति कालीन काव्य-साहित्य और शास्त्रीय आलोचना, दोनों का सर्वश्रेष्ठ विद्वान् घोषित करता है। 'बिहारी' की भूमिका में 'शृंगार-काल' और 'रीतिबद्ध' तथा 'रीति-मुक्त' कवियों का विवेचन, प्रौढ़ और तर्कपूर्ण है, वे शुक्ल जी के सर्वाधिक निकट हैं। डॉक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने पहले 'हिन्दी गद्य-शैली का विकास' और फिर 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' लिखकर शुक्ल जी की परम्परा में योग दिया है। सर्वश्री कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', सत्येन्द्र आदि ने भी शुक्ल जी की प्रणाली पर ही समीक्षाएँ की हैं। उनमें डॉक्टर सत्येन्द्र अब लोक-साहित्य की ओर मुड़ गये हैं। पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' नामक अपने शोध ग्रन्थ द्वारा सन्त-

काव्य की मार्मिक व्याख्या की और डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा परशुराम चतुर्वेदी ने सन्त काव्यानुसन्धान कर्ताओं का पथ प्रशस्त किया। डॉक्टर भगीरथ मिश्र ने, 'भारतीय काव्य-शास्त्र का इतिहास' और विभिन्न भाषाओं पर निबन्ध लिखकर अपनी उदार दृष्टि का परिचय भी दिया है। परशुराम चतुर्वेदी ने, 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' तथा अन्य ग्रन्थों द्वारा हजारी प्रसाद द्विवेदी की ऐतिहासिक सांस्कृतिक आलोचना-पद्धति का विकास किया। डॉक्टर श्रीकृष्ण लाल और डॉक्टर वार्ष्णेय ने सन् १८०० से लेकर आज तक के हिन्दी भाषा और साहित्य पर प्रामाणिक कार्य किया है। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित तथा आंशिक रूप में प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास', (पहला तथा पाँचवा खण्ड) आलोचना साहित्य की अपूर्व निधि है। इनमें से पहले भाग का सम्पादन डॉ० रामबली पाण्डेय और पाँचवें का सम्पादन डॉ० नगेन्द्र ने किया है। इस इतिहास-माला में हिन्दी के अनेक समीक्षक और प्राध्यापक योग दे रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक आलोचक हैं जिनकी देन कम नहीं है। पर उन सबका उल्लेख करना स्थानाभाव के कारण संभव नहीं।

आचार्य शुक्ल जी द्वारा प्रवर्त्तित और उपयुक्त आलोचकों द्वारा पूर्णता-प्राप्त साहित्यिक आलोचना के अतिरिक्त आलोचना के निम्नलिखित रूप और भी हैं। १—मार्क्सवादी आलोचना,२—मनोविश्लेषणात्मक आलोचना, ३—प्रभाववादी आलोचना, ४—चरित-मूलक आलोचना, ५—सैद्धान्तिक आलोचना, ६—शोधात्मक आलोचना।

१. मार्क्सवादी आलोचना—यह आलोचना प्रणाली सन् १९३६ में प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की स्थापना के साथ प्रकाश में आयी, यह मार्क्सवादी विचार धारा को लेकर चलती है। सामयिक राजनीति इस आलोचना का नियमन करती है। मार्क्सवाद में वर्ग-संघर्ष का महत्त्व है। मार्क्स की मान्यतानुसार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त पर वर्गों का संघर्ष निरन्तर चलता रहता है और संघर्ष से समाज का विकास होता है। मार्क्सवादी विचारों की सम्मति में 'आदिम साम्यवाद' से 'दासप्रथा', उससे 'सामन्तवाद', सामन्तवाद से 'पूँजीवाद' और पूँजीवाद से समाजवाद के विकास का स्वाभाविक क्रम है। इसका लक्ष्य समाजवाद है, अतः पूँजीवादी समाज का ध्वंस होना ही चाहिए। साहित्य और कला में इस भावना की प्रतिष्ठा हो और आलोचक एक ओर इस मत के विरोधियों को समाज-द्रोही करार दें एवं दूसरी ओर ऐसे साहित्य-सृजन की प्रेरणा दें, यह मार्क्सवादी कलाकार और आलोचक चाहते हैं। भौतिकवाद के अनिवार्य आग्रह के कारण धर्म, ईश्वर आदि व्यर्थ का आडम्बर हैं, अतः इन पर भी प्रहार होना चाहिए और अर्थ ही मानव-चेतना का नियामक तथा संस्कृति का मूल आधार माना जाना चाहिए। इस विचारधारा के आलोचकों में शिवदान सिंह चौहान, रामबिलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय, रांगेय राघव, यशपाल आदि प्रमुख हैं। इसका गुण तो यह है कि उसने

काव्य और साहित्य को सामाजिक तत्वों से जोड़ कर यथार्थ की ओर हमारा ध्यान खींचा, और दोष यह है कि यह वाद ग्रस्त होकर रह गयी है।

२. **मनोविश्लेषणात्मक आलोचना**—मार्क्सवादी आलोचना सामाजिकता को अत्यधिक महत्त्व देती है तो मनोविश्लेषणात्मक आलोचना कला और साहित्य को अन्तर्मन की अपूर्ण इच्छाओं का परिणाम मानती है। फ्रायड, युग आदि मनोविज्ञान-वेत्ताओं के अनुसार हमारी अनेक वासनाएँ धार्मिक और सामाजिक बन्धनों के कारण अपूर्ण रह जाती हैं। ये वासनाएँ हमारे मस्तिष्क में पड़ी-पड़ी चेतन-मस्तिष्क में आने की चेष्टा करती रहती हैं। स्वप्न इन्हीं दमित वासनाओं के कारण होते हैं। इनकी सुन्दरतम अभिव्यक्ति कला और साहित्य में होती है, क्योंकि वहाँ इसका उदात्तीकरण हो जाता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त कला और साहित्य द्वारा समर्थित होने पर 'मनोविश्लेषणात्मक आलोचना' के जन्म का कारण हुआ। हिन्दी में इलाचन्द जोशी और अज्ञेय प्रसिद्ध मनोविश्लेषणात्मक आलोचक हैं। डॉ० नगेन्द्र ने भी इसका आश्रय लिया था, पर अब वे इससे मुक्त होने की चेष्टा में हैं। यह आलोचना प्रणाली साहित्यिक कृतियों की मूलभूत प्रेरणाओं का विश्लेषण करती है, पर यह पूर्णतः कुण्ठाओं या दमित वासनाओं पर अपने को आधारित मानने के कारण वैसी ही एकांगी है जैसी कि मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली सामाजिकता पर बल देने के कारण। भारतीय समीक्षा शास्त्र का आधार दोनों में से कोई नहीं लेती। अतः अपनी परम्परा से विच्छिन्न संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण दोनों से साहित्य का जैसा हित होना चाहिए, वैसा नहीं हो रहा है। हाँ, मार्क्सवादी इधर अवश्य उदार हो रहे हैं, जो शुभ है।

३. **प्रभाववादी आलोचना**—इस आलोचना में आलोचक आलोच्य कृति द्वारा अपने पर पड़े प्रभाव को ही व्यक्त करता है। इस प्रकार की आलोचना में आलोचक के मनोभाव ही प्रधान हो जाते हैं और वह आलोच्य विषय से दूर चला जाता है। प्रभाववादी आलोचकों में शांतिप्रिय द्विवेदी और भगवतशरण उपाध्याय प्रमुख हैं। द्विवेदी जी ने छायावादी कवियों की आलोचना और उपाध्याय जी ने 'गुरु भक्त सिंह की नूरजहाँ' में यही आलोचना प्रणाली अपनायी है। जहाँ इस प्रणाली में विषयान्तर का दोष है वहाँ कृति के भाव को स्पष्ट करने का गुण भी है। इस क्षेत्र में शान्तिप्रिय द्विवेदी एकछत्र सम्राट् हैं।

४. **चरितमूलक आलोचना**—हिन्दी में इस प्रणाली पर भी अधिक काय नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि अभी कवियों की जीवनियों का ही हमारे यहाँ अभाव है। प्राचीन कवियों के नाम, जन्म, स्थान आदि का ही निर्णय जब नहीं हो पाया है तो जीवन की अन्य गहरी बातों की जानकारी तो दूर की बात है। नये साहित्यकारों पर भी इस दृष्टि से विशेष कार्य नहीं हुआ। अब तक चरितमूलक आलोचना के दो ही उल्लेखनीय ग्रन्थ निकले हैं—'महाप्राण निराला' (गंगाप्रसाद पाण्डे-कृत) और "वृन्दावन लाल वर्मा "व्यक्तित्व और कृतित्व"(डॉक्टर पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'-कृत)।

इनमें चरितमूलक आलोचना का स्वस्थ और सन्तुलित रूप 'वृन्दावन लाल वर्मा : व्यक्तित्व और कृतित्व' में ही मिलता है।

५. सैद्धान्तिक आलोचना—हिन्दी का अपना काव्यशास्त्र न होने से सैद्धान्तिक आलोचना का नितान्त अभाव है। जो कुछ सैद्धान्तिक आलोचना मिलती भी है, वह छायावादी या प्रगतिवादी कवियों और कथाकारों द्वारा लिखित पुस्तकों की भूमिकाओं में व्यक्त विभिन्न साहित्यिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति में मिलती है। उनका विवेचन, विश्लेषण करके कोई सिद्धान्त निकालने का प्रयत्न अभी नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना दो रूपों में मिलती है। इसका पहला रूप प्राचीन काव्य-शास्त्रीय आधार पर विकसित सैद्धान्तिक आलोचना का है, जिसके अन्तर्गत सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-कृत 'काव्य-कल्पद्रुम' ('रस मंजरी' और 'अलंकार मंजरी'), बाबू गुलाबराय-कृत 'नवरस' जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'-कृत 'काव्य प्रभाकर', रमाशंकर शुक्ल 'रसाल'-कृत 'अलंकार पियूष' लाला भगवान दीन-कृत 'अलंकार मंजूषा', अर्जुनदास केडिया-कृत 'भारती भूषण', हरिऔध-कृत 'रस कलश' रामदहिन मिश्र-कृत 'काव्यालोक' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। इनका विवेचन रीति काल की अपेक्षा प्रौढ़ है और इनमें से बहुतों में लक्षणों के उदाहरण आधुनिक काव्य-कृतियों से भी लिये गये हैं। कुछ अनूदित काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ भी इसी परम्परा में आते हैं जिनमें 'साहित्य-दर्पण' (शालिग्राम शास्त्री द्वारा अनूदित), 'रस गंगाधर' (पुरुषोत्तम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित) 'ध्वन्यालोक', 'वक्रोक्ति जीवितम्' (आचार्य विश्वेश्वर द्वारा अनूदित), 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' (डॉ० नगेन्द्र द्वारा संपादित जिसमें शुक्ल-पंत-महादेवी आदि हिन्दी के साहित्यकारों की साहित्यिक मान्यताएँ भी संकलित हैं) आदि प्रमुख हैं। बलदेव उपाध्याय का 'भारतीय साहित्य शास्त्र', सीताराम चतुर्वेदी का 'समीक्षा-शास्त्र' और गोविन्द त्रिगुणायत का 'शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त' भी इसी श्रेणी के ग्रंथ हैं। दूसरा रूप पाश्चात्य और भारतीय काव्य-शास्त्र का समन्वय करके चलने वाली सैद्धान्तिक आलोचना का है, जिसके अन्तर्गत बाबू श्यामसुन्दर दास-कृत 'साहित्यालोचन, 'रस मीमांसा', गुलाबराय-कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु'-कृत 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त', क्षेमचन्द्र 'सुमन'-कृत साहित्य-विवेचन आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें आचार्य शुक्ल और सुधांशु का झुकाव भारतीय दृष्टिकोण की ओर अधिक है जबकि श्यामसुन्दर दास, बाबू गुलाबराय और सुमन जी का सन्तुलन की ओर।

६. शोधात्मक आलोचना—शोध का कार्य 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना (१८९३) और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) द्वारा प्रारम्भ हुआ था। भारतीय विश्वविद्यालयों में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के प्रभाव और यूरोपीय विद्वानों के संस्कृत की महत्ता के शंखनाद से उसे अनेक प्रकार की सहायता मिली। आजकल हिन्दी में शोध-कार्य की बड़ी धूम है। सैकड़ों ही शोध-कर्ता शोध-कार्य में संलग्न हैं।

हिन्दी में सबसे पहला शोध-प्रबन्ध मोहिउद्दीन कादरी का था, जिन्होंने सन् १९३० में लन्दन से हिन्दुस्तानी ध्वनियों पर पी-एच० डी० की सम्मानित उपाधि प्राप्त की थी। उसी प्रकार भारतीय विश्वविद्यालयों में सबसे पहले प्रयाग विश्वविद्यालय से डाक्टर बाबूराम सक्सेना को अपने 'अवधी का विकास' शोध-प्रबन्ध पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई थी। विशेष धारा या प्रवृत्ति को लेकर लिखा गया सबसे पहला शोध-प्रबन्ध डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' था जिस पर उन्हें काशी विश्वविद्यालय से सन् १९३४ में डी० लिट्० की उपाधि मिली थी।

विगत पच्चीस वर्षों में शोध-कार्य की यह परम्परा द्रुत गति से आगे बढ़ी है। शिष्ट साहित्य पर तो कार्य हुआ ही है, लोक साहित्य की ओर भी शोध-कर्ताओं की दृष्टि गयी है। लोक साहित्य पर काम करने वाले सबसे पहले विद्वान् डाक्टर सत्येन्द्र हैं जिन्हें आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९४७ में 'व्रज लोक साहित्य का अध्ययन' पर पी-एच० डी० की उपाधि दी गयी थी। इसके पश्चात् डाक्टर कृष्णदेव उपाध्याय ने 'भोजपुरी लोक साहित्य' पर, डाक्टर कन्हैयालाल सहल ने राजस्थानी कहावतों पर और डाक्टर श्याम परमार ने 'मालवी लोक साहित्य' पर अच्छा कार्य किया है। इधर तो अनेक शोध-कर्ता जनपदीय बोलियों की साहित्य सम्पत्ति को प्रकाश में लाने के लिए निरन्तर श्रम कर रहे हैं।

शिष्ट साहित्य पर जो कार्य हुआ है उसके मुख्य विषय ये हैं :—

१—भाषा और भाषा विज्ञान, २—हिन्दी साहित्य का इतिहास, ३—हिन्दी साहित्य की पृष्ठ भूमि और परम्परा। ४—विशेष धारा या प्रवृत्ति। ५—विशेष कवि-लेखक अथवा विशिष्ट कृति का अध्ययन। ६—सम्प्रदाय और तत्सम्बन्धी कवि-समुदाय और साहित्य। ७—काव्य शास्त्र और ८—महाकाव्य, नाटक आदि काव्य रूपों का अध्ययन।

भाषा और भाषा विज्ञान पर डॉक्टर सिद्धेश्वर वर्मा, डॉक्टर बाबूराम सक्सेना, डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद, डॉक्टर उदयनारायण तिवारी आदि; हिन्दी साहित्य के इतिहास पर डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, डॉक्टर श्रीकृष्ण लाल, डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय आदि; हिन्दी साहित्य की पृष्ठ-भूमि पर डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, परशुराम चतुर्वेदी आदि, विशेष धारा या प्रवृत्ति पर डॉक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, चन्द्रबली पाण्डे, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० मुंशीराम शर्मा आदि; विशिष्ट कवि, लेखक या विशिष्ट कृति पर डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉक्टर नन्ददुलारे वाजपेयी, रामकुमार वर्मा, डॉक्टर नगेन्द्र, डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉक्टर हरवंशलाल शर्मा, डॉक्टर विनय मोहन शर्मा, डॉक्टर इन्द्रनाथ मदान, डॉक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी, डॉ० उदयभान सिंह आदि; सम्प्रदाय और तत्सम्बन्धी कवि-समुदाय

या साहित्य पर डॉक्टर दीनदयालु गुप्त, डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक, डॉक्टर भगवती सिंह, डॉक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित आदि; काव्य-शास्त्र पर डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉक्टर राकेश गुप्त आदि; महाकाव्य, नाटक आदि दूसरे काव्य रूपों पर डॉ० शम्भूनाथ सिंह, डॉक्टर प्रतिपालसिंह, डॉक्टर दशरथ ओझा, डॉक्टर सोमनाथ गुप्त, डॉक्टर देवराज उपाध्याय आदि ने अच्छा शोध-कार्य किया है।

इस परम्परा में अनेक और भी शोध-कर्ता अच्छा कार्य कर रहे हैं। शोध का अभिप्राय नवीन तथ्यों का अनुसन्धान या उपलब्ध सामग्री की नूतन व्याख्या से है। लेकिन कुछ शोध-प्रबन्ध शोध के इस ध्येय को पूरा नहीं करते। एक भ्रम यह भी रहा कि पृष्ठों की अधिकता शोध-प्रबन्ध की श्रेष्ठता का आधार है। फिर एक ही विषय पर कई-कई शोध-कर्ता कार्य करते पाये जाते हैं। पुस्तकालयों, निर्देशकों, स्वीकृत शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन आदि कई प्रकार की असुविधाओं के कारण शोध-कार्य उच्च स्तर का नहीं हो पाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मई, १९५९ में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डॉक्टर नगेन्द्र ने एक अनुसन्धान गोष्ठी का आयोजन करके शोध-कार्य को व्यवस्थित रूप देने का अच्छा प्रयत्न किया था।

इतिहास और साहित्य का संबंध

[डॉ० व्रजबासी लाल श्रीवास्तव, भोपाल (म० प्र०)]

इतिहास गत घटनाओं का यथातथ्य आकलन है। ये घटनाएँ समाज, देश, धर्म आदि किसी भी क्षेत्र की हो सकती हैं; किन्तु राजनीतिक घटनाएँ ही देश, समाज और एक सीमा तक धर्म के रूप को भी परिवर्तित कर देती हैं। इसीलिए इतिहास को राजनीतिक घटनाओं का पर्याय समझा जाने लगा है। यही क्यों विभिन्न विषयों के युग्म बनाये जावें तो राजनीति और इतिहास एक युग्म होगा। 'गत घटनाएँ' कहने का तात्पर्य यही है कि इतिहास घटनाओं के बाद ही जन्म लेता है। साथ ही वर्तमान की संकुलता में से छट-छटकर घटनाएँ अतीत के विधान में अपना स्थान निश्चित कर लेती हैं। यह निश्चय उनकी विशेषता, महत्ता एवं उपयोगिता के संदर्भ में होता है।

घटना-चक्र में वे घटनाएँ विशेष और महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं जो समाज या देश की गति-विधि को एक मोड़ देती हैं अथवा उसमें योग देती हैं। अन्य घटनाएँ जो सामान्यतः इस गति-विधि में विलीन हो जाती हैं इतिहासकार की दृष्टि में सामान्य होने के कारण उल्लेखनीय नहीं होतीं। उनको छोड़ता हुआ वह आगे बढ़ जाता है। उसकी दृष्टि कारण-कार्य-कारण के चक्र पर रहती है। एक घटना के घटित होने से पूर्व उसके आविर्भाव के निश्चित कारण होते हैं जिनको पूर्व घटना कह सकते हैं क्योंकि इन कारणों से जो घटना घटित होती है वह स्वयं आगे आने वाली घटना का कारण बन जाती है और इस प्रकार कारण-कार्य-कारण का एक चक्र चलने लगता है।

इतिहासकार घटनाओं को यथातथ्य रूप में अभिव्यक्त करता है। उसका उद्देश्य अथवा कार्य उपदेश देना अथवा भविष्य के लिए समाज को सावधान करना नहीं होता, न वह इतिहास में ऐसे स्थलों की योजना ही करता है जिनके अन्तर्गत उपदेश दिये जा सकें तथा समाज एवं राष्ट्र को भविष्य के लिए सावधान कर दिया जाय तथापि इतिहास की घटनाओं के आकलन का यदि कोई समाज-सुधारक अथवा राजनीतिज्ञ नेता इस रूप में प्रयोग करना चाहता है तो इतिहासकार को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। 'इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता है' इस कथन का संकेत इसी प्रयोग की ओर है। जिस देश का इतिहास उसके गर्व की वस्तु रहा है वह उससे लाभ उठा सकता है। प्रसाद जी ने इसी दृष्टि से भारतीय इतिहास के अनुशीलन की आवश्यकता बतलायी

थी और स्वयं इसी रूप में उसका अनुशीलन कर आदर्श भी उपस्थित किया था। उन्होंने लिखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है × × × क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सफलता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है × × × मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने का है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"[१]

किन्तु इतिहासकार को इन सब बातों से कोई प्रयोजन नहीं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक वैज्ञानिक एक नया आविष्कार करता है किन्तु उसके प्रयोग अथवा दुरुपयोग की उसको कोई चिन्ता नहीं होती। आज के युग की नवीनतम उपलब्धि अणु शक्ति है जिसका अणुशस्त्रों के रूप में दुरुपयोग विश्व देख रहा है। इतिहासकार को तथ्यातथ्य के निराकरण एवं संकलन में वैज्ञानिक की सत्यान्वेषण बुद्धि को अपनाना पड़ता है। उसकी सफलता इसी में है कि घटनाओं की यथातथ्य अभिव्यक्ति हो। उनको अतिरंजित, संशोधित अथवा परिवर्द्धित करने का उसको अधिकार नहीं है। कल्पना का आश्रय लेकर किसी घटना को उपयोगी रूप में उपस्थित करने का साहस वह नहीं कर सकता। यहीं साहित्यकार का क्षेत्र आ जाता है।

साहित्य का स्वरूप निर्धारित करते हुए विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं जिनमें भावों की अभिव्यक्ति तथा उसके द्वारा रस-निष्पत्ति प्रमुख है। रस-निष्पत्ति के लिए जिन भावों की अभिव्यक्ति साहित्यकार करता है वे उसके अपने भाव होते हैं किन्तु उन भावों में उसका अपनापन इतना ही कहा जा सकता है कि वे उसके पास हैं अथवा उनकी वह अनुभूति करता है अन्यथा उसके भावों का स्वरूप वही होता है जो लोक मानस में व्याप्त होता है इसी बात को दूसरे शब्दों में कहा गया है कि साहित्य जीवन की समग्र अभिव्यक्ति है। इसीलिए जहाँ साहित्य की व्याख्या करते हुए 'कला कला के लिए', सिद्धान्त का भी कतिपय विद्वानों ने प्रतिपादन किया है वहाँ कला की व्यापकता की ओर भी उनका ध्यान गया है जिसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष में विरोध करते हुए भी वे साहित्य के उपयोगितावाद के समीप आ जाते हैं। साहित्य शब्द की मूल भावना भी 'स+हित' व्याख्या में निहित है। वह समाज एवं राष्ट्र की हित साधना का प्रमुख साधन है। साहित्यकार की यही लालसा रहती है कि मानव जीवन सरस, सुखी और सुन्दर बने। इस लालसा की पूर्ति का माध्यम साहित्य होता है। वह समाज सुधारक, धर्माधिकारी, राजदण्डाधिकारी अथवा साधारण शुभचिन्तक की भाँति उपदेश, बल प्रयोग अथवा नीति का अवलम्ब नहीं लेता। वह साहित्य के माध्यम से ऐसे सुन्दर एवं आकर्षक आदर्शों की प्रतिष्ठा करता है जिनकी ओर जनमानस बरबस

१—विशाख की भूमिका

उन्मुख हो जाता है और इस उन्मुखता का अप्रत्यक्ष प्रभाव इतना व्यापक होता है कि कवि या लेखक द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श जनमानस में दृढ़ता से स्थान ग्रहण कर लेते हैं तथा उसको चारित्रिक बल एवं साहस प्रदान कर समाज एवं राष्ट्र की जागृति एवं नवनिर्माण में सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिए साहित्य को 'कान्ता सम्मित' उपदेश कहा गया है। जिस प्रकार स्नेहसिक्त तथा रमणी सुलभ हावभाव आदि से पोषित एवं आकर्षक ढंग में अभिव्यक्त अपनी बातों में अनुरक्त कर नायक को नायिका आकृष्ट कर लेती है वह उसके अनुकूल चलने के लिए विवश हो जाता है ठीक उसी प्रकार साहित्य के संदेश पाठक के मानस को अपनी सुन्दरता एवं आकर्षक वृत्ति के कारण मोह लेते हैं तथा पाठक उनके अनुकूल आचरण करने के लिए संस्कृत हो जाता है। इसीलिए नर और पशु में अन्तर करते हुए बताया गया कि साहित्य संगीत-कला विहीन मनुष्य पशु के समान होता है।[1] साहित्य का यही प्रयोग साहित्य को मनुष्य के लिए अपेक्षित एवं आवश्यक घोषित करता है। प्राचीनकाल में वीर रस काव्य का प्रयोग वीरों को देश की रक्षा के लिए प्रोत्साहित एवं प्रेरित करने के लिए प्रायः देशों में किया गया था। उस समय युद्ध में युयुत्सुओं के साथ वीर काव्य के प्रणेता कवि की भी आवश्यकता अनुभव की जाती थी। इस प्रकार किये गये वीर काव्य का प्रयोग समाज एवं देश की रक्षा का साधन बना, यह तथ्य किसी से छिपा हुआ नहीं है। शान्ति के समय में उसी प्रकार करुण रस का प्रयोग कर जनमानस के परिष्कार का उपक्रम किया जा सकता है तथा समाज के नैतिक स्तर एवं आचार को उठाया जा सकता है। इस प्रकार का प्रयोग इस दृष्टि से कभी नहीं हुआ किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार का प्रयोग यदि किया गया तो वह सफलीभूत न होगा। आज की परिस्थितियों में इस प्रकार के प्रयोगों की आवश्यकता है।

इस स्थल पर साहित्य और इतिहास के अपेक्षित समान तत्त्वों पर विचार किया जा सकता है। इनमें प्रमुख वे सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक घटनाएँ हैं जो अपनी विशेषता एवं महत्ता के कारण समाज, धर्म अथवा राजनीति का अंग बन गयी हैं। इतिहास की यह कलेवर हैं और इनकी सत्यता उसका प्राण है। साहित्य के लिए यह प्रेरणा स्रोत हैं; वे पृष्ठ भूमि हैं जिन पर साहित्य के भव्य भवन का निर्माण होता है।

घटनाओं को स्थूल रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं —

(१) प्रिय घटनाएँ। (२) अप्रिय घटनाएँ।

प्रिय घटनाएँ हमारे आदर्श और हमारी मान्यताओं के अनुकूल हमारी विजय और हमारे पराक्रम को प्रकट करती हैं और इसी कारण वह प्रिय कहलाती हैं। अप्रिय घटनाओं के अन्तर्गत हमारी पराजय एवं पराभव के चित्र होते हैं। इसी कारण इनको अप्रिय कहा जाता है। साहित्य की शब्दावली में इन विभागों को आदर्श और यथार्थ के रूप में देख सकते हैं।

१—"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।"

प्रिय और अप्रिय दोनों घटनाओं का एक समान बिना किसी भेदभाव के इतिहासकार समादर करता है जबकि साहित्यकार आदर्श की ओर उन्मुख रहता है। यथार्थ को चित्रित करते हुए भी साहित्यकार की दृष्टि समाज के हित-साधन की ओर रहती है। वह यथार्थ की इस प्रकार अभिव्यक्ति करता है कि पाठक अथवा सामाजिक उसके उन चित्रों से प्रभावित होकर समाज से उस अप्रियता को दूर करने के लिए उद्यत हो जायँ। यथार्थ के भी दो रूप होते हैं—साधारण यथार्थ तथा अति यथार्थ। अति यथार्थ को नग्न यथार्थ भी कहते हैं। अति यथार्थ का रूप मानस की दमित वासनाओं की प्रकट अभिव्यक्ति होता है। आज इस प्रकार के काव्य का स्वरूप कविता तथा उपन्यास के अन्तर्गत देखा जा सकता है। इसका भविष्य क्या होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता किन्तु यह स्वरूप हमारे समाज को कोई स्थाई निधि दे सकेगा इसमें कतिपय विद्वानों को शंका है। वास्तव में कोरे यथार्थ का रूप उपस्थित करना मात्र काव्यकार का उद्देश्य नहीं होता। काव्य अमर हो तथा काव्यकार अमरता प्राप्त करे, इसके लिए यह आवश्यक है कि यथार्थ-चित्रण करते हुए भी वह मानस की उन शाश्वत मनोवृत्तियों का चित्रण करे जो समाज की सुरुचि की पोषक तथा चिरन्तन हों। आज का यथार्थ कल की समस्या न रहे यह संभव है। तब आज की सामयिक समस्याओं पर रचित काव्य कल के पाठक के लिए चिरन्तन रूप में कुछ न दे सकेगा। इसीलिए काव्यकार इतिहासकार की भाँति प्रत्येक अप्रिय घटना को प्रश्रय नहीं दे पाता। साथ ही काव्यकार के लिए प्रत्यक्ष जगत् से भी कहीं अधिक विस्तृत उसका कल्पना-जगत् होता है। वह कल्पना-प्रसूत घटनाओं की अभिव्यक्ति अपने काव्य में उसी कुशलता से कर सकता है जिस प्रकार वह इतिहास में वर्णित घटनाओं का आश्रय लेकर काव्य-रचना करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कल्पना-प्रसूत घटनाएँ भी पात्र-स्थान तथा तिथि आदि के नाम तक ही कल्पित होती हैं अन्यथा उनका स्वरूप एवं वर्णन वैसा ही होता है जैसा एक वास्तविक घटना का होता है। इसीलिए साहित्यकार की कल्पित घटनाएँ भी इतिहास की वास्तविक घटनाओं के समकक्ष सिद्ध होती हैं और महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं।

साहित्यकार एवं इतिहासकार बुद्धि तत्व का इस प्रकार दो भिन्न रूपों में प्रयोग करते हैं। साहित्यकार बुद्धि तत्व का प्रयोग करते हुए यह देखना चाहता है कि वह जिस कथा वस्तु को अपने काव्य का आधार बना रहा है वह कहाँ तक बुद्धि संगत है। कहीं ऐसा तो नहीं कि वह असंभव एवं अनर्गल वस्तु की ओर झुक गया हो और उसका प्रयास व्यर्थ सिद्ध हो। वह यथा-स्थान अति प्राकृत तत्त्वों की भी योजना अपने काव्य में कौशल एवं चमत्कार लाने की दृष्टि से करता है किन्तु यह तत्त्व भी समाज में परंपरागत एवं उसकी मान्यताओं में स्थान ग्रहण किये हुए होते हैं। उधर इतिहासकार की बुद्धि प्रयोग का क्षेत्र तथ्यातथ्य के निराकरण में होता है। घटनाओं के संबंध में उसको विभिन्न सूचनाएँ मिलती हैं। उनमें से बुद्धि तत्व के आधार पर यह निर्णय करना

उसका ही कार्य है कि इन सूचनाओं में कौन प्रामाणिक हो सकती है। वह सकारणता को आधार बनाता है तथा विभिन्न तत्वों का विवेचन करते हुए सत्य की खोज उसका उद्देश्य होता है।

साहित्यकार जिस प्रकार कल्पनातत्व का प्रयोग करता है उसी प्रकार इतिहासकार कल्पित घटनाओं की सृष्टि नहीं कर सकता। वह कल्पना का इस रूप में भी प्रयोग नहीं कर सकता कि पहले घटना की कल्पना कर ले और बाद में प्राप्त सूत्रों से उसकी पुष्टि कर ले। उसकी प्रणाली विश्लेषणात्मक ही होती है। वह विश्लेषण के आधार पर ही, अन्त में घटना के तात्विक स्वरूप की प्रतिष्ठा करता है।

इसी प्रकार भावतत्त्व के लिए भी इतिहास में कम गुंजाइश होती है। इतिहास-कार घटनाचक्र की सकारणता के अन्तर्गत भावतत्त्व के लिए आधार प्राप्त करके भी पात्रों की भावुकता का वर्णन अपने क्षेत्र से बाहर की ही वस्तु समझता है जब कि साहित्यकार की कृति का मूल आधार भाव-भूमि होता है। जनमानस की भाव-भूमि पर ही साहित्यकार की कला आधारित होती है। वह कथा वस्तु इतिहास से ले अथवा कल्पित घटना की उद्भावना करे किन्तु उसके आधार पर जिस भवन का निर्माण करता है वह जनमानस की भाव-भूमि पर ही खड़ा होता है। उदाहरणस्वरूप अन्याय, अनीति आदि के प्रति क्रोध, सौंदर्य के प्रति आकर्षण, शील के प्रति श्रद्धा आदि-आदि मनोभाव जनमानस में शाश्वत रूप में अपना स्थान बनाये हुए हैं। इसीलिए इन भावों की अभिव्यक्ति काव्य को चिरन्तन एवं शाश्वत रूप दे देती है; इतिहास संग्रहणीय एवं उल्लेखनीय है तो काव्य है स्मरणीय एवं पुनः-पुनः पठनीय। इस प्रकार कल्पना बुद्धि एवं भाव तत्वों में जहाँ साहित्य तीनों का प्रयोग समन्वय करता है वहाँ इतिहास मुख्यतः बुद्धि तत्व पर ही आधारित रहता है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि साहित्य कल्पना की कैसी ही उड़ान उड़े किन्तु उसके पैर इसी भूमि पर रहते हैं और इसी में साहित्य और इतिहास का सम्बन्ध निहित है। यदि इतिहासकार एवं साहित्यकार के प्रेरणा स्रोतों का यहाँ अवलोकन कर लिया जाय तो दोनों विषयों का मूलभूत अन्तर और भी स्पष्ट हो जायगा। तथ्यान्वेषण, मानव-व्यापारों में अनुराग तथा आत्माभिव्यक्ति तीन प्रमुख तत्त्व हैं जिनको इतिहासकार की प्रेरणा के स्रोत कहा जा सकता है तथा आत्माभिव्यक्ति, मानव-व्यापारों में अनुराग, नित्य और काल्प-निक संसार में अनुराग तथा सौंदर्य प्रियता, चार तत्व साहित्यकार की प्रेरणा के आधार कहे जा सकते हैं। इतिहासकार एवं साहित्यकार दोनों ही कलाकार हैं और दोनों की समान रूप से यह इच्छा होती है कि लोग उनको जानें और मानें। यह इच्छा ही मानों इन लोगों को इन क्षेत्रों के लिए प्रेरित करती है। इसके साथ इतिहासकार तत्वान्वेषी होता है, सत्य की खोज उसकी सहज प्रवृत्ति होती है जिसके फलस्वरूप वह इस क्षेत्र को अपनी रुचि के अनुकूल पाता है। इसके स्थान पर साहित्यकार की सहज वृत्ति सौंदर्य-प्रियता तथा नित्य एवं कल्पना जगत् में अनुराग के अन्तर्गत प्रकट होती

है जिसकी प्रेरणा से वह साहित्य के क्षेत्र में उतरता है जहाँ उसे सौंदर्य के प्रति आकर्षित होने तथा जनमानस को आकर्षित करने के अवसर प्राप्त होते हैं।

मानव-व्यापारों में अनुराग जन-जन की सहज वृत्ति होती है। किसी दुर्घटना के स्थल पर लोग बरबस खिचे चले जाते हैं तथा उस दुर्घटना के संबंध में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर अथवा उसको देखकर ही उनको संतोष होता है। कथावस्तु के संचयन की प्रवृत्ति इतिहासकार तथा साहित्यकार दोनों में समान रूप से विद्यमान होती है और उसकी प्रेरणा उनको 'मानवव्यापारों में अनुराग' से प्राप्त होती है। इस प्रकार इतिहासकार और साहित्यकार का मूल अन्तर "तथ्यान्वेषण" तथा "सौंदर्य प्रियता एवं कल्पना जगत् से अनुराग" के अन्तर्गत ही रहता है। इतिहासकार तथ्यान्वेषण करता है और वैज्ञानिक की भाँति उनको यथातथ्य रूप में रख देता है किन्तु साहित्यकार का कार्य तथ्यान्वेषण नहीं होता। उसका काय होता है सौन्दर्य और कल्पना के द्वारा अलौकिक भावभूमि की प्रतिष्ठा जो उसके प्रयास के प्राण हैं जिनको वह तथ्यों के स्थूल शरीर में संजोकर अवश्य रखता है। ऐतिहासिक विधा के अन्तर्गत यह स्मरण रखना चाहिए कि साहित्यकार इतिहास की घटनाओं की मान्यताओं को मानता तथा तदनुकूल उनका चित्रण करता है। ऐतिहासिक नाटक अथवा उपन्यासों के संबंध में यह बात अनुस्यूत है किन्तु इनमें भी वह अपने उद्देश्य के लिए इतिहास के साथ में कल्पना का समन्वय भी कर देता है किन्तु उसका यह प्रयास ऐसा होता है कि इतिहास के तथ्य अक्षुण्ण रहते हैं तथा साहित्यकार का कल्पना प्रसूत अंश इतिहास की घटनाओं के संदर्भ में फिट बैठ जाता है और इस प्रकार साहित्यकार एक समग्र चित्र की उद्भावना कर देता है जो कार्य इतिहासकार के लिए संभव नहीं हो पाता।

उपन्यास तथा इतिहास की तुलना करते हुए साहित्यकार एवं इतिहासकार के अन्तर को एक विद्वान् ने निम्नलिखित रूप में प्रकट किया है—

उपन्यास में सब कुछ सही है सिवाय नामों और तिथियों के जबकि इतिहास में कुछ भी सही नहीं सिवाय नामों और तिथियों के।[1]

अब तक किये गये विवेचन की पृष्ठ भूमि में हम इतिहास और साहित्य के संबंध पर विचार कर सकते हैं। सबसे पहले 'कलाकार के व्यक्तिगत गुण तथा उस पर सामयिक प्रभाव' पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इतिहासकार तथा साहित्यकार दोनों का व्यक्तित्व भिन्न होता है। इतिहासकार को विवेकशील, कठोर एवं दृढ़ कहें तो साहित्यकार को भावुक, सहृदय एवं सरल कहना उपयुक्त होगा। दोनों के व्यक्तित्वों पर समाज तथा राष्ट्र की राजनीतिक परिस्थितियों का समान रूप से प्रभाव पड़ता है किन्तु इतिहासकार उस प्रभाव को आत्मसात् करके उससे अपने आपको दूर रखता है—अपनी कृति को उस प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखता है किन्तु साहित्यकार ऐसा नहीं कर पाता। वह

1. "In fiction every thing is true except names and dates while in history nothing is true except names and dates"

प्रभाव से प्रेरणा तथा उत्तेजना दोनों बातें प्राप्त करता है। प्रेरित होकर उसी प्रभाव में काव्य सृजन कर डालता है तथा उत्तेजित होकर उसके परिष्कार की साधना करने ल ता है। यह अवश्य है कि साहित्यकार अपने व्यक्तित्व एवं उस पर पड़ी हुई समाज आदि की छाप को इस कुशलता से प्रकट करता है कि उसकी व्यक्तिगत होते हुए भी समाज को उसे अपनाने में कोई संकोच नहीं होता। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि काव्य की अभिव्यक्ति यद्यपि साहित्यकार की व्यक्तिगत रुचि अरुचि एवं उसके व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त नहीं होती तथापि काव्य में प्रकट सम्पूर्ण तत्वों को काव्यकार के मत्थे मढ़ना भी अन्याय होगा। बहुत से स्थलों पर वह ऐसे समाज का चित्रण करता है जिसके रूप से वह स्वयं सहमत नहीं होता। बहुत से स्थलों पर उसके पात्र ऐसे सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन कर देते है जिनको स्वयं काव्यकार नहीं मानता। इसलिए इस प्रसंग में किसी कवि या कलाकार के संबंध में कोई निर्णय देकर अन्तः साक्ष्य की सामग्री के अन्तर्गत रखना उस कलाकार के साथ अन्याय होगा।

कृति को दृष्टिगत रखते हुए प्रथम वस्तु पर विचार कर सकते हैं। इतिहासकार के लिए इतिहास एक कथा वस्तु है ही और वह उसकी सकारणता तथा एक सूत्रता को खोजने का प्रयत्न करता है किन्तु साहित्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति के लिए इतिहास जैसी सम्पूर्ण कथा वस्तु की अपेक्षा नहीं होती। काव्य के प्रबंध एवं मुक्तक दो रूप होते हैं। प्रबंध काव्य में कथा वस्तु होनी चाहिए। उसके दूसरे प्रकार, खण्ड काव्य में भी वस्तु आवश्यक है। किन्तु मुक्तक काव्यों में कथा वस्तु की अपेक्षा अपेक्षाकृत नहीं रहती। कलाकार समग्र एवं सम्पूर्ण चित्र उपस्थित करने के स्थान में एक भाव का चित्रण कर डालता है। इस रूप में कथा वस्तु अतिसीमित रह जाती है। पुनश्च कथावस्तु का रूप इतिहास के क्षेत्र में कथापरक एकसा ही रहता है और उसकी अभिव्यक्ति मानव व्यापारों में ही होती है किन्तु साहित्यकार कथा परक के स्थान में विवरणात्मक वस्तु को ले सकता है। वह अपनी अभिव्यक्ति प्रकृति के व्यापारों के संदर्भ में भी कर सकता है। यह अवश्य है कि यह वर्णन अप्रस्तुत मानव-व्यापारों की ओर ही संकेत करते हैं।

इस प्रकार साहित्यकार इतिहास की कथावस्तु के साथ-साथ कल्पित अथवा मिश्र अन्य प्रकार की कथा वस्तुओं को भी ग्रहण कर सकता है। कल्पित कथावस्तु स्वयं साहित्यकार की अपनी कल्पना पर आधारित होती है। यह अवश्य है कि इस कल्पना का भी भौतिक आधार होता है। उसके मानस में भौतिक घटना का एक रूप रहता है। उसी की पृष्ठ भूमि में वह वैसी ही अथवा उससे मिलती-जुलती घटना की उद्भावना कर लेता है। कालान्तर में कल्पित वस्तु स्वयं आगामी कल्पित वस्तु की पृष्ठ भूमि बन सकती है और एक ऐसी वस्तु की संभावना हो सकती है जो नितान्त कल्पित हो किन्तु जैसा कि ऊपर वस्तु-विकास-क्रम दिखलाया है, सूक्ष्म पर्य्यवेक्षण पर कलाकार के मूल भौतिक आधार तक पहुँच सकते हैं। मिश्र कथावस्तु, वास्तविक कथावस्तु तथा कल्पित कथा-वस्तु के मिश्रित रूप को कहते हैं। इस प्रकार की वस्तु प्रायः मिलती

है। ऐतिहासिक नाटक अथवा उपन्यासों में साहित्यकार को छूटे हुए सूत्रों को एक सूत्रता देने के लिए कल्पना का आश्रय लेना ही पड़ता है। इस प्रयास में ही साहित्यकार का कौशल निहित रहता है। एक साहित्यकार इस प्रकार की योजना करेगा कि पूरी कथा वस्तु का स्वाभाविक विकास स्पष्ट हो जायगा। दूसरी ओर अकुशल साहित्यकार का प्रयास पैबन्दों के रूप में अस्वाभाविक तथा अरुचिकर बन जाता है। अतएव मिश्र कथावस्तु की योजना में यह ध्यान रखना बड़ा आवश्यक है कि न तो कल्पना का अंश इतना विस्तृत हो जाय कि मूल कथावस्तु उसी में विलीन हो जाय और न वह इस प्रकार प्रभाव हीन एवं असंबद्ध हो जाय कि प्रक्षेप प्रतीत होने लगे।

वस्तु के पश्चात् पात्रों को लें। पात्र इतिहास में जितने महत्त्वपूर्ण है उतने ही ऐतिहासिक नाटक एवं उपन्यास अथवा महाकाव्य एवं खण्डकाव्य में। यहाँ 'पात्र' से आशय पात्र-परिचय से है। वह कौन है, उसका क्या नाम है, उसके कौन से महत्त्व-पूर्ण कार्य हैं आदि-आदि। ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़कर अन्य प्रकार के उपन्यास तथा इसी प्रकार अनैतिहासिक कहानियाँ, चरित आदि में पात्रों के मूल परिचय की इतनी महत्ता नहीं रहती। इसीलिए इस प्रकर के काव्यों में पात्र कल्पित हुआ करते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इतिहास तथा उपन्यास की तुलना करते हुए पात्र-स्थिति पर विचार किया गया है जिसको ऊपर कहीं लिख चुके हैं। इस प्रकार पात्र दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक एवं कल्पित। वास्तविक पात्रों के नाम आदि का विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित रहते हुए भी साहित्यकार की भावभूमि के रंग में रंगा होता है। इसीलिए एक ही पात्र के संबंध में विभिन्न कलाकारों के चित्रण भिन्न होते हैं। इतना होते हुए भी ऐतिहासिक मूल आधार विच्छिन्न नहीं हो पाता। इस बात को स्थूल रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित अच्छा पात्र अच्छा ही दिखलाया जायगा और बुरा पात्र बुरा ही। कालान्तर में साहित्यिक मान्यताएँ भी पात्रों के संबंध में बन जाती हैं और उस स्थिति में पात्रों के मान्य स्वरूप को क्षत-विक्षत कर डालने का साहस कदाचित् नहीं हो पाता। ऐसे कलाकार हो सकते हैं जो अपनी भावुकता में इस प्रकार के दुस्साहस का प्रयास कर डालें तथा वे अपश्रुत पात्रों को उच्च दिखलाने का प्रयत्न करें किन्तु वे भी विश्रुत पात्रों को अपश्रुत नहीं बना पाते।

पात्रों के नामों के संबंध में विशेषकर उन पात्रों के नामों के संबंध में जो प्राचीन युग से संबंधित हैं कभी-कभी मतभेद खड़ा हो जाता है। उनके जन्म, मरण, जीवन-काल के संबंध में मतभेद तो बहुत साधारण-सी बात है तथा हिन्दी साहित्य के अमर कला-कारों के संबंध में जो प्राचीन या मध्यकाल में हुए थे यह मतभेद आज तक दूर नहीं हो पाया। इसके साथ ही उपर्युक्त तथ्य इससे कहीं अधिक मनोरंजक हैं कि स्वयं नाम के संबंध में ही मतभेद उठ खड़ा हो। ऐसे प्रसंगों में साहित्यकार का नाम के सौन्दर्य की ओर झुक जाना स्वाभाविक ही है। वह सौन्दर्योपासक जो ठहरा। 'ध्रुवा' के स्थान में प्रसादजी को ध्रुवदेवी या ध्रुवस्वामिनी नाम अधिक प्रिय लगा।

कल्पित पात्रों की योजना साहित्यकार करता है और कर सकता है किन्तु इतिहासकार ऐसा नहीं कर सकता। इतिहासकार को तो वास्तविक पात्रों की ही खोज करनी पड़ती है और उन्हीं को प्रश्रय देना पड़ता है। साहित्यकार के कल्पित पात्रों के पीछे भौतिक पात्रों का आधार प्रायः रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कभी-कभी अन्य कथाओं के कल्पित पात्र भी प्रायः उसके अपने कल्पित पात्रों के आधार बन जाते हैं। वास्तविक पात्रों को साहित्यकार क्यों प्रकट नहीं करना चाहता? यहाँ इस प्रकार की जिज्ञासा हो सकती है। बात यह है कि भौतिक विशेष पात्र से संबंधित किसी घटना से साहित्यकार इतना प्रभावित होता है कि उसे किसी न किसी रूप में अभिव्यक्त करने के लिए वह विवश हो जाता है, किन्तु उस पात्र के वास्तविक नाम को प्रकट करने में व्यक्तिगत, सामाजिक आदि विभिन्न कारणों से वह अपने आप को समर्थ नहीं पाता। इन्हीं प्रसंगों में अन्योक्तियाँ चल पड़ी हैं। भ्रमर, पवन आदि को संबोधित करने में जहाँ मानव-मानस का प्रकृति के साथ चिर सौहार्द प्रकट होता है वहाँ मुख्य पात्रों को गोपनीय रखने की भी प्रवृत्ति प्रकट होती है। कोई विशेष नाम न लेकर 'कोई', 'किसी' आदि सर्वनामों का प्रयोग भी पात्रों के लिए कर लिया जाता है और इस प्रवृत्ति से अलौकिक रस-व्यंजना भी संभव हो जाती है। 'शाहजहाँ ने बनवाया भी ताज' कहने के स्थान में 'किसी ने बनवाया भी ताज' कहना कहीं अधिक रस-पूर्ण एवं सुन्दर है।

साहित्य के क्षेत्र में उच्च, नीच, साधारण, असाधारण, सामान्य, असामान्य आदि विशेषणों के अन्तर्गत पात्रों का विभाजन हुआ है। प्राचीनों ने इस विभाजन को चतुर्विध नायक की संज्ञा दी है—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त तथा धीरोद्धत। इसी प्रकार नायिका के अनेक भेद साहित्य में प्रकट हुए हैं। मोटे भेद स्वकीया, परकीया और सामान्या है। इस प्रकार साहित्य में पात्रों का अति सूक्ष्म विवेचन किया गया है जो मानवगुण एवं स्वभाव पर आधारित हैं। इतिहास में इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन की गुंजाइश नहीं है, न ऐतिहासिक तथ्यों के आकलन में इस प्रकार के विश्लेषण की आवश्यकता ही पड़ती है। इतिहासकार तो पात्रों के कार्य व्यापार एवं व्यवहार को घटना के विकास क्रम में अध्ययन करता है। स्वतंत्र रूप से विशेष व्यक्तित्व का अध्ययन समाजशास्त्र का शास्त्रीय विषय हो सकता है। साहित्य का उद्देश्य भी व्यक्तित्व का विशेष अध्ययन नहीं होता। साहित्यकार विशेष व्यक्तियों की योजना द्वारा जीवन के समग्र चित्र को उपस्थित करना चाहता है, अपने भावों की अभिव्यक्ति ही उसका मुख्य उद्देश्य रहता है। पात्रों के चरित्र चित्रण द्वारा साहित्यकार जनमानस को एक ओर ऐसे आदर्श चरित्रों का चित्र देना चाहता है जो विश्व संग्राम में उसका पथ प्रशस्त कर सकें (साहित्य द्वारा प्रदत्त यह चित्र अप्रत्यक्ष रूप से जनमानस को प्रभावित करते हैं तथा उसकी मान्यताओं को बल देते हैं)। दूसरी ओर वह ऐसे चरित्रों के चित्र उपस्थित करता है जिनकी यथार्थता से जनमानस क्षुब्ध हो उठता है और उनके उद्धार के लिए चिन्तित हो उठता है। इतिहासकार इस प्रकार सोद्देश्य कोई योजना

नहीं बना सकता। वह तथ्यों के उद्घाटन के लिए पात्रों की आवश्यकता तथा उनके चरित्र के संबंधित अंश के चित्रण की आवश्यकता अनुभव करता है।

पात्रों के चरित्र-चित्रण में कथोपकथन का महत्त्वपूर्ण योग होता है। कथोपकथन साहित्य की अपनी विधा हैं जिससे कौशल की सर्जना होती है। पात्र स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ कहे उससे कहीं अधिक प्रभावशाली बात वह होती है जिसे अन्य पात्र उसके सम्बन्ध में कहते हैं। लेखक द्वारा कही गयी बात भी इसके सामने इतनी प्रभावशाली नहीं होती। यह प्रणाली साहित्य में ही संभव है। इतिहासकार इस प्रकार की योजना नहीं कर सकता। उसको ऐसी लिखित सामग्री उपलब्ध हो सकती है जिसके द्वारा वह किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के सम्बन्ध में उसको उद्धृत कर सके अथवा एक ऐतिहासिक व्यक्ति का उद्धरण दूसरे व्यक्ति के चरित्र पर प्रकाश डाले किन्तु इस रूप में तथा साहित्य के रूप में अन्तर होता है। साहित्यकार पात्र के चित्रण तथा समाज की सांस्कृतिक मान्यताओं को दृष्टिगत रखता है। किन्तु इतिहासकार की दृष्टि सामग्री की प्रामाणिकता पर ही रहती है। वह साथ ही उद्धरणों को अपनी इच्छानुकूल परिवर्तित भी नहीं कर सकता जबकि साहित्यकार के लिए स्वयं प्रामाणिकता ही इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं होती। यहाँ कथोपकथन को मूल प्रकृति से दृष्टिगत रखना आवश्यक है। नाटक के कथोपकथन अथवा उपन्यास या अन्य काव्य विधाओं के कथोपकथन, उत्तर प्रतिउत्तर के रूप में जिस प्रकार उपलब्ध होते हैं तथा कथावस्तु को आगे बढ़ाते हैं, उसमें मोड़ देते हैं, उसी प्रकार इतिहास में कथोपकथनों की योजना संभव नहीं होती। कथोपकथनों के द्वारा साहित्यकार समाज के सांस्कृतिक स्तर को चित्रित करता है और उसको ऊँचा उठाना चाहता है। साहित्य का अध्ययन करते हुए पाठक की यह लालसा हो उठे कि इसी रूप में हम अपने परिवार या समाज में व्यवहार करें तो समझना चाहिए कि साहित्यकार का उद्देश्य सफल हो गया। सुन्दर कथोपकथनों की अपनी विशेषताएँ होती हैं जिनके कारण वे चारु, सुन्दर और आह्लादकारक बन जाते हैं। श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं में इस प्रकार के कथोपकथन सहज ही में आ जाते हैं। कथोपकथनों की सफलता में स्वाभाविकता बहुत महत्त्व रखती है। इस तत्त्व की ओर कलाकार को पात्र, देश, काल आदि की दृष्टि से विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार का ध्यान इतिहासकार को रखने की आवश्यकता नहीं रहती। वह ऐतिहासिक पात्रों को इतिहास के माध्यम से प्रकट करते हुए पात्र, देश, काल आदि का समन्वय नहीं कर पाता। उस समय की सामाजिक दशा का इतिहास लिखते हुए वह इन तत्वों पर पृथक् प्रकाश डालेगा। इनके समन्वय की उसको अपेक्षा नहीं होती।

प्रत्येक कलाकार का अपना व्यक्तित्व होता है। उसकी मान्यताएँ, आस्थाएँ तथा विश्वास दूसरे कलाकार से भिन्न होते हैं। साथ ही कलाकार पर अपने समय का प्रभाव भी पड़ता है। वह उससे बच नहीं सकता।

इन तत्त्वों की दृष्टि से देखें तो एक ही विषय पर प्राप्त विभिन्न कृतियों में विभिन्नता

मिलेगी जिसका मूल कारण यही तत्त्व हैं। किन्तु इतिहासकार की सफलता इस बात में है कि वह इन प्रभावों से पूर्णतया बचे और अपने आपको अछूता रखे जब कि साहित्यकार के लिए अतीत के चित्रों में वर्तमान के संदेश देना साहित्य की उपयोगिता की दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। इससे पूर्व हम साहित्य की चिरन्तन एवं शाश्वत प्रकृति की चर्चा कर आये हैं। उस प्रकृति पर इस सामयिक प्रभाव एवं सामयिक उपयोगिता का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता। साहित्यकार की सफलता एवं श्रेष्ठता इसी में है कि वह सामयिक एवं उपयोगी तत्त्वों में से भी शाश्वत एवं चिरन्तन अंश खोज निकाले और उनको अपनी कृति का आधार बनावे जिससे साहित्य की चिरन्तन प्रकृति अक्षुण्ण रहे।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इतिहास के विभिन्न लेखकों की कृतियों में कोई विभिन्नता ही नहीं होगी। जहाँ तक इतिहास की प्रामाणिकता का संबंध है, निश्चय ही विभिन्नता का कोई प्रश्न नहीं उठता। घटना-क्रम एक-सा रहता ही है। उदाहरण स्वरूप सभी इतिहासकार यही कहेंगे कि १५ अगस्त १९४७ को अंग्रेजों ने भारत की सत्ता भारतीयों को हस्तान्तरित कर दी। इसी प्रकार अन्य घटनाओं के संबंध में एक-सा उल्लेख संभव है। तब विभिन्न इतिहासकारों की विभिन्नता कहाँ रहती है ? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है।

इस प्रश्न पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो समस्या का समाधान हो जाता है। इतिहासकार घटना-क्रम के कारणों में एकमत नहीं होते और यही उनकी विभिन्नता एवं आपसी मतभेद प्रकट हो जाता है। जैसा कि ऊपर कई स्थानों पर लिख आये हैं कि इतिहासकार वैज्ञानिक विधा को अपनाता और उसी के अनुसार अग्रसर होता है। अतएव किसी घटना के कारणों की खोज करते हुए विभिन्न इतिहासकार विभिन्न कारणों को प्रकाश में लाते हैं जिनका परिणाम वह घटना होती है। इसी स्थल पर इतिहासकार की प्रज्ञा, सूझ-बूझ तथा सूक्ष्म दृष्टि की अपेक्षा होती है। ऐतिहासिक खोज से संबंधित उपलब्ध सामग्री की विभिन्नता के कारण भी इतिहासकार विभिन्न कारणों की उद्भावना कर लेते हैं। प्राचीन घटनाओं के संबंध में विवेचन करते हुए इसीलिए उपलब्ध नवीन सामग्री की दृष्टि से प्राचीन इतिहासकारों की निष्पत्तियों में आमूल परिवर्तन कर देना आवश्यक हो जाता है। इन परिस्थितियों में कारण ही नहीं प्रत्युत घटना के रूप और परिणाम में भी परिवर्तन हो जाते हैं।

विभिन्नता का एक दूसरा रूप भी है जो कारण तथा उपलब्ध सामग्री से संबंध नहीं रखता वह है इतिहासकार की शैली। शैली की दृष्टि से इतिहासकार और साहित्यकार दोनों ही के व्यक्तित्वों में आपस में विभिन्नता आ जाती है। शैली को इसीलिए व्यक्तित्व तक कह दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की शैली पृथक् होती है। यह अवश्य है कि एक व्यक्ति की शैली को दूसरे व्यक्ति की शैली से पृथक् देख लेना कठिन है और साधारण व्यक्ति इस कार्य को नहीं कर सकता। इसके लिए प्रतिभा

सम्पन्न आलोचकों की आवश्यकता होती है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि शैली की विभिन्नता के होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्यों की सुरक्षा बनी रहती है।

शैली का अपना विशेष महत्त्व होता है। एक कलाकार अपनी अभिव्यक्ति को इस प्रकार की शैली में प्रकट करता है कि पाठक अभिव्यक्ति पर मुग्ध हो जाता है तो दूसरा कलाकार अपनी असफल शैली के ही कारण यशभाजन नहीं बन पाता, यह बात साहित्य और इतिहास दोनों के संबंध में अनुस्यूत है। शैली के महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए ही प्राचीनों ने रीतिवाद की प्रतिष्ठा की थी और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' तक कह दिया था।

साहित्य शब्द अँग्रेजी के लिटरेचर शब्द का पर्याय है और इस दृष्टि से साहित्य के अन्तर्गत इतिहास भी आ जाता है किन्तु आजकल साहित्य, काव्य के लिए सीमित एवं रूढ़ हो गया है। अतएव साहित्य काव्य का पर्याय समझा जाता है। इस दृष्टि से साहित्य और इतिहास दो पृथक् विषय हो जाते हैं। इस लेख में साहित्य शब्द इसी सीमित अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

साहित्य और इतिहास का मिलन 'साहित्य के इतिहास' में हो जाता है। 'साहित्य के इतिहास' का उसी प्रकार आकलन होता है जिस प्रकार साधारण इतिहास का। जिन सिद्धान्तों तथा जिस विधा का पालन साधारण इतिहास लिखते हुए किया जाता है उन्हीं का पालन साहित्य का इतिहास लिखते हुए करना आवश्यक होता है।

इस प्रकार हमने देखा कि इतिहास और साहित्य का कितना घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में कह सकते हैं—

इतिहास अतीत की अतीतता है तो साहित्य है इतिहास की ऐतिहासिकता।

प्राचीन काव्य

जायसी की विरहानुभूति का आध्यात्मिक पक्ष

[डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
डी० ए० वी० कालेज, कानपुर]

लौकिक व्यवहार में प्रेम के दो पक्ष हैं—संयोग और वियोग। अध्यात्म-क्षेत्र में भी यही दो पक्ष हैं। लोक में संयोग के उपरान्त विरह आता है, परन्तु अध्यात्म में विरह के उपरान्त संयोग की स्थिति है। लौकिक संयोग के उपरान्त विरह की अनुभूति मान, प्रवास आदि कई रूपों में दिखायी देती है और वह संयोग-जन्य सुखानुभूति के कारण अतीव दारुण प्रतीत होती है। यदि संयोग का सुख न हुआ होता, तो विरह का दुख भी दुखी न बना पाता। अध्यात्म में विरह की अनुभूति ही साधक को संयोग की ओर ले जाती है। यदि विरह की अनुभूति जाग्रत न हो तो साधक प्रभु की ओर उन्मुख भी नहीं हो सकेगा। संसार में संयोग के पश्चात् विरह नाना प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक क्लेश-जाल को उत्पन्न करने वाला है। ये क्लेश, स्वेच्छा से गृहीत नहीं किये जाते, विरह से विवश होकर हमें सहने पड़ते हैं। अध्यात्म का जिज्ञासु साधक, इसके विपरीत अनेक शारीरिक एवं मानसिक क्लेशों का वरण स्वेच्छा से करता है। वह अपने शरीर, प्राण और मन को तप की भट्ठी में जान बूझ कर डाल देता है। लौकिक प्रेम शारीरिक संयोग का आकांक्षी है, पर आध्यात्मिक प्रेम शारीरिक आवरणों से घृणा करना सिखाता है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण तीनों प्रकार के शरीर उसे अपने और अपने प्रियतम प्रभु के बीच पड़े परदे के समान परिलक्षित होते हैं जिनसे जितना शीघ्र छुटकारा हो सके, उतना ही अच्छा है। लौकिक पक्ष में भी प्रेमी और प्रिय अपने बीच में किसी आवरण को नहीं आने देना चाहते, पर यह आवरण उनके भौतिक मिलन का ही विघातक है। आध्यात्मिक मिलन में इस भौतिक मिलन का लवलेश भी नहीं रहता। प्रकृति के परदे जीव को काल के वशीभूत कर देते हैं। इसी हेतु जीव इन परदों से पृथक् होना चाहता है जिससे वह काल जयी बनकर अमृत स्वरूप को प्राप्त कर सके।

अध्यात्म-प्रधान कवियों की वाणी में संयोग की अपेक्षा विरहानुभूति की जो तीव्रता प्रतिपादित हुई है, वह उनकी सहज साधना की परिचायिका है और इसी आधार पर प्रतिष्ठित है। ऋग्वेद के ऋषि ने अपने प्रभु से वियोग का अनुभव करके

ही कहा था:—'कब मैं उस वरुण, वरणीय देव के अन्तस्तल में, क्रोड में प्रवेश करूँगा ? क्या वह मेरे समर्पण को स्वीकार करेगा ? कब मैं प्रसन्न मन से उसके दर्शन कर सकूँगा ?' (७-७६-२) साधनों का उल्लेख करते हुए वैदिक ऋषि शारीरिक दमन के साथ मन के संयम को भी विस्मृत नहीं करते। प्रभु की पूजा करनी है, तो शरीर का, इन्द्रियों का, दमन तो करना ही पड़ेगा, मन को भी वश में करना होगा।[1]

योग दर्शन के अष्टांगों में भी शारीरिक और मानसिक तप वर्णित हुए हैं। ब्रह्मचर्य शारीरिक तप है तो अहिंसा और सत्य मानसिक तप के अन्तर्गत हैं। वैसे दोनों ही एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। एक की साधना दूसरे की साधना में सहायक ही नहीं होती, उसे प्रभावित भी करती है। साधना क्लेश-बहुल है, पर इन क्लेशों को साधक स्वेच्छा से वरण करता है, वह जानता है कि यही क्लेश उसे ऐहिकता से हटाकर आध्यात्मिकता की ओर ले जायेंगे, पृथ्वी से छुड़ाकर उसे द्यौलोक में प्रविष्ट करेंगे। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी पद्मावत में लिखा है:—'जो दुख सहै होइ सुख ओंकां। दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोकां'।

साधक अपने प्राणाधार की प्राप्ति के लिए अनवरत रूप से चतुर्दिक् भ्रमण करता रहेगा, अपने अंग-अंग को तप की भट्ठी में डालकर भस्म बना देगा और उसे तब तक स्थिरता या संतुष्टि प्राप्त नहीं होगी, जब तक वह अपने प्रियतम की एक झलक प्राप्त न कर ले। प्रिय के पथ में उसकी आँखें बिछी रहती हैं और हृदय में एक ही लालसा जाग्रत रहती है:—'कब सो घरी करैं तहं फेरा'—कब वह पुनीत घड़ी उदय होगी जब उसका प्रिय उसकी आँखों के आगे उपस्थित होगा।

अध्यात्म पथ के पथिक जायसी ने सात समुद्रों के वर्णन रूप में जिन विघ्नों का उल्लेख किया है और उनके बहाने जिन विकट कष्टों का निर्देश किया है, उनसे प्रिय की ओर ले जाने वाले मार्ग की भीषणता का थोड़ा सा अनुमान तो हो ही जाता है। वेद ने अधम, मध्यम और उत्तम तीन पाशों का नाम लिया है, जिन्हें तम, रज और सत के आवरण अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर कहा जा सकता है। साधक जब तक इन पाशों, आवरणों और शरीरों से मुक्ति प्राप्त न कर ले, तब तक प्रिय की सधस्थता कहाँ है ? स्थूल शरीर के मोह और लोभ दो साथी हैं, सूक्ष्म शरीर के साथ द्वेष और क्रोध लगे हैं, कारण शरीर से मद और अहंकार का सम्बन्ध है। लोभ पार्थिव पदार्थों के प्रति होता है, मोह परिवार के प्रति। लोभ और मोह का एक जोड़ा है। द्वेष में ईर्ष्या रहती है और वह मन में छिपा भी रहता है, क्रोध में अन्दर की द्वेषाग्नि भड़क उड़ती है। द्वेष और क्रोध का दूसरा जोड़ा है और दोनों की अभिव्यक्ति मनोकामना की पूर्ति में बाधक बनने वाले व्यक्ति के प्रति होती है। मद में मानव अपनी ही महत्ता के चारों ओर चक्कर काटता रहता है, अपने बड़प्पन के नशे में

---

१ यो अग्निं तत्वो दमे देवं मर्तः सपर्यति। ऋ० ८-४४-१५
युञ्जानः प्रथमं मनः तत्वाय सविता धियः। यजु० ११-१

किसी को कुछ भी नहीं समझता। अपने को उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर आसीन तथा कर्त्तव्यता की इति श्री अनुभव करके कर्म-पथ पर एक पग भी रखना नहीं चाहता, साथ ही सबसे सम्मान भी चाहता है। अहंकार मद का बड़ा भाई है जो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक अपना विस्तार चाहता है। मद और अहंकार का तीसरा जोड़ा है। इन्हीं को भारतीय मनीषियों ने षड्रिपुओं की संज्ञा दी है।

जायसी ने मोह को क्षार, लोभ को क्षीर, द्वेष को दधि, क्रोध को उदधि, मद को सुरा तथा अहंकार को किलकिला समुद्र से उपमित किया है। मोह उमड़ कर विवेक सत्य या वास्तविकता पर परदा डाल देता है। अतः जैसे ही विवेक जाग्रत होगा, मोह भाग जायगा। मोह के कारण कभी मानव ऊँचा उठ जाता है और कभी नीचे गिर जाता है[1]। ऐसा, मोह के आलम्बन के कारण होता है। आलम्बन उदात्त है, तो हम भी उदात्त बन जाते हैं, अवनत है तो हम भी उसके साथ वैसे ही अवनत। वास्तविकता के प्रकट होते ही हमें मोह से मुक्ति मिल जाती है[2]। लोभ के सम्मुख माणिक्य, मोती और हीरे रहते हैं। यह द्रव्य को देखते ही मन को अधीर कर देना है[3]। द्रव्य और उसका उपभोग मानव को प्रभु-संयोग के पथ से भटका कर विनाश की ओर उन्मुख कर देते हैं[4]। जायसी लोभ को दूर करने के लिए योग और त्याग के मार्ग पर चलने का उपदेश देते हैं। योग का मार्ग सबके स्थान पर एक के स्नेही बन जाने का मार्ग है। मोह और लोभ राग के ही दो रूप हैं।

द्वेष में जलन है, पर यदि द्वेष के उद्देश्य को हम बदल सकें, तो द्वेष का भाजन भी बदल जायगा। हम किसी से प्रतिस्पर्धा के कारण द्वेष करते हैं। प्रतिस्पर्धा ईर्ष्या पर अवलंबित है। कोई हमसे लौकिक उन्नति की दौड़ में आगे न निकल जाय। ज्ञान, बल या धन में कोई हमारा प्रतिपक्षी न रहे, हमारे द्वेष का यही लक्ष्य है। इसके स्थान पर यदि हम अपनी न्यूनताओं को द्वेष का लक्ष्य बना लें, तो दूसरों से द्वेष करने की अपेक्षा हम अपने पर ही झुंझलाने लगेंगे। यह मन्यु की अवस्था है जिसमें मनन और अपने दोषों का परिमार्जन सम्मिलित है। जायसी ने इसीलिए लिखा है:—'जो जाने सत आपुहि जारै'—यह अपने अवगुणों को जलाना है। यह द्वेष ऐसा दधि है जिसकी एक बूंद से ही द्रव्य लोभ का समग्र दूध जम जायगा। दूसरों से द्वेष करना तो कांजी की बूंद है जो इसे फाड़ कर फैला देगी, दूध को भी जल बना देगी, जिसकी प्रवृत्ति ही निम्नगा है। द्वेष से द्वेष बढ़ता ही जायगा। और वह हमें नीचे से नीचे गिराता जायगा।

द्वेष-दमन के लिए जायसी ने रूपक की लपेट में प्राणायाम की ओर भी संकेत किया है। यह रूपक है लोभ दूध को द्वेष दधि से जमा कर मत की मथानी में साँस

१ खिन तर होंहि खिनहि उपराहीं।
२ जेहि सत देकि करै गिरि काँधा।
३ दरब देखि मन होहि न थीरा।
४ पंथ भुलाइ विनासै जोगू।

की डांडी (नौंती) द्वारा हृदय या भाव की चोट दे-देकर साही को फोड़ना और प्रेमरूपी घी को निकालना। इस क्रिया द्वारा द्वेष नहीं, प्रेम का विस्तार होगा। द्वेष से द्वेष बढ़ता है। प्रेम ही द्वेष का शमन करने में समर्थ है। द्वेष करना ही है, तो दूसरों से नहीं, अपने दोषों से द्वेष करो। अपने दोषों से द्वेष तथा दूसरों के सद्गुणों से प्रेम जितना ही अधिक होता जायगा, उतना ही अधिक हम आत्मा के निकट आते जावेंगे। प्राणायाम और हार्दिक प्रेम-भावना द्वेष के दूरीकरण की अमोघ ओषधि है। प्रेम की अग्नि में जो जलन-क्लेश सहना पड़ता है, वह व्यर्थ नहीं जाता, एक दिन सुफल लाता ही है[१]।

क्रोध भयंकर है। यह भभकता है, तो धरित्री से लेकर स्वर्ग तक को जला डालता है। शरीर की धरती और मस्तिष्क का स्वर्ग दोनों इसकी भीषण लपटों में जल कर खाक हो जाते हैं। भौंहें टेढ़ी हो जाती हैं, आँखों में खून उतर आता है, नासिका के रंध्र ज्वारभाटा बन जाते हैं और दाँत अधरों को चबाने लगते हैं। जैसे चूल्हे पर चढ़े हुए कड़ाह में तैल खौलता है, वैसे ही सारा शरीर खौलने लगता है। न शरीर आपे में रहता है, न दिमाग इस क्रोध को बेधकर शासन में रखने वाला प्रेम का मलयगिरि है। प्रेमरूपी चन्दन का सौरभ जहाँ-जहाँ पहुँचेगा, वहीं-वहीं क्रोध का वेग शान्त होता जायगा और क्या धरित्री रूपी शरीर तथा क्या स्वर्ग रूपी मस्तिष्क—सब के सब अपनी-अपनी स्थिति में आ जावेंगे[२]।

मद तो नशा है ही। मद में ग्रसित व्यक्ति झूम-झूम कर चलता है[३]। दर्प से उन्मत्त बन कर वह कर्त्तव्य-पालन से भी विमुख हो जाता है। मैं यह भी नहीं करूँगा, वह भी नहीं करूँगा, देखें किसकी मजाल है जो मेरी ओर आँख भी उठा सके? इस प्रकार मद-छत्र को ऊपर ताने हुए व्यक्ति दूसरों की तो अवहेलना तथा अपमान करता ही है, अपने सच्चे अभ्युत्थान का भी शत्रु बन जाता है। कर्त्तव्य-पथ पर पैर ही न रखेगा, तो आगे बढ़ ही कैसे सकेगा? जायसी कहते हैं, नशा-पीना ही है, तो प्रेम का नशा पिओ त्याग और प्रेम के मार्ग में शिर को पतंगे की भाँति बलिदानी बनाना पड़ता है। जब तक त्याग की भावना जाग्रत न होगी, तब तक लक्ष्य भी प्राप्त नहीं होगा।

विघ्नों में, षडरिपुओं में, सबसे ऊपर अहंकार है। जायसी ने इसे किलकिला समुद्र माना है जिसके सामने सभी धैर्य छोड़ बैठते हैं अहंकार पर्वत की भाँति उठता है। इसके उठते ही समुद्र मंथन जैसी गंभीर हलचल उत्पन्न हो जाती है जो कभी-कभी प्रलय की सूचना भी देने लगती है[१]। अहंकारी व्यक्ति का नेत्रस्फालन निखिल ब्राह्माण्ड को निगल जाने की आकांक्षा रखता है। कुंभकार के चक्र की भाँति घूमता हुआ यह

१—प्रेम कै आगि जरै जो कोई।
दुख तेहि कर न अविरथा होई। दोहा—३
२—यह जो मलयगिरि प्रेम कर बेधा समुद समीर। ४
३—जो तेहि पियै सो भांवरि लेई।५

बढ़ता ही जाता है, साधना में जो अंतिम और सबसे प्रबल संकट है वह यही अहंकार है[२]। साधक को सत्य से विचलित करने वाला भी यही है[३]। जो साधक इनकी चपेट में आ गया वह नष्ट हो गया; पर जो इनमे बच गया वह स्वर्ग सुख का अधिकारी भी निश्चित रूप से बन जाता है।

अंहकार पर विजय प्राप्त करने के लिए गुरु की आवश्यकता है[४]। गुरु के रूप मे मानों हम अपने से बड़े किसी व्यक्तित्व की सत्ता स्वीकार करने लगते हैं। गुरु का अर्थ ही महान् है। गुरुओं का गुरु तो परमेश्वर भगवान् ही है, पर वे दृष्टिगोचर नहीं हैं। गुरु सदैव आँखों के आगे रहते हैं और साधक पल-पल में उनकी अनुभूति से लाभ उठाता है। अपने सामने एक महती सत्ता की अनुभूति साधक को अंहकार से बचाने वाली है। गुरु का महत्त्व साधना-पथ में इसीलिए अनिवार्य माना गया है। यही गुरु उस परमगुरु से मिलाने वाला है। पर यह गुरु वस्तुतः गुरु हो, जो न तो स्वयं स्वर्ग का राज्य चाहता है, और न अपने शिष्य को ही उसके ऐश्वर्यों की ओर ले जाना चाहता है। गुरु और शिष्य दोनों ही केवल उसके दर्शनों के अभिलाषी हों जिसकी प्रेम-तरंगें प्राणिमात्र को अपनी ओर आकर्षित कर रही हैं। यह सत्ता निखिल सत्ताओं की मिति है, चेतनों मे चेतन है, देवों में देव और ज्योतियों की ज्योति है।

'पार्वती महेश खंड' में जब पार्वती सुरूपा अप्सरा बन कर रतनसेन के सामने मोहक चकाचौंध उत्पन्न करने लगी, तो रतनसेन ने साधक की दृष्टि से उसे उपयुक्त उत्तर देते हुए कहा था :—'अप्सरे, भले ही तू सुन्दरी हो, अनुपमेय स्वर्ग की निधि हो, पर मुझे तो पद्मावती के अतिरिक्त अपने ध्येय से पृथक् कोई भी अन्य आकर्षक प्रतीत नहीं होता। और मैं जो उसके स्मरण में मरा जा रहा हूँ, उसका लाभ तो तू स्वयं अपनी आँखों से देख रही है। देख, मैं अभी उसके लिए प्राण दे भी नहीं पाया, अभी तो केवल कष्ट सहन कर रहा हूँ। तप की ज्वाला को झेल रहा हूँ। इतने में ही तेरी जैसी अप्सराएँ मेरी सेवा में आकर खड़ी हो गयीं। यदि प्राण दे दूंगा, तो स्वर्ग में क्या बीतेगी, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है[१]।

साधक का लक्ष्य वही परमसत्ता होनी चाहिए। स्वर्ग लेकर वह क्या करेगा ?[२] पार्थिव सुखों की भाँति स्वर्गिक सुखों की भी एक सीमा है। साधक का सुख, उसका चरम आनंद तो प्रभु की प्राप्ति है। यह एकनिष्ठ प्रेम से ही संभव है जो स्वर्ग-सुख को भी निकट खींच लाता है। हाँ, साधक उसके आकर्षण-पाश में आबद्ध नहीं होता। गुरु-कृपा उसे प्रभु-कृपा तक पहुँचा देती है जिससे वह प्रभु-प्रेम को भगवद्भक्ति को भक्ति-मुक्ति दोनों के ऊपर प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो जाता है।

१—माथे रंभ समुद जस होई। भै परलय नियराना जबहीं।७

२—एही ठांव सांकर सब काहू।७

३—एही समुद आये सत डोला।७

४—एही ठांव कहं गुरु संग लीजिय। ७

ऊपर जिन विघ्नों तथा विघ्न-जन्य क्लेशों की ओर संकेत किया गया है, वे सभी साधकों की अनुभूति के विषय हैं। इन क्लेशों से साधक घबड़ाता नहीं है। गुरु ने उसके अन्दर प्रभु-वियोग की जो चिनगारी डाल दी है, उसको सुलगाने, प्रज्ज्वलित करने में वह लगा रहता है। क्लेशों का वरण मानों इस चिनगारी को जाज्वल्यमानरूप देने में उसका सहायक बनता है। जो सहायक है, उसे तो अपनाया ही जाता है, दुतकारा नहीं जाता। लौकिक वियोगी भले ही क्लेशों से भयभीत हो, पर परमार्थ-प्रेमी तो वियोग की अनुभूति को ही अपना सर्व प्रमुख सहारा समझता है। अतः वियोग की अनुभूति में आ जाने वाले क्लेशों का भी वह स्वागत करता है। वियोग को दूर करने वाले जितने साधन हैं, वे सब उसे प्यारे हैं। जो आवरण उसे प्रभु के सम्मुख जाने से रोकते हैं, उन्हें तो हटाना ही पड़ता है। तिल-तिल जलते हुए, आवरण के एक-एक अवयव को चीरते हुए, उसे अपने प्रिय के पास पहुँचना है। षडरिपुरूपी छः समुद्र पार करके अंत में रतनसेन भी सत के प्रशान्त मानसर में पहुँच ही गया।

विघ्न तो आते ही रहते हैं, पर जो साधक हिम्मत छोड़ देगा, वह घुन की भाँति सूखा काठ ही खाता रहेगा, पर भ्रमर की भाँति जो एक लगन से चलता रहेगा, उसे कमल रस-रूप आनन्दमय प्रभु का आनन्दास्वाद प्राप्त होगा ही। सत्वगुण रूपी मानसरोवर की प्रशान्त स्थिति तम तथा रज के अंधकार रात्रि की कालिमा और मोह, द्रोह आदि बटमारों की चोटों से बचाने वाली है। वहाँ निर्मल प्रकाश की किरणें हैं। जिनके पड़ते ही साधक 'अस्ति-अस्ति' का भान करने लगता है। इसी मानसर में साधक को अपने से पूर्व सिद्धि प्राप्त करने वाले सिद्धों, हंसों, मुक्तात्माओं के दर्शन होते हैं। साधकों की अपनी साधन सम्पत्ति भी भिन्न-भिन्न स्तरों की होती है। कोई अधिक संस्कारी होते हैं, कोई कम, कोई ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास में चले जाते हैं, कोई गृहस्थ, वानप्रस्थ की साधना के उपरान्त। ब्रह्मचर्य में भी कोई आठ वर्ष ही में संन्यास लेते देखे गये हैं। अपनी-अपनी अर्जित सम्पदा के ही अनुकूल सिद्धि के अवसर आते हैं। इसी हेतु जायसी ने लिखा है—

कोई दिन मिला सवेरे, कोई आवा पछराति।
जाकर जस,जस साज हुत, सो उतरा तेहि भाँति॥ १

यहीं आत्मज्ञान होता है और यहीं से परमात्माप्राप्ति। धन्य है वह वियोगानुभूति जो साधक को क्लेश, कष्ट, दुख-दाह सबसे पार करती हुई उसके प्रिय से मिला देती है।

जो अस आव साधि तप जोगू।
पूजै आस, मान रस भोगू॥

१—पार्वती महेश खंड, दोहा ४

२—हौं कविलास काह तैं करऊँ। दोहा ४

लोककवि गोस्वामी तुलसीदास

[डॉ० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ]

भारतीय साहित्य के अंतर्गत जितना व्यापक प्रचार गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस या रामायण का हुआ है, उतना संभवतः और किसी भी ग्रन्थ का नहीं। जब से यह पुस्तक लिखी गयी, तब से अब तक इसके न जाने कितने संस्करण हो चुके हैं और दिनों दिन इसका प्रचार बढ़ता ही जाता है। इसे देश क्या विश्व की सर्वाधिक प्रिय पुस्तक कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं। इसके कई अंग्रेजी अनुवाद हो चुके हैं। अभी हाल में रेवरेंड एटकिन द्वारा एक काव्यानुवाद हुआ है जो अति सुन्दर है। रूसी भाषा में तीन-चार साल पहले प्रसिद्ध विद्वान् बरान्नीकोव ने इसका पद्य-बद्ध अनुवाद किया था जो बड़ा ही लोकप्रिय हुआ। संस्कृत में भी इसका अनुवाद हुआ है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका प्रचार निर्धन की कुटी से लेकर राजमहलों तक है। साधारण शिक्षित या बेपढ़े लोगों को भी उत्तरी भारत में यह कंठस्थ है और विद्वान् तक इसका मनन करते हैं। एक साथ इतनी सरल होते हुए भी इतनी गूढ़, जीवनोपयोगी होते हुए भी इतनी दार्शनिक तथ्यों से पूर्ण, उपदेशात्मक होते हुए भी कवित्वपूर्ण पुस्तक विश्व-साहित्य में दुर्लभ है। यह पुस्तक भारतीयों के लिए वरदान स्वरूप है। इसने दासता के युग में भी उनकी सांस्कृतिक एवं चारित्रिक उच्चता की रक्षा की। इसमें एक समग्र जीवन की लोकोपयोगी कल्पना की गयी है। इसके रचयिता हैं, गोस्वामी तुलसीदास, जो मध्यकालीन भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के साथ आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में भारतीय संस्कृति का एक प्रामाणिक एवं सर्वग्राह्य स्वरूप अंकित किया है। प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ कवि कालिदास और अर्वाचीन भारत के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर माने जाते हैं। इनका काव्य अपने युगानुकूल संस्कृति के चित्रण में अत्यन्त उत्कृष्ट है। गोस्वामी तुलसीदास में काव्य संबंधी उत्कृष्टता के साथ जो जीवन दर्शन विद्यमान है, जो संदेश उनकी कृतियों में ध्वनित हो रहा है, वह हमें एक विशेष सान्त्वना तो प्रदान करता ही है, समाज और राष्ट्र के निर्माण में सहायक भी है। कालिदास महान् कवि हैं, पर वे लोक-कवि नहीं बन सके, वे भारतीय राष्ट्र के निर्माता महात्मा गाँधी जी को प्रेरणा नहीं दे सके। तुलसीदास ने उनको भी प्रेरणा दी। साथ ही साथ विद्वान् कवि, दार्शनिक सभी को

वे महान् संदेश देते हैं। इसलिए यदि हम कहें कि वे सर्वश्रेष्ठ भारतीय कवि हैं, तो यह अत्युक्ति नहीं है।

तुलसीदास के काव्य में कई सर्वश्रेष्ठ विशेषताओं का समन्वय हुआ है जो उनकी लोकप्रियता का कारण है। उन्होंने अपनी महान् कृति का निर्माण समस्त उपलब्ध श्रेष्ठ साहित्य के आधार पर किया है और उसमें केवल साहित्यिक तत्व ही नहीं वरन् जीवन के अन्य पक्षों—जैसे आचार, धर्म, संस्कृति, राजनीति, आदि का प्रामाणिक एवं व्यावहारिक रूप में समावेश है। गोस्वामी जी की कला लोक-काव्य की स्वाभाविकता और साहित्यिक परम्परा दोनों के समन्वय पर आधारित है। उक्ति वैचित्र्य के साथ सरलता, लालित्य के साथ सर्वग्राह्यता, लोकानुभव पर आधारित अलंकृत नाटकीय तत्वों के साथ वर्णन-प्रवाह, पौराणिक व्यापकता और विशदता के साथ महाकाव्य का सा संगठन और सामंजस्य, विवरण के साथ औचित्य, शब्दों के सूक्ष्म सांकेतिक एवं सार्थक प्रयोग के साथ उदात्त प्रेरकता और रमणीयता, सब मिलाकर उनकी संपूर्ण रचना में एक अद्भुत प्रभाव भर देते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने जीवन के किसी अंग विशेष का चित्रण ही नहीं किया, वरन् उसका संपूर्णता के साथ दिग्दर्शन कराया है। जीवन की सुकुमारता और स्निग्धता के साथ उग्रता और भीषणता, मधुरता के साथ कटुता, करुणा के साथ निष्ठुरता, संकीर्णता और स्वार्थ के साथ उदारता और त्याग, मोह के साथ उदासीनता, शांति के साथ जीवन का हाहाकार—सब मिलाकर न केवल हमारा मनोरंजन करते हैं वरन् विविध अनुभवों से हमारे अन्तस् को समृद्ध कर देते है। उनके द्वारा वर्णित कथा मे कही जीवन की विषम और भीषण परिस्थितियाँ कर्त्तव्य, धर्म, स्नेह, और मर्यादा को निगल जाने के लिए तैयार हैं तो कहीं उसका सरल, स्निग्ध और भोला रूप हमारी समस्त कुटिलता को गलाकर बहा देने की विशेषता रखता है। उसमें कहीं विषाद का हाहाकार है, तो कहीं उल्लास की हंसी और आनंद का अजस्र प्रवाह भी। कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें जीवन अपने समस्त रूपों और रसों में प्रवहमान है।

गोस्वामी जी सिद्धरस कवि हैं। लोक मानस का उन्हें यथार्थ ज्ञान है तथा उसको प्रेरित, प्रभावित और भावमग्न, करने में वे पूर्णतया समर्थ हैं। साधु, असाधु, सरल, कुटिल, स्निग्ध, कठोर, सबके भावों के चित्रण करने में वे दक्ष हैं। प्रेम, करुणा, वीरता, उल्लास, क्रोध, भय आदि भावों में बहा देने की सामर्थ्य उनमें विद्यमान है। सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव-तरंग को संचारित करने की कुशलता उनके शब्दों में है। वे केवल प्रेरक और उत्तेजक नहीं वरन् भाव संस्कारक भी हैं। शृंगार का विशद और स्वाभाविक वर्णन करते हुए भी वे मर्यादापूर्ण हैं। सभी रसों का परिपाक और भावों का विशद चित्रण उनकी कृतियों में देखा जा सकता है।

भाव एवं रस का चित्रण करते समय तुलसीदास जी व्यक्तित्व या परिस्थितियों का जो सजीव रूप सामने रखते हैं, वह कल्पना और अनुभूति पर प्रभाव की रेखाओं

उनकी ब्राह्मणत्व-सुलभ पर-दुःख कातरता का स्मरण भी कराती हैं। संभव है अन्य सन्त-कवियों ने भी इस प्रकार के भ्रमर-गीत लिखे हों क्योंकि विरह-निवेदन की प्रवृत्ति सभी सन्त-कवियों में पायी जाती है।

आधुनिक युग में भ्रमर-गीत काव्य

आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रघुनाथ दास रामसनेही, प्रागनि, हरि विलास, कविरत्न सत्यनारायण, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर', मैथिली शरण गुप्त, डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र, लाला हरदेव प्रसाद, श्यामसुन्दर लाल दीक्षित तथा राज राजेश्वरी प्रसाद सिंह आदि कवियों ने भ्रमर-गीत सम्बन्धी काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। भारतेन्दु के विषय प्रतिपादन में किसी प्रकार की नवीनता नहीं लक्षित होती। उनकी अनुभूति-जन्य-मार्मिकता ही उनकी मौलिकता है। उद्धव के अधिक आग्रह करने पर भारतेन्दु की गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव! हम आपकी बात मान लेती हैं किन्तु इन आँखों को कौन मनावेगा ?

"व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन है हमहूँ पहिचानति हैं।
पै बिना नँदलाल बिहाल सदा हरिचन्द न ज्ञानहिं ठानति हैं।
तुम ऊधो यहै कहियो उनसों हम और कछू नहिं जानति हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानति हैं।"

श्री रघुनाथ दास राम सनेही के 'विश्राम सागर' में भ्रमर-गीत का प्रसंग आया है। इसकी नवीनता इतनी ही है कि उद्धव स्वयं राधा से मिलने के लिए वृषभानु की पुरी में जाते हैं। इसका प्रतिपाद्य विषय वही है जो अन्य भ्रमर-गीतों का। ग्रन्थ दोहे-चौपाई में लिखा गया है। प्रागनि कवि के 'भ्रमर-गीत' में उद्धव सबसे पहले माता यशोदा से मिलते हैं। यशोदा कुशल-क्षेम पूछ रही थीं उसी समय नन्द आ गये। माता यशोदा राधा की विकलता जानती थीं। वे स्वयं उद्धव को, राधा को समझाने के लिए उसके पास भेजती हैं। विषय का प्रतिपादन अन्य भक्त कवियों जैसा ही है। हरिविलास जी के 'विष्णुगीत' में भ्रमर-गीत का प्रसंग आया है। कवि ने मुख्यतः भागवत के आधार पर ही कथा का विस्तार किया है। रचना पदों में प्रस्तुत हुई है फिर भी उसमें प्रबन्धात्मकता है। विरह की मार्मिक अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसमें कुछ पद खड़ी बोली में भी रखे गये हैं जिनमें उर्दू-फारसी शब्दों की भरमार है। कविरत्न सत्यनारायण ने भ्रमरगीत के प्रसंग को नवीन राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। भारतेन्दु युग से ही नवीन जागृति कवि मानस को प्रभावित करने लगी थी। भारतेन्दु के नाटकों और निबंधों में नवीन जन-जागरण की भावना लक्षित होती है। आगे चलकर यह भावना समूचे हिन्दी साहित्य में छा जाती है। कविरत्न के भ्रमर-गीत में न गोपियाँ आती हैं न उद्धव। भोली-भाली माता यशोदा का वात्सल्य वियोग ही इस रचना का केन्द्र बिन्दु है। यशोदा का विरह-सन्देश वायु

के घोड़ों पर भगवान् कृष्ण तक पहुँचता है और कृष्ण का मन मानो भँवरे के रूप में माता के समीप आ जाता है—

"विलपति कलपति अति जबै लखि जननी निज स्याम।
भगत भगत आए तबै भाए मन अभिराम
भ्रमर के रूप में ॥"

माता यशोदा उसी के माध्यम से कृष्ण को सन्देश भेजना चाहती हैं। जननी के हृदयोद्गार जन्मभूमि के उद्गार बन जाते हैं। कवि अतीत की पीठिका पर आधुनिक दुर्दशा का चित्र अंकित करता है। इस प्रकार कथा-प्रसंग की मौलिकता एवं भावनाओं की नवीनता की दृष्टि से कविरत्न का 'भ्रमरगीत' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' में भ्रमर-गीत का प्रसंग विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया गया है। हरिऔधजी नवीन बौद्धिक जीवन-चेतना एवं सुधारवादी आन्दोलन से पर्याप्त प्रभावित थे। अतः उनके भ्रमर-गीत में भी कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ है। कृष्ण उद्धव को व्रज-धरा की व्याकुलता दूर करने के लिए भेजते हैं उनका ज्ञान-गर्व चूर्ण करने के लिए नहीं। राधा के लिए अलग संदेश भेजा जाता है। मार्ग में उद्धव व्रजभूमि की छटा देख कर मुग्ध होते हैं और उन्हें अपने ज्ञान पर अविश्वास होने लगता है। पहले वे नन्द-यशोदा से मिलते हैं। गोपियाँ उद्धव के आगमन का समाचार जानकर कुल-बधुओं की तरह मर्यादित ढंग से एक-एक कर आती हैं, एकबारगी दौड़ नहीं पड़तीं। राधा के व्यक्तित्व में कवि ने बहुत परिवर्त्तन कर दिया है। वह एक गौरवमयी नारी और अन्त में आदर्श देवी के रूप में चित्रित की गयी हैं। कवि ने गोपों के लिए भी कृष्ण-सदेश की योजना की है। गोपियाँ और राधा उद्धव और कृष्ण पर व्यंग्य नहीं करतीं। कवि ने भ्रमर का प्रवेश कराया है किन्तु गोपियाँ उसकी निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हैं और पिकी के द्वारा अपना सन्देश भेजती हैं। कवि में लोक-संग्रह की प्रवृत्ति प्रधान रूप से कार्य करती रही है, इसलिए वह राधा को अपने व्यक्तिगत दुख से अधिक दुखी न दिखा-र व्रज-वासियों के लिए संतप्त दिखाता है। कवि के काव्य का मूल्यांकन युग की नवीन सुधारवादी प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में ही किया जा सकता है।

बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने 'भ्रमरगीत' के परम्परागत रूप में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है। किन्तु यह परिवर्तन उसके शरीर में हुआ है आत्मा में नहीं। कवि ने 'उद्धव शतक' नाम से प्राचीन आख्यान को प्रस्तुत करते हुए कल्पना-बल से कथानक में पूर्णता, एकसूत्रता और नाटकीयता का समावेश किया है। यमुना की चंचल लहरियों में बहते हुए एक कमल-पुष्प को भगवान् कृष्ण निकाल लेते हैं। पुष्प की गंध राधिका की स्मृति सजोव कर देती है। वे अनमने हो जाते हैं। इसी बीच उद्धव उनके पास आते हैं और उनकी चिन्ता का कारण पूछते हैं। कृष्ण रो पड़ते हैं। उद्धव उनकी व्यथा अपने ज्ञानमय उपदेशों से दूर करना चाहते हैं। उद्धव के अधिक समझाने पर कृष्ण इतना ही कहते हैं—

आवो एक बार धारि गोकुल गली की धूरि
तव इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।

उद्धव व्रज पहुँचते हैं। गोपियाँ उन्हें घेर लेती हैं। उनकी विह्वलता औत्सुक्य का बड़ा ही सजीव वर्णन रत्नाकर ने किया है। उद्धव निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं। गोपियाँ उनकी बातों पर ध्यान नहीं देतीं। वे जानना चाहती हैं—

जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट छाहिं माहि
पाँसुरी उमाँहि कबौं बाँसुरी बजावै हैं।

अब भी उद्धव अपना राग अलापते रहते हैं। गोपियाँ गम्भीर हो जाती हैं और तर्क करती हैं—

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम
तौ हू हमैं भावति ना भावना अन्यारी की।
जैहै बनि बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूंदता बिलैहै बूंद बिवस बिचारी की।

गोपियों की दृढ़ता और प्रेम विह्वलता से उद्धव का ज्ञान गर्व चूर्ण हो जाता है। जब वे बिदा होकर मथुरा के लिए प्रस्थान करते हैं, तो—

रथ तैं उतरि पथ पावन जहाँ ही तहाँ
बिकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं।

इस भ्रमर-गीत में कथा का प्रारंभिक अंश—पुष्प-दर्शन से राधा की स्मृति, कृष्ण की चिन्ता, उद्धव की जिज्ञासा आदि—कवि की मौलिक उद्भावना है। इस प्रकार कवि कथा को एक क्रम-बद्ध रूप देने में सफल हुआ है। गोपियों के व्यक्तित्व में भागवत और सूर की गोपियों का भोलापन, नन्ददास की गोपियों की बौद्धिकता, तुलसी की मर्यादावादिता और रीतिकालीन कवियों की विरहाकुलता का समन्वित उत्कर्ष देखने को मिलता है। कृष्ण निष्ठुर और नीरस नहीं एक सहृदय प्रेमी के रूप में दिखाये गये हैं। नन्द और यशोदा को कवि ने मंच से अलग रखा है।

'द्वापर' काव्य में मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'भ्रमरगीत' का प्रसंग उठाया है। गुप्त जी के 'उद्धव' दूसरों की व्यथा समझने वाले किन्तु नीतिज्ञ हैं। वे भी ज्ञान और योग का ही उपदेश देते हैं जिसके उत्तर में गोपियाँ अपने वियोग को ही वरणीय बताती हैं।

ज्ञान योग से हमें हमारा यही वियोग भला है।
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप-गुण, नाट्य कवित्व कला है।

गोपियाँ वाक्पटु हैं और वे तर्क भी करती हैं—

'मिथ्या कैसे है माया भी जब तक वह मायावी'

राधा की ओर से सारा उत्तर गोपियाँ ही देती हैं। वे कहती हैं—

राधा हरि बन गई, हाय यदि हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव, मधुबन से उलटे तुम मधुपुर ही जाते॥

गोपियाँ कृष्ण पर न तो आक्रोश प्रकट करती हैं न उपालम्भ देती हैं वरन् उनकी निष्ठुरता का कारण राजनीतिक वातावरण है, ऐसा मानती हैं। वे निर्गुण-ज्ञान के विरोध में बड़ी ही भावनामयी उक्ति प्रस्तुत करती हैं।

बृन्दावन में नव मधु आया
मधु में मन्मथ आया।
उसमें तन, तन में मन, मन में
एक मनोरथ आया।
उसमें आकर्षण, हाँ, राधा
आकर्षण में आई।
राधा में माधव, माधव में
राधा मूर्ति समाई।

गोपियों और उद्धव की बात-चीत चलती ही रहती है कि इसी बीच एक विहंग आता है। गोपियाँ विहंग के माध्यम से गूढ़ व्यग्य करती हैं—

अरे विहंग लौट आ तेरा नीड़ रहा इस बन में,
छोड़ उच्च पद की उड़ान वह क्या है शून्य गगन में।

यह विहंग-कल्पना, गुप्तजी की मौलिक कल्पना है। राधा का प्रवेश कवि ने सबसे अन्त मे कराया है।

लो वह आप आ रही देखो
सखी - सखी चिल्लाती।
पर उद्धव, उद्धव, की ध्वनि भी
है यह कैसी आती ?

सब लोग देखते हैं—

'एक मूर्ति, आधे में राधा, आधे में हरि पूरे'।

इस प्रकार प्राचीन कथानक को आधार बनाकर गुप्तजी ने पूरे प्रसंग को नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है।

आधुनिक कवियों में रत्नाकरजी के बाद रीतिकाल की आत्मा को अपने व्यक्तित्व में सुरक्षित रखने वाले कवियों में प्रमुख स्थान डॉ० राम शंकर शुक्ल 'रसाल' का है। उनका उद्धव शतक अभी तक अप्रकाशित है। उसके सम्बन्ध में उन्होंने डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव को जो पत्र लिखा था उसकी निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

"प्रसंग तो वही है—इसमें विशेषता मैंने यह रखी है कि गोपियाँ पूरे तर्क के साथ ब्रह्मवाद को अन्यथा सिद्ध करती हैं और अपनी भक्ति और प्रेम को सिद्ध करती हैं। छन्दों में मौलिकता का पूरा विचार रखा गया है। कोई भाव कहीं से लिया या परिष्कृत नहीं किया गया, साथ ही कला पक्ष पर भी पूरा ध्यान रखा गया है।"[१] जब कृति

१ हिन्दी में भ्रमर-गीत काव्य और उसकी परम्परा, पृष्ठ ५३० पर उद्धृत

अप्रकाशित हो तो कवि की आत्म-विज्ञप्ति ही उसके विषय में कुछ भी जानने के लिए एक मात्र प्रमाण है।

कृष्ण काव्य-परम्परा में आधुनिक युग की श्रेष्ठ कृति पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' है। 'रामचरितमानस' के आदर्श पर रचित यह एक प्रबन्ध-काव्य है। इस महत्त्वपूर्ण कृति के मथुरा खंड में 'भ्रमरगीत' का प्रसंग आया है। इसमें भ्रमर के आने का कोई उल्लेख नहीं है। 'उद्धव' ने कृष्ण के मथुरा-निवास का समर्थन विचित्र और नवीन तर्कों द्वारा दिया है। वे कहते हैं कि जब मथुरा में कृष्ण मल्लों से युद्ध कर रहे थे तब कोई यदुवंशी सहायता के लिए आगे नहीं बढ़ा और अब जब वे कंस का संहार कर मथुरा के राजा हो गये हैं तो यदुवंशियों को उनसे सम्बन्ध जोड़ने की सूझी है। उद्धव को राधा के दर्शन बड़ी ही नाटकीय परिस्थिति में होते हैं। प्रातःकाल यमुना स्नान से लौटते समय वट-वृक्ष के नीचे वे मनमोहन कृष्ण को मुरली बजाते हुए और एक गोपी को उनके पदतल में पुष्पांजलि अर्पित करते हुए देखते हैं। क्षण भर में यह दृश्य उनके नेत्रों से ओझल हो जाता है। नंद के घर आकर वे देखते हैं कि वही गोपी यशोदा के समीप बैठी है। यशोदा उसका परिचय देती हुई कहती हैं कि यह कृष्ण-सखी राधा है। व्रज से चलते समय उद्धव कृष्ण के निर्गुण स्वरूप का उल्लेख करते हैं। मथुरा पहुँचने पर वंशीवट का उल्लेख आने पर कृष्ण उन्हें अपने और राधा के संबंध का ज्ञान कराते हुए कहते हैं—

एकहि मैं अरु राधिका, द्वैत-भाव भव भ्रान्ति।
व्रज जन समुझि रहस्य यह, लहिहैं पुनि सुख शान्ति॥

लाला हरदेव प्रसाद की 'ऊधौ पचीसी' में भ्रमर-गीत प्रसंग आया है। यह रचना साधारण है। कवि किसी प्रकार की मौलिकता नहीं ला सका है। श्यामसुन्दर लाल दीक्षित के 'श्याम सन्देश' में मौलिक उद्भावनाएँ मिलती हैं। यह तीन सर्गों में लिखा गया खंड काव्य है। कृष्ण के राजा होने पर मथुरा में उनके पूर्व जीवन नाटक के अभिनय का आयोजन होता है जिसे देख कर कृष्ण को व्रज की स्मृति हो आती है। दीक्षित जी के कृष्ण सहृदय और उदार हैं। इस दृष्टि से वे 'रत्नाकर' जी के कृष्ण के निकट हैं। राज राजेश्वरी प्रसाद सिंह ने स्फुट छन्दों में भ्रमर-गीत के प्रसंगों की अवतारणा की है। इनकी रचना सामान्यतः अच्छी है। प्रसंगोद्भावना में किसी प्रकार की नवीनता नहीं लक्षित होती।

लेखक को डॉ० भगवती प्रसाद सिंह एम० ए०, डी० लिट् की कृपा से भ्रमर-गीत की एक ऐसी प्रति देखने को मिली जिसका उल्लेख अभी तक किसी भी प्रकाशित ग्रन्थ में नहीं हुआ है। पुस्तक का नाम 'भ्रमर-गीता दोहावली' है। रचयिता जयसिंह हैं। डॉ० सिंह का अनुमान है कि यह मिर्जा राजा जयसिंह ही होंगे। पुस्तक ९७ दोहों में समाप्त हुई है। लिपि-काल संवत् १८६६ वि० है। कृष्ण अपने सखा उद्धव को ब्रह्म-ज्ञान की शिक्षा देने के लिए गोपियों के पास भेजते हैं—

उधौ ब्रज लौं जाइकै बड़ो एक जस लेहु।
ब्रह्म ज्ञान सखियान कौं सखा सिखावन देहु॥

उद्धव पहले नन्द और यशोदा के पास आते हैं। उनका समाधान करते हैं। वहीं गोपियाँ बुलाई जाती हैं। गोपियों को उद्धव निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं—

रूप न देख अलेख है मन बुधि चित को पार।
दूरि नहीं भरि पूरि है आतम ज्ञान विचार॥

जयसिंह की गोपियाँ समानान्तर तर्क करती हैं—

घट - घट एकै ब्रह्म तौ काहि करत उपदेश।
किन पठयौ तुम कौन हौ कासों कहत संदेश॥

गोपियों के प्रेम की दृढ़ता देखकर उद्धव का हृदय परिवर्तित हो जाता है। गोपियाँ भी अन्ततः कृष्ण की मंगल-कामना करती हुई कहती हैं—

हम हारी कुबिजा जिती तुम जीते जगदीश।
जहाँ रहैं हरि तहँ रहै जीते कोटि वरीश॥

मथुरा लौटने पर उद्धव विस्तार पूर्वक ब्रज-वासियों, विशेषतया गोपियों की करुण अवस्था का चित्र खींचते हैं। कृष्ण का हृदय व्यथित हो जाता है। उनके नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं—

सुनि-सुनि बातैं तियनि की भरि-भरि नयनन नीर।
फिरि फिरि पूछैं फिरि सुनैं धरि धरि हरि मन धीर॥

और अन्त में वे कहते हैं कि हे सखा! मेरी इच्छा गोपियों के प्रेम की परीक्षा लेने की थी जिसमें वे खरी उतरी हैं।

इस भ्रमरगीत में भ्रमर का प्रवेश नहीं कराया गया है। कथा के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। प्रेम की विजय दिखाना इसका भी उद्देश्य रहा है। कृष्ण का व्यक्तित्व निष्ठुर नायक का व्यक्तित्व नहीं रह सका है। दोहे छन्द में रचित होने के कारण संगीतात्मकता, तन्मयता एवं आवेगपूर्ण भाव प्रकाशन का अभाव स्पष्ट लक्षित होता है। संभव है भ्रमरगीत-प्रसंग पर इस प्रकार की छोटी-मोटी रचनाएँ और भी इधर-उधर बिखरी हुई हों जिनकी उपलब्धि इस परम्परा की लोकप्रियता, काव्यानुकूलता और दीर्घकालीन एकसूत्रता सिद्ध करने में सहायक सिद्ध होगी।

उपसंहार

भ्रमर-गीत की कल्पना और उसकी भावभूमि इतनी मार्मिक है कि आज भी अनेक कवि उसे काव्य-विषय बनाने में अपना सौभाग्य समझते हैं। हिन्दी काव्य-परम्परा के अन्तर्गत कथा की रमणीयता, प्रसंग-कल्पना की नाटकीयता, दार्शनिक तत्त्वों के समावेश, साधनाओं के औचित्य-निर्णय, विरह-व्यथा, चित्रण की विशदता, उपालम्भ एवं व्यंग्य काव्य की चमत्कारिकता, संदेश-काव्य-रूढ़ि के निर्वाह, संवाद-शैली की मनोरमता आदि

अनेक दृष्टियों से भ्रमर-गीत-काव्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भ्रमर-गीतों का अध्ययन समाज-शास्त्रीय दृष्टि से भी हो सकता है। सामन्तवादी सामाजिक ढाँचे में नारी की स्थिति कितनी निरीह थी इसका सुन्दरतम चित्रण हिन्दी-भ्रमर-गीत काव्य-परम्परा में मिलता है। हिन्दी-साहित्य में आज भी यह परम्परा जीवित है। व्रजभाषा में काव्य-रचना करने वाले कवियों के लिए तो यह प्रेरणा का अक्षय स्रोत है। तथा-कथित नयी कविता, जो यथार्थता, मनोवैज्ञानिकता, आधुनिकता और नवीनता में विश्वास करती है, के विकास के साथ भ्रमर-गीत काव्य-परम्परा का भविष्य भी अंधकारमय हो गया है। निश्चित है कि अब आख्यानक काव्य या कथा की क्षीण धारा पर आधृत लम्बे गीतिकाव्य नहीं लिखे जायँगे। आधुनिक युग की मुक्त और स्वतंत्र नारी को उपालम्भ देने की आवश्यकता भी नहीं रह गयी है। अब उसे पुरुष की निष्ठुरता का रोना नहीं रोना है, अतः भ्रमर-गीत की प्राचीन काव्य-रूढ़ि का निर्वाह अब सम्भव नहीं दिखायी देता।

रीति-कालीन काव्य की विशेषताएँ

[डॉ० व्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ]

रति मानव-हृदय की एक प्रमुख वृत्ति है। प्रकृति ने इस वृत्ति का सूत्रपात कर के मानव-जाति को अनन्त काल तक सुरक्षित रखने का आयोजन किया है। इस रति की प्रवृत्ति के अन्तर्गत केवल नर-नारी का वह आकर्षण ही नहीं है जो सृष्टि का मूल उद्गम है, वरन् यह रति भावना मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व जमाये है। वात्सल्य, आदर, श्रद्धा, मैत्री, भक्ति, विनय आदि अगणित रागात्मक वृत्तियों के मूल में इसी की स्थिति है। सांसारिक जीवन इसी रति भावना की प्रेरणा से संचालित होता है। परिवार, समाज, राष्ट्र, देश अथवा जगत् के प्रति मनुष्य का सम्बन्ध तथा सहानुभूति उससे नाना प्रकार के कार्य करा लेते हैं। अपनी रति-भावना को तुष्ट करने के लिए मनुष्य अनवरत दौड़-धूप करता है और अपनी रागवृत्ति के आलम्बन को प्रसन्न देखकर संतुष्ट होता है। माता-पिता, स्त्री-पुत्र, मित्र-सम्बन्धी, शासकवर्ग, उपास्य देव आदि के प्रति अपना कर्त्तव्य करके एक ओर तो वह स्वयं संतोष-लाभ करता है और दूसरी ओर उन्हें भी प्रसन्न देखकर आनन्दित होता है। यही इस रति-भावना का मूल रहस्य है। मानव-हृदय में स्थाई रूप से स्थित यह रति भाव जब तुष्ट होता है, तब मन को अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है; वह रसमग्न हो जाता है। रसानुभूति की इसी स्थिति को साहित्य-शास्त्रियों ने शृंगार कहकर पुकारा है।

काव्य मानव-हृदय की अनुभूतियों की व्यञ्जना है। जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं मानव-राग-विराग के मूल में उसकी रति-भावना विद्यमान है, अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से इस रति-भावना का न्यूनाधिक सम्पर्क स्वाभाविक ही है। इस प्रकार शृंगारानुभूति के लिए मनुष्य के सम्मुख पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान है।

हिन्दी-साहित्य का आदि युग यद्यपि वीरगाथा अथवा चारण-काव्य काल के नाम से अभिहित किया गया है तथापि यह निर्विवाद है कि तत्कालीन संघर्षों के मूल में सदैव कोई न कोई प्रेम अथवा विवाद की समस्या उठ खड़ी हुई है। युद्ध का कारण राज कन्या अथवा राजकुमारी की प्राप्ति के लिए युद्ध उस समय की परिस्थितियों में प्रधान थे। तत्कालीन कवियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों के लीला-विलास का बड़ा ही व्यापक तथा विशद वर्णन किया है। भक्तियुग में कवियों ने देवविषयक रति

के अनेक रूपों का चित्रण किया है, निर्गुण-पन्थी कबीर भी अपने को 'राम की बहुरिया' स्वीकार करने का लोभ संवरण न कर सके। जायसी की पद्मावती तो सौन्दर्यमूर्ति है ही और रत्नसेन 'प्रेम की पीर' द्वारा ही उसकी उपासना करता है। मर्यादा-वादी तुलसी भी राम के कोटि काम-निन्दक स्वरूप का चित्रण करके अपने आपको ग्राम-बधूटियों के वर्ग में सम्मिलित करने से न रोक सके। सूर तो शृंगार-मूर्ति थे ही, उनके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं। संक्षेपतः यह स्पष्ट है कि शृंगार की अबाध धारा हिन्दी साहित्य के आरम्भ से ही काव्य में प्रवाहित होती रही है। जिन्हें हम चारण अथवा भक्ति युग कह कर पुकारते रहे हैं उनमें भी यह शृंगार-वृत्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ छिटकी हुई दृष्टिगत होती है और इसके बाद वह युग आता है जिसे विद्वानों ने अलंकृतकाल, रीतिकाल, कलाकाल अथवा शृंगार काल की संज्ञा प्रदान की है। उक्त नामों पर दृष्टिपात करने से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस युग में अलंकरण, रीतिशैली, कलात्मकता अथवा शृंगार भावना का ही प्राधान्य रहा। उक्त चारों प्रवृत्तियों का इतना अधिक संतुलन इस युग में देखा जा सकता है कि किसी एक के आधार पर युग का नामकरण भी किया जा सकता है। मिश्र बन्धुओं ने इसे अलंकृत काल कहा किन्तु उनका तात्पर्य अलंकरण के व्यापक अर्थ से रहा जिसके अन्तर्गत दशांग कविता आ जाती है। रीति को उसी के अन्तर्गत लिया जाता है। आचार्य शुक्ल का दिया हुआ नाम 'रीतिकाल' यद्यपि तत्कालीन लक्षण उदाहरण-शैली की प्रमुख प्रवृत्ति को व्यक्त करता है तथापि रीतिबद्ध शैली से इतर रचनाएँ इस नाम द्वारा उपेक्षित होती हैं। शृंगार-काल नाम तत्कालीन सारी कृतियों को समेट कर चलता है। पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र द्वारा प्रदत्त इस नाम की सार्थकता तथा व्यापकता को आचार्य शुक्ल ने भी स्वीकार किया था और अपने साहित्य के इतिहास के अन्तिम संस्करण में उन्होंने कहा है :—

"वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगार-काल कहे तो कह सकता है।" (हि० सा० का इतिहास, पृ० २६८)।

हम समझते हैं कि यह नाम युग की प्रवृत्ति को पूर्ण सफलता के साथ व्यक्त करता है, अतः यदि इसे यही नाम प्रदान किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। शृंगार की वृत्ति तत्कालीन समाज तथा वातावरण की व्यापक वृत्ति थी। कवि वर्ग ने इस वातावरण से पूर्णतः प्रभावित होकर रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्ति काव्य की रचना की थी। काव्य का कोई भी अंश इससे अछूता नहीं है, अतः शृंगार के आधार पर युग का नामकरण पूर्णतः उपयुक्त है।

शृंगार-काल की काव्य-विशेषताओं पर दृष्टिपात करने के पूर्व यदि तत्कालीन परिस्थितियों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाली जाय तो विषय अधिक स्पष्ट हो सकेगा। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि यह सौन्दर्योपासना का युग था। अकबर और

शाहजहाँ के समय में काव्य, कला, संगीत आदि की जो उन्नति हुई उसके द्वारा जनता की रुचि का पर्याप्त परिमार्जन हुआ। यद्यपि औरंगजेब के युग में कला को वह प्रश्रय प्राप्त नहीं हो सका तथापि परम्परागत काव्य तथा कला की पूजा थोड़ी बहुत चलती रही। कवियों और कलाकारों को दरबार में आश्रय प्राप्त होता था। काव्य-रचना से उनकी जीविका चलती थी। शासक कला प्रेमी थे अतः उनकी रुचि के अनुकूल कवियों को भी रचनाएँ करनी पड़ती थीं। अलंकरण तथा विलास शासक-वर्ग की रुचि थी। सम्राटों का धन इसी में व्यय होता था अतः कवियों का काव्य भी अधिकांशतः अलंकृत तथा कामक्रीड़ा की कथाओं से परिपूर्ण रहता था। राजकोष का सारा धन कला-पूजा में व्यय होता था। सुन्दर महल, वस्त्राभूषण, भरे-पुरे रनिवास, नृत्य, संगीत, चित्रकला, मादक द्रव्य, सुस्वादु भोजन, हास्य-विनोद आदि के वातावरण ने शासक-वर्ग को जन साधारण के जीवन से बिल्कुल विच्छिन्न कर रक्खा था। जन-साधारण से यदि उनका कुछ सम्पर्क था तो यही कि वे राजकर एकत्र करते थे और उनके लिए विलास की सामग्री जुटाते थे; अन्यथा उनके साथ कठोर व्यवहार होता था और उन्हें कठिनता से पेट भर भोजन प्राप्त होता था। जन-साधारण की शिक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध न था। बालविवाह तथा बहुविवाह की प्रथा समाज में प्रचलित थी। सुन्दरी दासियाँ खोज-खोज कर सम्पन्न लोगों की सेवा में उपस्थित की जाती थीं, इसके लिए धन भी व्यय किया जाता था। अमीरों के लड़के वेश्याओं तथा हिजड़ों की संरक्षता में शिक्षा पाते थे और उनमें नैतिक आदर्शों का पूर्ण अभाव था। ऐसी परिस्थिति में कला-प्रेम यदि पूणतः वासनात्मक हो जाय तो आश्चर्य ही क्या? फलतः कला का आलम्बन नारी बन बैठी।

नारी का साँगोपांग चित्रण कलाकारों का आदर्श बना, उसके जीवन के एक-एक पक्ष का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण करके कविवर्ग अपनी तथा अपने प्रभुओं की मानसिक वासना को तृप्त करने लगा। दरबार के कृत्रिम वातावरण में नारी का रूप सर्वाङ्गीणतः अलंकृत तथा अलौकिक हो उठा। वह केवल भोग की वस्तु बनकर अपने उपासकों के सम्मुख उपस्थित हुई। मुगल साम्राज्य के शिथिल होने के साथ-साथ अनेक हिन्दू सरदार स्वतन्त्र होकर प्रबल हो उठे थे। यद्यपि उन्हें मुक्त होने का अवसर मिला था तथापि उनकी स्वतन्त्रता, मुक्त-विलास तक ही सीमित थी। मुगल सम्राटों का आदर्श उनके सम्मुख था। "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" उनका मूल मन्त्र बन चुका था और उन्हीं के समान खा-पीकर सुखी होने को ही वे जीवन का लक्ष्य समझने लगे थे। अधिकार-लिप्सा के कारण उनमें संघर्ष होते रहते थे और उनके जीवन में आपस की फूट वीरता का मिथ्याभिमान बन बैठी थी। उनके आश्रित कवि भी उनकी रुचि के अनुकूल उनकी इस वीरता की मिथ्या प्रशंसा कर देते थे। उन्हें इन्द्र, कार्तिकेय आदि की पदवी प्रदान करते रहते थे। इस संघर्षमयी परिस्थिति की अस्थिरता का विचार करते हुए कविवर्ग 'नौ नगद न तेरह उधार' के सिद्धान्त पर चलना चाहता था।

अपने प्रभुओं को चमत्कार-पूर्ण पद्यों से रिझाकर तत्काल पुरस्कार प्राप्त कर लेने में ही वह अपना कल्याण समझता था, अतः दोहे, छप्पय, कवित्त, सवैया आदि छन्दों को लेकर मुक्तक शैली का प्रचलन प्रधान रूप से हो गया। इस मुक्तक शैली में कवियों को अपनी कला का प्रदर्शन करने का पर्याप्त अवसर रहता था। अकबर ने स्वयं सवैया छन्द में रचना की थी। सम्राट् औरंगजेब, बहादुरशाह, मुहम्मदशाह तथा अवध के नवाब वाजिद अलीशाह जैसे शासक केवल कलाप्रेमी ही नहीं वरन् स्वयं गीतकार भी थे अतः इनके द्वारा गीतशैली को भी प्रश्रय मिला। इस प्रकार तत्कालीन दरबारी वातावरण तथा सम्पन्न समाज के रहन-सहन ने साहित्य-रचना को एक विशेष दिशा में मोड़ दिया। शासक-वर्ग तथा उनके अमीर-उमरा, साहित्यकारों के आदर्श बने और मध्यम-वर्ग के कविगण अपने भरण-पोषण का उद्देश्य लेकर उनकी वासनात्मक कलाप्रियता को नारी रूप के चमत्कार पूर्ण चित्रण द्वारा तृप्त करते रहे।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस युग में हिन्दुओं में एक बार फिर जागृति की लहर दौड़ी। शिवाजी, जसवन्तसिंह, राजसिंह, चम्पतराय तथा उनके पुत्र छत्रसाल, बाजीराव पेशवा, सूरजमल जाट आदि ने बार-बार मुसलमानों को परास्त किया तथा अपना आधिपत्य स्थापित किया। इनके आश्रित कवियों ने वीर रस का बड़ा श्रेष्ठ काव्य प्रस्तुत किया जिसकी प्रभावात्मकता आज भी अक्षुण्ण है। भूषण, मान, सूदन, लाल आदि कवियों ने जिस श्रेष्ठ वीर काव्य की रचना उपयुक्त वातावरण में रह कर की है, उसकी समता का साहित्य आज तक निर्मित नहीं हो सका है। महाराज जसवंतसिंह तथा छत्रशाल जैसे नरेश स्वयं सुकवि थे और उनका रचा हुआ काव्य आज भी अपना महत्त्व रखता है। औरंगजेब के शासन की समाप्ति के अनन्तर यद्यपि हिन्दुओं ने साम्राज्य-स्थापन का प्रयत्न किया तथापि उन्हें सफलता न मिल सकी। इस संघर्षमय युग में अंगरेजों का आगमन हुआ। वे धीरे-धीरे देश पर प्रभुत्व जमाने लगे यद्यपि बहुत काल तक उनका व्यापक प्रभाव साहित्य-क्षेत्र में दृष्टिगत नहीं हुआ।

शृंगार युग का काव्य अपनी साहित्यिक परम्पराओं से बहुत कुछ प्रभावित हुआ। इस युग के आरम्भ काल तक संस्कृत का साहित्य-शास्त्र पर्याप्त रूप में विकसित हो चुका था। भामह, उद्भट, मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ आदि पण्डितों ने काव्यांगों का विशद विवेचन किया था। आचार्यत्व के महत्त्व की स्थापना हो चुकी थी। साहित्य-शास्त्री केशव ने उक्त आचार्यत्व का प्रतिपादन किया और आगे के कवियों ने उनकी परम्परा ग्रहण की। रस, अलंकार, पिंगल सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ इसी परम्परा के पालन में लिखे गये। मम्मट का काव्यप्रकाश, जयदेव का चन्द्रालोक और विश्वनाथ का साहित्यदर्पण इन ग्रन्थों में मूलाधार रहे। यद्यपि अनेक अन्य ग्रन्थों से भी सहायता ली गयी। वातावरण के अनुकूल रसमीमांसा में शृंगार रस की प्रधानता रही, अन्य रसों का केवल स्पर्श मात्र हुआ और शृंगार में भी नायिका भेद मुख्य हो गया क्योंकि उसी के आधार पर सौन्दर्य-चित्रण सम्भव था।

संस्कृत के स्तोत्र-साहित्य, जयदेव के गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली तथा सूर की शृंगारात्मक भक्ति का प्रभाव शृंगार-काव्य पर व्यापकता से पड़ा। श्री रूप-गोस्वामी ने १५ वीं शताब्दी ई० में अपने उज्ज्वल-नीलमणि ग्रन्थ में रस-वर्णन किया था और उसमें राधाकृष्ण की लीलाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये थे। भक्ति और शृंगार का यह सम्मिश्रण भक्तों के लिए तो आध्यात्मिक अनुभूति प्रदान करने में समर्थ था, किन्तु जनसाधारण के लिए वह कोरा शृंगार मात्र था। दरबारी वातावरण में वह "राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानों" मात्र रह गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शृंगारी कवियों को उक्त लीलाओं के रूप में अपने काव्य के लिए अत्यन्त मनोरम तथा रमणीय विभाव उपलब्ध हो गये। परन्तु जहाँ एक ओर राधाकृष्ण की लीलाएँ केवल शृंगार मात्र रह गयीं वहाँ राम, शिव, दुर्गा, गंगा आदि देवी देवताओं की स्तुति इन्हीं शृंगारी कवियों ने पूर्ण भक्ति पूर्वक की है। भक्ति की यह भावना पूर्ववर्ती भक्तियुग की साहित्यिक परम्परा तथा हिन्दू संस्कृति की देन थी। लीलाविलास का वर्णन यदि कवियों के साहित्यिक क्षेत्र से सम्बन्ध रखता था तो यह भक्ति-भावना उसकी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियों के उद्‌गार थे। हिन्दुत्व और धर्मभीरुता का प्रत्यक्ष परिचय इन कविताओं से हो सकता है। इन कविताओं में कवि की सम्पूर्ण आत्मग्लानि तथा असहायता के दर्शन होते हैं। ऐसा अनुमान होता है कि वह अपने संसारी जीवन की निष्फलता तथा तुच्छता से पूर्णतया अवगत है और इन अनुभूति के क्षणों में भगवद्‌शरण प्राप्त करके अपने को कृतार्थ कर लेना चाहता है।

संस्कृत के सप्तशती-साहित्य का भी शृंगार कालीन काव्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। चमत्कार पूर्ण तथा कलात्मक दोहा-साहित्य का बाहुल्य इस प्रभाव के कारण हुआ। सप्तशती-साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ अमरुकशतक तथा आर्याशप्तशती थे, जिनके रचयिता क्रमशः अमरुक तथा गोवर्धनाचार्य थे। इन ग्रन्थों में जनजीवन का शृंगारात्मक चित्रण था जिससे हिन्दी के कवियों को पर्याप्त प्रेरणा मिली। इसी के साथ उर्दू शायरी का व्यापक प्रभाव भी हिन्दी शृंगारिक काव्य के निर्माण में सहायक हुआ। कल्पना की उड़ान, वाग्वैदग्ध्य, चमत्कार वृत्ति आदि गुण तत्कालीन फारसी साहित्य की परम्पराओं से शृंगार काल के कवियों को प्राप्त हुए और अपनी प्रकृति के प्रतिकूल शृंगारी कवियों ने स्थल स्थल पर विरहजन्य शारीरिक पीड़ा का अतिरेक पूर्ण वर्णन किया। भाषा-विषयक कलात्मकता बहुत कुछ इस साहित्य के प्रभाव से आयी।

कामशास्त्र का प्रभाव भी शृंगारकालीन काव्य को बल देने का एक साधन बना। नायिका भेद, कामक्रीड़ा आदि के अनेक चित्र अपने विस्तृत रूप में इस प्रभाव के कारण प्राप्त होते हैं। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के आदि युग से लगाकर शृंगार युग के आरम्भ तक काव्य-रचना के लिए एक बड़ी सम्पन्न पीठिका प्रस्तुत हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि तत्कालीन प्रभावों के कारण काव्य का

वातावरण पूर्णतः स्वतन्त्र था तथापि यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इस वातावरण के कारण काव्य में जिस कलात्मकता की सृष्टि हुई वह अन्यथा असम्भव थी।

उपर्युक्त परिस्थितियों के प्रकाश में यदि शृंगार काव्य पर दृष्टि डाली जाय तो इतना स्पष्ट हो जायगा कि तत्कालीन रचनाएँ वातावरण की उपज थीं। कविवर्ग ने स्वयं अपनी विलासवासना को ही चरितार्थ करने के लिए उनकी रचना की हो, यह बात अंशतः सत्य हो सकती है, पूर्णरूपेण नहीं। उन्हें तो अपने आश्रयदाताओं की रुचि देखनी पड़ी, जिसके कारण इस शृंगारी काव्य की सृष्टि हुई। यहाँ पर इसी शृंगार काव्य की दो चार विशेषताओं पर हम दृष्टिपात करने का प्रयत्न करेंगे।

शृंगार युग के कवियों का काव्य, कला के आदर्श को लेकर चला था। कविवर्ग अपने वर्णन विषय को अधिक से अधिक सुन्दर तथा प्रभावशाली बनाने के प्रयत्न में रहते थे; इसके लिए सूक्ष्म-पर्यवेक्षण तथा गहरी तन्मयता अपेक्षित होती है। वास्तविक मूल्यांकन के लिए इस गहरी सहानुभूति का महत्त्व बाबा तुलसीदास ने निम्नलिखित शब्दों में स्वीकार किया है:—

"कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुबीर निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥"

वास्तव में नारी के प्रति यह अनन्य आसक्ति शृंगार युगीन कवियों को प्राप्त हो गयी थी। ऐन्द्रियता की दृष्टि से उन्होंने उसे सर्वाङ्गीण रूप में देखा था और उसके अंगों को सराहा था, उसके स्वभाव को समझा था और उसके जीवन के साथ क्रीड़ा की थी। कभी उसे गृह-कार्य करते देखा, कभी छिपकर उसे स्नान करते देखा, कभी जल भरते देखा और कभी अपने अंगों की सराहना करते देखा। 'अंखमूदिबो' खेलने की आयु से लेकर निस्संकोच "बालम सों दृग" जोरने तक की परिस्थितियों का उन्होंने गहरा अनुभव प्राप्त कर लिया था तब फिर उनके चित्रण यदि सच्चे हों तो इसमें आश्चर्य हो क्या? कविवर देव का एक चित्र देखिए:—

"पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई देव, श्रोफल उरोज आभा आभासैं अधिक सी।
छूटी अलकनि छलकनि जलबूंदन की, बिना बेंदी बंदन बदन सोभा विकसी।
तजि-तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप गुंज, गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिकसी।
नीबी उकसाय नेकु नैनन हँसाय, हँसि ससिमुखी सकुचि सरोवर तै निकसी॥"

सद्यःस्नाता के उक्त चित्र को देखकर एक ओर तो कलाप्रेमी पाठक मुग्ध हुए बिना नहीं रहता और दूसरी ओर सामाजिक नैतिकता पर दृष्टि रखने वाले सज्जन सुरुचि की दुहाई देते हुए अश्लीलता की घोषणा करते हैं।

वास्तव में यह प्रश्न काव्य के विषय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्या अश्लील है और क्या नहीं, यह समस्या बहुत दिन से काव्य तथा कलाप्रेमियों को भी चक्कर में डाले हुए है। इस विषय में हमारा तो विचार है कि जिस प्रकार कलाकार का हृदय सौन्दर्य के मार्मिक तत्त्व को ग्रहण करके उसका रसास्वादन करते हुए उसे पूर्ण अभि-

व्यक्ति देने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक की कलाप्रियता भी उस दृश्य की रसानुभूति में सहायक होती है। यह सत्य है कि प्रेक्षक, कलाकार की तन्मयता तक नहीं पहुँच सकता, किन्तु यदि उसका हृदय कलाकार के लिए सहानुभूतिपूर्ण नहीं है तो उसे रसानुभूति नहीं हो सकती। भक्त-प्रवर सूर का सम्पूर्ण काव्य केवल ऐहिक-विलास का चित्रणमात्र ही स्वीकार किया जायगा यदि पाठक उनकी भक्ति-भावना के प्रति सहानुभूति नहीं रखता। उपर्युक्त चित्र पर एक दृष्टि डालिए और उसके सामूहिक प्रभाव पर विचार कीजिए। सम्पूर्ण चित्र का प्रभाव हमारे सम्मुख एक लज्जाशीला संकोचमयी रमणी का सहज स्वाभाविक सुन्दर तथा निराभरण स्वरूप उपस्थित कर देता है। उसकी सलज्ज स्मिति उसे सजीवता प्रदान कर रही है। सौन्दर्य की इस व्यापक अनुभूति के सम्मुख हमारी दृष्टि कवि द्वारा चित्रित अंग-विशेष पर नहीं ठहरती है और न कवि के चित्रण का कोई ग्लानि-सूचक प्रभाव ही पड़ता है। हम तो केवल उस सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी मूर्ति को देखते हैं जिसके अंग प्रत्यग उसके सौन्दर्य की पूर्णता की ओर इंगित करते हैं। यही प्रभाव सच्चे कलाकार की कला में वांछनीय है। ग्रीक कलाकारों की नारी मूर्तियों का ऐसा ही सामूहिक प्रभाव कलाक्षेत्र में समादृत हुआ था। यह चित्रण अश्लील नहीं कहा जा सकता, यह तो वास्तव में कलात्मक सौन्दर्य है। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि शृं ार के कलात्मक चित्र शृंगार युग में पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत हुए और काव्य का अधिकांश इन्हीं द्वारा परिपूर्ण है। अश्लील रचनाएँ भी हैं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उस आंशिक अश्लीलत्व के आधार पर सम्पूर्ण युग की आनन्दमयी विमुक्त प्रवृत्ति की उपेक्षा कर देना उस काल के कवियों के प्रति अन्याय है। होली के वातावरण का एक सजीव तथा अभिनयात्मक दृश्य पद्माकर के शब्दों में देखिए :—

"फाग की भीर अहीरन की गहि गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मनकी पदमाकर ऊपर नाय अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर को सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला, फिर आइयो खेलन होरी॥"

बेचारे लला की जो दुर्दशा इन धृष्ट ग्वालिनों ने कर डाली सो तो कर ही डाली, आगे के लिए जो चुनौती भी दे डाली, उससे अवश्य ही उनका होली खेलने का उत्साह कम पड़ गया होगा। नैन नचाती और मुस्कराती हुई गोपिकाओं का सजीव चित्र खड़ा कर देने में पद्माकर पूर्णतः सफल हुए हैं, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। ऐसे चित्रों के पीछे जन-जीवन की वह पृष्ठ भूमि विद्यमान है जो भारतीय वातावरण के लिए चिरस्थायी है। सामाजिक जीवन का सफल चित्रण उक्त उदाहरण में प्रस्तुत किया गया है। शृंगार काव्य में ऐसे चित्रों की भरमार है।

परकीय प्रेम-चित्रण का आधार लेकर भी शृंगारी कवियों पर नैतिकता-भंग करने का आरोप लगाया जाता है। वास्तव में इन कवियों ने साहित्य-क्षेत्र में कोई नवीन मार्ग

नहीं ग्रहण किया था। राधा स्वकीया थी या परकीया इस प्रश्न पर तो विद्वानों ने बहुत विचार किया है, उस पर यहाँ कुछ नहीं कहना है, हमारा निवेदन केवल इतना है कि श्रीमद्भागवत की गोपिकाएँ परकीय भाव से ही कृष्ण को भजती थीं। सूर की गोपिकाएँ भी परकीय भाव से भगवान् को भजती थीं और शृंगारी कवियों ने भी इस परकीय प्रेम को "जोग हूँ ते कठिन संजोग पर नारी को" कहकर इसे साधनारूप में स्वीकार किया है, भी तो ठाकुर जी की नायिका के नैन अनंत दर्शनाभिलाषा से तृषित हैं :—

"बरुनीन में नैन झुकैं उझकैं मनो खंजन प्रेम के जाले परे।
दिन औधि के कैसे गनौं सजनी अंगुरीन के पोरन छाले परे।
कवि ठाकुर ऐसी कहा कहिए निज प्रीति करे के कसाले परे।
जिन लालन चाह करी इतनी तिन्हैं देखिबे के अब लाले परे॥"

यहाँ नैराश्य तथा दैन्य के कारण बार-बार झुकते हुए नेत्र आकुल उत्कंठा से उझक पड़ते हैं कि सम्भवतः अब लालन आ रहे हों, जहाँ उँगली के पोरों पर अवधि के दिन गिनते-गिनते छाले पड़ गये हो, वहाँ, अनन्य प्रेम की गम्भीर वृत्ति के अतिरिक्त और कौन सी दशा नायिका की बतलायी जा सकती है। ऐसी ही दशा में तो दो हृदयों का ऐक्य स्थापित होता है, यही गहरी सहानुभूति तो दो विमुक्त व्यक्तियों के चिर मिलन का कारण बनती है, जिसकी प्रेरणा से गोपिकाओं ने उद्धव को यह मार्मिक उत्तर दिया था :—

"प्रानन के प्यारे तन ताप के हरन हारे, नन्द के दुलारे ब्रजवारे उमहत हैं।
कहै पदमाकर उरूझे उर अंतर यौं, अन्तर चहेहू जे निरंतर चहत हैं।
नैननि बसे हैं अंग अंग हुलसे हैं, रोम रोमनि रसे हैं निकसे हैं को कहत है।
ऊधौ वै गोविन्द कोऊ और मथुरा मैं, यहाँ मेरे तौ गोविन्द मोहि मोही में रहत हैं।"

मिलन की सतत् उत्कंठा परकीय प्रेम का मूल मन्त्र है। प्रेम की अभिव्यक्ति का चित्रण जितना इस माध्यम से सफल हो सकता है उतना स्वकीय प्रेम के माध्यम से नहीं। यही कारण है कि मीरा ने भी "लोकलाज कुल की मर्यादा" इनमें से एक की भी चिन्ता न करके प्रिय कृष्ण के संयोग को ही अधिक वांछनीय समझा था और प्रेमोन्मत्त ताज ने हिन्दुआनी होना भी स्वीकार किया था—

"सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम, दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी तजे, कलमा कुरान साड़े गुनन गहूँगो मैं।
सांवरा सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिए, तेरे नेह दाग मैं निदाग हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान तांड़ी सूरत पै, ताँड नाल प्यारे हिन्दुआनी हो रहूँगी मैं॥"

हरिऔध जी के शब्दों में "परकीया नायिका में जो प्रेमजन्य व्याकुलता होती है, उसमें जो अधीरता, उत्सुकता, प्रेमोन्माद और तड़प देखी जाती है, वह बड़ी ही अदम्य एवं वेदनामयी होती है।" (भूमिका, रसकलस, पृ० १५४)। अतः जहाँ पर भाव-

व्यंजना ही कवि का लक्ष्य है, प्रेम की कलापूर्ण अभिव्यक्ति ही उसका उद्देश्य है, वहाँ यह परकीय भाव अद्वितीय माध्यम है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता। इस युग के कवियों के कलात्मक शृंगार चित्रों में यदि हम अश्लीलता का दोष देखना छोड़ सकें और परकीय भाव को प्रेमाभिव्यंजना की तीव्रतम अभिव्यक्ति स्वीकार कर सकें, तो निश्चय ही शृंगार युग का काव्य अपने वास्तविक गौरव को प्राप्त कर सकता है।

शृंगार युग हलचल का युग था, ऐसा हम कह चुके हैं। राजे-महराजे और सरदार सामंत आपस में युद्ध करते थे और उनके आश्रित कवि उनकी प्रशंसा करते थे। ऐसा कहा जाता है कि इन विलासियों और विलासी राजाओं की अनावश्यक प्रशंसा करके कवियों ने वीर रस का अपमान किया है। अवश्य ही अनेक स्थलों पर अतिरंजित यशगाथा कवियों द्वारा गायी गयी है और उन्हें देव पद तक पहुँचा दिया है। यह उन कवियों की विवशता अवश्य थी किन्तु इससे उनके अपराध का मार्जन नहीं होता, फिर भी इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि तत्कालीन अनेक युद्ध वीर राजाओं के आश्रितों द्वारा श्रेष्ठ वीर काव्य की रचना हुई, जिसके कारण वीर रस की अक्षुण्णधारा उस युग में बहती रही। इस काव्य की उपेक्षा करना मानों परम्परागत भारतीय क्षात्र धर्म की महत्ता को अस्वीकृत करना है। एक उदाहरण देखिए:—

"समर अमेठी के सरोस गुरुदत्त सिंह, सादत की सेना समसेरन सों मानी है।
भनत 'कविंद' काली हुलसी असीसन को, सीसन को ईस की जमाति हुलसानी है।
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उड़ी, सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को छकी जोबन तरंग मानौ, रंग हेत पीवत मजीठ मुगलानी है॥"

कविवर उदयनाथ 'कवीन्द्र' भूपति जी के आश्रित थे और उन्होंने उक्त छन्द में उस युद्ध का वीर-शृंगार-मिश्रित अद्भुत वर्णन किया है जो भूपति जी ने अवध के नवाब सआदत खाँ से किया था। भूपति जी नवाब की सेना के बीच से मारकाट करते हुए जंगल की ओर निकल गये थे और इसमें उन्होंने अनुपम वीरता का प्रदर्शन किया था।

यह शौर्य भावना देव विषयक वीरता बनकर भी काव्य में व्यक्त हुई है। पौराणिक अथवा देव विषयक आदर्श लेकर वीर-भाव का विशद वर्णन भी किया गया है। तोषनिधि ने महावीर कर्ण की वीरता का ओजपूर्ण वर्णन किया है—

शक्र जो न माँगि लेतो कुण्डल कवच, पुनि
चक्र जो न लीलती धरनि रथ धारतो।
कुन्ती जो न सरन समेटि लेती द्विजराज
साप जो न होतो सल्य सारथी निबाहतो।
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीत पटवारो बनि
सारथी पने को कछू कारज न सारतो।
तौ तौ बीर करन प्रतापी रबिनन्दन, सु
पाण्डु सुत सैना को चबैना करि डारतो॥

यह वीर भावना तत्कालीन कवियों की विशेषता थी। सम्भव है कहीं-कहीं इसका दुरुपयोग भी कवियों ने कर डाला हो, फिर भी उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के प्रति श्रद्धा का भाव इस काव्य के द्वारा प्रकट किया है इसमें सन्देह नहीं।

रीति-युग के कवियों ने कृष्ण को नायक रूप में ग्रहण किया है; इसके फलस्वरूप उनके हृदय में सच्ची भक्ति-भावना नहीं है, ऐसा अनुमान होने लगता है। किन्तु ध्यान पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि बात ऐसी नहीं है। यह ठीक है कि इन कवियों ने कृष्ण का अति शृंगारी वर्णन करके उनके चरित्र को अति सामान्य बना दिया है किन्तु उन्हीं कृष्ण के प्रति आत्म निवेदन करते हुए उनके उद्‌गार अत्यन्त मार्मिक तथा भक्ति भावना से युक्त हैं। देखिए—

ए ब्रजचन्द गोबिंद गोपाल सुनो किन केते कलाम किये मैं।
त्यौं 'पद्माकर' आनँद के नद हौ नँद नन्दन जानि लिये मैं।
माखन चोरि कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरि ही दौरि दुरचो जो चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये मैं॥

माखन चोर को अपने हिये के अंधकार पूर्ण कोने में छिपा लेने की कल्पना कितनी मधुर तथा आत्मीयता से पूर्ण है? क्या यह हार्दिक भक्ति भावना नही है? अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी इन कवियों ने अपने भक्तिमय उद्‌गार समय-समय पर व्यक्त किये हैं।

उदात्त शृंगार, भक्ति भावना तथा निर्वेदात्मक वैराग्य, सभी वृत्तियों के दर्शन इन कवियों में समयानुसार होते हैं। श्मशान वैराग्य तो सामान्य व्यक्ति को भी सुलभ है। बेनी कवि द्वारा तत्सम्बन्धी उद्‌गार देखिए—

राग कीन्हें रंग कीन्हें, तरुनी प्रसंग कीन्हें,
अंग कीन्हें चीकने सुगन्ध लाय चोली में।
देह रचे गेह रचे सुखद सनेह रचे
बासर बिताय दीन्हें नाहक ठठोली में।
बेनी कवि कहै अब ऐसी दसा देखियत
दिना चारि स्वांग से दिखाय चले होली में।
बोलत न डोलत न खोलत पलक हाय
काठ से परे हैं आठ काठ की खटोली में॥

नीति और हास्य के प्रचुर उदाहरण इस रीति शृंगार युग में उपलब्ध होते हैं। लोक व्यवहार की शिक्षा तथा सामाजिक व्यंग्य इन कविताओं का लक्ष्य है। नीत्युपदेश के लिए अन्योक्ति का सहारा कवियों ने प्रायः लिया है। बिहारी, दास, भूपति, वृन्द, गिरिधर आदि कवियों के काव्य से हम लोग परिचित हैं। सामाजिक व्यंग्य-चित्र कहीं-कहीं बड़े सच्चे उतरे हैं। बेनी के भड़ौवा इनके सुन्दर उदाहरण हैं। इस युग के कवि अपने प्रति अनुदारता सहन नहीं कर सकते थे। यदि उचित सम्मान न हुआ, पर्याप्त दक्षिणा-बिदाई न मिली, तो उन्होंने तुरंत राजा रईसों की गरदन नाप ली। 'भड़ौवा'

इनका ब्रह्मास्त्र था। किसी बेचारे पुत्र ने पिता का श्राद्ध किया। ब्राह्मणों को पेड़े खिलाये। पेड़े कुछ छोटे थे; शायद खोये में कुछ गंध भी आ गयी थी। बस, उनकी कपाल क्रिया करने के लिए इतना मसाला काफी था! बेनी महाराज ने उनका नाम अमर कर दिया।

चींटीं न चाटत, मूसे न सूंघत, बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जब ते घर में, तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु में कछु स्वाद मिलै इन्हें खाय सो ढूंढत हर्र-बहेरे।
चौंकि पर्‌यो पितु लोक में बाप, सुपूत के देखि सराध के पेरे॥

प्रकृति चित्रण भी इस युग के कवियों में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में दृष्टिगत होता है। 'सेनापति' का प्रकृति चित्रण तो इसी युग की वस्तु कही जानी चाहिए। उद्दीपन रूप में तो इस युग का प्रकृति चित्रण अत्यन्त हृदय स्पर्शी है ही। कृष्ण के यमुना-निकुंज, वंशीवट आदि अपना निज का वातावरण लेकर उक्त कवियों के काव्य को अत्यन्त मर्म-स्पर्शी बना देते हैं। 'द्विजदेव' का एक उदाहरण लीजिए —

सुर ही के भार सूधे सबद सुकीरन के,
मंदिर न त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
'द्विजदेव' त्योंही मधु भारन अपारन सों;
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैननि निहारौं तो निहारौं कहा
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चांदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन।

वातावरण की मादकता का भार चित्रित करने में कवि ने अपूर्व क्षमता का परिचय दिया है।

रीति युग के कवियों का भाषाधिकार उनकी अपनी वस्तु है। भाषा का जो मनोरम और संगठित रूप इन कवियों के काव्य में दृष्टिगत होता है उस पर हम यहाँ केवल एक दृष्टि मात्र डाल लेना पर्याप्त समझते हैं। शब्दावली तथा मुहाविरों के प्रयोग की कला इन कवियों की अपनी है। उदाहरण लीजिए —

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै, सुकहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सबके मन लालच दौरे पै बौरे लखें सब बुद्धि चकी।
जग की कविताई के धोखें रहैं त्यों प्रबीनन की मति जाति जकी।
समझै कबिता घन आनंद की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥

(घनानंद)

मुहावरे दानी, सौष्ठव, प्रवाह आदि सभी गुण उक्त उदारहणों में सुस्पष्ट रूप में विद्यमान हैं।

दो-चार उदाहरण और लीजिए—

१ **नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होउ पीय,**
पांयन की धूरि हमैं दूरि कै न जानि ॥ (आलम)

२ **कोऊ कितेक उपाय करौ,**
कहूँ होत हैं आपने पीउ पराए ॥ (मतिराम)

३ **एरी मेरी बीर ! जैसे तैसे इन आँखिन ते,**
कढ़िगो अबीर पै अहीर को कढ़ै नहीं ॥ (पद्माकर)

उक्त उदाहरणों से भाषा लालित्य, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति, चलतापन, संगीतात्मकता आदि गुणों का सफल समन्वय स्पष्ट होता है। भाव और भाषा का ऐसा सुखद सामञ्जस्य शायद किसी दूसरे युग के काव्य में उपलब्ध न हो सके।

संगीतात्मकता का एक उदाहरण देकर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। कविवर देव का एक छन्द लीजिए—

काम की कुमारी सी परम सुकुमारी यह,
जाकी है कुमारी महाभाग वा जनक के।
सलज सुसील, सीलताई की सलाका,
सैलसुता ते सलोनी, बैन बीना के भनक के।
एबी अबहीं ते बन देबी ऐसी देखी देव,
देबी ते अगन गुन गने हैं गनक के।
कनक बनक तन, तनक तनक तन,
झनक मनक कर कंकन कनक के ॥

शब्दों की कोमलता, गतिमयता तथा मधुर झंकार ने सीता के शब्द चित्र को संगीत माधुरी से मनोरम बना दिया है।

सवैया और घनाक्षरी छन्द यद्यपि आज उपेक्षित हैं, तथापि हमारे नवीन छायावादी कवियों ने इन छन्दों का उपयोग, तोड़-मरोड़ कर नये छन्द बनाने के प्रयास में किया है। इनकी संगीतात्मकता में तो कोई सन्देह किया ही नहीं जा सकता। विभिन्न रसों की अभिव्यंजना शक्ति भी इन छन्दों में पर्याप्त मात्रा में है। इन दो प्रमुख छन्दों के अतिरिक्त मात्रिक और वर्णिक असंख्य छन्द इस युग के कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। फिर भी, कविवर निराला ने 'घनाक्षरी' को राष्ट्रीय छंद की उपाधि से भूषित किया था।

संक्षेपतः भावानुभूति, रसात्मकता, कला-कौशल, संगीतात्मकता, भाषा संगठन आदि सभी गुणों से रीति शृंगार युग परिपूर्ण है। अति शृंगारिकता तथा कहीं-कहीं नैतिक पतन के लक्षण भी दृष्टिगत होते अवश्य हैं, किन्तु शुद्ध काव्य की दृष्टि से तथा ऊँची कला की कसौटी पर इस युग का काव्य खरा उतरता है, यह निश्चित है। इस काव्य का संरक्षण हमारे साहित्य का गौरव बढ़ावेगा और हमारे अध्ययन का क्षेत्र विस्तृत करेगा. इसमें सन्देह नहीं।

भूषण के काव्य में राष्ट्रीय भावना

[डॉ० रामचन्द्र तिवारी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

भूषण के काव्य में वीरत्व और हिन्दुत्व की भावना

हिन्दी-साहित्य में भूषण का काव्य वीरत्व की व्यञ्जना के लिए प्रसिद्ध है। वीरत्व व्यञ्जना के लिए सच्चे नेता वे ही माने जा सकते हैं जिनमें निःस्वार्थ भाव से लोक-रक्षा की प्रवृत्ति पूर्णतः विकसित होती है। मध्ययुग में उत्पन्न महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल आदि महापुरुष सच्चे वीर-काव्य-नायक हैं। इनके उत्कर्ष में हिन्दू जनता अपना गौरव मानती रही है। इसीलिए इन महापुरुषों की वीर दर्प पूर्ण गाथाएँ जनमानस का समर्थन प्राप्त कर सदा के लिए अमर हो गयी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि महाकवि भूषण को काव्य-रचना की प्रेरणा महाराज शिवाजी के महान् चरित्र को देखकर ही प्राप्त हुई थी। वे स्वयं कहते हैं—

सिव चरित्र लखि यौं भयो, कवि भूषण के चित्त।
भाँति-भाँति भूषननि सों, भूषित करौं कवित्त॥

यही नहीं वे तो यहाँ तक कह देते हैं—

'भूषण' यों कलि के कवि राजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

शिवाजी के चरित्र को इतना महत्त्व कवि ने इसलिए दिया है कि वह सम्पूर्ण हिन्दू-जनता के गौरव, अभिमान, शील, आदर्श एवं स्वातन्त्र्य भावना का प्रतीक है। 'भूषण' ने स्थल-स्थल पर शिवाजी के लिए 'हिन्दुआन-खंभ' 'हिन्दूपति', 'दच्छिन दिसि थंभन' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। शिवाजी की तलवार 'हिन्द कौ दिवाल' है।[१] उसके प्रकाश से 'हिन्दुआन की नलिनी' फूल उठती है।[२] सम्पूर्ण हिंदुआन की शोभा आयुष्मान् शिवाजी से ही है।[३] वे हिन्दुओं की उन्नति के लिए उत्साह प्रदर्शित करते रहते हैं।[४] इस प्रकार यह तो प्रत्यक्ष है कि भूषण के मन में समस्त हिन्दू जनता के हित की भावना

---

१ तेरौ करवार भयौ दच्छिन कौं ढाल भयौ हिंद कौ दिवाल भयौ काल तुरकान कौ।

× × ×

२ तुरकान मलिन कुमुदनी करी है, हिंदुआन नलिनी फूली है विविध विधान सौं।
जापी सिवनाम के प्रतापी सिवा साहिजू के, तापी सब भूमि यौं कृपान-भासमान सौं।

३ जाहिर चारिहुँ ओर जहान लसै हिंदुआन खुमान सिवा सों।

४ काल मही शिवराज बली हिंदुआन बढ़ाइबे कौं उर ऊटै।

निहित है। प्रश्न यह उठता है कि मध्ययुग में हिन्दू ऐक्य की जो यह भावना उमड़ पड़ी थी उसे राष्ट्रीय भावना कह सकते हैं या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर तभी दिया जा सकता है जब राष्ट्रीयता के मूल भूत आधार को समझ लिया जाय। जिस राष्ट्रीयता के मानदण्ड पर हम आज निर्णय देते हैं उसका जन्म यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ है।[1] इस राष्ट्रीयता की उचित परिभाषा देने का प्रयत्न कम नहीं हुआ है ; किन्तु सत्य तो यह है कि यह शब्द आज भी स्पष्ट होकर हमारे सामने अपना स्वरूप नहीं उपस्थित कर पाता।

राष्ट्रीयता की परिभाषा में राष्ट्रीयता के मूलभूत आधार

सामान्यतः जब एक मानव-समुदाय बहुत दिनों तक एक साथ रहता हुआ एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आता है और एक ओर वह अन्य मानव-समुदायों से अलग होता जाता है तथा दूसरी ओर स्वयं में कुछ ऐसी समान मानव-सुलभ प्रवृत्तियों और भावनाओं को विकसित करता रहता है जो आगे चलकर सामाजिक परम्पराओं और नियमों का अंग बन जाती हैं तब उस विशिष्ट मानव-समुदाय की सामूहिक ऐक्य की भावना को राष्ट्रीय भावना कहा जा सकता है। यह सामूहिक ऐक्य की भावना ऐतिहासिक अनुभवों और सांस्कृतिक परम्पराओं के आधार पर निर्मित होती है।[2] प्रोफेसर कार्लिटन हेज़ (Prof. Corleton Hayes) के शब्दों में "राष्ट्र वह विशिष्ट मानव-समुदाय है जो एक ही भाषा बोलता है; जिसकी ऐतिहासिक परम्पराएँ एक होती हैं और जो अपने को एक ऐसे विशिष्ट सांस्कृतिक समाज के रूप में देखता है जिसकी रचना में धर्म एवं राजनीति का महत्त्वपूर्ण योग रहा है[3]।" संसार का कोई भी राष्ट्र समस्त मानवीय आदर्शों को अपने में समाविष्ट नहीं कर पाता। मानवता के लिए किसी भी राष्ट्र का महत्त्व उसकी कुछ निजी विशेषताओं के कारण ही होता है। इसलिये प्रत्येक राष्ट्र की निजी विशेषताओं की सुरक्षा अनिवार्य है। प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे का स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य होना चाहिए। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता के लिए कम से कम निम्नलिखित तत्त्वों का होना अनिवार्य है—

(क) एक विशिष्ट मानव समुदाय

(ख) उसकी एक ही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा।

(ग) धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की एकता।

---

1 Recent political thought—Francis W. Coker Page—441

2 Recent Political thought, Page 442

3 A nation, says Prof. Carleton Hayes,"is any groop of persons who speak a comman language, who cherish comman historical traditions, and who constitute, or think they constitute, a distinct cultural society in which, among other factors, religion and politics may have played important though not necessarily continuous roles"— Essays on Nationalism, Page 21

इन तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए जब हम उस मानव समुदाय पर विचार करते हैं जिसे भूषण ने 'हिन्दुआन' शब्द से अभिहित किया है तो हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं होती कि वह एक राष्ट्र था। 'हिन्दुओं' की ऐतिहासिक परम्परा एक थी। स्वयं 'भूषण' ने महाराज शिवाजी के गौरव को उसी ऐतिहासिक परम्परा में रखकर स्वीकार किया है।

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम जुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के संग सुहानी।
विक्रम भोजहु के गुन गाय कै भूषन पावनता जग जानी।
पुन्य पवित्र सिवा सरजै सरन्हाय पवित्र भई बर बानी।

'राम', 'युधिष्ठिर', 'विक्रम', 'भोज' ये सभी हिन्दुओं के ऐतिहासिक महापुरुष हैं। इनका चरित्र हिन्दू मात्र को स्फूर्ति और प्रेरणा देने वाला है। इनकी गाथाएँ सम्पूर्ण भारत में श्रद्धा-भक्ति के साथ सुनी जाती है। शिवाजी इन्हीं की परम्परा में हैं। इन्हीं के आदर्शों की रक्षा करते हुए चल रहे हैं। इसीलिए 'भूषण' उनका गुन-गान करते हैं।

'हिन्दुत्व' की भावना में उक्त आधारों का समावेश

हिन्दुओं ने एक साथ सहस्रों वर्षों तक जीवन यापन करते हुए एक विशिष्ट सांस्कृतिक सूत्र में अपने को बाँध रखा था। यह संस्कृति धर्म-प्रधान रही है, ग्रहणशील रही है, दूसरों के प्रति सहिष्णु रही है, चिरस्थाई रही है। मानव-जीवन के सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण विकास को अपना लक्ष्य मानकर चलती रही है। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों को अपना लक्ष्य स्वीकार करती है। समय-समय पर विदेशी आक्रमण हुए हैं। अपनी सहज ग्रहणशीलता के कारण इस संस्कृति ने उनसे बहुत कुछ लिया है और बहुत दूर तक विदेशियों को भी प्रभावित किया है। हिन्दुओं की सांस्कृतिक एकता में जो अविश्वास करते हों उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि हिन्दुओं की सात पवित्र नदियाँ—गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्धु और कावेरी—सम्पूर्ण भारत में समान रूप से पवित्र मानी जाती रही हैं। वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ, पुराण, रामायण, महाभारत, गीता आदि ग्रन्थ सर्वत्र पूज्य-बुद्धि से देखे जाते रहे हैं। हिन्दुओं के तीर्थों और देवस्थानों की देश के भिन्न-भिन्न भागों में की गयी प्रतिष्ठा मे निहित उद्देश्य समस्त हिन्दू जनता को एक सूत्र में बाँधता ही रहा है। संस्कृत भाषा देववाणी के रूप मे सर्वत्र प्रचलित रही है। वर्ण-व्यवस्था और आश्रमधर्म की स्वीकृति भी किसी न किसी रूप में सर्वत्र रही है। सत्य तो यह है कि समस्त हिन्दू जनता सांस्कृतिक दृष्टि से ही एक दूसरे के अधिक निकट मानी जा सकती है।

भूषण में जातिगत एवं व्यक्तिगत द्वेष का अभाव

जहाँ तक धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्वार्थों की एकता का प्रश्न है, इसमें प्रथम दो अर्थात् धार्मिक एवं सामाजिक नियम, विधि-निषेध तो हिन्दू-मात्र के एक से

ही रहे हैं। षोडश संस्कार हिन्दू मात्र के जीवन में मान्य रहे हैं चाहे वह भारत के किसी प्रदेश का निवासी क्यों न रहा हो। पञ्च देवों की उपासना किसी न किसी रूप में सर्वत्र होती रही है। यह दूसरी बात है कि कभी कोई देवता विशेष गौरव और महत्त्व का अधिकारी बन गया और कभी कोई। दश अवतारों को सर्वत्र स्वीकार किया गया है। भारतीय संस्कृति धर्म प्रधान रही है। अतः सांस्कृतिक एकता के साथ ही धार्मिक एकता का प्रयत्न भी बराबर होता रहा है। राजनीतिक स्वार्थों की दृष्टि से अवश्य ही यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण हिन्दू जनता कभी भी एक शासन के भीतर नहीं रही है। अलग-अलग जातियों, राजवंशों एवं प्रदेश-निवासियों ने समय-समय पर अलग-अलग क्षेत्रों में राज्य किया है। कहीं पर गणराज्य रहे हैं तो कहीं पर निरंकुश शासन। यह होने पर भी हिन्दुओं की राज्य-व्यवस्था के भी कुछ सामान्य आदर्श रहे हैं जो सर्वत्र किसी न किसी रूप में मान्य रहे हैं। यहाँ की राजनीति धर्माधृत रही है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'हिन्दू' एक राष्ट्र रहा है।

यूरोप में 'राष्ट्रीयता' को तब समझा बूझा जाने लगा जब उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रीक लोगों ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह किया; बेल्जियम वालों ने हालैंड से अपने को अलग कर लिया; हंगरी और इटली के अल्पसंख्यकों ने आस्ट्रिया के चंगुल से मुक्त होने के लिए अथक प्रयत्न किया; जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई, इटली का राज्य अस्तित्व में आया; रूमानिया और सर्बिया ने टर्की के आधिपत्य से अपने को मुक्त कर लिया और आयरलैंड में स्वराज्य आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। यह सभी घटनाएँ जिस भावना के प्रभाव से संघटित हुई उसे राष्ट्रीय भावना कहा गया। पूरे हिन्दुस्तान में विस्तृत हिन्दू-जनता में इस प्रकार की भावना की लहर प्राचीन काल में नहीं आयी। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि कभी भी समूचा हिन्दू राष्ट्र विदेशी सत्ता के प्रभाव में नहीं आया। मध्ययुग में मुस्लिम शासन काल में भी पूरा हिन्दुस्तान कभी भी विदेशी शासन के अन्तर्गत नहीं आया। अकबर के समय में भी राजस्थान का गौरव सूर्य अपनी रश्मियाँ बिखेरता ही रहा। अकबर के पूर्व गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद और सूर राजवंशों के साथ हिन्दू-राजाओं का संघर्ष बराबर होता रहा है। राजपूत जाति की स्वातन्त्र्य प्रियता और उसके लिए उसका सतत् संघर्ष हिन्दुओं की आशा का केन्द्र बिन्दु रहा है। अकबर के समय में मुस्लिम और हिन्दू जनता को मिलाकर समन्वय की भावना पर बल अवश्य दिया गया किन्तु हिन्दू जनता ने इन्हें कभी भी अपनों में से एक नहीं समझा। कंस और रावण के प्रति व्यक्त होने वाली घृणा वास्तव में विदेशी शासन के प्रति ही है। औरंगजेब के समय में उसकी कट्टर धार्मिक नीति ने तो हिन्दुओं में मुस्लिम शासन के प्रति घोर प्रतिहिंसात्मक भावना भर दी थी। मथुरा के आस-पास गोकुल जाट के नेतृत्व में जाटों का विद्रोह, नारनौल के आस-पास रहने वाले सतनामियों का विद्रोह, गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में सिक्खों का विद्रोह, दुर्गादास के नेतृत्व में राजपूतों का विद्रोह, शिवाजी के नेतृत्व में मराठों का विद्रोह और महाराज छत्रसाल के नेतृत्व में

बुन्देलों का विद्रोह इस बात का साक्षी है कि यदि कुछ दिन औरंगजेब और जी जाता या उसी की तरह कट्टर धार्मिक नीति उसके पश्चात् भी चलती रहती तो शीघ्र ही समस्त हिन्दू जनता विद्रोही बन जाती और तब अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही उसी राष्ट्रीयता के दर्शन भारतवर्ष में भी होते जिसे हम उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में देखते हैं। औरंगजेब के विरुद्ध शिवाजी का संघर्ष समस्त हिन्दू जनता के गौरव का प्रश्न बन गया था। इसे हम अराष्ट्रीय उस स्थिति में मान सकते थे जब हिन्दू और मुसलमान एक साथ रहकर समान हितों की दृष्टि से एक दूसरे से घुल-मिल गये होते और हिन्दुओं ने उन्हें विदेशी न मानकर देशी शासक के रूप में देखा होता। 'यवन-महामहिपाल' को तुलसी ने ही कलियुग की मजबूरी के रूप में नहीं स्वीकार किया था वह हिन्दू जनता की वाणी थी। जिस भावना से एक राजपूत दूसरे राजपूत से युद्ध करता था उसी भावना से वह मुस्लिम शासकों से नहीं जूझता था। जब हम १८५७ के विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह कह सकते हैं तो कोई कारण नहीं है कि औरंगजेब के विरुद्ध 'हिन्दुआन' के विद्रोह को अराष्ट्रीय कहें। जिस प्रकार १८५७ में अँगरेज, हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए विदेशी थे उसी प्रकार १७०० के आस-पास और उसके पूर्व के मुस्लिम शासक हिन्दुओं की निगाह में विदेशी ही थे। अँगरेजों के विरुद्ध आधुनिक राष्ट्रीयता का जन्म भी तभी हुआ जब सारा भारतवर्ष उनके आधिपत्य में आ गया। गांधी के नेतृत्व में जिस नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन की बात कही जाती है उसे भी मुसलमानों का एक वर्ग मात्र हिन्दुओं का ही आन्दोलन समझता रहा और अन्ततः उसने अपने को पृथक् करके एक नये राज्य को जन्म दे ही डाला।

भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता का भूषण की भावनाओं से मेल

भूषण के कथनों से भी प्रकट होता है कि मुगलों के शासन काल में बाबर, हुमायूँ और अकबर ऐसे शासक थे जिन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एक मानकर समान व्यवहार करने का प्रयत्न किया था। यदि उन्हीं की नीति चलती रहती और औरंगजेब संकीर्ण धार्मिक नीति के आधार पर दिल्ली का शासन सूत्र संचालित करके अपनी कट्टरता का परिचय न देता तो बहुत संभव था हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के निकट आ गये होते। औरंगजेब के प्रति भूषण का आक्रोश केवल इसलिए नहीं था कि वह मुसलमान था वरन् इसलिए था कि वह क्रूर, पक्षपाती, भेद-भाव की नीति रखने वाला और हिन्दुओं के धर्म पर कुठाराघात करने वाला था। उन्होंने जहाँ औरंगजेब की भर्त्सना की है वहीं बाबर, हुमायूँ और अकबर के प्रति प्रशंसात्मक उद्‌गार भी व्यक्त किये हैं—

'दौलति दिली की पाय कहाये अलमगीर बब्बर अकब्बर के बिरद बिसारे तैं।'

× × ×

'बब्बर अकब्बर हिमायूं साह सासन सों, नेह तें सुधारी हेम हीरन तें सगरी।'

× × ×

'बब्बर अकब्बर हिमायूं हद्द बाँधि गये, हिंदू औ तुरुक की कुरान-वेद ढबकी'

निर्णय और उपसंहार

सच्ची बात तो यह है कि यदि भूषण की वाणी हिन्दू जनता की वाणी न होती तो उन्हें वह सम्मान न मिला होता जो आज प्राप्त है। व्यक्तिगत या संकीर्ण जातीयता के आधार पर व्यक्त उद्‌गार अपना प्रभाव शीघ्र ही खो देते हैं। आधुनिक राष्ट्रीयता के मान दण्ड पर तत्कालीन राष्ट्रीयता के विषय में निर्णय देना भी अधिक समीचीन नहीं है। वैसे, आधुनिक राष्ट्रीय भावना के विकास का अध्ययन यदि हिन्दी-साहित्य के माध्यम से किया जाय तो भारतेन्दु के उद्‌गार, भूषण की भावना से जुड़े हुए हैं। भारतेन्दु-कालीन जन-चेतना का विश्लेषण करते हुए डॉ० वार्ष्णेय लिखते हैं—"अतः भारतेन्दु-काल में दो विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। एक तो राष्ट्रीय और दूसरी वर्ग, धर्म, एवं साम्प्रदायिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाली विचार-धारा। पहली के सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि हिन्दुओं की विशेष परिस्थिति के कारण वह बहुत कुछ हिंदुत्व लिए हुए थी।"[१] जब भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीयता हिन्दुत्व लिए हुए थी तो भूषण-युग का हिन्दुत्व अराष्ट्रीय कैसे माना जायगा ? आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावना के जागृत होने पर सबसे पहले हमारा ध्यान पृथ्वीराज, राणा प्रताप, शिवाजी और रणजीत सिंह जैसे वीरों की ओर गया। यह तथ्य अपने आपमें इस सत्य का साक्षी है कि भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय चेतना की एक अटूट परम्परा थी जो परिस्थिति के अनुकूल कभी सुप्त और कभी उदीप्त होती रही है। 'भूषण' की भावना इसी अखंड परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'भूषण ग्रन्थावली' के यशस्वी सम्पादक पंडित विश्वनाथ मिश्र ने लिखा है—"राष्ट्रीय भावना के जगने पर शिवाजी के इतिहास की खोज जिस समय दक्षिण में होने लगी उस समय 'भूषण' की कविता की खोज भी की जाने लगी।"[२] जब आज की राष्ट्रीय भावना 'भूषण' की खोज कर सकती है तो औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित समस्त 'हिन्दुआन' का आह्वान करने वाली उनकी वाणी को उस युग के परिवेश में रखकर देखने के बाद तो यही कहना पड़ता है कि वह सर्वथा राष्ट्रीय है।

१. 'हिन्दुस्तानी' जुलाई-दिसम्बर, १९४३, पृष्ठ १६५.
२. 'भूषण', भूमिका भाग, पृष्ठ ८४.

ब्रजभाषा-काव्य का माधुर्य्य

[डॉ० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, महाराजा कालिज, छतरपुर (म० प्र०)]

राज-दरबारों में ही नही वरन् मुगल-सम्राट् अकबर के दीवाने-आम तक संगीत के माध्यम से ब्रजभाषा प्रवेश पा चुकी थी। एक सन्ध्या को, जब संगीताचार्य तानसेन गा रहे थे :—

"जसोदा बार-बार यों भाखै।
है कोऊ या ब्रज में ऐसो, चलत गुपालहिं राखै।"

स्वर करुणा से भीग कर गूँज रहे थे। मातृ-हृदय की साकार अभिव्यक्ति हो रही थी। सूर का पद और तानसेन का गायन, दोनों ने मिलकर उपस्थित दरबारियों को भाव-विभोर कर दिया। अकबर का भावक-हृदय आर्द्र हो गया। गायन की समाप्ति पर तानसेन से अकबर ने पूछा :—"तानसेन ! सूर के इस पद में 'बार-बार' का क्या अर्थ है ?"

"बार-बार का अर्थ बारम्बार है जहाँपनाह !" तानसेन ने उत्तर दिया परन्तु अकबर का मन नहीं भरा। इसी समय राजा टोडरमल आये तो अकबर ने उनसे वही प्रश्न पूछा।

"बार का अर्थ द्वार भी होता है जहाँपनाह ! यशोदा द्वार-द्वार जाकर कह रही हैं कि अरे ! कोई गोपाल को रोक लो।" टोडरमल के उत्तर से भी सन्तुष्टि नहीं हुई तो अकबर ने अपने समीप ही उपस्थित बीरबल की ओर देखा। सभा चातुर्य, अर्थात् हाजिर जवाबी में बीरबल अद्वितीय थे।

"बार का तात्पर्य धार से है जहाँपनाह ! गोपाल तो रथ में जा रहे थे। अतएव जब तक यशोदा प्रत्येक द्वार पर पहुँचतीं, उनका रथ न जाने कहाँ से कहाँ निकल जाता। इसलिए यशोदा जी यमुना की धारा पर स्थित प्रत्येक घाट-घाट पर जाकर कह रही थीं कि गोपाल को रोक लो। कोई नाव नहीं देगा तो प्रिय कैसे मथुरा जा सकेगा।"

परन्तु अकबर को सन्तोष इससे भी नही हुआ। वह जानता था कि सूरदास रस-सिद्ध कवि हैं, उन्होंने न जाने किस गूढ़ार्थ से इन शब्दों का चयन किया होगा। अब उसने अपना मुख कविवर रहीम-अबदुर्रहीम खानखाना-की ओर फिराया।

"कुछ आप भी तो बताइये रहीम जी !" अकबर ने पूछा।

"सम्राट् ! आप सबसे पहले कवि-हृदय हैं। कवि की वाणी को या तो कवि जान सकता है या फिर भावुक पहचान सकता है। सोचिये तो सही, जिसका हृदय-धन चला जा रहा हो, जिसका सर्वस्व लुट गया हो, वह चेतन रह सकेगा ? यशोदा मूर्च्छित पड़ी हैं। उनको इतना होश कहाँ है कि वह बार-बार पुकारें। तानसेन जी तो स्वरों के आरोह-अवरोह की क्रिया जानते हैं, दोहराना ही उनकी कला है, इसलिए उन्हें यही लगा कि यशोदा बार-बार कहे जा रही हैं। क्षमा करें जहाँपनाह ! टोडरमल जी आपके राजस्व-मन्त्री हैं इनको घर-घर से कर वसूल करने की आदत है, इसीलिए उनको भी द्वार-द्वार ही सूझा। बीरबल जी का तो कहना ही क्या है, 'जलशूर ब्राह्मण' कहे ही जाते हैं, सो आपको घाट-घाट का पानी ही उपयुक्त जान पड़ा।"

"आप क्या कहते हैं ?"

"मैं क्या निवेदन करूं महाराज ! इन शब्दों में माता का हृदय बोल रहा है वात्सल्य का निर्झर प्रवाहित हो रहा है। सम्राट् ! प्राणधन श्रीकृष्ण के प्रवासी होते ही यशोदा अपनी संज्ञा खो बैठी हैं। बेहोश पड़ी हुई हैं। कौन पुकारे और किसको पुकारे। वह तो श्याममय हो रही हैं, अतएव उनका बार-बार यानी बाल-बाल अर्थात् रोम-रोम रो-रोकर कह रहा है कि अरे ! कोई जाने वाले गोपाल को रोक लो। इसी का नाम काव्य है।" महाकवि रहीम ही नहीं वरन् सभी दरबारियों के नेत्र सजल हो गये।

ब्रजभाषा यहाँ तक समादृत होती थी। 'संगीत-साहित्य-कला' तीनों का अनोखा सम्मिश्रण ब्रजभाषा में दिखायी देता है। यही कारण है कि भक्ति-काल और रीतिकाल में ब्रज-बोली ने राष्ट्र-भाषा का रूप प्राप्त कर लिया था।

ब्रजभाषा का क्षेत्र उत्तर और दक्षिण में खड़ी बोली तथा बुन्देली से परिवेष्ठित रहा। पूर्व में अवधी का सम्पर्क था तथा पश्चिम में राजस्थानी अर्थात् मेवाती और जैपुरी बोलियों से घिरा रहा। प्रायः इन सभी बोलियों का सहयोग ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ। इस समय भी, लगभग डेढ़ करोड़ जनता ब्रजभाषा बोलती है और उसका विस्तार लगभग ३८,००० वर्ग मील में है।

ब्रजभाषा में माधुर्य्य लाने के लिए कवि-लोगों ने बहुत परिश्रम किया था। प्रायः उन शब्दों का प्रयोग नहीं होता था, जिनमें खड़खड़ाहट या कठोरता का आभास मात्र भी मिलता हो। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्रजभाषा की पदावली सरस और ललित बन गयी। इसका एक स्वाभाविक कारण भी था—संगीत के सहयोग से ब्रजभाषा में कोमलावृत्ति का प्रवेश हुआ। संगीत में कुछ स्वर तीव्र होते हैं और वे ही कोमल भी होते हैं। ऐसे स्वरों के अनुकूल शब्द-चयन से भी सरसता आयी। इसके अतिरिक्त ब्रज-भाषा बोलचाल में भी प्रयुक्त होती थी अतएव व्यावहारिक-सम्पर्क होने के कारण उसमें रोचकता और अरोचकता का बोध स्वयं होने लगा। यही कारण है कि "अंग्रेज सैनिकों

का गाना जिन्होंने सुना है, वे भले ही उनके पैशाचिक गर्जन पर हँसा करें, पर अंग्रेजों को तो उसी में आनन्द आता है।" इसका कारण मानसिक-संस्कार है। ब्रजभाषा की माधुरी के मूल में भी इसी संस्कार की प्रधानता रही है। महाकवि रसखान तो 'चार सवैया' लिखकर ही अमर हो गये—

"मानुस हौं तौ वही रसखान बसौं नित गोकुल ग्राम के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बस मेरो, बसौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरिकौ जो धरौ कर-छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं वहि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥"

इसी प्रकार घनानन्द जैसे अमर विरही-कवि ब्रजभाषा के क्षेत्र में विप्रलम्भ शृंगार के अप्रतिम-कवि कहे जाते हैं। उनके काव्य में जैसी पीड़ा और जैसी वेदना की अभिव्यक्ति दिखायी देती है, अन्यत्र दुर्लभ है। कहते हैं कि स्नेह का मार्ग अत्यन्त सरल है, जहाँ कुटिलता बिल्कुल नहीं है अर्थात् प्रेम-मार्गी को सरल-चित्त होना चाहिए। उस पथ पर सच्चे स्नेही चलते हैं, जिनके हृदय में कोई शंका नहीं होती। जो कपटी होते हैं, वे झिझकते हैं, डरते हैं, भयभीत होते हैं, घनानन्द की घोषणा है कि हम तो 'एक' ही पढ़े हैं, हमारा प्रिय 'एक' ही है, एक के साथ किसी अन्य एक को सम्मिलित करेंगे तभी तो एक से दो होगा, परन्तु यहाँ तो अनेक की भावना ही नहीं है। अन्तिम पंक्ति में मुहावरे का प्रयोग तो जान डाल देता है। 'मन'—एक मन लेते हो परन्तु छटाँक भर भी बदले में देते नहीं हो! मन का दूसरा अर्थ हृदय भी है। छटाँक मन का ६४० वाँ भाग होता है। 'मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं' में जो गूढ़ार्थ अभिव्यंजना है वह दर्शनीय है:—

"अति सूधौ सनेह कौ मारग है, जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपुन पौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरौ आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला! मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥"

एक ऐसे ही अन्य आचार्य-कवि 'देव' का नमूना देखिए। प्रसङ्ग है उद्धव और गोपियों के सम्वाद का। ज्ञान गठरी लेकर भारवाही भृत्य बने हैं उद्धव। गोपियाँ उनको उत्तर दे रही हैं कि हमारे नेत्र तो श्याम-अंजन से सुशोभित हैं, हम तुम्हारे निर-अंजन अर्थात् अंजन रहित फीके नेत्रों को देख कर क्या करें। क्योंकि 'अंजनयुत नेत्रों, को शृंगार के धरातल पर अत्यन्त साहसिक माना है:—"ये कजरारे कौन पै, करत कजाकी नैन।" —किस पर डाका डालते हैं। 'निरंजन' शब्द का भिन्नार्थ प्रयोग अत्यन्त चमत्कारिक है और आनन्द-विधायक भी है। आगे फिर कहती हैं कि जिसने पुष्प-पराग का पान किया है, उसे डण्ठल के चूसने में क्या आनन्द आ सकता है, जिसने साकार श्यामसुन्दर को पा लिया है, वह निराकार नारायण को प्राप्त करने की चेष्टा ही क्यों करेगा—'रूप रेख गुन जाति जुगुत बिनु' है और इसी कारण से 'निरालम्ब

मन चक्रित धावे !" वाली बात है। जो वीर है, नगाड़े पर चोट देकर, घोषणा करके सूर्य का भेदन करके पार निकल जाता है। अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर जिसने मोक्ष का भी आदर नहीं किया है, उसे तुम डिम-डिम डमरू का नाद सुना रहे हो। नगाड़े की ध्वनि और डमरू निनाद की तुलना करके गोपियों ने उद्धव की महत्ता को खण्डित कर दिया है। हे उद्धव ! तुम भी पूरे पारख हो अर्थात् दूसरों की परीक्षा लेते रहे हो, परीक्षक हो ! कभी परीक्षार्थी नहीं बने। इसी योग्यता की जाँच करके श्याम ने तुम्हें अपना दूत बनाया है। तुम तो इस प्रेम-मार्ग पर कभी चले ही नहीं, इसलिए तुम पार पर ही अर्थात् तट पर ही डूब जाने वाले हो, हम लोग तो बीचधार में तैरने वाले हैं। तुमने अभी इस स्नेह-सरिता में अवगाहन नहीं किया है। हमने मन रूपी माणिक देकर हरि रूपी हीरा मोल लिया है और अपनी गाँठ में भी बाँध लिया है—लैन-दैन सम्पूर्ण हो चुका है, उनको तुम कौड़ियों का व्यापार बता रहे हो ? हम लोग तो जौहरी हैं, बड़े मूल्य की वस्तुएँ क्रय करते हैं।

अंजन सौं रंजित निरंजनहि जानैं कहा,
फीकौ लगै फूल-रस चाखै ही जु बौंड़ी को।
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौंड़ी को॥
ऊधो, पूरे पारख हौ, परखे बनाय 'देव'
पारही पै बोरौ पैरवैया धार औंड़ी को॥
मनु मनिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यौ हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को॥

ब्रजभाषा की कान्तता और माधुरी केवल काव्य-क्षेत्र तक ही सीमित हो, सो बात नहीं है। ब्रज बोली में आज भी जो मिठास है, वह अन्य भाषाओं में दुर्लभ है। इस ग्राम्य-माधुरी का वर्णन एक यात्री के शब्दों में सुनिये :—

"विरज (ब्रज) की बोली का मैं आपसे क्या हाल बताऊँ ? उसमें तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है, जैसा और किसी जबान में मिलना मुश्किल है। मथुरा में तो खैर वह बात नहीं है, पर हाँ, देहात में, नन्दगाँव, बरसाने वगैरह को जब हम लोग परि-कम्मा (परिक्रमा) को जाते हैं, तो वहाँ की लड़कियों की घंटों गुफ्तगू ही सुना करते हैं। निहायत ही मीठी जबान है।"

वास्तविकता यह है कि ब्रज-रज में कोमलता है। अतएव कोमलता और सरसता की भूमि से मधुरता का प्रकट होना स्वाभाविक है। सूर ने, वात्सल्य का जैसा सम्यक् वर्णन अपने बन्द नेत्रों से किया है, वह अद्वितीय है।

श्रीकृष्ण ने चुरा-छिपा कर माखन खाया है और यशोदा के आ जाने से पकड़े गये हैं। बहाना बनाते हैं कि यह सब करतूत ग्वाल-बालों की है। उन्होंने बल पूर्वक मुख से दही और माखन लपेट दिया है परन्तु...बुद्धि तो बालक की है न ! हाथ में दही का

दोना पकड़े हुए हैं, उसे पीठ पीछे छिपाये जा रहे हैं। परन्तु मा का मन इसी भोलेपन पर मोहित हो जाता है—

मैया ! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ॥
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ॥
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायो ॥
मुख दधि पोंछि कहत नँदनन्दन, दोना पीठ दुरायो ॥
डारि साँट, मुसकाइ तबहिं, गहि सुत को कण्ठ लगायो ॥

ब्रजभाषा में श्रुति-मधुर शब्दों की प्रचुरता है और एक कारण यह भी है कि उसकी पद रचना में संगीतत्व का प्रवेश बिना किसी कठिनाई के हो जाता है। महाकवि 'देव' का एक सवैया इसका प्रमाण है, जिसमें उन्होंने ब्रजराज का साँगोपाँग वर्णन किया है :—

"पाँयन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसे बन-माल सुहाई ॥
माथे किरीट, बड़े दृग चञ्चल, मन्द हँसी, मुख चन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री ब्रज-दूलह 'देव'-सहाई ॥"

ब्रजभाषा में, काव्य के अनुकूल भाषा में परिवर्तन करने की सुविधा सदैव उपस्थित रही है। कवि और आचार्यों की मान्यता रही कि भाषा को भावों और छन्दों के अनुरूप होना ही चाहिए। यही कारण है कि आज भी ब्रजभाषा की 'बानी' सुन्दर लगती है, खड़ी बोली की 'वाणी' कुछ अटपटी-सी जँचती है।

ब्रजभाषा की इस स्वतन्त्र-प्रवृत्ति का अनुसरण खड़ी बोली के कोमल-कवि श्री पन्त ने किया है। अपने पदों में 'रे' का प्रयोग इसी संगीतत्व और मधुरता का मूल है। 'और' के स्थान पर 'औ' का प्रयोग भी ऐसा ही है। इसके अतिरिक्त 'फेनिल' के आधार पर स्वप्निल की उद्भावना भी सरसता के कारण की गयी है। ब्रजभाषा के अनुकरण पर ही 'प्रि' 'प्रियाह्लाद' जैसा प्रयोग पन्त ने किया है।

प्रसाद जी भी ब्रजभाषा के प्रभाव से अछूते नहीं हैं। 'अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न ये फिर भी कितने निबल रहे।"

"बिजली माला पहने फिर, मुसक्याता सा आँगन में।"

"ओढ़े रंग-बिरंगी छींट।" तथा **"मधु-से भीगी वे पाँखें।"**

यह एक माननीय तर्क है कि शब्द का केवल वही अर्थ नहीं होता जो कोश में दिया होता है, परन्तु उसके सम्बन्ध पर उसका अर्थ निर्भर करता है। उदाहरण के लिए लवण से बना हुआ लावण्य है और उसी से घिस पिट कर 'नमक' बन गया है, दोनों का अर्थ सुन्दरता ही है। परन्तु कोश में नमक का अर्थ लवण ही मिलेगा "चेहरे पर नमक है" इसका अर्थ सौन्दर्य के पक्ष में होगा, शाक में डाले जाने वाले 'नोंन' से नहीं।

हमें यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है कि ब्रजभाषा आज साहित्यिक-गौरव से विहीन है परन्तु वह लोक-भाषा के रूप में सदा ही जीवित रहेगी। उसमें साहित्य का सृजन प्रचुर मात्रा में हुआ है। उसका निकटतम सम्बन्ध संगीत के उस आरम्भिक और कलात्मक स्वरूप से है, जो गायकी के लिए अत्यावश्यक है—"लट उरझी सुरझा जा रे बालम" का स्थान जब तक खड़ी बोली से स्वर नही ग्रहण कर लेते तब तक ब्रजभाषा की मधुरता जीवित रहेगी, यह एक निर्विवाद सत्य है। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा साहित्य की भाषा भी स्वीकृत हो चुकी है। उसके दोनों रूप आज भी विद्यमान हैं और ब्रजभाषा में साहित्य का सृजन यथावसर हो ही रहा है। नये कवियों ने, खड़ी बोली के कवियों तथा साहित्यकारों के द्वारा गृहीत नवीन भावनाओं को भी अपनाना आरंभ कर दिया है। इसका अर्थ यह है कि प्राचीन ब्रजभाषा में परिवर्तन हो रहा है। वह नवीनता की ओर अग्रसर हो रही है, तो आशा है कि शताब्दियों तक उसकी प्रवहमानता मन्द नहीं हो सकेगी। पं० सत्यनारायण कविरत्न के पश्चात् श्री जगन्नाथदास रत्नाकर की रचना 'उद्धव-शतक' अनमोल कलाकृति है, जिसमें उनके कवि-कर्तृत्व और अनुपम-प्रतिभा का परिचय उपलब्ध है। एक पद देखिये :—

"हेत-खेत माँहि खोदि खाई सुद्ध स्वारथ की,
प्रेम-तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीं।
करनी प्रतीत-काज करनी बनावट की,
राखी ताहि हेरि हियै हौंसनि सनौ नहीं॥
घात मैं लगे हैं ये बिसासी ब्रजबासी सबै,
इनके अनौखे छल-छन्दनि छनौ नहीं।
बारनि कितेकि तुम्हें बारन कितेक करैं
बारन-उबारन ह्वै बारन बनौ नहीं॥"

प्रायः बलशाली हाथी को पकड़ने के लिए पहले एक खाई-सी (Trench) खोद देते हैं और उसे हरी-हरी घास-पत्तियों से ढक देते हैं। भूल से हाथी उस पर चला आता है तो उसमें गिरकर पकड़ा जाता है। वही बात आलंकारिक ढंग से कही गयी है कि स्नेह के खेत में शुद्ध-स्वार्थ की खाई खोद दी है गोपियों ने और उसे प्रेम-तृण-गुल्मादि से आच्छादित कर रखा है, उस पर मत जाना। यह सब प्रवञ्चना है, कपट है, विश्वास कराने के लिए ही गोपियों ने दिखावटी 'करनी' अर्थात् सुकृत्यों का धोखा दिया है। उसे देखकर तुम अपने मन में प्रसन्न मत होओ। यह विश्वासघाती ब्रजवासी इसी ताक में हैं कि तुम्हें किसी प्रकार से पकड़ लें। इनके षड्यन्त्र में तुम उलझ मत जाना। कितने दिन तुम्हें मना करें, कितनी बार तुम्हें वर्जित करें, तुम गजराज के उद्धार करने वाले होकर भी क्यों अबोध बन रहे हो। यहाँ बारन शब्द की छटा और उसके अनेक अर्थों का आनन्द देखने योग्य है। बारनि = दिन। बारन = मना करना, निवारण या वर्जना। बारन = हाथी। उबारन = उद्धार कर्त्ता। बारन = अबोध।

भाषा-विज्ञान के दृष्टिकोण से, ब्रजभाषा में कुछ ऐसे मूल सिद्धांत उपलब्ध हैं, जिनके कारण उसमें कोमलता और सरसता का आ जाना स्वाभाविक है।

वर्ण-भेद—ब्रजभाषा में र, न, ज, र, ब, स, छ का प्रयोग सुलभ है, जब कि खड़ी बोली के अनुसार इनके स्थान पर ड़, ण, य, ल, व तथा श, क्ष या ऋ का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा की जमुना खड़ी बोली में यमुना लिखी जायगी और इसी प्रकार पीपर को पीपल लिखा जायगा।

विशेषता—'पीपर' शब्द का हर्ष-विभोर करने वाला प्रयोग केवल ब्रजभाषा में ही सम्भव है। एक पंक्ति है—"वर पूजिये पीपर पूजिये ना" साधारण रूप से इसका अर्थ होगा कि वट-वृक्ष की पूजा करने योग्य है पीपल की नहीं। क्योंकि ऐसा मानते हैं कि पीपल के वृक्ष पर अनेकानेक देवताओं और प्रेतात्माओं का निवास रहता है, इसलिए नारियों को पीपल-पूजा नहीं करनी चाहिए; परन्तु शब्द की व्यञ्जना-शक्ति के आधार से इसका अर्थ अनोखा ही निकलेगा। 'वर' पूजिये अर्थात् अपने पति की सेवा करनी चाहिए 'पी-पर' अर्थात् दूसरी नारी के पी (पिय, प्रियतम, स्वामी) की पूजा नहीं करनी चाहिए। पर का अर्थ पराया होगा। पीपल से ऐसा व्यंग्यार्थ अभिव्यंजित नहीं हो सकेगा।

व्यञ्जनों का पाँचवाँ वर्ण अनुस्वार का रूप ग्रहण कर लेता है। जैसे पञ्चम का पंचम होगा और कुञ्ज का कुंज। इससे लेखन में सुविधा हो जाती है।

ऊर्ध्व 'र' कार ब्रजभाषा में सस्वर रूप ले लेता है। इससे उच्चारण में सुविधा हो जाती है। जैसे धर्म का धरम, नर्म का नरम, शर्म का शरम आदि।

इसी प्रकार हलन्त वर्ण भी सस्वर बन जाते हैं। जैसे—वृहत् से वृहत, भगवत् से भगवत आदि।

कतिपय स्थानों पर शब्द के बीच में आनेवाला 'व' और 'य'-'औ' तथा 'ए' का रूप लेता है। यथा:—पवन का पौन, नयन का नैन, गवन का गौन, बयन का बैन आदि।

रूप-भेद—ब्रजभाषा में प्रयुक्त संज्ञाएँ, सर्वनाम, विशेषण, भूत-कृदन्त और कभी-कभी वर्तमान कृदन्त भी 'ओ' कारान्त होते हैं। उदाहरण के लिए—

सज्ञा—बाल-बारो। नगाड़ा-नगारो। तमाशा-तमासो।

सर्वनाम—अपना-अपनो। मेरा-मेरो।

विशेषण—पीला-पीरो। काला-कारो।

क्रिया—गया-गओ। लाया-ल्याओ।

वचन-भेद—ब्रजभाषा में बहुवचन की सिद्धि के लिए 'न'—'नि' और 'नु' का प्रयोग होता है। लरिकन (लड़का) दृगनु (दृगों) तीछनि (तीक्ष्ण) आदि बनते हैं।

ईकारान्त शब्दों में, पूर्ववर्ती वर्ण को ह्रस्व कर दिया जाता है और 'याँ' हो जाता है। अ-कारान्त तथा आ-कारान्त में 'ऐ' तथा 'ए' को स्थान देते हैं। उदाहरण के लिए—नंदरानी से नंदरनियाँ आँख से आँखैं आदि बनते हैं।

इसी प्रकार से 'कारक-भेद' से अनेकानेक मधुरतम विभक्तियों की प्राप्ति होती है। महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने कहा है कि ब्रजभाषा की विभक्तियों की समता खड़ी बोली की विभक्तियाँ नहीं कर सकती हैं। 'हिं'-'कौं'-'से'-'सौं'-'कहँ'-आदि से 'को'-'के'-'लिए'-'से'-'का'-'के'-आदि स्पर्द्धा नहीं कर सकते। खड़ी बोली में केवल 'में' ही श्रुति मधुर विभक्ति है, परन्तु वह भी ब्रजभाषा की 'महँ' की श्रुति-सरसता के सम्मुख फीकी पड़ जाती है।

क्रिया-भेद—खड़ी बोली में प्रायः क्रियाओं की व्यक्ति के लिए 'ना' का प्रयोग होता है। करना, लाना, पीटना आदि। परन्तु ब्रजभाषा में 'नो'-'ना' तथा 'बो' का प्रयोग होने से उनमें जहाँ मधुरता भी आती है, वहीं सरलता भी। उदाहरण के लिए, देना से दीनो या दीन्हो, करना से करनो, आना से आवन, लाना से लावन, निहारना से निहारिबो, झगड़ना से झगरिबो।

आज्ञार्थक क्रियाओं में 'इयो' का प्रयोग बड़ा भला लगता है। जैसे—'तुम जाना' के स्थान पर 'तू जइयो' हो जायगा।

अव्यय-भेद—ब्रजभाषा के अव्ययों में भी एक प्रकार से माधुर्य्य-भेद पाया जाता है। यथा:—**यहाँ**—इहाँ, इत, इतै, ह्याँ

वहाँ—उत, ह्वाँ, तित, तितै, तहाँ, उहाँ

जहाँ—जहँ, जहवाँ, जित, जितै

कहाँ—कित, कितै, कहँ, कतहूँ, कहूँ

जब—जब, जबै, जबहिं

ऐसा, ऐसी—ऐसौ, ऐसी, अस, यों, इमि आदि।

पर्यायवाची शब्द—ब्रजभाषा में संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया और अव्यय आदि के लिए अनेक पर्यायवाची-शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं। कान्ह, कान्हा, कन्हैया, कान्हर आदि। तू, तूँ, तैं, तो आदि। इससे यह सुविधा है कि जहाँ लघु मात्रा या दीर्घ मात्रा आवश्यक हो, वहाँ वैसे ही शब्द का प्रयोग सम्भव हो जाता है।

लाघव—ब्रजभाषा की क्रियाओं में अल्प क्षेत्र में ही इतनी गति है कि खड़ी बोली की लम्बी क्रियाएँ फीकी-सी जान पड़ती हैं। यथा—खड़ी बोली में 'देख करके' लिखना होगा, परन्तु ब्रजभाषा में यही 'लखि'-'निरखि' से स्पष्ट हो जायगा। यह क्रिया-लाघव विस्तार से बचाता है, स्थानाभाव नहीं होने देता और सुन्दरता ले आता है।

"गुरु लघु, लघु गुरु होत है, निज इच्छा अनुसार" यह ब्रजभाषा का मूल-सिद्धान्त है, जो उसकी स्वतन्त्र-प्रकृति का परिचायक है और भाषा के विकास में सहायक भी है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसका प्रयोग मनमाने ढँग से हो सकता है। यथावसर ऐसा भी हो सकता है—"मोतिन कौ तोरचौ मम हारा।" (मतिराम)

ब्रजभाषा में, आज भी इतना साहित्य उपलब्ध है कि उसका अध्ययन, मनन और पठन-पाठन शताब्दियों तक अनुसन्धान करने वालों को प्रेरणा प्रदान कर सकता है।

हिन्दी का हास्य काव्य

[कान्तानाथ पाण्डेय 'राजहंस', हरिश्चन्द्र कालेज, वाराणसी]

काव्यगत नव रसों में यद्यपि शृंगार को सबसे अधिक महत्त्व, रस राजत्व, प्राप्त है, फिर भी 'हास्य' का महत्त्व उसमें विशेष कम नहीं। जीवन की परीक्षा में पास वही हो सकता है जिसके चेहरे पर 'हास' हर समय खेलता रहे। रत्ती सी भी प्रसन्नता में जिसकी बत्तीसी नहीं खिली, मन उत्फुल्ल नहीं हुआ—उदास ही रहा, वह मनुष्य आजीवन परिस्थितियों का दास ही बना रहेगा।

हास्य रस का महत्त्व

नव रसों के मंत्रिमण्डल में शिक्षा या एजुकेशन का पोर्टफोलियो माननीय हास्य रस जी के पास है। इनका रंग भी श्वेत है। शिवेतर के नाश करने की शक्ति इन्हीं में है। सफेद रंग यश का, पवित्रता का, शान्ति का, सत्य का, अहिंसा का प्रतीक है। सतोगुण का सूचक है। वही रंग सब रसों में हास्य रस का है। इसी से सब रसों में इन्हीं का रंग है।

विश्व कवि कालिदास ने गिरिराज हिमालय के गौरव कैलास की उपमा भगवान् शंकर के पुंजीभूत अट्टहास से दी है—"त्र्यम्बकस्याट्टहासः"। कितनी मधुर और उदात्त कल्पना है। ज्ञान के अधिष्ठाता, त्रैलोक्य गुरु शंकर का अट्टहास कितना मधुर, पूत और पावन! वास्तव में हास कैलास-सा ही पवित्र है; दूसरों को भी पवित्र करता है।

घोर निराशा के बादलों से भरे जीवन रूपी आकाश में हँसी की बिजली जब कौंध जाती है तब उसके प्रकाश में आस-पास के विषधरों को देख हम सावधान हो जाते हैं, दूसरों को भी सावधान कर देते हैं।

जीवन या कविता एक ही वस्तु के दो नाम या रूप हैं। जीवन से दूर अलग पड़ी हुई कविता को कविता कैसे कहा जाय? कविता को सजीव, सप्राण बनाये रखने वाला यही हास्य रस है।

भारतीय साहित्य और हास्य

भारतीय हृदय सदा से आनन्द का उपासक रहा है। भारतीय जीवन में नाना-विध आँधियों और तूफानों के आने पर भी उल्लास और हर्ष की ही हिलोरें उठती

रहीं। भौतिकवादी न होते हुए भी भारत लौकिक अभ्युदय को भी महत्त्व देता रहा। निःश्रेयस, पारलौकिक कल्याण, परमात्म चिन्तन में लीन आध्यात्मिक ऋषि भी सांसारिक आह्लाद से सर्वथा विरत होने का उपदेश नहीं देते थे। वे स्वस्थ और प्रसन्न रहने की कामना किया करते थे। "जीवेम शरदः शतम्" उनका संकल्प था। स्वस्थ तन और स्वस्थ मन का परिचायक उन्मुक्त हास्य उनके जीवन में परिव्याप्त था। इसी कारण भारतीय वाङ्मय में हास्य-विनोद पूर्ण मात्रा में मिलता है। वैदिक और पौराणिक दोनों ही साहित्यों में हास्य की छीटें वर्तमान हैं। 'क्रौंच' के प्रति साश्रुनयन आदि कवि भी हँसना हँसाना जानते हैं। कालिदास 'अट्टहास' को क्या समझते हैं यह ऊपर वर्णित हो ही चुका है। और 'भास' ! उन्हें तो 'भासा हासः' कह कर कविता-कामिनी का हास ही मान लिया गया है।

सो, क्या प्रबन्ध काव्य, क्या मुक्तक, क्या नाटक, क्या आख्यायिका संस्कृत साहित्य की इन तमाम विधाओं में हास्य रस की प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है। न केवल पेटू ब्राह्मण विदूषकों के माध्यम से (जैसा कुछ व्यक्तियों का मत है) हास्य का उद्रेक किया गया है प्रत्युत व्यापार वर्णन के गम्भीर स्थलों तक में हास्य का सन्निवेश देखा जाता है। मंगलाचरणों तक में, देव वन्दना के प्रसंग ऐसी गम्भीर चर्चा में भी हास्य का आश्रय ग्रहण किया गया है। भोले बाबा भगवान् शंकर ही अपनी विचित्र वेशभूषा, अद्भुत रूप-रंग और रंग-ढंग के कारण अधिकतर हास्य के आलम्बन बनाये गये हैं।

हिन्दी में हास्य का प्रारम्भिक रूप

भारत की समस्त देशी भाषाओं में हिन्दी का ही आविर्भाव और विकास सर्व-प्रथम हुआ। सुतरां अपभ्रंश मिश्रित पुरानी हिन्दी में ही सर्वप्रथम हास्य के दर्शन होते है। हिन्दी के आदि कवि चन्दवरदाई के पृथ्वीराज रासो में भी यत्र-तत्र हास्य की झलक मिल जाती है। १४वीं शताब्दी में अमीर खुसरो की 'पहेलियों', 'मुकरियों' और 'ढकोसलों' में हास्य रस का यथेष्ट पुट वर्तमान है। मैथिल कोकिल विद्यापति ने पन्द्रहवीं शताब्दी में रचित अपनी 'पदावली' में हास्य रस के भी प्रसंग उपस्थित किये हैं। निर्गुण भक्तिशाखा के प्रवर्तक महाराष्ट्र सन्त 'नामदेव' के हिन्दी पदों में भी, (१४वीं शताब्दी में) हास्यपूर्ण उद्गारों की कमी नहीं। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस समय तक हिन्दी के काव्य साहित्य में हास्य रस का प्रयोग प्रचुर परिमाण में नहीं हो पाया था। जो हास्यात्मक प्रसंग थे भी वे अधिक उभड़े और मनोवैज्ञानिकता पूर्ण न थे। यह हिन्दी के हास्य काव्य का शैशवमात्र था। वीर गाथा काल में प्रमुखता युद्ध और मार-काट की तथा निर्गुण भक्ति शाखा में योग और वैराग्य की ही रही। कबीर में व्यंग्य और वक्रोक्ति का आधिक्य अवश्य है पर उनमें तथा अन्य निर्गुनियों में हास्य रस की वह प्रफुल्लतापूर्ण वृत्ति आ ही कहाँ से सकती थी जो सहृदय सगुण भक्तों की अपनी चीज है। अतः इस काल में मुख्य रूप से जिन दो कवियों में उत्कृष्ट हास्य, अविकसित रूप में ही सही—देखा जा सकता है वे हैं खुसरो और विद्यापति।

तुलसी और सूर का हास्य काव्य

सहृदय शिरोमणि, भक्त-प्रवर सूर और तुलसी की रचनाओं में हमें हास्य रस की सुन्दर झाँकी मिलती है। इन दोनों का हास्य बहुत ही मनोवैज्ञानिक तथा विशुद्ध है। तुलसी ने रामचरित मानस के आरम्भ में ही 'शिव-विवाह' के प्रसंग में हास्य को भी स्थान दिया है। क्यों न देते ? शिव के प्रधान गण 'प्रमथ' हास्य रस के देवता जो ठहरे।

भगवान् शंकर की वर यात्रा का वर्णन है। शिव का अद्भुत ठाट-बाट देखकर देवताओं और उनकी पत्नियों के जो मनोभाव होते हैं वे अवलोकनीय हैं :—

देखि सिवहि सुरतिय मुसुकाहीं। बर लायक दुलहिनि जग नाहीं।

× × ×

बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज॥
बर अनुहारि बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई।
बिष्णु बचन सुनि सुर मुसुकाने। निज निज सेन सहित बिलगाने।
मनहीं मन महेस मुसकाहीं। हरि के व्यंग बचन नहि जाहीं॥

इसी प्रकार सीय-स्वयंवर में लक्ष्मण परशुराम संवाद के भीतर भी उत्कृष्ट हास्य और व्यंग्य का प्रयोग हुआ है। परशुराम ज्यों-ज्यों बहकते जाते हैं लक्ष्मण उन्हें बनाने से बाज नहीं आते।

नारद-मोह के प्रसंग में बन्दरों द्वारा रत्नों और मणियों के खाने के प्रयास के स्थल पर तथा केवट के पद-प्रक्षालन सम्बन्धी हठ के अवसर पर भी तुलसी ने विशुद्ध और निर्मल हास्य की किरणें बिखेरी हैं।

कवितावली में उनका हास्य-व्यंग्य मय एक ही छन्द मिलता है पर वह बेजोड़ है। अपने समय के ढोंगी साधुओं की खिल्ली जिस मार्मिकता के साथ तुलसी ने राम-वन गमन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उड़ायी है वह समझने बूझने ही लायक है:—

"विन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारी दुखारे।
गौतमतीय तरी 'तुलसी' सो कथा सुनि भे मुनि वृन्द सुखारे।
ह्वै हैं सिला सब चन्दमुखी परसे पद मंजुल कंज तुम्हारे।
कीन्हीं भली रघुनायक जू, करुना करि कानन को पगुधारे॥"

महाकवि सूरदास की वचन विदग्धता तथा हास्य व्यंग्य-प्रियता का परमोत्तम प्रमाण गोपी उद्धव संवाद है। गोपियाँ उद्धव को खूब ही बनाती हैं, कहती हैं— "सूर स्याम जब तुम्हैं पठाये तब नेकहु मुसकाने"; अच्छा उद्धव ! यह तो बताओ, जब श्रीकृष्ण तुम्हें हमारे पास भेजने लगे थे तब कुछ मुस्कराये भी थे ? अवश्य ही मुस्कराये होंगे श्रीकृष्ण ! उद्धव की बुद्धि की परीक्षा ले रहे थे न !

भक्तिकाल के कुछ अन्य कवियों का हास्य

सूरदास की ही तरह सूरदास मदनमोहन नामक सन्त कवि भी अलमस्त आदमी थे। उनके पदों में भी हास्य की झलक मिल जाती है। तुलसी के मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के "कमला थिर न रहीम कह, यह जानत सब कोय। पुरुष पुरातन की बधू क्यों न चञ्चला होय" में मधुर हास्य छिपा है। आचार्य केशवदास अनजान में ही अपनी कई उक्तियों में हास्य का सृजन कर बैठे हैं। प्रकृति के अनूठे पुजारी महाकवि सेनापति का 'दाता और सूम' की समता वाला छन्द हास्य और चोज का अच्छा उदाहरण है। महाकवि सुन्दरदास, होलराय आदि में भी हास्य व्यंग्य की माधुरी मिलती है। महाकवि गंग, टोडरमल बीरबल उपनाम 'ब्रह्म', आदि के कई छन्दों में हास्यरस का अच्छा परिपाक हुआ है। बीरबल तो विनोदी प्रसिद्ध ही हैं। खेद है कि उनके कहे या उनके नाम से प्रसिद्ध लतीफों की भाँति उनके छन्द भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध नहीं होते।

रीतिकाल का हास्य

रीतिकाल को एक प्रकार से शृंगार काल भी कहा जा सकता है। इस काल में शृंगार रस का ही विशद विवेचन और व्यवहार हुआ। आचार्यों तथा कवियों ने मुख्य रूप से शृंगार को ही अपनाया। किन्तु हास्य रस सर्वथा उपेक्षित भी न रहा। महाकवि बिहारी मुख्यतः शृंगारिक कवि हैं तथापि हास्य, और चोज की मात्रा उनमें भी कम न थी। उनका यह एक ही दोहा उनके शिष्ट हास्य-निर्माण की क्षमता का परिचायक हो सकता है:—

"चिर जीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥"

मजाक ही मजाक में राधाकृष्ण को गाय-बैल बना डाला। भगवत कवि के भी दो-चार उद्‌गार हास्यपूर्ण हैं। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि हास्य को जो स्थान प्राप्त होना चाहिए था वह रीतिकालीन अधिकांश कवियों की कृति में नहीं दिखलायी पड़ता।

प्रीतम हास्यरस काव्य के प्रवर्तक

किन्तु इसी युग में आगरा के अली मुहिब खाँ 'प्रीतम' नामक प्रतिभाशाली कवि ने संवत् १७८७ में 'खटमल बाईसी' नामक हास्यरस की एक स्वतन्त्र काव्य-कृति प्रस्तुत की। इस कवि के महत्त्व के सम्बन्ध में समालोचक-शिरोमणि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने "हिन्दी साहित्य का इतिहास" में लिखते हैं—"× × × किसी और रस को अकेला लेकर मैदान में कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हजरत अली मुहिब खाँ साहब ने कर दिखलाया! इस ग्रन्थ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों में दिखायी पड़ता है। हास्य आलम्बन प्रधान रस है। आलम्बन मात्र का वर्णन ही इस रस में पर्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्य क्षेत्र के हास्य आलम्बनों की परम्परा की जाँच करते हैं, तब एक प्रकार की बँधी रूढ़ि

सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों में खाऊपन और पेट की दिल्लगी बहुत कुछ बँधी-सी चली आयी। भाषा-साहित्य में कंजूसों की बारी आयी। अधिकतर यह हास्य के आलम्बन रहे। खाँ साहब ने शिष्ट हास्य का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इन्होंने हास्यरस के लिए खटमल को पकड़ा। × × × हम प्रीतम जी को एक उत्तम श्रेणी का पथ प्रदर्शक कवि मानते हैं।"

प्रीतम जी ने यद्यपि अपनी बाइसी के एकाध छन्दों में संस्कृत की पुरानी उक्तियों का आश्रय लिया है तथापि उनमें भी उनकी मौलिक काव्य प्रतिभा दिखलायी पड़ती है अधिकतर छन्द तो मौलिक हैं ही। दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

जगत के कारन करन चारौ बेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोषन अवनि, दुख सोषन तिलोकन के,
सागर में सोये जाय सेस सेज करिके।
मदन जरायो जो सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार बेऊ भाजि हर बरि कै।
विधि हरिहर, कोऊ इनतें न बर, तेऊ,
खाट पै न सोवैं खटमलन सौं डरि कै॥१॥
बाघन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो, काहू दारू ना बताई है।
जब हहराय हम हरि के निकट गये,
हरि मों सो कही, "तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुन,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥"२॥

रीतिकालीन कुछ अन्य कवि बेनी, पद्माकर आदि

आचार्य तथा कवि तोषनिधि उपनाम "तोष" के कुछ छन्दों में हास्य मिलता है परन्तु उससे हमारा मनस्तोष नहीं होता। शिवसहाय दास की लोकोक्ति रस कौमुदी में अलबत्त हास्य की अच्छी झलक मिल जाती है। हाँ रायबरेली के महाकवि 'बेनी' ने हास्य रस का काव्य प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत किया। उन्होंने अधिकतर 'भँडौवे' लिखे जिस प्रकार अंग्रेजी 'सटायर' या उर्दू शायरी में 'हजो' का प्रचार है उसी प्रकार हिन्दी में भँडौवों का भी। किसी की उपहास पूर्ण निन्दा से युक्त होने पर भी यह परिहास काव्य सर्वथा निम्न कोटि का नहीं होता। इसमें कवि की कल्पना शक्ति और प्रतिभा की परख के लिए अच्छी सामग्री मिल सकती है। लखनऊ के "ललकदास" पर लिखी बेनी की व्यंग्योक्ति में एक ऐतिहासिक उपकरण भी उपलब्ध होता है

एक रईस ने (जिसका नामोल्लेख करना बेनी जी ने उचित न समझा) कवि को अपने पिता के श्राद्ध में पेड़े खिलाये। कवि जी को उनका स्वाद न रुचा। कुछ पुराने हो गये रहे होंगे। कवि जी ने अपनी इस कविता द्वारा खिलाने वाले का भी श्राद्ध कर डाला:—

"चींटी न चाटत, मूसे न सूँघत, बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जब ते घर में तब ते रहै हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु में कछु स्वाद मिलै, इन्हैं खाय सो ढूँढत हर्र बहेरे।
चौंकि परयो पितु लोक में बाप, सो आपको देखि सराध के पेरे॥"

किसी दयाराम नामक दाता ने बेनी जी को कुछ आम दिये। आकार में विशेष बड़े न थे वे आम। कवि जो कि ऐसा लगा मानों 'खास' उन्हीं के लिए वे 'आम' मँगवाये गये हों। सो आपने आमों की यों खबर ली:—

"चींटी की चलावे को, मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाये मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है।
बेनी कवि कहैं हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरे जान ब्रह्म कौ बिचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सों लगत है।"

बेनी की भाँति अन्य अनेक कवियों ने भी भँडौवे लिखे। ऐसे भंडौवों का संकलन पण्डित नकछेदी तिवारी ने 'भँडौवा संग्रह' के नाम से कई भागों में भारत जीवन प्रेस काशी द्वारा प्रकाशित किया था।

पद्माकर भी मनमौजी शृंगारी तथा भक्त कवि थे। उन्होंने अनेक हास्यात्मक छन्द भी लिखे हैं। 'नैन नचाइ कही मुसुकाइ लला फिर आइयो खेलन होरी' तथा 'हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह में' आदि उनकी पंक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। किन्तु पद्माकर का हास्य काव्य बहुत उच्च कोटि का नहीं है।

आधुनिक काल

वास्तव में सुव्यवस्थित और स्वतन्त्र रूप में हास्य व्यंग्य लेखन का सिलसिला आधुनिक गद्ययुग से और वह भी भारतेन्दु युग से आरम्भ हुआ। जिस प्रकार हिन्दी का कथा साहित्य पश्चिमी साहित्य से प्रभावित है उसी प्रकार हास्य साहित्य भी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सामने संस्कृत तथा अंग्रेजी दोनों साहित्यों के हास्य के आदर्श थे। उन्होंने दोनों स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी स्वतन्त्र शैली में—गद्य और पद्य दोनों में ही उत्कृष्ट हास्य का सृजन किया। गद्य में उनके अन्धेर-नगरी तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन महत्त्वपूर्ण हैं। साथ ही निबन्ध की एक विशेष विधा

'स्तोत्र' की शैली में उन्होंने कंकड़ स्तोत्र, अंगरेज स्तोत्र, वेश्या स्तोत्र, ऐसे व्यंग्यहास्य पूर्ण उच्च कोटि के निबन्ध भी लिखे। अमानत की पुस्तक इन्दर सभा की काव्य परिवृत्ति (पैरोडी) बन्दर सभा के नाम से प्रस्तुत कर उन्होंने 'पैरोडी'—साहित्य को भी जन्म दिया। 'देखी तुमरी कासी लोगो' शीर्षक कविता में उनका दृष्टिकोण यथार्थ वादी और उग्र है। भारतेन्दु के मित्र पण्डित प्रतापनारायण भी हसौड़ और मस्तमौला कवि थे। "ब्राह्मण" पत्र का बकाया चन्दा वे ग्राहकों से हास्यात्मक पद्यों में माँगा करते थे यथा—"आठ मास बीते जजमान, अब तौ करौ दच्छिना दान, हरगंगा।" "मुंसी चितर गुपत तुमको तसलीम करूँ या तिरपन्ताम" तथा अन्य पंक्तियाँ काफी हास्योत्पादक हैं। उनका 'कलिकौतुक रूपक' अच्छा प्रहसन है। राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन 'भंग की तरंग' बूढ़े मुँह मुहाँसे' भी उच्च कोटि के हैं। देवकी नन्दन त्रिपाठी के प्रहसन "बैल छः टके को' "कलियुगी जनेऊँ' तथा पण्डित विजयानन्द त्रिपाठी का प्रहसन 'महा अन्धेर नगरी', बाबा नानक चन्द का 'जौनपुर का काजी', देवदत्त शर्मा का 'अति अन्धेर नगरी," आदि हास्य रूपक सफल और सुन्दर हैं। इनमें से अधिकांश लेखक, कवि भी थे। उन्होंने हास्य रस की सुन्दर कविताएँ भी लिखी हैं।

द्विवेदी युग में भी हास्य-काव्य की प्रगति हुई। द्विवेदी जी गम्भीर विद्वान् होने के साथ ही विनोदी व्यक्ति थे। सरस्वती सम्पादन का गुरुतर दायित्व सम्हालते हुए, नवोदित लेखकों की भाषा का संस्कार करते हुए भी वे हास्य विनोद पूर्ण कविताएँ लिखने के लिए समय निकाल लिया करते थे। "कल्लू अल्हैत" के नाम से उन्होंने बैसवाड़ी-अवधी में उच्च कोटि के हास्यपूर्ण आल्हा छन्द लिखे हैं। नाटककार बदरीनाथ भट्ट कवि भी थे। उन्होंने भी कुछ सुन्दर छन्द प्रस्तुत किये हैं। प्रसिद्ध लेखक जी० पी० श्रीवास्तव ने द्विवेदी युग में ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था, यद्यपि वे गद्य लेखक ही रह गये। पण्डित बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'उजबक' प्रहसन में हास्यपूर्ण छन्द भी लिखे हैं जो सुन्दर हैं। मिश्र बन्धुओं ने हास्य के सुन्दर रूपक लिखे हैं। पण्डित हरिशंकर शर्मा सफल हास्य गद्यकार होने के साथ ही हास्य रस के सफल कवि भी हैं। उनके पिता पं० नाथू रामशंकर शर्मा भी साधारण व्यंग्य लेखक न थे यद्यपि उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं उग्रता का अंश अधिक है। उन्हीं के समकालीन श्रीबालमुकुन्द गुप्त भी हास्य के सजीव कवि थे। उनकी पचीसों रचनाएँ लोगों की जिह्वा पर हैं। पं० शिवनाथ शर्मा, पण्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ये सर्माद्वय कवि भी हास्य काव्य के सफल प्रणेता थे। 'पढ़ीस' जी अवधी भाषा में हास्य रस के अद्भुत कवि थे। इस समय उन्हीं की शैली में श्री रमई काका सुन्दर कविताओं से हिन्दी का हास्य भण्डार भर रहे हैं। पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी हास्य-रसावतार के रूप में प्रसिद्ध ही थे, इस समय पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी (श्रीविनोद शर्मा) उनसे भी बढ़े-चढ़े हैं।

वर्तमान समय में हास्यरस के काव्य की सरिता सूखी नहीं है, प्रत्युत उसका पानी बढ़ता ही जा रहा है। इस समय हास्य काव्य के प्रमुख रचयिता निम्नलिखित हैं—

सर्व श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब', काशीनाथ उपाध्याय 'बेधड़क', गोपाल प्रसाद व्यास, अमृत लाल नागर, विजयदेव नारायण साही, प्रभाकर माचवे, शारदा प्रसाद 'भुसुण्डि', कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच', रमई काका, दयाशंकर दीक्षित 'देहाती', मोहनलाल गुप्त 'भैया जी बनारसी', शिवमूर्ति मिश्र 'कौतुक', कुंज बिहारी पांडे, वंशीधर शुक्ल, केशवचन्द्र वर्मा, हृशीकेश चतुर्वेदी, बरसाने लाल चतुर्वेदी। पण्डित बरसाने लाल चतुर्वेदी तो हास्य रस के डॉक्टर हैं।

ऊपर जिन व्यक्तियों के नाम का उल्लेख किया गया है वे सब हास्य रस की कविता तो लिखते ही हैं, उनमें से अनेक गद्य के क्षेत्र में भी कहानी, उपन्यास और निबंध के भी रचयिता हैं। इसी प्रकार अनेक ऐसे भी व्यक्ति हैं जो हिन्दी में केवल गद्य-लेखक, नाटककार के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। एकाध ने कभी कदाचित् कोई पद्य रचना भी की हो।

आधुनिक हास्य काव्य की प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ

भारतेन्दु युग से ही हिन्दी के हास्य काव्य की प्रवृत्ति में केवल मनो विनोद की पूर्ति के स्थान पर समाज संस्कार की भावना का भी प्रवेश हुआ। वह व्यंग्यात्मक हो उठा। सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रश्नों पर साहित्यकारों ने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार किया। जिसे जहाँ भी बुराई दृष्टिगोचर हुई वहाँ उसने व्यंग्य के सहारे हास्य कविता लिखकर उस बुराई का उपहास किया। यहाँ तक कि जो हास्य लेखक या हास्य कवि नहीं भी थे उन्होंने भी निबन्धों में कहीं-कहीं मीठे व्यंग्य किये हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ऐसी मधुर व्यंग्योक्तियाँ चिर प्रसिद्ध रहेंगी। आज भी साहित्य-क्षेत्र में जहाँ-जहाँ अव्यवस्था या मनमानी दिखलायी पड़ती है उसका विरोध हास्य के माध्यम से अनेक सुयोग्य कवि कर रहे हैं। पण्डित श्रीनारायण चतुर्वेदी विशेषकर साहित्यिक धाँधलियों का सफलता पूर्वक उपहास करने में प्रसिद्ध हैं। उनकी 'पैरोडी' के ढंग की रचनाएँ बेजोड़ हैं। 'बेढब जी' हिन्दी के 'अकबर' ही नहीं 'हुमायूँ' हैं। "देहाती" जी प्रचार से दूर रह कर भी आज के सर्व श्रेष्ठ हास्य दोहा-लेखक हैं। परन्तु इनमें से अनेक कवियों ने सामाजिक प्रश्नों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखा है। कुछ ने भारतीय विचार धारा में ही बुराइयाँ समझ उनका निष्ठुर मजाक उड़ाया है तो कुछ ने नवीन सभ्यता की ही खिल्ली उड़ायी है। कुछ ने ही निष्पक्ष होकर दोनों पर विचार किया है।

आज के युग में हास्य काव्य का विशेष महत्त्व है। नाना प्रकार के संघर्षों में पिसती हुई जनता का मनोरंजन हास्य कविताओं से ही हो सकता है। हमारा वर्तमान हास्य काव्य अधिकांश में इस लक्ष्य की पूर्ति कर रहा है। वह कटुतापूर्ण नहीं, मधुर है। उसमें व्यक्तिगत राग-द्वेष की भावना धीरे-धीरे कम होती जा रही है। जिस व्यक्ति या सामाजिक वर्ग का उपहास किया जा रहा है वह भी खीझता नहीं प्रत्युत कवि की कला की प्रशंसा ही कर रहा है। यह बड़ा शुभ लक्षण है।

लोक साहित्य का महत्त्व

[श्री सत्यनारायण त्रिपाठी हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

लोक साहित्य की आवश्यकता

आज का मानव आत्मसुख की तलाश में सार्वभौम कल्याण से दूर हटता जा रहा है। उसके बौद्धिक विकास ने रागात्मकवृत्ति को छेंक लिया है। आज हृदय को बुद्धि की अस्वस्थ छाया से उबारने की बड़ी भारी आवश्यकता है। कहना न होगा कि लोक-साहित्य में वह शक्ति है जो हृदय को विकसित कर बुद्धि को उचित सीमा में बाँध सकती है। उसमें मानव की शाश्वत सांस्कृतिक चेतना स्पंदित है। युग-युग की बहु-मुखी अनुभूतियाँ आज भी सजीव हैं। अपने बहुस्पर्शी जादू से जीवन के हर एक मर्म को छूता है। गाथाएँ खोये हुए इतिहास सुनाती हैं। गीतों के स्वरों में समाज के हर्ष-विषाद, उत्सव-पर्व और समृद्धि-अभाव तैरते हैं। लोकोक्तियों में लोक-जीवन के अनेक सत्य और अनुभव बोलते हैं। इस तरह लोक-साहित्य में ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि जीवन के विभिन्न सत्यों की अभिव्यक्ति हुई है।

ऐतिहासिक शोध

लोक-साहित्य में हमारी ऐतिहासिक चेतना सुरक्षित है। लोक-गीतों और गाथाओं में व्यापक राष्ट्रीयता के दर्शन तो नहीं होते; किन्तु स्थानीय देशभक्ति और वीरता, राजस्थान, मध्यप्रदेश, भोजपुरी आदि प्रदेशों के लोक-साहित्य में उपलब्ध होती है। ऐसी सामग्री के अनुसंधान और सम्यक् शोध से देश के विलुप्त और विस्मृत इतिहास का उद्‌घाटन हो सकता है। डॉक्टर टेसिटरी और डॉक्टर गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा जैसे अनेक विद्वानों ने विभिन्न राजस्थानी ख्यालों का अध्ययन कर वहाँ के इतिहास-संशोधन में सहायता ली है। इसी तरह इसमें अन्य युगों की ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध होती है। मुगलों के अत्याचार, उनकी शासन शिथिलता और सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह के वृत्तांत बहुत से भोजपुरी लोक-गीतों में उपलब्ध होते हैं। सर जार्ज ग्रियर्सन के 'सात भाषाओं' नामक पुस्तक में प्रसिद्ध विद्रोही बाबू कुँवर सिंह संबंधी पवाँरा संकलित है। आल्हा की गाथा अतिरंजित होते हुए भी परमार्दि देव सम्बन्धी इतिहास पर बहुत कुछ नवीन प्रकाश डालती है। गोपीचन्द के गीत का प्रयोग डॉक्टर

ग्रियर्सन ने पालवंश के इतिहास की छान-बीन में किया है। उत्तरी भारत से बंगाल तक एक ही रूप में मिलने वाली विहुला की गाथा, चन्दू सौदागर, बाला लखन्दर, विषहर आदि कथाओं के प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इतिहास की दृष्टि से इन गाथाओं की सामग्री विशेष महत्त्व की है।

राष्ट्रीयता

आधुनिक युग की बहुत सी राजनीतिक घटनाएँ और आन्दोलन अनेक लोक-गीतों में व्यंजित है। विश्व के प्रथम महायुद्ध का प्रभाव और द्वितीय महायुद्ध का देशव्यापी आतंक इन गीतों में प्रतिच्छायित है। प्रथम युद्ध के पश्चात् भारत में रौलट ऐक्ट लागू हुआ। उसके विरोध में गांधी जी द्वारा प्रेरित असहयोग आन्दोलन (सन् १९२१-२२) का चित्रण मिलता है। जलियान वाले बाग का प्रसिद्ध हत्याकांड इसी रौलेट ऐक्ट का परिणाम था। लोक-कवि के कोमल हृदय पर इस अमानुषिक घटना का जो प्रभाव पड़ा था उसका मार्मिक चित्र लोक-काव्य में आज भी सजीव है। भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने अंगरेजों की जिस आर्थिक शोषण-नीति की व्यंजना अपने काव्य में दबे स्वर से की है, लोक-कवियों ने उसे डंके की चोट पर गाया है। उन्नीस सौ तीस का नमक सत्याग्रह, शिक्षा प्रसार, चर्खा और खादी-आंदोलन की गूँज इन गीतों में है। भोजपुरी के चंचरीक कवि की ग्राम-गीतांजलि युगनायक गांधी जी के प्रति राष्ट्रीय श्रद्धांजलि है। जिसमें पुत्र-जन्म, जनसार, विवाह, जनेऊ आदि जीवन के मांगलिक अवसर एवं श्रमशील क्षण राष्ट्रीय चेतना तथा देश-प्रेम से आप्लावित हैं। वर्तमान राष्ट्रीय चेतना पर आधारित स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास को अमर बनाने में लोक-भावना का क्या योग है ? इसका निर्णय भविष्य करेगा।

हमारे हाल के गुजरे हुए दिनों के अकाल, भूकंप, विदेशी उत्पीड़न, घूसखोरी, चोरबाजारी, मँहगी, कंट्रोल आदि अभावों और यातनाओं के रूप में हुई भारत-दुर्दशा के अनेक गीत करुण मूर्ति हैं। इस तरह अतीत का गौरव, देश एवं राष्ट्र-प्रेम, वर्तमान के अभाव और स्वतंत्रता की आकांक्षाएं लोक-साहित्य में व्यक्त हुई हैं। एवलिन मार्टिनेज्को के शब्दों में "लोक-कविता और कथाओं का स्रोत राष्ट्रीय जीवन के अन्तरतम से निःसृत होता है। जनता का हृदय इन गीतों और गाथाओं में ओत-प्रोत रहता है। ऐसा भी समय आता है जब कि जाति या राष्ट्रीयता की अतिशय भावना ने संपूर्ण राष्ट्र को लोक-कवि के रूप में परिणत कर दिया है।"

लोक मंगल

लोक-साहित्य लोक-जीवन की अनुकृति है। उसके विशाल केनवास में समाज का बहुमुखी रूप ज्यों का त्यों खिंच आया है। इसलिए उसमें समाज की सजीव मांसलता है, चेतना है, शक्ति है, भावना और आत्मा है, केवल वह इतिहास की भाँति

बहुत सी घटनाओं का कंकाल मात्र नहीं है, एक ओर युगों की सार्वभौम मानवता, अपने हर्ष-विषाद, उत्सव-पर्व और सामूहिक उल्लास में स्पन्दित है तो दूसरी ओर रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान और रीति-रिवाज से सम्बन्धित परम्पराएँ भी जीवित हैं। मध्य प्रदेश की एक जाति (कर्मा) के एक गीत में उल्लेख है, "यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनो।" वस्तुतः ये गीत जीवन के यथार्थ पर आधारित कहानियों से कहीं अधिक वास्तविक जीवन के निकट हैं।

समाज शास्त्र

मानव-शास्त्र और लोकवार्ता शास्त्र जैसे सामाजिक शास्त्रों के लिए बहुत-सी सामग्री लोक-साहित्य की खान में भरी पड़ी है। भोजपुरी प्रदेश की नेटुआ, धोबी, गोड़, चमार, दुषाद, कमकर, मुषहर तथा घरिकार आदि अनेक जातियों की वैवाहिक विधियों तथा सामाजिक प्रथाओं आदि में नितान्त भिन्नता है। दुषाद जाति के समस्त रोगों की औषधि 'पचरा' नामक गीत है। "देहरादून जिले के जौनसार-भावर क्षेत्र में बहुपति प्रथा आज भी प्रचलित है। यदि किसी कुटुम्ब में पाँच भाई हैं तो इन सबकी एक ही पत्नी होगी जो पाँचों को समान रूप से अपना पति समझेगी।" आधुनिक समाज के लिए यह एक आश्चर्य की बात है। ऐसी प्रथा की प्रसिद्धि महाभारत की पाण्डव पत्नी द्रोपदी के सम्बन्ध में है। इन दोनों थाओं में क्या कोई सम्बन्ध हो सकता है ? यह गम्भीर अध्ययन का विषय है। इसी तरह कुछ और भी विशिष्ट प्रथाएँ मिलती हैं जिनका उल्लेख इतिहास या धर्मग्रन्थों में नहीं हुआ है। विवाह की अनेक पद्धतियाँ धर्म शास्त्रों एवं स्मृतियों में दी हुई हैं किन्तु जनेऊ सम्बन्धी एक भोजपुरी गीत में एक नितान्त नूतन विवाह पद्धति मिलती है। उसमें वरुआ (वटुक) ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम से लौटकर स्वयं अपने योग्य कन्या की तलाश में नगर-नगर फेरी लगाता है—

के हो बबा कै ऊँची बखरिया
त के हो घर करिना कुँआरि से वर चाँहीं।

उसी तरह समाज की अनेक प्रथाएँ भी लोक-गीतों में मिलती हैं। मध्ययुग से देश में परदा प्रथा का प्रचार मिलता है। किन्तु लोक-गीतों के अध्ययन से पता चलता है कि एक समय था जब उत्तरी भारत में इस प्रथा का प्रचार नहीं था। लोक-साहित्य की ऐसी सामग्री समाज शास्त्र के लिए विशेष महत्त्व की है। अतः डॉक्टर वैरियर एलविन के अनुसार "लोक-गीतों का महत्त्व इसलिए नहीं है कि इनके संगीत, स्वरूप और विषय में जनता का वास्तविक जीवन ही प्रतिबिम्बित होता है प्रत्युत मानव शास्त्र के अध्ययन की प्रामाणिक एवं ठोस सामग्री भी हमें उपलब्ध होती है।"

सामाजिक शील

लोक-साहित्य में विभिन्न सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों के आधार पर मानव के सामाजिक शील की स्थापना हुई है। जाति, वर्ण और वर्गगत् अन्तराय के बावजूद

भी गाँव के धोबी, चमार, कहार उच्च जाति के लोगों के लिए भी चाचा, दादा आदि के तुल्य हैं। विशिष्ट पर्वों और त्योहारों में उल्लास की समान भाव-भूमि पर सभी वर्ण के लोग भेद-भाव भूलकर एक साथ आनन्दित होते हैं। आपसी सम्बन्धों में अजीब विरोधाभास है। जो भावावेग प्रेरित कर प्रतिदिन आपस में लड़ाता रहता है वही विशेष अवसरों पर बिरादरी में भाई-चारे का प्रेम एवं सौहार्द पूर्ण सम्बन्ध भी प्रदर्शित करता है। ननद से बराबर झगड़ने वाली भावज पुत्र जन्म पर अपना सर्वस्व ननद को निछावर कर देती है। ऐसे परस्पर विरोधी सम्बन्धों से भरी हुई सामाजिक चेतना के प्रति निस्सन्देह कुतूहल होता है जब हम उसमें सामूहिक कल्याण की भावना पाते हैं। बहुत से गीतों में कामना की गयी है कि गायें दूध अधिक दें, भैंस बाँझ न रहें, फसल अच्छी हो, आधि-व्याधियाँ न आयें। शोषण, अत्याचार, युद्ध के प्रति विरोध, पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन, स्वार्थ की भर्त्सना, कमजोर से सहानुभूति, ममता का पशु-पक्षी एवं वृक्षों तक प्रसार और सहज आत्मीयता के दर्शन लोक-साहित्य में होते हैं। व्यभिचार के प्रति घृणा, पवित्र शील के प्रति श्रद्धा और स्वस्थ सामाजिक मर्यादाओं में अटूट विश्वास परिलक्षित होता है क्योंकि लोक-साहित्य का समाज कल्याण से गहरा नाता है। सहिष्णुता का आदर्श धरती है और परोपकार का आदर्श बादल, भाग्य की कर्मवादी व्याख्या निष्काम कर्म की प्रेरणा है। आलस पर किये गये व्यंग कर्मशीलता के लिए दाद हैं। लोक-जीवन सहनशीलता, क्षमा और दान का निलय है। श्रम और साहस सफलता की कुंजी है। आज के सामूहिक विकास की सामाजिक योजनाओं को रूप देने में लोक-साहित्य में अभिव्यक्त मानवीय आस्थाएँ, भावनाएँ और चेतनाएँ वरदान सिद्ध हो सकती हैं, यदि इनकी मान्यताओं को स्वीकार किया जाय।

धार्मिक समन्वय

आज मानव में जो इतना अलगाव दिखायी देता है उसके पीछे भौगोलिक सीमाएँ और स्वार्थपरक संकीर्णताएँ तो हैं ही किन्तु धर्म के नाम पर भी कुछ कम रक्तपात नहीं होता। धार्मिक आस्था ने मानव को हर युग और हर देश में अनेक स्वरों में विभाजित किया है। राम और रहमान का बड़ा भारी भेद तो है ही, इनको अलग-अलग लेकर भी अनेक धर्म पन्थ और उपासना पद्धतियाँ चली हैं। उधर सिया-सुन्नी अलग-अलग फिरके हैं तो इधर वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि अनेक धर्म हैं। किन्तु लोक-आस्था काफी उदार है। लोक-साहित्य में बहु देवोपासना का विधान है। मध्ययुगीन धर्म साधना की भाँति इसका भी दृष्टिकोण समन्वयकारी है। मांगलिक गीतों में सूर्य, गणेश, शिव, राम, शक्ति सबके प्रति समान रूप से आस्था मिलती है। लोक-जीवन में धार्मिक सहिष्णुता अपने चरम बिंदु पर है। रामलीला में जहाँ खुदा के बेटे शरीक होते हैं वहाँ पीरों और फकीरों के प्रति भगवान् के भक्तों में श्रद्धा मिलती

है। स्त्रियाँ ताजिये का दर्शन मनोकामना की पूर्ति के लिए करती हैं। इस तरह लोक-धर्म सनातन धर्म है। इसके अध्ययन से भारतीय धर्म के सम्बन्ध में अनेक नवीनताएँ उपलब्ध हो सकती हैं।

पौराणिक उद्भावनाएँ

धार्मिक भावना के साथ-साथ हिन्दू पुराणों का ग्रहण भी अपने ढंग से हुआ है। कहीं-कहीं तो नितान्त नूतन उद्भावनाएँ उपलब्ध होती हैं। भोजपुरी लोक-गीतों में दो तीन मौलिक कल्पनाएँ मिलती हैं—शिव का दूसरा विवाह, तुलसी का सपत्नी होना और गणेश जी के विवाह का प्रसंग। इन सबके अतिरिक्त लोक-साहित्य में एक उच्च एवं पवित्र नैतिक आदर्श दिखायी देता है। सती और दिव्य जैसी प्रथाएँ उज्ज्वल प्रमाण हैं।

साहित्य—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहीं लोक-साहित्य को उस अजस्र धारा के समान कहा है जिससे साहित्य के अनेक उत्स बराबर फूटते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक काल से आज तक साहित्य की परंपरा जब-जब रूढ़ियों में जकड़ कर निर्जीव हुई है, तब-तब लोक-साहित्य और लोक-भाषा के संजीवनी संस्पर्श से पुनर्जीवित होकर अभिनव मार्ग पर चली है। प्राकृत-अपभ्रंश और पालि आदि साहित्य के अतिरिक्त कबीर आदि संतों, जायसी आदि प्रेमाख्यानक कवियों और विद्यापति, सूर जैसे भक्त कवियों के काव्य का मूल स्रोत लोक-साहित्य की परम्परा में ही है। रहीम और तुलसी ने तो बरवै और सोहर जैसी लोक-शैलियों में काव्य की रचना ही की है। आधुनिक साहित्य के निर्माण में भी लोक-साहित्य का कुछ कम योग नहीं रहा है। भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पाठक आदि ने लावनी, आल्हा, कजली आदि की जिन लोक-शैलियों को अपनाया उन्हें हिन्दी की छायावाद जैसी नितान्त नूतन काव्य-साधना ने भी परम्परा के रूप में स्वीकार कर अपनी शैली निर्मित की। बंगला का पयार छन्द भी मूलतः लोक-छन्द ही है। इधर की नयी कविता भी लोक-काव्य से कुछ कम अनुप्राणित नहीं है।

भाषा शास्त्र

लोक-साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता साहित्य से अधिक भाषा शास्त्र की दृष्टि से है। भाषा सम्बन्धी बहुत सी समस्याएँ लोक-भाषा के आधार पर सुलझायी जा सकती हैं। लोक-साहित्य में कुछ ऐसे शब्द हैं जो केवल वैदिक संस्कृत में मिलते हैं। भोजपुरी का रिगाना (रिग्, चिढ़ाने के अर्थ में) शब्द वैदिक संस्कृत में रिग् रूप में मिलता है। किन्तु संस्कृत में उसका अभाव है। वैदिक भाषा में गाय के सद्योजात शिशु को 'धरुण' कहते हैं। भोजपुरी में लेरुआ, पश्चिमी खड़ी बोली में लुआरु और मैथिली में लेरु कहते हैं। ऐसे शब्दों के इतिहास से हिन्दी भाषा के बहुत से शब्दों की

खण्डित परम्परा को जोड़ा जा सकता है। साहित्यिक भाषा की समृद्धि के लिए लोक-भाषा के शब्दों का संग्रह और प्रयोग कुछ कम महत्त्व का नहीं। शरद्चन्द चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर और प्रेमचन्द आदि ने गँवई शब्दों के प्रयोग से भाषा को अत्यन्त समृद्ध किया है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने संस्कृत शब्द पंजर की जगह खाँचा (पिंजड़ा) का प्रयोग किया है। हिन्दी की नयी कविता ने भी छाँह अकास और वन पाँखी जैसे लोक-शब्दों के प्रयोग से भाषा को नूतन व्यंजना दी है। इन शब्दों के अतिरिक्त बहुत से मुहाविरे और लोकोक्तियाँ भी हैं जिनको पचाकर साहित्यिक भाषा अपनी अभिव्यक्ति क्षमता बढ़ाती रहती है।

हिन्दी भाषा

राज भाषा हो जाने के नाते आज हिन्दी भाषा के सामने सबसे बड़ी समस्या पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की है। लोक-भाषा बहुत हद तक इसमें भी सहायक हो सकती है लोक-जीवन इधर विश्व के नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों से आधुनिक सभ्यता के सम्पर्क में रहकर परिचित होता रहा है और अपने ढंग से उसने अनेक वस्तुओं को नाम दिये हैं। फटफटिया (आटोबाइक) 'फिरंगी' अर्दली जैसे हजारों शब्द अनेक बोलियों में भरे पड़े हैं। ऐसे शब्दों के संग्रह से सामान्य जीवन में प्रयुक्त होने वाले विदेशी शब्दों के हिन्दी करण की समस्या हल हो सकती है। इसके अतिरिक्त किसान, लोहार, बढ़ई आदि के पेशों से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के संग्रह से हिन्दी भाषा के बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो सकती है। डाक्टर ग्रियर्सन ने ऐसे बहुत से शब्दों का संग्रह किया है।

अन्त में, कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य कल्प-वृक्ष के समान है। हमारी संस्कृति का व्यापक रूप उसमें सुरक्षित है। उसका अध्ययन किसी देश की संस्कृति की समझने में विशेष रूप से सहायक हो सकता है क्योंकि वह देश के सामूहिक चेतना का सामूहिक इतिहास है। उसमें राष्ट्रीय चेतना सामाजिक कल्याण और धार्मिक आस्था के अतिरिक्त भौगोलिक परिस्थिति और युगों की आर्थिक व्यवस्था भी उपलब्ध होती है।

ग्राम-गीत

[डॉ० प्रेमनारायण शुक्ल, एम्० ए०,पी-एच० डी०,डी० ए० वी० कालेज, कानपुर]

मानव आता तो है अपनी सीमित साँसों को लेकर, परन्तु अपनी ससीमता को असीमता में मिला देने की निरंतर कल्पना किया करता है। यह कल्पना ही उसकी विभिन्न कृतियों का हेतु बना करती है। अपनी प्रत्येक कृति में वह अपनी अहंता को साकार होता हुआ देख कर संतोष की साँस लेता है। कदाचित् इसी सन्तोष-प्राप्ति के लिए वह पारिवारिक शृंखला के प्रति विश्वास प्रकट करता हुआ यह अनुभव करता है कि वह अपने पुत्र के रूप में अपनी आयु की सीमा को पार कर जावेगा। पुत्र के प्रति उसकी ममता का यही रहस्य है। जिस प्रकार वह अपने पुत्र के प्रति ममता-पूर्ण हृदय को लेकर उसके लालन-पालन में दत्तचित्त रहता है उसी प्रकार वह अपने भाव के प्रति भी विशेष सचेष्ट रहता है। मानव का भाव-जगत् ही तो उसके जीवन की सम्पूर्ण व्याख्या है। वह भावों के रूप में ही अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसके जीवन से सम्बन्धित समस्त घटना चक्रों में उसके भाव ही निरंतर उसके रूप को संवर्धित करते हैं। इसीलिए वह अपने मानस-पुत्र भावों को सँवारने में निरन्तर लगा रहता है और उन्हें स्थायित्व प्रदान करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील बनता है। इसी प्रयत्न का परिणाम होता है साहित्य। यही कारण है कि विश्व की समस्त साहित्यिक विधाओं में भाव का ही प्राधान्य है। मानव-हृदय की व्याख्या, विश्लेषण भाव ही हैं और भाव की अभिव्यक्ति साहित्य है।

मानव-जीवन अनन्त काल से अपनी व्याख्या में सतत् संलग्न रहा है। उसकी प्रत्येक क्रिया, उसका प्रत्येक साधन, जीवन की व्याख्या में ही लीन है। अन्तर केवल इतना ही है कि उसके कुछ साधन जीवन की सामयिक व्याख्या करते हैं और कुछ जीवन की मौलिक व्याख्या। अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि ऐसे शास्त्र हैं जिनके द्वारा मानव-जीवन की सामयिक व्याख्या प्रस्तुत की जाती है, परन्तु कविता जीवन के शाश्वत सत्यों की व्याख्या के रूप में उसी का शुद्ध प्रतिविम्ब प्रस्तुत करती है।

काव्य के द्वारा मानव-हृदय का पूर्ण परिज्ञान प्राप्त होता है। जिसमें उसकी विभिन्न भावनाओं के अत्यन्त मार्मिक स्वरूप परिलक्षित होते हैं। कवि अपने जीवन की समस्त उदात्त कल्पनाओं द्वारा श्रेष्ठ आदर्शों एवं नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा ऐसी

हृदय ग्राही शैली में करता है जिससे आत्मीयता स्थापित करने में किसी भी सहृदय को विलम्ब नहीं लगता। वह एक सच्चे शुभचिन्तक मित्र की भाँति अपनी जीवनानुभूतियों का दान समस्त मानव जाति को देता रहता है जिसे पाकर जन-जीवन अपना अनुरंजन भी करता है और अपनी जीवन-यात्रा के लिए पाथेय भी प्राप्त करता है। इस प्रकार काव्य एक ओर तो यथार्थ की शृंखलाओं में जकड़े हुए मानवों को कल्पना-लोक में ले जाकर मुक्त जीवन के निश्चिन्त विहार का सुख प्रदान करता है, और दूसरी ओर उसके हृदय का पूर्ण संस्कार करके, उसको सौन्दर्य वृत्ति को जागृत करता है, उसकी बौद्धिकता को तीव्र करता है, उसके विवेक को संवर्द्धित करता है और इन सबके सम्मिलित प्रभाव द्वारा वह उसे सच्चे अर्थों में मानव की संज्ञा प्रदान करता है।

काव्य की इस भूमिका के साथ यदि हम अपने ग्राम साहित्य को देखें तो हमें यह अनुभव करने में किंचित् मात्र भी विलंब न लगेगा कि इसमें व्याप्त भाव राशि किस प्रकार मानव का हित साधन, उसकी तृप्ति और उसका उन्नयन करती है। सभ्यता और संस्कृति की अनुकरणात्मक भाग-दौड़ में हम अपने जीवन-पथ के आस-पास बिखरे हुए प्रकृति सौंदर्य को नहीं देख रहे हैं। हमारा जो अपना है वह हमसे पीछे छूटता जाता है, और जो पराया है उसे अपनाने की लालसा बढ़ती जाती है। यह स्थिति वस्तुतः चिंतनीय है। ग्राम-साहित्य के प्रति एक प्रकार उपेक्षा की-सी भावना पायी जाती है। किन्तु कवि हृदय के मुग्ध संस्कारों की छवि को अक्षय निधि के रूप में संजोने वाला ग्राम-साहित्य हमारी भारतीय संस्कृति और सभ्यता के रूप की आज भी रक्षा किये हुए हैं। इसमें भारतीय जीवन का पूर्ण प्रतिविम्ब अपने सहज सर्वोत्तम रूप में विद्यमान है। ग्राम-साहित्य के अन्तर्गत आने वाले चरवाहों के गीत, पीसन-हारियों के गीत, पनिहारियों के गीत, पुत्र-जन्म, यज्ञोपवीत, विवाह संस्कार आदि से सम्बन्धित गीत, देवियों के गीत, पानी न बरसने पर वरुण देवता को प्रसन्न करने के गीत, खेतों-खलिहानों के गीत, तिथि-त्योहारों-पर्वों के गीत, विरहा के गीत, सामाजिक कहावतें, यात्रा-दिक्शूल-विचार, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु अन्य फल-फूल, पेड़-पौधे, आहार-विहार, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित साहित्य सब मिलाकर भारतीय जन-जीवन का चित्र उपस्थित करने में पूर्ण सक्षम हैं।

साहित्य का महत्व उसके द्वारा सत् के विधान होने में है। ग्राम-साहित्य जीवन का संस्कार करता हुआ उसे सत् की ओर ले जाने में समर्थ है, ऊपर हम साहित्य के द्वारा हित-साधन, तृप्ति और उन्नयन की बात कह आये हैं। हमारी समस्त श्रेष्ठ साधनाएँ उपर्युक्त तीनों गुणों से युक्त हैं। जीवन की सार्थकता इन्हीं तीनों क्रियाओं के सम्यक् सम्पादन में निहित है और यदि साहित्य जीवन की व्याख्या अथवा प्रतिविम्ब है तो श्रेष्ठतम साहित्य को इन तीनों गुणों से युक्त होना पड़ेगा। हमारा ग्राम-साहित्य हमारी इस आकांक्षा को पूरी करता है। प्रस्तुत प्रसंग में हम ग्राम-साहित्य के कतिपय रूप देखने की चेष्टा करेंगे जिनमें हमारी साहित्य सम्बन्धी मान्यता प्रतिफलित हो रही है।

नारी का नारीत्व पुत्रवती होने में सार्थक हो जाता है। उसके अन्तराल में छिपी हुई समस्त ममता, कोमलता पुत्र प्राप्त होते ही उमड़ पड़ती है और उसका वही कोमल ममत्त्व-पूर्ण हृदय विश्व के कण-कण में बिखर जाता है। सम्पत्ति का महत्त्व दर्प में नहीं, प्रणति में है। आम के फलों से लदी हुई डालियाँ अपनी धरित्री को चूमने लगती हैं। वैभव-सम्पन्नता का यह प्रणति-रूप है। गाँव की ग्रामीणा प्रणति के इसी व्यापार को उस समय व्यक्त करती हैं जब वे गर्भवती होती हैं। सास बहू को गर्भवती समझ कर उससे प्रश्न करती है—तुम्हारा मुख पीला क्यों है ? तुम्हारे पैर क्यों भारी पड़ते हैं ? संकोच और लज्जा से भरी हुई वधू कोई विशेष उत्तर तो दे नहीं पाती, वह मन ही मन सोचने लगती है :—

मचियहिं बैठि हैं सासू त बहुआ से पूछई रे।
बहुआ कहें तोर मुँहा पियरान गोड़ घहरावहि रे।

× × ×

अरे सासू जी के होबै चेरिया ननद मन हरबै रे।
अपने राजा के प्रान पियारी होरिल मोरे होइहैं रे।

पुत्र सम्पन्नता से युक्त होकर सास की चेरी बनने, ननद का मन हरने और अपने राजा की प्राण प्यारी बनने की कितनी मनोरम, सुन्दर, सुखद और उदात्त कल्पना है। गर्भवती स्त्री की यह कामना है। सम्पन्नता की यह नम्रता और सत् के प्रति सतत् प्रगति, जीवन को वस्तुतः महान् बनाने मे सक्षम है।

पुत्र उत्पन्न हुआ, मन की कल्पना की भाँति बड़ा ही सुन्दर-सलोना ! वधू की तृप्ति पुत्र रूप में साकार हो उठी, उसकी प्रणय-साधना का आज फल प्राप्त हुआ है। उसकी सौभाग्य बेला में उसकी समस्त सखियाँ, ननदें आदि आनन्दोल्लास मनाती हुई पूछती हैं कि तेरा बालक इतना सुन्दर क्यों है ? परिवार के अन्य लोग भी उसके पुत्र के सौन्दर्ययुक्त होने पर प्रश्न करते हैं। वधू का अन्तस् आत्म-तृप्ति अनुभव करता हुआ जिस सद्भावना एवं शालीनता का परिचय देता है, वह उदात्त हृदय की कल्पना के साथ ही साथ जीवन को सचमुच उदात्त बनाने में समर्थ है। देखिए, वध के उत्तर में कितनी नम्रता है :—

होरिल तौ बड़ सुन्दर ना जानौं कौने गुना।
है हो न जानो अम्मा के सँवारे त ना जानौं कोखी गुना।
ना यह अम्मा के सँवारे तौ ना यह कोखी गुना।
ललना मोर पिया व्रत कीन त उनहीं के धरम गुना।

× × ×

सासु के वचन न टारेउँ न ननद तुकारेउँ हो।
ससुर कबहुँ न लाई लूकी लायउँ नाहीं रे जानौ वहि गुन हो।

× × ×

स्वामी क मानेउँ हुकुमवा देवर क दुलारेउँ हो।
ननदा ! सब कर लिहेउँ असीस त ना जानौ वहिरे गुना।

इसी सम्बन्ध में एक प्रसंग और याद आ रहा है। नारी के लिए सपत्नी की भावना अत्यधिक कष्टप्रद होती है। प्रसिद्ध भी है कि "जिन्दा सौत कौन कहे, माटी को भी सौत बुरी होती है।" पुत्र-जन्म होने पर प्रसूता पीपल नहीं पी रही है। उसका स्वाद बड़ा अप्रिय होता है न। पर सास आग्रह करती जा रही है। वधू उत्तर देती है :—

सासू पिपर क झार रकसाइन अरु भकसाइन हो।
सासू हम न पियब पिपरिया, पिपरिया भकसावै हो।

वधू के इस उत्तर को उसका पति सुन लेता है। अस्तु उसे भयभीत कराके पीपल पिलाने के अभिप्राय से "सवति" लाने के लिए घोड़ा कस कर प्रस्तुत हो जाता है। वधू यह सुनकर आग्रह करती है कि तुम सवति लाने मत जाओ, मैं पीपल पिये लेती हूँ—

इतना वचन राजा सुनलें सुनहु न पवलें हों,
राजा धाइ भइलें घोड़े असवार सवति हम आनब हो।
सइयाँ पिपर क झार हम सहबै सवति नहिं सहबै हो।
सइयाँ जनि लावहु सवति छाती ऊपर पीपरि पीअब हो।

प्रत्येक परिवार में पुत्रजन्म उल्लास का हेतु होता है। पारिवारिक शृंखला का विधायक पुत्र प्रत्येक के जीवन में एक सुदृढ़ आशा का संचार करके उसके जीवन को एक अद्‌भुत स्फूर्ति एवं सजीवता प्रदान करता है। भगवान् राम को भी पुत्र रत्नों की प्राप्ति हुई। अस्तु उनके जीवन में भी उमंग का होना स्वाभाविक था, पर कभी-कभी ऐसा भी होता है जब सुख की पावन-गंगा में करुणा की कालिंदी आकर सम्मिलित हो जाती है। अतीत की स्मृतियाँ वर्तमान के सुख को यत्किंचित् करुणार्द्र कर दिया करती हैं।

राम की भी यही दशा है। एक तो सीता की वनवास की स्थिति में पुत्र जन्म होने से वे पुत्र-मुख देखने से वंचित हैं और दूसरे पिता राजा दशरथ के स्वर्गवासी हो जाने से उनकी स्मृति उनके हृदय को अत्यधिक मार्मिक पीड़ा से भर देती है :—

जनम तो ले पूता बड़ी रे विपत्ति में हो, बड़ी रे संसति में हो।
पूता जनम जो लेतेउ अजोधिया हमहुँ मुँह देखित।
राजा दसरथ पटना लुटवतें, कौसिल्ला रानी अभरन।
रामा तरर तरर चुवै आँसू पटुकवन पोछइं॥

पुत्र जन्म से सम्बन्धित एक दीना-हीना की सकरुण दशा को देखिए कि वह किस प्रकार अपनी कामना को पाल-पोस रही है। इस पद में उसकी अभिलाषा और दीनता दोनों ही मुखरित हो उठी है:—

जनमौ हे पूता ! जनमौ मोहिं दुखिया घर हो।
पूता ! उजरा डिहवा बसावहु बवैया जुड़वावउ हो।
कैसे मैं जनमउँ ये मैया कैसे मैं जमनउँ रे।
मैया ! टुटहे झिलँगवा ओलरविउ तुकारि पुकरबिउ हो।
जनमौ हे पूता ! जनमौ मोहिं दुखिया घर हो,
आल्हर चनना कटइबों तौ पलंग सुलइबों हो।

पुत्र जन्म के उपरान्त उसके उपनयन संस्कार का विशेष महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत उपनयन द्विजातियों के लिए एक आवश्यक विधान है। बालक को द्विज की संज्ञा उसके धारण करने पर ही प्राप्त होती है। इस प्रसंग की कोमल कल्पना को देखिए:—

चनन बिरछा हरेर तौ देखतै सुहावन,
त्यहिं चर ठाढ़ि.....देई आजी दैवो मनावै।
देवा आज बदरिया न होयब आजु मोरे नतिया के जनेव।

इसी प्रकार बहनें, काकियाँ आदि सभी मंगल कामना करती हैं।

भारतीय संस्कृति में दान का विशेष महत्त्व है। दान दैवी वृत्ति का एक विशिष्ट गुण है। औरों को खिलाकर खाना, औरों को पहनाकर पहनना, अपनी ही आत्मा के समान दूसरों की आत्मा को समझना—यही पाण्डित्य का लक्षण है, हृदय का धर्म है। इसी धर्म-भावना पर भारतीय आचार परम्परा का निर्वाह होता रहा है। यज्ञोपवीत के उपरान्त वटुक भिक्षाटन के लिए बाहर निकलता है। बड़े से बड़े राजपुत्र को भी गुरुआश्रम में रहकर भिक्षावृत्ति स्वीकार करनी पड़ती थी। इससे चित्तस्थ अहंकार और चांचल्य का विनाश होता था। प्रस्तुत प्रसंग में भी एक वटुक भिक्षा वृत्ति के लिए बाहर निकला है। एक गृहस्थ उससे प्रश्न करता है—तुम कहाँ जाओगे। ब्रह्मचारी उत्तर देता है—मैं उस घर जाऊँगा जहाँ के सब लोग दाता हों। गृहस्थ पुनः कहता है—यदि मैं जानता कि तुम मेरे घर आओगे तो मैं मोतियों की खेती करता और थाल भर के तुम्हें मोती देता। कितनी उदार एवं सात्विक दान वृत्ति है:—

मैं तोहसे पूछहुँ ए बरुआ, तुहुं जाबेउ कवने घर हो,
जाबेउ जाबेउ मैं वोही घरा, जहाँ दाता बसैं सब लोग।
जो मैं जनतेउ ए बरुआ, हमरे घर अउबेउ हो,
बलुहर खेत जोतवतेउँ, घन मोतिया के बोअवतेउँ हो।
मोतियन थार भरवतेउँ, भिखिया उठि देतेहुँ हो।

जीवन में वैवाहिक प्रसंग कन्या-पक्ष के लिए सदा से एक विषम परिस्थिति की सृष्टि करने वाला रहा है। कन्या के माता-पिता आदि सभी उसके लिए एक ऐसे स्थान की खोज के लिए निरन्तर चिन्तित रहते हैं जहाँ उनकी स्नेह की मंजूषा कन्या को किंचित् मात्र भी कष्ट न मिले, जहाँ उसे सौंप कर वे उसके जीवन-पर्यन्त उसकी सुख-

सुविधा से पूर्ण निश्चित हो जायँ। वे अपने समस्त दुलार-ममता स्नेह की प्रतिमा अपनी लाड़ली कन्या के भविष्य के प्रति जितने सतर्क एवं सचेष्ट रहते हैं, कदाचित् जीवन में उतना अधिक किसी अन्य वस्तु के प्रति नहीं। पिता का व्यक्तित्व सब जगह पर्वत के समान अचल, अडिग बना रह सकता है, पर कन्या होने के कारण वर-पक्ष के समक्ष उसे झुकना ही पड़ता है। ग्राम-गीत का एक प्रसंग देखिए :—

केवरहीं बोलली कवन बेटी बाबा नींद भल आवै,
कुछ रे सुतिला कुछ जागिला बेटी नींदो न आवे।
जाहि घर कन्या कुंवारि बेटी नींद कैसे आवै,
लेहुना कवन बाबा धोतिया हाथे पान क बीड़ा।
करु न समधिया से मिलनी सिर माथ नवाय।
गिरि नवे पर्वत नवे हम तौ न नइयो।
बेटी तोहरे कारन हम जग में माथ नवाये।

पुत्री के विदा का समय अत्यन्त कारुणिक होता है। वह माता-पिता के हृदय का टुकड़ा होती है न। अस्तु उसकी विदा के समय मानों माता-पिता का हृदय ही निकला चला जा रहा है—

अरे अरे बेटी पियारी रानी। तोरी बोल भली। तोरी वचन भली।
ऐसे न बपैया घर छोड़ि के बेटी, कहँवा चली, बेटी कहँवा चली।
जैसे बना की कोइलिया, उड़ि बागों गई फुलवरियाँ गई।
तैसे बाबा घरा छोड़ि कै अब मैं ससुरे चली, ससुरिया चली
घोड़वा चढ़ा भैया आगे खड़े, हाथे तीर कमाँ, हाथे तीर कमाँ,
रोकहिं बहिन कै डगरिया बहिन मोरी कहँवा चली, बहिन मोरी कहँवा चली।
जाने दे भैया जाने दे बाबा लगन धरी अम्मा साज करी।
ऐहौं काजे परोजन, बिरन तोरे बेटा भये, तोरे बेटा भये॥ ४॥

प्रत्येक लड़की अपने ऐसे जीवन साथी की कल्पना करती है जिस पर वह गर्व कर सके, जो उसकी जीवन-तरी का सफल एवं सच्चा कर्णधार हो सके, जो अपने पुनीत आचरण द्वारा अपने समाज और देश का प्रतिष्ठा-भाजन बन सके। अपनी इस कल्पना की साकारता के लिए वह व्रत, दान, तपस्या आदि द्वारा जीवन को पूर्ण पवित्र एवं साधनामय बनाती है। नीचे उद्धृत एक गीत में सीता की सखियाँ उनसे उस साधन एवं तपस्या की बात पूछती हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें राम सरीखा सर्व गुण सम्पन्न एवं श्रेष्ठ पति प्राप्त हुआ। सीता उन्हें उत्तर देती हैं—

सीता कौन तपस्या तूं कैलिव रामवर पउलिव ?
भूखल रहिलिउँ एकादसिया दुआदसिया क, पारन।
विधि से रहिउँ अइतवार रामवर पायो,
तीन नहाओ कतिकवा तेरह वैसखवा,

माघै मास नहायो अगिन नहीं ताप्यो,
करेउ तिलौवा के दान रामवर पायो ॥

भारतीय ललना अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा के प्रति पूर्णतः जागरूक रही है। उसने पुरुष को समय-समय पर सत् परामर्शों द्वारा सच्चे अर्थों में अपने को पति संगिनी एवं अर्द्धांगिनी सिद्ध किया है। उसने प्रेरिका रूप में पुरुष को सन्मार्ग की ओर सदैव अग्रसर किया है। नीचे लिखी पंक्तियों में नारी की विवेकशीलता एवं उसके द्वारा प्राप्त होने वाली सत्प्रेरणा का परिचय मिलता है। पति गंगा-स्नान करने जा रहा है। नारी प्रश्न करती है—"तुम तो जा रहे हो गंगा-स्नानार्थ और तुमने अपना उत्तर-दायित्व किस को सौंपा है ? पति के उत्तर मिलने पर वह उसे जो उपदेश देती है वह भले ही किसी वेद की ऋचा अथवा आप्तवाक्य के रूप में न हो, पर इतना अवश्य है कि उसमें भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप है। देखिए—

प्रश्न—केके तु सौंपे अनधन सुनवा, केके तू नौरंग बाग ?
केके तू सौंपे हमैं असधनिया तू चले गंगा नहाय ?
उत्तर—बाबा के सौंपेउँ अनधन सोनवा भैया के नौरंग बाग।
माया के सौपेउँ तोहे अस धनिया हम चले गंगा नहान ॥
उपदेश—घरही में कुँइयाँ खुदावो मोरे संइयाँ घर ही में गंगा नहाउ।
मात-पिता के धोतिया पखारउ उनहीं हैं गंगा तोहारि ॥

दाम्पत्य जीवन की अनेकानेक सुख-दुख मयी भावनाएँ ग्राम-साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। इस जीवन का सर्वोत्तम विकास कष्टों की भूमिका में देखा गया है। वैसे भी जीवन की परीक्षा कोमल-कुसुम-तल्प पर न होकर कण्टकाकीर्ण मार्ग में ही होती है। दुख जीवन की कसौटी है जिसमें काया-कंचन कसी जाकर ही अपना वास्तविक मूल्य आँका पाती है। दाम्पत्य जीवन का सर्वाधिक कष्ट मय रूप वियोगी रूप है। अर्थ का अभाव अथवा जीवन-साधन के अन्यान्य अभाव प्राणी के लिये नगण्य होते हैं, यदि उसका प्रिय उसके आँखों के सामने है। इसीलिए तो कहा गया है:—

टूट टाट घर टपकत टटियौ टूटि
पिय की बाँह उसिसवा सुख कै लूटि

और भी— **आगि लागि घर बरिगा, अति सुख कीन**
पिय कै हाथ घइलवा भरि-भरि दीन।

पर उन प्राणियों की पीर को कैसे जाना जा सकता है जिनके पिय परदेश बसते हैं। वह विचारी वियुक्ता निरन्तर आठ-आठ आँसू बहाकर अपनी पिय की सुरति सजीव किया करती है। नीचे के गीत में देखिए, दैनिक जीवनचर्या के बीच प्रिय का स्मरण वियोगिनी को कितना व्यथित करता है और वह किस प्रकार निरन्तर अपनी सुकोमल भावनाओं को दुलराती रहती है—

चकई पुछहिं सुनु चकवा भोर कब होइहइँ सुरुज कब उइहँइ रे।
चकई रुकमिन हरि परदेश घरहिं कब अइहँइ रे।

× × ×

पेड़ धरि सींचै नवरंगिया डार धरि भेंटै हो,
ये हो आइ गैहै हरि कै सुरतिया तो छतिया बेहाल भई हो।
धिया केरि पुरिया पोवायउँ दुधन के जाउरि हो।
ये हो मोरे लेखे माहुर धतुरवा अकेले मोरे हरि बिन हो।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता का विकास प्रकृति के प्रांगण में हुआ है। जीवन के सुख-दुख समस्त रूपों में प्रकृति किसी न किसी रूप में मानव-हृदय की सहचरी बन कर अपने क्रिया-कलाप द्वारा या तो उसका बिम्ब ग्रहण करती रही है अथवा उसकी भावनाओं को संवर्द्धित करके एक व्यापक भाव-दशा की सृष्टि करती रही है। प्रकृति तो जीवन से सतत् आबद्ध है। जीवन स्वतः ही प्रकृति मय है। अस्तु उसके द्वारा निर्मित होने वाले साहित्य में प्रकृति का दर्शन उपलब्ध होना सहज है, स्वाभाविक है। ग्राम-साहित्य का भी अधिकांश भाग प्रकृति से सम्बन्धित है। पुत्र जन्म, छठी, बारहवाँ, कर्ण-छेदन, यज्ञोपवीत, विवाहादि संस्कारों के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों में प्राकृतिक पदार्थों, पशु-पक्षियों, सूर्य-चन्द्रादि नक्षत्रों, नदी-नालों, पर्वतों, पुष्प-पत्रादिकों का किसी न किसी रूप में प्रायः समावेश रहता है। जीवन के अन्यान्य व्यापारों के बीच भी प्रकृति के नाना रूप देखने को प्राप्त होते हैं। निम्नांकित गीत में देखिए, एक वियोगिनी कितने विनीत स्वरों में नदी की अभ्यर्थना कर रही है। उसका प्रिय परदेश गया है और वह एक नदी के किनारे अपना सूनापन काट रही है। वह सोचती है मार्ग में उसके प्राणेश को भी नदियाँ पार करनी पड़ी होंगी और कहीं यह नदी भी जिसके तट पर वह है, उसके पति के मार्ग में न आयी हो। अस्तु वह नदी से आग्रह करती है—

धीरे बहो नदिया धीरे बहो।
मेरा पिय उतरइ रे पार।

ग्राम-साहित्य में भावात्मकता के साथ ही साथ उपयोगिता के तत्व भी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इस प्रकार यह साहित्य जन-जीवन के अधिकाधिक निकट है। कितनी ही कहावतें ग्राम-वासियों को कण्ठाग्र रहती हैं जिनका उपयोग वे समय-समय पर किया करते हैं। ग्राम-साहित्य के अन्तर्गत एक बहुत बड़ा अंश ऐसा भी है, जो कृषको के लिए मूलमंत्र अथवा गुरु के रूप में प्रयुक्त होता है। कृषकों का जीवन वर्षा पर विशेष रूप से अवलम्बित रहता है। वह उनके लिए जीवन-दायिनी बन कर आती है। अस्तु वर्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में कितनी ही बातें अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट शैली में ग्राम-साहित्य के अन्तर्गत पायी जाती हैं। यथा—

१. अम्बा झोर बहै पुरवाई। तब जानो बरषा ऋतु आई।
२. एक बयार बहै जो ऊता, मेड़ से पानी पीयो पूता।

३. सावन पुरवाई बहै, भादों में पछियाव।
कंत डँगरवा बेंचि के, लरिका भागि जिआव॥
४. पहला पवन पुरब से आवे, बरसै मेघ अन्न उपजावे।
५. कलसे पानी गरम हो, चिड़ियाँ न्हावैं धूर।
अंडा लै चींटी चलै, तौ बरखा भरपूर॥

कतिपय खेती की कहावतें देखिए—

१. सींग मुड़े माथा उठा, मुँह का होवे गोल,
रोम नरम चंचल करन, तेज बैल अनमोल॥
२. खेती, खसम सेती।
आधी केकी। जो देखे तेकी॥
बिगड़े केकी। घर बैठे पूछे तेकी॥
३. उत्तम खेती जो हर गहा, मध्यम खेती जो संग रहा।
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ। बीज बूड़िगे तिनके तहाँ॥

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कतिपय कहावतें देखिए:—

१. अम्बा नींबू बानिया, गर दाबे रस देंय,
कायथ कौवा करहटा, मुर्दा हूँ सों लेंय।
२. कलियुग में दो भगत हैं, बैरागी और ऊँट,
वे तुलसी बन काट हीं, ये किये पीपर ठूँठ॥
३. कुत्ता पाले वह कुत्ता। मामा घर भाञ्जा कुत्ता।
बहन घर भाई कुत्ता, सासरे जमाई कुत्ता।
सब कुत्तों का वह सरदार, जो पौढ़ा रहे जमाई द्वार॥

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि ग्राम-साहित्य जीवन का साहित्य है जिसमें मनोविज्ञान के साथ ही साथ जीवन के लिए अत्यन्त उपादेय सामग्री की भी प्रचुरता है। साहित्य के इस नवोत्थान काल में यदि इस सामग्री का सम्यक् संचयन हो सके तो हिन्दी संसार का अत्यधिक हित-सम्पादन हो सकता है। हमारा ग्राम-जीवन आज भी नागरिक जीवन की बहुरंगिनी एवं बहुरूपिणी बौद्धिकता से बहुत दूर है। उसमें आज भी जीवन की सात्विकता, औदार्य, परोपकारिता एवं कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ ही साथ भाव का प्रकृत भोलापन एवं सहृदयता अपेक्षाकृत कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान है। इन समस्त मानवोचित गुणों का प्रभाव साहित्य पर पड़े बिना नहीं रह सकता। अस्तु ग्रामीण वातावरण से प्रसूत एवं प्रभावित साहित्य निश्चय ही मानवता का निर्माण एवं लोकमंगल-साधन में सक्षम बन सकता है। साहित्य की सार्थकता भी इसी रूप में है।

आधुनिक साहित्य

प्रेमचन्द की कहानी कला

[डॉ० रामविलास शर्मा, आगरा]

प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ कर मानो अपना बचपन याद आ जाता है। उन्हें पढ़ते हुए हम एक दूसरी दुनिया में जा पहुँचते हैं। वह दुनिया न तो हमें अपने चारों ओर दिखाई देती है, न आज के कथा साहित्य में ही उसकी झलक मिलती है। उनकी कहानियों में वह पुराना भारत है जो बहुत धीमी चाल से आगे बढ़ रहा था, जिसकी रफ्तार आज तेज हो गयी है, और वह कितना बदल गया है, यह हम प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ कर ही जान सकते हैं। ये कहानियाँ हमें बहुत अच्छी लगती हैं और इस अच्छे लगने के कई कारण हैं। उनमें हमारा इतिहास है जो बदल गया है; साथ ही उनमें भारतीय मानवता के बहुत से गुणों का चित्रण है जो बदले नहीं। फिर प्रेमचंद के कहानी कहने का ढँग, उनके अनूठे चित्र, उनका अनुपम व्यंग्य और हास्य; जी करता है कि कहानियाँ ज्यों की त्यों हमें याद हो जायँ और हम उन्हें कविताओं की तरह अपने मित्रों को सुनाया करें।

आजकल आपको ऐसे आदमी कम मिलेंगे जो पिजड़ा लिये हुए तोते की तलाश में रात भर बाग में बैठे रहें। लेकिन "आत्माराम" का महादेव दिन भर का भूखा-प्यासा, थका-माँदा झपकियाँ आने पर चौंक कर आँखें खोल देता है पुकारता है, 'सत्त गुरदत्त शिवदत्त दाता।' कितना शान्त, कितना एकरस है महादेव का जीवन ! अपने सायबान में सबेरे से शाम तक बैठा हुआ वह खट-खट किया करता है और लोग यह आवाज़ सुनने के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उसके बन्द होने पर वे चौंक से उठते हैं। महादेव दार्शनिक है। घर में लड़ाई-झगड़ा होने पर वह भोजन किये बिना ही उठ आता है और नारियल का हुक्का पीकर सन्तोष कर लेता है। उसके जीवन का परम मित्र है उसका तोता और उसका एक महामंत्र है "सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता।" उसके जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है, इस तोते का पिंजड़े से उड़ जाना। कितनी गहराई से प्रेचचंद ने महादेव की मनोव्यथा का चित्रण किया है। हमें महादेव से सहानुभूति हो जाती है। कुछ भी हो, उसके हृदय में प्यार है, जो प्यार शायद वह अपने परिवार के किसी सदस्य को नहीं दे सका, वह उस तोते को अर्पित करता है। प्राणिमात्र के प्रति यह सहानुभूति उसका ऐसा गुण है जो आज भी मूल्यवान है। फिर

उसे धन मिला और उसने निस्पृह दार्शनिक की भाँति उसका सदुपयोग किया। गाँव के लोगों को महादेव और उसका तोता याद है। तोते का नाम था आत्माराम। लोगों ने तोते के प्रेमी का नाम भी आत्माराम रख दिया। लोग कहते हैं कि आधी रात को तालाब के किनारे से आवाज़ आती है।

सत्त गुरुदत्त शिवदत्त दाता,
राम के चरन में चित्त लागा।

प्रेमचंद ने गाँव के लोगों से यह कहानी सुनी होगी। उसे अपनी सुन्दर शैली में सजाकर उन्होंने नया रूप दे दिया। उसे पढ़ कर यह भी पता चलता है कि गाँववालों को किस तरह के पात्र और घटनाएँ याद रहती हैं। हमें उनका मनोविज्ञान पहचानने में सुविधा होती है। प्रेमचंद की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिन्हें उन्होंने गाँव के लोगों से सुना था या जिनमें वर्णित घटनाओं को उन्होंने स्वयं देखा था। इसीलिए उनकी कहानियों में सजीवता होती है मानों उन्होंने आँखों देखी बातों का वर्णन किया है। प्रेमचंद को यथार्थवादी कलाकार कहा जाता है, यह ठीक ही है।

किसी समय पुलिस का दरोगा किसी को बैठने के लिये टाट दे दे तो लोग समझते थे कि उससे बढ़ कर इज्जत वाला दूसरा नहीं है। अब पुलिस का वह रोब दाब कम हो गया है। मोटर पर बैठे हुए नेताजी को भी लोग बहुत सम्मान की निगाह से नहीं देखते, फिर दरोगा जी और उनके टाट की तो बिसात ही क्या! अब मान-सम्मान की कसौटी बदल गयी है। आतंक और ढोंग का सहारा लेनेवालों की इज्जत नहीं है। दूसरों की निःस्वार्थ सेवा करनेवालों को ही जनता का आदर प्राप्त होता है। "शंखनाद" के भानु चौधरी गाँव के मुखिया थे। दरोगा इन्हें टाट दिये बिना जमीन पर न बैठने देता था। चौधरी की दुनिया उनका गाँव था। इस छोटी सी दुनिया में सास बहू के झगड़े से लेकर खेत और मेड़ के टंटे तक हर बात चौधरी की निगरानी में होती थी। इस विलंबित गति से चलनेवाले ग्राम जीवन के वह राजा थे। उनका बड़ा लड़का सुशिक्षित था। उस समय सुशिक्षित होने का अर्थ यह था कि डाकिए के रजिस्टर पर दस्तखत कर लेता था। उसे नये फैशन की हवा भी लगी है। मिर्ज़ई की जगह कमीज पहनता था। अब कमीज-कुर्ते का चलन कितना ज्यादा हो गया है; मिर्ज़ई के दर्शन दुर्लभ हो गये हैं! पुराने गाँवों ने एक विशेष तरह के व्यक्ति पैदा किये थे जिनका काम कचहरी की धूल छानना होता था। ऐसे पात्र अब भी हैं। ऐसा ही था चौधरी का लड़का बितान जो कानून का पुतला था, कानून की दफाएँ जिसकी ज़बान पर रखी रहती थीं और गवाह गढ़ने में पूरा उस्ताद था।

पुराने गाँवों की देन थे एक खास तरह के नौजवान जिन्हें छैल कहते थे। "शंखनाद" कहानी में प्रेमचन्द ने गुमान के रूप में छैलों का बढ़िया खाका खींचा है। अब देखिये, उनके पात्र टाइप भी हैं, और व्यक्ति भी। गुमान में छैलों के बहुत से गुण-अवगुण विद्यमान हैं। वह अपने वर्ग का प्रतिनिधि है, समाज के वातावरण से कटी

हुई इकाई नहीं। लेकिन उसका वर्णन पढ़ते हुए यह नहीं मालूम होता कि प्रेमचंद ने मन से उसे गढ़ा है अथवा किसी भी छैल को हम गुमान समझ सकते हैं। नहीं, गुमान की अपनी विशिष्टता है, उसका अपना व्यक्तित्व है जिससे वह सामान्य टाइप मात्र न होकर विशेष व्यक्ति के रूप में भी हमारे सामने आता है। मुहर्रम में वह ढोल बजाता था तो कानों के पर्दे फट जाते थे। काफी समय मछली फँसाने में जाता था। गाने का भी शौक था। खँजड़ी पर उसके खयालों का खूब रंग जमता था। कुश्ती लड़ता था और दूर-दूर के अखाड़ों में लड़ने जाता था। उसकी बेफिक्री के कारण उसके भाई और पिता उससे परेशान थे लेकिन उनके उपदेशों का उस पर कोई असर न होता था। उसकी भावजें उसे रोज कटुवाक्य सुनाती थीं लेकिन इन वाक्यवाणों के घाव रात भर से ज्यादा उसे पीड़ा न देते थे। "तड़का हुआ, उसने हाथ मुँह धोया, बंसी उठाई, और तालाब की ओर चल खड़ा हुआ।" यह टाइप भी अब कम दिखाई देता है। ऐसे बेफिकरे जीवन की सुविधाएँ नहीं रह गई, हमारे व्यस्त जीवन से गुमान का सैलानी पन इतना भिन्न है कि उस पर हँसी आती है। लेकिन उसकी सब कुछ सहनेवाली दार्शनिक प्रवृत्ति ? गुमान के निकम्मेपन पर हँसते हुए भी उसकी सहनशीलता की प्रशंसा करनी पड़ेगी। वह कला का एकान्त साधक है। अपने कलाप्रेम के कारण वह योगी के समान स्थिर चित्त रह कर सब कुछ सह लेता है। गुमान जैसे पात्रों को भले आदमियों में गिना जाय या खल नायकों में ? गुमान आकर्षक पात्र है लेकिन हम किसी से यह तो न कहेंगे कि गुमान जैसे बनो। पुराने यथार्थवाद की खूबी यह मानी जाती है कि उसमें आदर्श पात्र उतने रोचक नहीं होते जितने खल नायक। लेकिन प्रेमचंद को इस तरह की कसौटी से नहीं परखा जा सकता। उनके पात्र गुणों या अवगुणों के हवाई प्रतीक नहीं हैं। उनमें गुण और अवगुण मिले रहते हैं। गुमान का निकम्मापन ठीक नहीं है लेकिन उसके भाइयों का जीवन नीरस है। उनमें कोई उत्साह नहीं; वे अपने खेतों और कचहरी के स्वार्थों से बँधे रहते हैं। अकेला गुमान इन स्वार्थों से ऊपर उठता है और कला के उस आनन्द की झलक पाता है जिसकी साधना बड़े-बड़े लेखकों और कवियों ने की है।

प्रेमचन्द ने समाज के विभिन्न वर्गों और स्तरों के लोगों का चित्रण किया है, तरह-तरह के टाइप लिये हैं लेकिन सबसे अधिक उन्होंने बूढ़ों, जवानों, बच्चों, विधवाओं और अछूतों का चित्रण किया है। वह हमारे पुराने सन्त कवियों की तरह हैं। जो जितना ही दलित और पीड़ित है, उसे वह उतनी ही अधिक सहानुभूति देते हैं। आपने उनकी "कजाकी" कहानी पढ़ी है ? कजाकी जाति का पासी है। कितनी मेहनत करता है वह ! शाम को डाक का थैला लेकर आता है; रात भर रहता है और सबेरा होते ही डाक लेकर चल देता है। वह चलता नहीं दौड़ता है। लेकिन दिन भर दौड़ने के बाद भी वह था "बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिन्दादिल।" वह डाकखाने के मंशी के बच्चे को कंधे पर बिठाकर खिलाता है। प्रेमचंद के पिता

भी डाकखाने के मुंशी थे। लगता है, प्रेमचंद ने अपने बचपन पर ही यह कहानी लिखी है। कजाकी में वह शक्ति है जो गरीबों और अछूतों को सभी तरह की मुसीबतों का सामना करने का साहस देती रही है। यह गरीब पासी मानों भारत की अजेय वीरता का प्रतीक है। "कजाकी डाकखाने में पहुँचता, तो पसीने से तर रहता; लेकिन आराम करने की आदत न थी। थैला रखते ही वह हम लोगों को लेकर किसी मैदान में निकल जाता, कभी हमारे साथ खेलता, कभी बिरहे गाकर सुनाता, और कभी कहानियाँ सुनाता।" कजाकी कलाकार था। उसके हृदय में रस था और यह रस वह उस कहानी सुननेवाले बालक के हृदय में उँड़ेल देता था। "मैं ये कहानियाँ सुन कर विस्मयपूर्ण आनन्द में मग्न हो जाता।" और उसकी कहानियाँ भी कैसी होती थीं? उनके "चोर और डाकू सच्चे योद्धा होते थे, जो अमीरों को लूटकर दीन-दुखी प्राणियों का पालन करते थे। मुझे उन पर घृणा के बदले श्रद्धा होती थी।"

प्रेमचंद ने बचपन में कहानियाँ जरूर सुनी थीं, इस कजाकी से न सुनी होंगी तो किसी और से सुनी होंगी। अवश्य ही बचपन में उनके ऐसे संस्कार बन गये थे कि वे गरीबों से सहानुभूति रखते थे और उन्हें सतानेवालों से घृणा करते थे। इसी कारण बड़े होकर जब वे स्वयं कहानी लिखने लगे तब तटस्थ न रह कर उनकी कला गरीबों का पक्ष लेने लगी और प्रेमचंद सामाजिक अन्याय का विरोध करनेवाले वीर योद्धा बन गये।

कजाकी मेहनत करता था, दिन भर दौड़ता था, उसका शरीर परिश्रम से फौलाद बन गया था। किन्तु इस फौलादी तन में उसका हृदय मक्खन की तरह मुलायम था। डाकखाने के मुंशी ने उसे नौकरी से अलग कर दिया, फिर भी वह उनके बच्चे को प्यार करता रहा। बेकारी की हालत में वह मुंशी के घर से सीधा लेना पसन्द न करता था। उसमें इतना ज्यादा आत्मसम्मान था कि वह किसी के सामने हाथ नहीं फैला सकता था। उसका यह गुण इतना कीमती है और "बड़े आदमियों" में इतना कम पाया जाता है कि उसकी जितनी ही प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियों में कजाकी जैसे छोटे आदमियों के बड़प्पन का चित्रण किया है। उनके यथार्थवाद की यह विशेषता है कि वह साधारण व्यक्तियों की असाधारणता चित्रित करता है। इसके साथ ही वह बड़े बननेवाले आदमियों का छुटपन भी दिखला देता है। धनी लोग अंग्रेजी राज में खुशहाल थे; अब भी खुशहाल हैं। आजादी की समस्या सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण रही है गरीबों के लिए। "जलूस" कहानी में प्रेमचंद ने स्वाधीनता की समस्या के प्रति सेठों और अमीरों के दृष्टिकोण की भिन्नता दिखलाई है। एक सेठ को जलूस में कोई "बड़ा आदमी" नहीं दिखाई देता। इस पर गले में चट्टियों और स्लीपरों की माला लटकाये हुए मैकू जवाब देता है, "बड़े आदमी क्यों जलूस में आने लगे? उन्हें इस राज में कौन आराम नहीं है? बँगलों और महलों में रहते हैं, मोटरों पर घूमते हैं, साहबों के साथ दावतें खाते हैं, कौन तकलीफ है? मर तो हम

लोग रहे हैं, जिन्हें रोटियों का ठिकाना नहीं। इस बखत कोई टेनिस खेलता होगा, कोई चाय पीता होगा, कोई ग्रामोफोन लिये गाना सुनता होगा, कोई पारिक की सैर करता होगा, यहाँ आयें पुलिस के कोड़े खाने के लिये ? तुमने भली कही !"

प्रेमचंद ने गहरी राजनीतिक दृष्टि से अपने समाज के अन्तर्विरोधों को देखा था, स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति गरीबों और अमीरों के भिन्न दृष्टिकोणों को पहचाना था। उनका सुझाव सन् बीस से ही समाजवाद की ओर था। "प्रेमाश्रम" उपन्यास में उनका बलराज किसानों की मुक्ति का स्वप्न देखता है। वह अखबारों में समाजवादी क्रान्ति के समाचार पढ़ चुका है। वह कहता है कि जो अन्य देशों में हुआ है, वह हिन्दुस्तान में भी हो सकता है। प्रेमचंद भारत के सबसे जागरूक लेखकों में से थे। क्रमशः उनका समाजवादी दृष्टिकोण निखरता गया। सन् ३४-३६ के लगभग वे पूरे समाजवादी हो गये थे। गरीबों से सहानुभूति, उनके संघर्ष और गुणों का चित्रण— यह उनकी कला की विशेषता थी। आरंभ में उनकी प्रवृत्ति कहानियों में काल्पनिक समाधान देने की थी। बहुधा दुष्टों का हृदय परिवर्तन हो जाता है और दुखियों के दिन फिर जाते हैं। जैसे "कजाकी" कहानी में मंशी उसे फिर बहाल कर देता है और वह पहले की तरह सुख के दिन बिताने लगता है। दुर्भाग्य से संसार में इतनी आसानी से दुखियों के दिन नहीं फिरते। इस तरह के समाधान उनकी बाद की कहानियों में कम होते जाते हैं। "पूस की रात" का किसान खेत के तबाह होने पर मजदूरी करने निकलता है। कर्ज के मारे वह परेशान हो गया है। नील गायें उसके सो जाने पर खेत चर जाती हैं। काल्पनिक समाधान के बदले वह जीवन के नये संघर्षों का मुकाबला करने को तैयार होता है। ऐसे ही "कफन" कहानी में प्रेमचंद चमार बाप-बेटों को नशे में गाते और जमीन पर गिरते हुए दिखलाते हैं। वे पाठक से मानों कहते हैं, इनका उद्धार करना आसान नहीं है; इन्हें सैकड़ों बरस तक पैरों तले रौंदा गया है। इन्हें उठाने के लिए भगीरथ परिश्रम करना पड़ेगा। पाठक को "कफन" के इन घीसू और माधव से घृणा नहीं होती, वरन् उन पर दया आती है। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद उन सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण करते हैं जिनसे इन मनुष्य कहलानेवाले प्राणियों की यह दशा हुई है। वे आलसी, कामचोर और झूठे बन गये हैं। लेकिन जो लोग मेहनत करते हैं, सच्चे और ईमानदार हैं, वे भी इस समाज में ठगे जाते हैं। जमींदार और महाजन उनका शोषण करते हैं। मेहनती किसानों की हालत देख कर घीसू और माधव कामचोर हो गये हों तो आश्चर्य क्या ! प्रेमचंद कहते हैं, "जिस समाज में रात दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी, और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।" प्रेमचंद समाज की परिस्थितियों का चित्रण करते हैं, यह दिखलाते हैं कि इन परिस्थितियों के कारण मनुष्य की चेतना विकसित

होती है, इसलिए मनुष्य को बदलने के लिए इन परिस्थितियों को बदलना आवश्यक होगा अर्थात् समाज से शोषक और शोषित का सम्बन्ध मिटाना होगा।

प्रेमचंद ने अछूतों और किसानों पर बहुत सी कहानियाँ लिखी हैं। अछूतों के प्रति पुरोहितों और जमींदारों के अत्याचारों की तीव्र आलोचना की है। किसानों को सदा एकता कायम रखने का उपदेश दिया है। उपदेश ? हाँ, कहानी लेखक का उपदेश, धर्मशास्त्रियों का उपदेश नहीं। "मुक्तिमार्ग" के बुद्धू और झींगुर को देखिये। एक ने दूसरे के खेत में आग लगाई; दूसरे ने उसकी बछिया का वध कराया। नतीजा यह कि दोनों तबाह होकर मजदूरी करते हैं। इस तरह घटनाओं के चित्रण द्वारा प्रेमचंद उपदेश देते हैं। वे सोद्देश्य कला में विश्वास करते हैं लेकिन सोद्देश्य होते हुए भी वह रहती है कला ही।

प्रेमचंद की कला के बारे में एक मिथ्या प्रचार यह किया जाता है कि वे केवल बाह्य जीवन का चित्रण करते हैं, मनोभावों तक उनकी पैठ नहीं है। यदि मनोवैज्ञानिक चित्रण का अर्थ अतृप्त वासना का चित्रण ही हो तो प्रेमचंद अवश्य मनोभावों का चित्रण नहीं करते। किन्तु यदि मनुष्य के जीवन में और तरह के द्वंद्व भी उत्पन्न होते हों, यदि मनोविज्ञान रूमानी भावुकता तक सीमित न हो तो प्रेमचंद अवश्य मनोभावों का चित्रण करते थे और उनकी कहानियों में गंभीर मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन किया गया है। एक बूढ़ी स्त्री ने अपनी जमीन जायदाद भतीजे के नाम लिख दी है। पति नहीं है, बेटे नहीं हैं। शरीर में शक्ति नहीं है। बच्चे छेड़ा करते हैं। जीवन की रही सही शक्ति, इन्द्रियों की समस्त लालसा उसकी जीभ में केन्द्रित हो गयी है। घर में भतीजे के लड़के का तिलक है। पूड़ियों-कचौड़ियों की गंध से घर भरा हुआ है। कितना मन से संघर्ष करती है "बूढ़ी काकी।" शरीर शिथिल होने पर उसका मनोबल क्षीण हो जाता है। उसे लगता है, पूड़ियाँ न मिलेंगी। मुँह में पानी भर आता है। धीरे-धीरे रेंग कर कड़ाह के पास जा बैठती है। भतीजे की बहू रूपा उसे दुतकार कर भगा देती है। अपमानित होकर बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में लौट आती है। उसे रूपा पर क्रोध आना चाहिए था ! किन्तु नहीं, उसे अपनी जल्दबाज़ी पर ग्लानि होती है। वह दृढ़ प्रतिज्ञ बनने की कोशिश करती है—जब तक कोई बुलाने न आयेगा, वह न जायगी।

फिर वह कल्पना करती है, कब मेहमान आये होंगे, कब उन्होंने खाना खाया होगा। लेट कर गीत गाने लगती है। फिर उसे लगता है, गीत गाते बहुत देर हो गयी। प्रतिज्ञा की दीवार ढह जाती है। सोचती है, शायद रूपा नाराज हो गयी हो और बुलाने न आये। पूड़ियाँ, कचौड़ियाँ किन सालनों से खायगी, इसके मँसूबे बाँधती है। फिर सरक कर आँगन में पहुँचती है। वहाँ मेहमान अभी जमे हुए हैं। बेचारी बुरी तरह दुतकारी जाती है। रूपा की छोटी लड़की को काकी का ध्यान है। उसकी माँ तो खा पीकर सो जाती है। वह गुड़ियों की पिटारी में अपने हिस्से की पूड़ियाँ

लिये हुए काकी के पास पहुँचती है। काकी ने पूड़ियाँ खालीं लेकिन उनसे न पेट भरा, न तृष्णा शान्त हुई। अन्त में वह छोटी बच्ची का हाथ पकड़े हुए जूठे पत्तलों के पास जा बैठती है। "दीन, क्षुधातुर, हतज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुन कर भक्षण करने लगी। ओह! दही कितना स्वादिष्ट था, कचौड़ियाँ कितनी सलोनी, खस्ता कितने सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी इतना जानती थी कि वह काम कर रही हूँ जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूँ। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा, रोग का अन्तिम समय है, जब संपूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।"

तृष्णा से पराजित होकर बूढ़ी स्त्री का जूठन बीन कर खाना बड़ा ही वीभत्स दृश्य है। फिर भी काकी के प्रति मन में घृणा का भाव पैदा नहीं होता। उसके मानसिक द्वंद्व से हमें सहानुभूति रहती है। क्रोध आता है रूपा और उसके पति पर जो उसकी संपत्ति हड़प करके उसे जो टुकड़े बीनने पर मजबूर करते हैं वह स्वयं जिस वातावरण में पली है, उसमें उसे इन्द्रिय सुख की रोक-थाम करना सिखाया ही न गया था। छोटी पूँजी के मालिकों की दुनिया में कैसे घिनौने व्यापार होते हैं, उनकी जीती-जागती तस्वीर इस कहानी में है। सुख-सम्पत्ति देखने के बाद बुढ़ापे में असहाय जीवन बितानेवाली विधवा स्त्री का ऐसा वीभत्स-करुण चित्र कथा साहित्य में कम मिलेगा।

प्रेमचंद की कहानियों की एक विशेषता उनका हास्य है। हास्य उपन्यासों में भी मिलता है लेकिन इतनी मात्रा में नहीं। लोग कहते हैं, हिन्दी में हास्यरस की कमी है। शायद उनका मतलब यह है कि जब तक कहानी के आदि से अन्त तक वे हँसते न रहें, तब तक हास्यरस की निष्पत्ति नहीं होती। मोटे राम शास्त्री वाली कहानियाँ ऐसी ही हैं। आदि से अन्त तक पाठक की हँसी बन्द नहीं होती। यहाँ प्रेमचंद की कला अतिरंजित चित्रण का सहारा लेती है। वह किसी कार्टून बनानेवाले की तरह रेखाओं पर इतना बल देते हैं कि व्यक्ति की खामियाँ हास्यास्पद होकर हमारे सामने आती हैं। मोटेराम का पेटूपन इसी प्रकार का है। किन्तु इससे उच्च कोटि का हास्य वह है जो जीवन के वैषम्य पर निर्भर रहता है, जो कथनी और करनी का अन्तर स्पष्ट करके हमें हँसाता है। प्रेमचद की पैनी निगाह इस तरह के अन्तर को बहुत जल्दी पकड़ती है। "बड़े भाई साहब" का चित्रण देखिये। "वह स्वभाव से बड़े अध्ययनशील थे। हरदम किताब खोले बैठे रहते और शायद दिमाग को आराम देने के लिये कभी कापी पर, कभी किताब के हाशियों पर चिड़ियों, कुत्तों, बिल्लियों की तस्वीरें बनाया करते थे। कभी-कभी एक ही नाम या शब्द या वाक्य दस-बीस बार लिख डालते।" इस तरह का हास्य व्यंग्य-मिश्रित होता है; सतह पर खिलखिलाहट के रूप में प्रकट न होकर वह जीवन धारा की गहराई, उसकी भँवरों और उसकी आड़ी तिर्छी गति पर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है। इससे भी भिन्न कोटि का हास्य वह है जो व्यंग्य का सहारा नहीं लेता, जो बच्चों के निर्दोष व्यवहार का चित्रण करके हमें हँसाता है।

"ईदगाह" कहानी में हामिद खिलौनों का मोहत्याग करके अपने तीन पैसों से दादी के लिये चिमटा खरीदता है। खिलौनों से चिमटा कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, यह साबित करने के लिए वह कैसी-कैसी दलीलें ढूँढ़ कर लाता है! हामिद की कहानी सुनाते हुए लगता है कि प्रेमचंद भी बच्चे हो गये हैं। वे इस तरह बच्चों की बातचीत दोहराते हैं मानों सब कुछ सुनकर लिखा हो। और "दो बैलों की कथा?" उसे भी मानों उन्होंने बच्चों के लिए लिखा हो। किसान अपने जानवरों से कितना प्यार करता है, उन्हें सुनानेवाले उनसे कैसा दुर्व्यवहार करते हैं, पशुओं में भी भाव होते हैं, वे अपने से प्रेम और घृणा करनेवालों को पहचानते हैं, यह सब हास्यरस के साथ इस कहानी से हम सीखते हैं।

प्रेमचंद हिन्दी के ही नहीं, भारत के बहुत बड़े कहानी लेखक हैं। उनके अनुभव और अध्ययन की परिधि बहुत विशाल है। उन्होंने रवीन्द्रनाथ, चेखव, गोर्की आदि बहुत से देशी-विदेशी कलाकारों की कहानियाँ पढ़ी थीं। इनसे उन्होंने जरूर बहुत कुछ सीखा होगा। क्या सीखा, यह कहना कठिन है। शायद सबसे ज्यादा सीखा उन्होंने कजाकी जैसे कहानी सुनानेवालों से। प्रेमचन्द अपनी कहानियाँ बड़े सादे ढंग से शुरू करते हैं। कभी-कभी लगता है कि गाँव के अलाव पर बैठे हुए वह कहानी सुना रहे हैं और हम सुन रहे हैं। उनकी कहानियों में एक तरह का लोकरस है मानों वे प्रेमचंद की रची न हों वरन् हजारों किसानों में सुनी-सुनाई जाकर हम तक पहुँची हों। लेकिन उनकी कला लोककथाओं से ऊँची स्तर की है और इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद ने अपनी कहानियाँ सँवारने में बड़ा परिश्रम किया था। उनके पास थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह देने की कला है। उनकी बहुत सी कहानियों में रेखाचित्रों का मजा रहता है। ब्रश को दो तीन बार कागज़ पर फेरा और पूरी तस्वीर तैयार हो गई! "निमंत्रण" कहानी में मोटेराम के प्रतिद्वंदी का रेखाचित्र देखिये, "चिन्तामणि तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्च कोटि के, दूर-दूर तक यजमानी थी। ऐसे पुरुषों को सब अधिकार है। कन्या के साथ-साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो, तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीन महिलाओं का सारे महल्ले में आतंक छाया हुआ था। पंडितजी ने उनके नाम बहुत ही रसीले रखे थे। बड़ी स्त्री को 'अमिरती' मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को 'मोहनभोग' कहते थे; पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं।" पति-पत्नियों के रेखाचित्रों के साथ उन्होंने ध्वस्त होती हुई सामन्ती संस्कृति का खाका भी खींच दिया है। शब्दों की यह मितव्ययता, रेखाचित्रों की यह गंभीर व्यंजना और समाज-व्यवस्था की खामियों पर यह तीव्र व्यंग्य प्रेमचंद की अपनी विशेषता है।

उनकी कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं जिनमें उन्होंने छोटे-मोटे उपन्यास के लायक घटनाओं का वर्णन कर दिया है। किन्तु अधिकांश कहानियों में वे एकाध घटना ही लेते हैं जिससे कहानी का प्रभाव बिखरने न पाये। इस प्रभाव के लिये वह कहानी में

विषय के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करते हैं। गाँव में पंचायत हो रही है। "एक कोने में आग सुलग रही थी। नाई ताबड़तोड़ चिलम भर रहा था। यह निर्णय करना असंभव था कि सुलगते हुए उपलों से अधिक धुआँ निकलता था या चिलम के दमों से। लड़के इधर-उधर दौड़ रहे थे। कोई आपस में गाली-गलौज करते और कोई रोते थे। चारों तरफ कोलाहल मच रहा था। गाँव के कुत्ते इस जमाव को भोज समझकर झंड के झुंड जमा हो गये थे।" (पंचपरमेश्वर)। प्रेमचंद की कल्पना उनके यथार्थ चित्रण का साथ देती है। यह कल्पना सजीव चित्र प्रस्तुत करने में बहुत ही प्रवीण है। उसका क्षेत्र व्यापक है। वह गाँव की पंचायत का चित्रण वैसे ही कर सकती है जैसे नवाबी के अवध का। "शतरंज के खिलाड़ी" में प्रेमचंद ने पतनशील नवाबी संस्कृति का ऐसे चित्रण किया है मानों उसे भी उन्होंने देखा हो।

उनकी भाषा अपनी सरलता के लिए प्रसिद्ध है लेकिन इस सरल भाषा में ही उन्होंने अनेक शैली भेद उत्पन्न किये हैं। कहीं उनकी कहानी निबन्ध की तरह शुरू होती है, "मातृप्रेम ! तुझे धन्य है। संसार में और जो कुछ है, मिथ्या है, निस्सार है।" (मन्दिर)। कहीं आत्मकथा के ढंग पर पाठक से भेद की बात कहते हुए से कहानी शुरू करते हैं, "इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया।" (रामलीला) सबसे ज्यादा भाषा की विविधता पात्रों की बातचीत में देखी जाती है। "शंखनाद" के कचहरी-प्रेमी वितान की जबान देखिये : "जायदाद मुश्तरका, मन्कूला या गैरमन्कूला, आपके हीनहयात तकसीम की जा सकती है, इसकी नज़ीरें मौजूद हैं।" श्रीमती मोटे-राम अवधी में पति को यों फटकारती हैं, "ऐसे तो बड़े विद्वान् बनत रहैं। अब काहे नाहीं बोलत बनत। मुँह में दही जम गया, जीभै नाहीं खुलत है।" (निमंत्रण)। तात्पर्य यह कि जितने मुँह उतनी तरह की बातें !

और कहानियाँ समाप्त कैसे की हैं ? आश्चर्य उत्पन्न करके, इस ढंग से कि आपने उसकी कल्पना न की थी। फिर भी उनका उद्देश्य चौंका देना भर नहीं है। वे "सन-सनीखेज़ घटनाओं के चित्रकार नहीं हैं। ऐसा होता तो एक बार पढ़कर फिर उनकी कहानियाँ पढ़ने को जी न चाहता। हम उन्हें बार-बार पढ़ते हैं। कारण यह कि उनमें मानव जीवन का वह सरस सत्य है जो हमें बार-बार अपनी ओर आकर्षित करता है। उनकी सुन्दर उपमाओं और व्यंग्य के कारण उनकी भाषाशैली इतनी आकर्षक है कि कहानी का चिन्ता न करके हम कभी-कभी माया पर ही मुग्ध होकर उसे पढ़ते हैं।

प्रेमचंद की सफलता का रहस्य उनके अनुभव की विविधता और विशालता है। जमींदारों, बाबुओं, किसानों, अछूतों, बच्चों, बूढ़ों, विधवाओं, विद्यार्थियों, अध्यापकों, क्लर्कों, हिन्दुओं, मुसलमानों, आज के युग और बीते हुए युगों—सभी का उन्होंने चित्रण किया है। उन कहानियों में हिन्दुस्तान बोलता है; वे हमारी जनता के सच्चे इतिहास-कार हैं। उनके समय की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं लेकिन जनता के नैतिक गुण नहीं बदले वरन् और निखर रहे हैं। इसीलिये उनकी कला मनोरंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है और उनकी कहानियाँ हमारे लिये आज भी आकर्षक हैं।

गुप्तजी का युग और यशोधरा

[डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ]

हिन्दी काव्य-क्षेत्र में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। खड़ी बोली काव्य-साहित्य के सम्पूर्ण काव्य-विकास में गुप्तजी का व्यक्तित्व अखण्ड रूप से व्याप्त दिखलायी देता है। १९०० ई० में 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन ने साहित्य-क्षेत्र में नयी प्रवृत्तियों का श्रीगणेश किया था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के संरक्षण-सम्पादन में 'सरस्वती' ने खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में स्थापित करने का प्रयास आरम्भ कर दिया और गुप्तजी ने सक्रिय रूप से उस प्रयास में सहयोग देना आरम्भ किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का युग, काव्य भाषा की दृष्टि से, व्रजभाषा का ही युग था। रीति-शृंगार की प्रवृत्तियाँ भी काव्य में बहुत कुछ अपना स्थान जमाये हुए थीं। स्वयं भारतेन्दु ने भक्ति और शृंगार-प्रधान रचनाएँ प्रमुख रूप से प्रस्तुत कीं। उनके नाटकों में नव-जाग्रति सम्बन्धी गीत भी लिखे गये, फुटकर रूप में भी उन्होंने विविध विषयों पर रचना की, परन्तु विशेषता शृंगारिक कविता की ही रही। ऋतु वर्णन, नायिका-भेद, अलंकार-चमत्कार आदि की ओर कवि-गण विशेष ध्यान देते रहे। भाषा-सौंदर्य की ओर भी विशेष ध्यान रहा।

द्विवेदी-युग के आरम्भ के साथ-साथ देश में नवजाग्रति का स्पन्दन आरम्भ हो गया। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। भारतवासी अपनी दीनता, दासता आदि के प्रति सगज हो चुके थे। राजनीतिक,साहित्यिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों की अपनी दुर्बलताओं और त्रुटियों को समझने लगे थे तथा उनको सुधारने के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे। उनमें जीवन की स्फूर्ति भरने लगी थी।

गुप्तजी के साहित्य-क्षेत्र में आविर्भूत होने के साथ-साथ भारतीय समाज में इस प्रकार की बहुमुखी उथल-पुथल आरम्भ हो गयी थी। अंगरेजों की विभाजन-नीति को भारतवासी समझने लगे थे और राष्ट्रीय संगठन, हिन्दू संगठन, की ओर प्रयत्नशील थे। यद्यपि उन्होंने अनेक बार अंगरेजों का साथ दिया था किन्तु उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ था। बंगाल-विभाजन, साम्प्रदायिक-विभेद, दमन-नीति आदि के द्वारा अंगरेजों ने सदैव उनकी भावनाओं पर आघात किया था, अतः उनका विक्षोभ स्वाभाविक ही था।

अंगरेजी-शिक्षा के प्रभाव से भारतीयों के हृदय में सामाजिक चेतना की उत्पत्ति हो गयी थी। अपनी सभ्यता, संस्कृति, कला आदि के प्रति उनके मन में गौरव की भावना जाग्रत हो गयी थी। यद्यपि दासता की लम्बी अवधि के कारण समाज विशृंखल हो रहा था; कलह, फूट, अशिक्षा, विलासिता आदि दुर्गुणों में डूबे हुए भारतीय अपने पूर्व-गौरव को भूले हुए थे। स्त्रियों की दशा दयनीय थी। पर्दा प्रथा, अशिक्षा, अंधविश्वास आदि के कारण वे पशुवत् जीवन व्यतीत कर रही थीं। शासन की ओर से कितने ही कर लगे थे; जनता दरिद्रता की मार से पीड़ित थी। परंतु यह सब होते हुए भी अंगरेजी-शिक्षा ने नवचेतना उत्पन्न कर दी थी, इसमें सन्देह नहीं है।

धार्मिक दृष्टि से गुप्तजी का युग सुधारवादी युग था। धर्म का उद्देश्य जीवन को पवित्र तथा सात्विक बनाना स्वीकार किया जा रहा था। कर्म-कांड के आडम्बरों के प्रति उतनी श्रद्धा नहीं रही जा रही थी। कर्म का महत्त्व विशेष स्वीकार किया जा रहा था, जन्म का नहीं। इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था अप्रधान हो रही थी। महर्षि दयानन्द, राजा राममोहन राय, श्रीमती एनीबीसेण्ट आदि चिन्तकों ने आर्य समाज, ब्रह्म समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं की स्थापना करके, धर्म को उदार रूप प्रदान करने का प्रयास किया था। धर्म को सर्व-सुलभ बनाकर उसके द्वारा मानव जीवन का संस्कार तथा व्यक्ति का चरित्र निर्माण करने का प्रयत्न आरम्भ किया गया था।

उपर्युक्त परिस्थितियों की छाया में साहित्य-निर्माण हो रहा था। सर्वश्री लोचन प्रसाद पाण्डेय, रामचरित उपाध्याय, नाथूराम शंकर शर्मा, गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय, लाला भगवानदीन, सत्यनारायण 'कविरत्न' आदि गुप्तजी के सम-सामयिक कवि रहे हैं। इन कवियों के काव्य में प्राचीन शैली की तन्मयता तथा सौन्दर्य भावना और नवीन शैली की सजीवता तथा स्वाभाविकता एक साथ दृष्टि-गत होती है।

प्रान्तीय तथा विदेशी भाषाओं का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ रहा था। श्रीधर पाठक ने अंगरेजी के अनुवाद प्रस्तुत किये थे। मराठी का प्रभाव द्विवेदी जी स्वयं लाये थे। बंगला के अनुवाद रूपनारायण पाण्डेय ने प्रचुर मात्रा में किये। स्वयं गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद-वध' का सफल अनुवाद प्रस्तुत किया। बंकिम चन्द्र चटर्जी, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्चन्द्र आदि के भी व्यापक प्रभाव हिन्दी कविता पर पड़ चुके थे। छायावाद के रूप में नवीन काव्य ने हिन्दी काव्य क्षेत्र में जन्म ग्रहण कर लिया था जिसमें शृंगार तथा आध्यात्मिकता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगत होता था।

द्विवेदी जी ने भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन और सुधार आरम्भ किये। खड़ी बोली बोल-चाल की भाषा में स्वीकृत हो चुकी थी। काव्य-भाषा के रूप में उसकी स्थापना का प्रयास द्विवेदी जी ने आरम्भ किया। गुप्तजी उन गिने-चुने कवियों में हैं जिन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली में काव्य रचना आरम्भ की थी और 'सरस्वती' में उन कविताओं

का प्रकाशन आरम्भ हुआ था। भाषा के साथ छन्दों में भी परिवर्तन हुआ; कवित्त, सवैया, छप्पय, दोहा आदि के स्थान पर नवीन, संस्कृत वृत्त अथवा रसानुकूल छन्द व्यवहृत करने का प्रयास होने लगा। उपर्युक्त सारी परिस्थितियों का प्रभाव गुप्तजी के काव्य में स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

गुप्तजी को साहित्य क्षेत्र में काव्य रचना करते हुए अब आधी शताब्दी से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। अब तक उन्होंने प्रायः चालीस काव्य-ग्रंथों की रचना की है। इन ग्रंथों में पौराणिक, ऐतिहासिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक रचनाओं का प्राधान्य है। मुक्तक, चम्पू, खण्ड-काव्य, प्रबंध काव्य तथा नाटकीय शैलियों का प्रयोग उन्होंने यथावसर किया है। इतिवृत्तात्मक, रसात्मक, छायावादी आदि प्रचलित काव्य की अन्तरंग शैलियों का प्रयोग भी प्रचुरता के साथ हुआ है किन्तु प्रधानता गुप्तजी में कला की है। वे एक श्रेष्ठ कलाकार हैं, भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है और उसकी सहायता से वे अपने लक्ष्य, रसानुभूति, तक सरलता से पहुँच जाते हैं। उनकी कला की सफलता इसी में है।

यशोधरा गुप्तजी का प्रौढ़ काव्य है। इसकी रचना १९३३ ई० में हुई। इसके पूर्व १९३२ ई० में ही, उनका प्रसिद्ध काव्य 'साकेत' प्रकाशित हो चुका था। 'साकेत' रचना की प्रेरणा गुप्तजी को द्विवेदी जी के एक लेख से मिली थी। लेख का शीर्षक था 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता'। यह लेख श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख, 'काव्येर उपेक्षिता' (काव्य की उपेक्षिताएँ) की प्रेरणा से लिखा गया था। इस प्रकार साकेत में वर्णित उर्मिला का चरित्र इसी प्रेरणा से चित्रित हुआ है, कि कवियों ने उसकी उपेक्षा करके उसके साथ अन्याय किया है। 'साकेत' को महात्मा गाँधी ने भी पढ़ा था और उनका मत था कि इस ग्रंथ में उर्मिला को आवश्यकता से अधिक रुला दिया गया है। विरहिणी उर्मिला केवल रोती है, और कुछ नहीं करती। गुप्तजी ने इस कथन पर विचार करके, सम्भवतः अपनी उर्मिला-विषयक त्रुटि का परिमार्जन करने के लिए, 'यशोधरा' की सृष्टि की। इस प्रकार उन्होंने विरह और कर्तव्य को बीच में डाल कर यशोधरा के रूप में आदर्श नारीत्व उपस्थित किया।

'यशोधरा' की कथा वस्तु बहु-विश्रुत भगवान् बुद्ध से संबंधित है। बुद्ध के गृह त्याग से इसका आरम्भ है और यशोधरा के विरहिणी और जननी रूपों के बीच से इसका विकास होता है। बुद्ध के घर लौटने के साथ ही इसकी समाप्ति है। वास्तव में कथा-सूत्र अत्यन्त सूक्ष्म है। घटना-विस्तार की अधिकता नहीं है, वरन् भाव-विस्तार ही विशेष रूप से दृष्टिगत होता है। जो कुछ घटनाएँ आयोजित की गयी हैं उन्हें मानस की शैली में रखने का प्रयत्न किया गया है। संक्षेप में इस कथा-संगठन पर दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा—

मंगलाचरण में कवि ने राम की, विष्णु के अवतार की, प्रार्थना की है और उन्हें अमिताभ कहकर गौतम के साथ उनकी एक-रूपता की ओर संकेत कर दिया है।

इसके उपरान्त 'महाभिनिष्क्रमण' के पूर्व गौतम के हृदय के उद्वेलन का चित्रण किया गया है। संसार की असारता और अर्थ हीनता का कथन करके गौतम गृह-त्याग करते हैं। सोती हुई पत्नी और पुत्र के प्रति सांत्वना के शब्द कहकर, छन्दक से अश्व मँगवा कर अर्धरात्रि में घर छोड़ते हैं।

यशोधरा का विरहिणी रूप सम्मुख आता है। उसके हृदय की ग्लानि तथा लज्जा का चित्रण यहीं से आरंभ होता है। नन्द गौतम के भाई हैं, उनका चित्रण मानस के भरत के समान किया गया है। सौतेली माता महाप्रजावती अपनी आकुलता में अपने को स्वयं कैकेयी के समकक्ष रखती है। यद्यपि उसका स्थान कौशल्या का ही है। शुद्धोदन दशरथ के समकक्ष हैं; पुरजन, अवध के उन नागरिकों के समान लगते हैं जो राम के रथ के पीछे दूर तक भागते चले गये थे और जिन्हें धोखा देकर राम ने सुमंत्र से रथ हँकवा दिया था। छन्दक, सुमंत्र के ही स्थान पर स्थापित किया गया है। इस प्रकार कथा का यह आरम्भिक रूप, मानस के मार्ग पर चलता दृष्टिगत होता है। आगे का अंश प्रधानतः यशोधरा के विरहिणी तथा मातृ-जीवन का विशद विवेचन है। कथा-अंश केवल इस विवरण को आगे बढ़ाने मात्र के लिए होता है। यशोधरा वियोगिनी के रूप में अपने स्वाभिमान की रक्षा करती हुई और माता के रूप में पुत्र राहुल का पालन-पोषण करती हुई जीवन व्यतीत करती है। अन्त में उसे गौतम के सिद्धि लाभ करके लौटने का सन्देश मिलता है। गौतम आते हैं किन्तु वह अपने कक्ष से नहीं निकलती, गौतम को वहीं आना पड़ता है। वह अपने सारे उपालम्भ आदि भूल जाती है। गौतम उसे नारी का महत्त्व बतलाते हैं। 'मार-विजय' में यशोधरा की स्मृति को सहायक बतलाकर उसके गौरव का उद्घाटन करते हैं। यशोधरा राहुल को उन्हें सौंपती है, गौतम उसे दीक्षा देते हैं और कथा समाप्त होती है।

इस कथावस्तु का संगठन कवि ने बड़े ही मार्मिक तथा कौशल पूर्ण ढंग से किया है। कथा-सूत्र को सामान्य रूप से न जोड़ कर उसने मार्मिक स्थलों को प्रधानता प्रदान की है। अभिनिष्क्रमण से आरम्भ करके कवि ने काव्य की मूल प्रेरणा को उठा लिया है। गौतम की गौरव गाथा की पृष्ठ भूमि में यशोधरा की करुण कहानी कहना उसका उद्देश्य है। इसका आयोजन वह तुरंत कर लेता है। गौतम की आरम्भिक जीवन-कथा को यशोधरा की स्मृति में लाकर, आगे कला पूर्ण ढंग से सूत्र जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार राहुल को कहानी सुनाने के बहाने देवदत्त द्वारा शर विद्ध हंस को प्राप्त कर उसकी रक्षा करने की घटना कह दी गयी है। विवाहोत्सव के अवसर का चित्र प्रस्तुत करके राहुल को माता की किशोरावस्था का आभास करा दिया गया है। इस प्रकार कथा मार्मिक स्थलों पर विशेषतः आधारित है। प्रबन्ध-सौष्ठव की क्रमिक शृंखला की ओर कवि की दृष्टि उतनी ही नहीं है जितनी भावुकता-पूर्ण स्थलों के चयन की ओर, अतः गीत-तत्त्व की प्रधानता उसके काव्य में स्वाभाविक ही है। इस काव्य को गीतात्मक-प्रबन्ध की संज्ञा प्रदान करना उचित ही प्रतीत होता है। वियोग, वात्सल्य

तथा शान्त रसों के स्थल कवि ने विशेष रूप से ग्रहण किये हैं। इनके आधार पर गीतों की सृष्टि करता हुआ कवि, कथा सूत्र को विवरणात्मक छन्दों से बाँधता चलता है।

यशोधरा काव्य चरित्र प्रधान है। यद्यपि संख्या में पात्र अनेक हैं तथापि प्रमुख पात्र तीन ही हैं, गौतम, यशोधरा और राहुल। इनमें भी यशोधरा, जिसके आधार पर काव्य का नामकरण है, प्रमुख स्थान रखती है। गौतम तथा राहुल की सहायता से उसके चरित्र के दो पक्षों, वियोग तथा वात्सल्य का विकास होता है। यही दो पक्ष उसके चरित्र के प्रमुख अंग हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, यशोधरा की सृष्टि, कवि ने नारी-जीवन की पूर्णता को अंकित करने के लिए की है। उर्मिला की एकांगी वियोग-भावना से ऊपर उठकर वात्सल्यमयी माता के रूप में भी उसे चित्रित करना कवि का उद्देश्य है। साथ ही वह भारतीय नारी की करुण दशा को भी यशोधरा के रूप में आबद्ध कर देना चाहता है। इन्हीं दो रूपों की विशद-विवेचना इस काव्य में प्रस्तुत है।

'यशोधरा पति द्वारा परित्यक्ता है; गौतम उसे सोती छोड़कर चले गये हैं यह भावना उसके हृदय में बद्धमूल है। पग-पग पर उसे इस तथ्य की खटक बनी रहती है और उसका मन अभिमान से भरता रहता है। स्वामी के प्रति अगणित उपालम्भ उसके मन में जागृत होते रहते हैं। नारी की उपेक्षणीय स्थिति का भी विचार उसके मन में बार-बार उठता है। "आँचल में दूध और आँखों में पानी" लिये हुए उसका चरित्र, सम्पूर्ण नारी जाति का प्रतिनिधि प्रतीत होता है। जीवन की सम्पूर्ण विषमताओं को चुप-चाप सहन कर लेना भारतीय नारी का सर्व प्रमुख गुण अथवा लक्षण है। यशोधरा वियोग की स्थिति में मर्मान्तिक पीड़ा सहन करती है। वियोग-दशाओं में मरण तक उसकी स्थिति पहुँचती है। "मरण सुन्दर बन आया री" कहकर वह उसका स्वागत करती है क्योंकि वही एक मात्र उसका शरण दाता रह गया है। किन्तु नारी जीवन की विषम परिस्थिति का आभास उस स्थान पर होता है जहाँ पर उसकी कर्त्तव्यशीलता उसे अपने दुःख की अभिव्यक्ति का भी अधिकार नहीं देती। मातृत्व के कर्तव्यों का पालन करती हुई यशोधरा को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं राहुल उसे रोते न देख ले, उसकी दुर्बलता पुत्र के सम्मुख प्रकट न हो जाय और पुत्र के मन पर इसका बुरा प्रभाव पड़े। हृदय से पति के लिए रोते हुए भी उसे पुत्र के सम्मुख हँसना ही पड़ता है। पति की अनुपस्थिति में "दाम्पत्य की मधुर ग्रंथि"—पुत्र की मंगल कामना ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य है। उसी की नींद सोना, उसी के साथ खेलना, उसका सब प्रकार से मनोरंजन तथा विकास करना, उसे अभीष्ट है। उसका वियोग, इस पावन कर्तव्य की छाया में सात्विकता तथा पवित्रता धारण कर लेता है। नारी जीवन का यह चरमोत्कर्ष है।

पति के पुनरागमन पर भी यशोधरा अपने गौरव को बनाये रखती है। उसमें अधैर्य नहीं आता। भीतर से आकुल किन्तु वाह्य रूप में पूर्णतः दृढ़, उसके चरित्र में

अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा ही संयत रूप दृष्टिगोचर होता है। वह अभिमानी भक्त के समान अपने उपास्य देव को अपने निकट बुलाकर ही मानती है, और गौतम उसकी अटूट श्रद्धा को पहचानते भी हैं, वे स्वयं उसके निकट उपस्थित होते हैं; यशोधरा की मान रक्षा अपने सर्वाङ्गीण रूप में हो जाती है।[1] वह प्रेम-विभोर हो उठती है, जैसे कोई भक्त, भक्तिभावना में तन्मय हो उठता है और उसका सारा शृंगार-भाव, शान्त-भाव में परिणत हो जाता है। पुत्र को वह पति के चरणों में समर्पित कर देती और अपने कर्तव्य से उऋण हो जाती है। यहीं उसके व्यक्तित्व का त्यागमय, पूर्ण विकास दृष्टि-गोचर होता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण चरित्र राहुल का है। गुप्तजी ने राहुल के बाल-रूप का चित्रण करने में बहुत सफलता नहीं पायी है, ऐसा मेरा अनुमान है। उसका चरित्र साहित्यिक-विशेष है, स्वाभाविक कम। उसके वार्तालाप सामान्य बालक के वार्तालाप नहीं हैं। वह अत्यन्त मेधावी तथा सर्वगुण सम्पन्न है। ओज, कवित्व, कला-प्रेम आदि गुण उसके कथनों में प्रचुरता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि उसके चरित्र का स्वाभाविक पक्ष भी है, परन्तु यह स्वाभाविकता और पूर्वकथित अस्वाभाविकता, दोनों मिलकर राहुल के चरित्र को असाधारण बना देते हैं। हमें यही सोच कर सन्तोष करना पड़ता है कि राहुल, राजकुमार है; असाधारण पिता-माता की सन्तान है अतः उसमें भी असाधारणता होनी ही चाहिए।

गौतम का चरित्र कोई विशेष नवीनता नहीं रखता है। पूर्व-परिचित उनके त्याग-तपस्या-युक्त जीवन की झांकी ही हमको यहाँ भी मिलती है। वे निःस्पृह, लोक सेवक के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। गांधीवाद की सी झलक हमको उनके चरित्र द्वारा मिलती है। 'मातृ-जाति', नारीवर्ग को गौरव प्रदान करना और यशोधरा के त्याग-तपस्या को अपनी साधना का एक आवश्यक अंग स्वीकार करना उनका महत्त्वपूर्ण कार्य है। उनके चरित्र की महत्ता यशोधरा के चरित्र को विकसित करने में है।

रस की दृष्टि से 'यशोधरा' एक मौलिक काव्य है। यशोधरा का वियोग तथा वात्सल्य इस कृति के प्रमुख रस हैं, ऐसा कहा जा चुका है। शान्त के संपुट में ये दोनों ही सन्निहित कर दिये गये हैं।

कथा का आरम्भ गौतम के निर्वेदात्मक विचारों से होता है। उनके गृहत्याग का कारण वे उद्दीपन हैं जिनको उन्होंने वृद्ध तथा मृत व्यक्तियों के रूप में देखा। उनके मन में असार संसार (आलम्बन) के प्रति विरक्ति भाव जागृत हुआ। ग्लानि, तर्क, विचारण, उत्साह आदि संचारी भावों द्वारा यह विरक्ति, निर्वेद परिपुष्ट हुआ।

वियोग शृंगार की आश्रय यशोधरा है; गौतम आलम्बन है। संयोगकाल की कितनी ही परिस्थितियाँ उद्दीपन हैं; इनका स्मरण, स्मृति संचारी के रूप में वियोग भाव को पुष्ट करता है। अनुभाव के रूप में यशोधरा की विविध चेष्टाओं का वर्णन कवि ने सफलता पूर्वक किया है।

वात्सल्य का आलम्बन राहुल है। माता इस भाव की आश्रय है। बाल-क्रीड़ाएँ उद्दीपन हैं। मातृहृदय का हर्ष, पुत्र के ऊपर अभिमान, गर्व उसकी हित-चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। सब से बड़ी विशेषता शृंगार और वात्सल्य रसों में यह है कि दोनों एक दूसरे के संचारी भावों के रूप में प्रयुक्त किये गये हैं। यशोधरा के निम्नलिखित कथन में—

"स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार।
छोड़ गए मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार॥
जिये जल-जल कर काया सी!
मरण सुन्दर बन आया री!!"

उसके वियोग की विवशता राहुल के प्रति उसकी ममता द्वारा उद्दीप्त होती है। स्वामी की स्मृति में रोती हुई वह पुत्र को देखकर हँसती है, उसे प्रसन्न रखने को गाती है; स्वामी को बुलाती है; वियोग, वात्सल्य द्वारा उद्दीप्त होता है।

"क्यों न हँसूँ-रोऊँ-गाऊँ मैं, लगा मुझे यह टोना।
आर्य पुत्र आओ, सचमुच मैं, दूंगी चन्द-खिलौना॥"

उधर, पुत्र के साथ खेलते हुए उसकी वियोग भावना उद्दीप्त हो उठती है, स्वामी की मूर्ति देखकर। निश्वास, आत्म विस्मृति जैसे अनुभाव उसे पकड़ा देते हैं, लुकाचोरी के खेल में राहुल जीत जाता है। माता हार स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार वात्सल्य की पुष्टि वियोग-शृंगार की भावना द्वारा हो जाती है।

अन्त में कवि ने शृंगार, वात्सल्य और शान्त का अद्भुत रसायन प्रस्तुत किया है। गौतम-यशोधरा का मिलन, माता द्वारा पिता को राहुल की भेंट तथा 'धर्म शरण' जाने के लिए पिता की प्रेरणा, राहुल का दीक्षा ग्रहण, सम्पूर्ण दृश्य को शान्तिमय वातावरण से पूर्ण कर देते हैं। लौकिकता और वासनात्मक को समाप्त करके कवि ने गृहस्थजीवन को भी एक बड़ा सात्विक और अलौकिक रूप प्रदान कर दिया है। रस का यह अद्भुत संयोग 'यशोधरा' की विशेषता है।

'यशोधरा' एक श्रेष्ठ कला-कृति है। वास्तव में गुप्तजी के काव्य की सम्पूर्ण गरिमा उनकी कला पर ही आश्रित है। वे सहृदय तथा भावुक कवि हैं किन्तु उनकी अभिव्यंजना-प्रणाली कलात्मक विशेष है। वे हृदय का स्पर्श करते हैं किन्तु बुद्धि के माध्यम से। कलाकारिता श्रेष्ठ कवि का लक्षण है और गुप्त जी में कला अपने बड़े ही मार्मिक तथा चमत्कारपूर्ण रूप में उपलब्ध होती है।

कल्पना के क्षेत्र में 'यशोधरा' का स्थान महत्त्वपूर्ण है। सर्व प्रथम उन्होंने कथा-वस्तु के निर्माण में ही कल्पना का उपयोग किया है। मानस के कथा सूत्र पर यशोधरा की कथा को चलाने का प्रयास उनकी उर्वर कल्पना का ही परिचायक है। रामायण युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को बुद्ध युग के साथ संयुक्त करके कवि ने भारतीय संस्कृति के मूल में विद्यमान अविच्छिन्न त्याग-तपस्या, बलिदान आदि की धारा की

ओर संकेत कर दिया है। यशोधरा का विरहवर्णन करने में कवि ने अपनी उर्वर कल्पना के आधार पर उसकी मनःस्थितियों की विविध कल्पनाएँ की हैं। वियोग दशाओं का चित्रण करने के लिए कितने ही दृश्यों और घटनाओं की मर्मस्पर्शी कल्पना की गयी है। मनःस्थितियों का आरोपण प्रकृति के दृश्यों पर करके उन्हें मूर्तरूप प्रदान कर दिया गया है। वियोग की 'मरण' दशा का साकार-स्वरूप, इस प्रकार मूर्त किया गया है:—

"मरण सुन्दर बन आया री!
शरण मेरे मन भाया री!
अपने हाथों किया विरह ने उसका सब शृंगार।
पहना दिया उसे उसने मृदु मानस मुक्ता हार।
विरुद विहगों ने गाया री।
फूलों पर पद रख, कूलों पर रच लहरों से रास।
मन्द-पवन के स्यन्दन पर चढ़, बढ़ आया सविलास।"

मृत्यु के आतंक पूर्ण रूप का इतना मधुर, लीला-विलास से युक्त रूप कल्पित करना कवि की प्रतिभा का परिचायक है।

राहुल के बाल-स्वभाव का वर्णन करने में भी कवि ने कल्पना का सुन्दर उपयोग किया है। स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के लिए उसका यथावसर उपयोग हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं इस कल्पना ने सीमातिक्रमण भी कर लिया है जिससे स्वाभाविकता पर आघात लगा है। कुछ दृश्यों को कल्पित करने में दुरूहता आ गयी है अत्यधिक चमत्कार वृत्ति का आश्रय ले लेने के लोभ में क्लिष्टता का दोष उत्पन्न हो गया है। एक कल्पना-चित्र पर्याप्त होगा।

"उलट पड़ा वह दिव रत्नाकर, पानी नीचे ढलक बहा।
तारक-रत्नहार सखि, उसके खुले हृदय पर झलक रहा।
"निर्दय है या सदय हृदय वह?" मैंने उससे ललक कहा।
हँस बोला "ग्रह-चक्र देख लो!" पर न उठे ये पलक हहा!!"

उक्त पद्य का भाव इतना असाधारण है कि उसके कल्पना चित्र को यथारूप ग्रहण कर लेना पाठक के लिए इतना सुगम नहीं हो पाता। फिर भी इतना निश्चय है कि गुप्तजी ने यशोधरा में बड़ी ही मनोरम कल्पनाओं का समावेश किया है और इस क्षेत्र में उनकी प्रतिभा विलक्षण है।

आलंकारिकता की दृष्टि से भी गुप्तजी ने यशोधरा को पर्याप्त रूप से सँवारा है। अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों की छटा तो स्थान-स्थान पर दृष्टिगति होती ही है; कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से "जोड़ूँ-जाड़ूँ" "तोड़ूँ-ताड़ूँ "दाँत उखाड़ूँ" आदि में वह अनुपयुक्त भी हो गये हैं, फिर भी कवि का शब्दावली पर पूर्ण अधिकार है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। अर्थालंकारों का समावेश भी उतनी ही प्रचुरता के साथ किया गया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा,

स्मरण, भ्रम, सन्देह, समासोक्ति, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति आदि कितने ही बहु प्रचलित तथा स्वाभाविकता-युक्त अलंकार सफलता पूर्वक प्रयुक्त हुए हैं। यशोधरा वियोग-विभ्रम में अपने केशों को देखकर कहती है:—

"जाओ मेरे सिर के बाल।
आलि, कर्त्तरी ला, मैंने क्या पाले काले व्याल ?
"डसें न हाय ! मुझे एड़ी तक विस्तृत ये विकराल।"

इत्यादि में भ्रम और संदेह का स्वाभाविक, आलंकारिक रूप प्रस्तुत किया गया है।

"इंदुकले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में"

कहकर यशोधरा स्वयं अपने भाग्य की मन्दता पर शोक करती है। केवल अप्रस्तुत का वर्णन अन्योक्ति शैली में किया गया है।

सौध शिखर पर स्वर्ण-वर्ण की आतप आभा भा रही।
ज्यों तेरे अंचल की छाया मेरे सिर पर छा रही॥

इत्यादि कथन में दो सापेक्ष वाक्यों का उपमान रूप से आरोप किया गया है, यह निदर्शना अलंकार है।

उपमा और व्यतिरेक का उदाहरण गद्य में प्रस्तुत किया गया है। राहुल कहता है—"हाँ, माँ, मैंने जो आम के पौधे रोपे थे उनमें नयी कोंपलें निकली हैं—बड़ी सुन्दर, लाल, लाल !" माता उत्तर देती है—"जैसी तेरी अँगुलियाँ !" राहुल इस उपमा से सन्तुष्ट नहीं होता, वह कहता है—"मेरी अँगुलियाँ तो धनुष की प्रत्यञ्चा भी खींच लेती हैं। वे हाथ लगते ही कुम्हला कर तेरे होठों से होड़ करने लगेंगी।" वर्ण्य कोपलों का उत्कर्ष उनके शीघ्र कुम्हला जाने की सुकुमारता दिखला कर किया गया है अतः व्यतिरेक है।

यशोधरा में आलंकारिता का मनोरम रूप प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से यह कृति सफल है।

शैली की दृष्टि से यशोधरा एक उदार रचना है। इसके गीतात्मक प्रबन्ध रूप की बात हम पहले कह चुके हैं। वास्तव में वर्णनात्मकता तथा संवेदनात्मकता का सुन्दर समन्वय इस कृति में दृष्टिगत होता है। कथावस्तु पर विचार करते हुए हमने वर्णन की कलात्मकता की बात कही है। इसी कथा प्रवाह में संवादों का अत्यन्त वाक्चातुरीपूर्ण प्रयोग कवि ने किया है। इस संवाद शैली को प्राधान्य देने के लिए उसने मुक्त छन्द को तो लिया ही है, साथ ही एक नाटकीय दृश्य का भी आयोजन कर दिया है। संवादों में प्रलाप, विनोद, तर्क, ओज आदि से पूर्ण शैलियों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है। गीत-शैली में संवेदनात्मकता विशेष है, यद्यपि अलंकार शैली का प्रयोग भी कवि ने किया है। उपदेशात्मकता भी स्थान-स्थान पर झलक उठी है, जहाँ पर कवि ने गद्य-संवादों में सामाजिक-दृष्टि को प्रधानता प्रदान की है। यशोधरा में शैली का चमत्कार पूर्ण तथा समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया गया है, जिसने

कवि की परम्परा प्रियता को स्पष्ट कर दिया है। यही उदारता छन्दों के क्षेत्र में भी, दिखलायी पड़ती है। पद, दोहा, सोरठा, छप्पय, कवित्त,छायावादी शैली में लिखे हुए गीत तथा लोक-गीत शैली के गीत, सभी इस कृति में समाहित हैं। बंगला में प्रयुक्त मुक्त छन्द को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। भाव तथा विचारानुकूल छन्दों का चयन कवि ने विभिन्न क्षेत्रों से कर लिया है; अभिव्यंजना की सुकरता ही उसका उद्देश्य है, किसी विशेष 'वाद' का अनुगमन नहीं।

भाषा की दृष्टि से यशोधरा काव्य, अत्यन्त प्रौढ़ है। रसानुकूल भाषा का निर्माण करने में कवि पूर्णतया सफल है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं शब्दावली में प्रान्तीयता अथवा रुक्षता भी दृष्टिगत होती है, परन्तु सामान्यतः वह भाषाधिकारी, विद्वान् कवि के रूप में ही हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।

ओज, प्रसाद तथा माधुर्य्य, तीनों प्रमुख गुणों के दर्शन गुप्तजी की भाषा में होते हैं। अपने 'धर्म-संकट' की बात कहते हुए यशोधरा ओजपूर्ण वाणी बोलती है—

"बैठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को।
सिंहनी सी काननों में, योगिनी सी शैलों में,
शफरी सी जल में, विहङ्गिनी सी व्योम में,
जाती तभी और उन्हें खोज कर लाती मैं !"

प्रसाद गुण का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित छन्द है—

"उनका यह कुंज कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहाँ।
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं
सुन चातक की रट-पीव कहाँ ?"
अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहाँ,
सखि जा पहुँचे सुध-संग कहीं,
यह अन्ध सुगन्ध समीर वहाँ !"

अर्थ तथा भाव हृदय में तुरन्त चमत्कृत हो उठते हैं; पढ़ते ही मन अनुभूति से प्रभावित हो जाता है। प्रसाद गुण की यह विशेषता उक्त पंक्तियों में प्रत्यक्ष है।

माधुर्य्य के स्थल गुप्तजी ने स्थान-स्थान पर आयोजित किये हैं। यशोधरा वसन्त के आगमन पर अपने वनमाली को सम्बोधित करती हुई कहती है—

"समय स्वयं यह सजा रहा है, डगर-डगर में डाली।
मृदु समीर सह बजा रहा है, नीर तीर पर ताली।
× × × ×
लता कण्टकित हुई ध्यान से ले कपोल की लाली।
फूल उठी है हाय ! मान से प्राण भरी हरियाली ॥ओ मेरे वनमाली॥"

उक्त उद्धरण में भाषा की अनुप्रासमयता, कोमल अक्षरों का प्रयोग तथा लाक्षणिकता के कारण मधुरता का सुन्दर समावेश हुआ है।

गुप्तजी की भाषा में मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग भी सफलता पूर्वक हुआ है। भाषा में संगठन तथा अलंकरण दोनों ही आ गये हैं। व्यावहारिकता और प्रवाह की सृष्टि स्वतः हो गयी है —

"पानी भर आया फूलों के मुँह में आज सबेरे।"
"बस में यही है बस आँखें भर लाऊँगी।"
"पर उस अमर मूर्ति के आगे···सौ-सौ बार मरूँगी मैं"

इत्यादि दो तीन उदाहरणों से उक्त कथन स्पष्ट हो जायगा। उक्त वैचित्र्य के ऐसे अनेक उदाहरण यशोधरा में बिखरे पड़े हैं जो सामान्य वार्तालाप की भाषा तथा साहित्यिक परम्परा पर आधारित हैं। इस दृष्टि से गुप्त जी की भाषा सर्वाङ्गीण तथा प्रौढ़ है।

यशोधरा यद्यपि भारतीय संस्कृति के ऐतिहासिक आरम्भ-काल की कथा है तथापि उसमें कवि के व्यक्तित्व तथा सामयिक परिस्थितियों की पर्याप्त झलक दृष्टिगत होती है। गुप्तजी वैष्णव रामभक्त व्यक्ति हैं, मानस का कथादर्श उनकी इस विशेषता को व्यक्त करता है। यशोधरा का मंगलाचरण भी राम, विष्णु तथा गौतम की प्रार्थना करता है। गुप्त जी का गाँधीवाद भी गौतम की साधना तथा अहिंसा में निहित है। उनका शास्त्र-ज्ञान, कला-ज्ञान आदि भी स्थल-स्थल पर व्यक्त होता है। माता और राहुल के वार्तालाप में उपनिषदों के उद्धरण तथा 'भरी खाली गयी' 'उलट गया वह ताल' मींड, गमक आदि का उल्लेख इसके उदाहरण हैं। प्राचीन साहित्य के प्रति उनकी ममता (साले सुधि मुझे प्राचीन) तथा 'नवीन साहित्य' का बल उन्हें सदैव समन्वय की ओर प्रेरित करता रहता है। जीवन के सम्पूर्ण-कर्मों का समर्पण वे उपास्य देव को कर देना ही आदर्श समझते हैं, यशोधरा इसका प्रतीक है।

संक्षेपतः यशोधरा भारतीय संस्कृति की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करने वाली एक मनोरम कृति है। इसमें परम्परा का गौरवपूर्ण उद्घाटन तथा नव निर्माण के स्वस्थ प्रयास का आयोजन है। हिन्दी काव्य-साहित्य में यह कृति गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है।

प्रसाद और उनका आँसू

[श्री० गिरीश चन्द्र त्रिपाठी, रिसर्च स्कालर, विश्वविद्यालय, लखनऊ]

भारतेन्दु की गौरव गाथा के युग में प्रसाद ने जन्म लिया। यह संयोग की ही बात है कि भारतेन्दु की मृत्यु (१८८५ ई०) के ४ वर्ष बाद ही प्रसाद का जन्म हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य की जिस बाँसुरी को भारतेन्दु अधूरा बजाकर छोड़ गये थे उसी में पुनः स्वर भरने के लिए ही उन्होंने यह नया रूप धारण किया। भारतेन्दु द्वारा आरम्भ किये साहित्यिक कार्य को प्रसाद ने आगे बढ़ाया। अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर भारतेन्दु द्वारा निर्मित अधूरे चित्रों में ऐसा शाश्वत रंग भरा जो सदैव ही साहित्य के विद्यार्थी को अपनी ओर आकृष्ट करता रहेगा।

प्रसाद ने भारतेन्दु के समान ही बहुमुखी प्रतिभा तथा मस्ती पायी थी। क्वींस कॉलेज बनारस में उन्होंने सातवें दर्जे तक ही शिक्षा प्राप्त की थी। घर पर दीनबन्धु ब्रह्मचारी जैसे सुयोग्य अध्यापक ने इन्हें संस्कृत का व्यापक अध्ययन कराया था। योग्य गुरु के निर्देशन ने इनकी मौलिक प्रतिभा के व्यापक उन्नयन में सहयोग दिया था।

प्रसाद का जीवन संघर्षों की करुण कहानी है। इस संघर्ष का वाह्य रूप आन्तरिक आन्दोलन उत्पन्न करता था।

कलाकार प्रसाद ने अपने अन्तर से भी सदैव संघर्ष किया। इस बात का साक्षी स्वयं उनका साहित्य ही है। अपने श्रेष्ठ ग्रन्थ कामायनी में उन्होंने जो श्रद्धा-गीत गाया है उसमें जीवन संघर्ष का स्वर स्पष्ट है—

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक सी रही, तब मैं मलय की बात रे मन।

उनके हृदय का यह अन्तर्द्वन्द पात्रों के अन्तर्द्वन्द के रूप में उनके साहित्य में चित्रित हुआ है। इन संघर्षों में पड़ कर भी उन्होंने संसार की विषमता के गरल को शंकर के समान ही पी लिया था और अपने 'जय शंकर' नाम को सार्थक किया था; परन्तु फिर भी उनके अन्तःकरण में आत्म-विश्वास की एक ऐसी अमर ज्योति प्रज्वलित थी जिसने इनके हृदय कानन में उन प्रकाश कणों को बिखरा दिया था जिनकी आभा के फलस्वरूप इन्हें आत्म विज्ञापन की कृत्रिम चकाचौंध उत्पन्न नहीं करनी पड़ी।

बालक प्रसाद ने साहित्य का रस, आत्म-विभोर होकर लिया था। जिस प्रकार घर से कहीं दूर पर बाँसुरी बजती हो और उसका स्वर बरबस अपनी ओर खींच लेता हो, उसी प्रकार साहित्य की मधुर लहरी से प्रसाद बाल्यकाल से ही प्रभावित थे। अवसर पाकर बाल्यकाल के उस संस्कार ने कलाकार को महान् भावुकता की विस्तृत भूमि का निर्माण करने में पूरा सहयोग दिया।

प्रारम्भ में ब्रजभाषा-माधुरी ने प्रसाद को वशीभूत किया। 'चित्राधार' उसी वशीकरण की देन है। सुँघनी का व्यापार जैसे असाहित्यिक कार्य को करते हुए भी 'प्रसाद' जी के घर का वातावरण पूर्णतया साहित्यिक था। घर पर एक ओर मजदूर हाथों में मोटे-मोटे लट्ठे लिये सुँघनी कूटा करते थे और उसके पास ही उनकी बैठक में साहित्य चर्चा चलती रहती थी।

'प्रसाद' जी का व्यक्तित्व कैसा था इसकी कल्पना तो प्रसिद्ध चित्रकार उस्ताद राम प्रसाद जी के इस कथन से की जा सकती है, जिसका उल्लेख रायकृष्ण दास जी ने इस प्रकार किया है—

"निश्चय तुमने किसी उपाय से चन्द्रमा का सार निचोड़ लिया है और उसी से अंगराग करते हो।"

उक्त कथन में यही लक्षणा दृष्टिगत होती है कि 'प्रसाद' जी का व्यक्तित्व अत्यन्त सुकुमार, सुन्दर था। इस शारीरिक सौन्दर्य के साथ उनमें मानसिक सौन्दर्य भी पूर्णता के साथ विद्यमान था। उनके पास जो भी साहित्यकार अथवा साधारण व्यक्ति भी आता था, स्वयं उसके मन में संकोच चाहे हो, पर 'प्रसाद' जी स्नेह देने में संकोच नहीं करते थे। उनकी वेश-भूषा पूर्णतया भारतीय थी। श्वेत, ढीली बाहों का कुर्ता और धोती ही प्रायः वह घर पर पहनते थे। कभी-कभी धूप में गमछा पहने हुए तेल की मालिश करवाया करते थे। पर यह मालिश चमेली या बेले के सुगन्धित तेल की होती थी।

प्रसिद्ध नाटककार पं० गोविन्द बल्लभ पन्त ने उनके सम्बन्ध में अपने विचारों को इस प्रकार वाणी दी है—

"सौजन्य और सहृदयता की प्रत्यक्ष मूर्ति थे प्रसाद जी। कभी उनकी बातों या व्यवहार में मैंने उनमें बनावट या ओछापन नहीं पाया। अपनी बड़ाई या दूसरों की निन्दा में रस लेते हुए कभी नहीं सुना उन्हें। नौकर चाकरों के साथ भी बड़ी प्रीति और प्रतीति के साथ बर्ताव करते हुए देखा। कभी किसी पर असन्तुष्ट या असन्तुलित नहीं पाया। ये पान खाने के बड़े शौकीन थे। 'प्रसाद' जी के यहाँ का पान विशेष स्वादु होता था। बनारस का पान स्वतः ही प्रसिद्ध है फिर भी सुँघनी साहु के यहाँ का सारा वायुमंडल वहाँ सुगन्धि से व्याप्त मिलता था।"

अपने मित्रों का स्वागत भी यह बड़े आकर्षक ढंग से करते थे। आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने मित्रों के व्यवहार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"प्रसाद जी मित्रों का स्वागत बड़ी आकर्षक और आत्मीय गति से करते थे। अक्सर मित्रों के कन्धे पकड़कर हल्के ढंग से झकझोर देते थे, जिससे यदि कहीं खिन्नता या उपालम्भ का भूत सवार हो तो तुरन्त उतर जाय। रहा सहा अवसाद उनके ठहाकों से दूर हो जाता था। प्रसाद जी के ठहाकों में उदारता और घनिष्ठ मैत्री के भाव व्यंजित होते थे। यह कहना सत्य है कि प्रसाद की गोष्ठी में कृत्रिमता के लिए कोई स्थान न था, यह भी सत्य है कि उनकी गोष्ठी से लोग प्रसन्न और हँसते हुए ही निकलते थे।"

प्रसाद जी को अपनी फुलवाड़ी से विशेष प्रेम था। पारिजात के वृक्ष के नीचे संगमरमर की चौकी पर उन्होंने अपनी कुछ रचनाएँ भी की हैं। अपने कुछ मित्रों को वहाँ पर कुछ रचनाएँ भी सुनायी हैं।

बाबू साहब व्यवसायिक बुद्धि के व्यक्ति अवश्य थे। अपने व्यापार सम्बन्धी गोपनीय रहस्यों को सदैव ही छिपाते थे परन्तु जहाँ वह बैठते थे वहीं साहित्यिकता छा जाती थी। पान और तम्बाकू के साथ ही साथ साहित्य की विभिन्न समस्याओं पर भी विचार-विनिमय होता था। मेरे आत्मीय पं० दुर्गादत्त जी त्रिपाठी के जीवन के कई बहुमूल्य वर्ष प्रसाद जी के साथ व्यतीत हुए हैं। उन्होंने प्रसाद जी के सम्बन्ध में कई बातों की मुझे सूचना दी है। रात्रि में १० बजे तक नारियल बजार वाली उनकी दूकान पर साहित्यिक चर्चा चलती रहती थी। घर तक भी वही साहित्यिक चर्चाएँ चलती रहती थीं। त्रिपाठी जी ने अपनी एक कविता में लिखा है—

"उनके घर तक तार उन्हीं बातों का
रहता। वहाँ पहुँचकर थोड़ा भोजन
करते और बौद्ध ग्रन्थों सूत्रों के,
व्यस्त अध्ययन में तुरन्त लग जाते।"

प्रसाद जी किस समय लिखते थे ? यह तथ्य अब भी एक रहस्य ही बना हुआ है। प्रायः अधिक रात्रि हो जाने पर प्रसाद जी त्रिपाठी जी से कहते—"दुर्गा हो ! यहीं पड़ जा।" और बाबू साहब का यह स्नेह उन्हें घर जाने न देता। उषाकाल से कुछ ही पूर्व त्रिपाठी जी यह दृश्य देखते—

"असित उषा के उठने पर भी धूमिल,
दीवट के आलोक चक्र को छूता,
उस महर्षि का छाया चित्र विमोहन,
पान कचरते मुख का छायान्दोलन,
काव्योन्नत ललाट की छाया पड़ती,
और पलटना पन्नों का सुन पड़ता।"

पन्त जी ने कवि की परिभाषा देते हुए कहा है:—

"वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।

उमड़कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।"

आँसू का कवि वियोगी है और आह से उसके हृदय में गान उत्पन्न हुआ है। गान के प्रभाव से नेत्रों के द्वार से एक ऐसी अनजान कविता बही है जिसने हिन्दी काव्य-क्षेत्र में एक नये सिंह द्वार का निर्माण किया; यह द्वार है छायावाद का।

छायावाद के जन्म के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कथा है जिसका संकेत मेरे मित्र सुधाकर पाण्डेय ने किया है। प्रसाद जी के 'छाया' नामक कहानी संग्रह के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तियों को यह भ्रम हुआ कि इस पर किसी अन्य भाषा की छाया है। यह छाया धीरे-धीरे इतनी व्यापक होती गयी कि इस युग के कवियों के काव्य पर पूर्व कवियों की छाया है यह बात प्रचलित हुई। व्यंग्य के रूप में ही प्रसाद की कृतियों को लोगों ने छायावादी कहना प्रारम्भ किया था।

प्रसाद जी ने काव्य को आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति कहा है। इस आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में भी आलोचकों को भ्रम हुआ कि आत्मा को अनुभूति कहाँ होती है। आत्मा तो अनुभूति से परे की वस्तु है। इस सम्बन्ध में मेरा यह मत है कि शायद प्रसाद ने मन और आत्मा को एक ही वस्तु माना है। स्कन्द-गुप्त नाटक में मातृगुप्त के माध्यम से कवि प्रसाद ने अपने मन की बात कह दी है। "क्यों ? वही तो मेरे भूखे हृदय का आहार है। कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भाव पूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चैतन्य से, वाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन करती है ? कविता ही न ?" आँसू, जो छायावाद का ज्योतिस्तम्भ है वह वास्तव में स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत ही तो है। अपने इस काव्य के माध्यम से प्रसाद ने मानवीय भावों की मूलगाथा के मार्मिक पक्ष का उद्घाटन किया है। इसमें ऐन्द्रिय प्रेम की तन्मयता में, उसकी मूर्च्छना में प्रेम की उस स्थिति का वर्णन किया है जहाँ पहुँचकर अतिशय पीड़ा स्वयं उपचार बन जाती है। उर्दू के एक शायर ने भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है कि "दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना।"

वास्तव में आँसू वेदना प्रधान रचना है। सूर के भ्रमरगीत के समान ही इसमें वियोग शृंगार की झांकी देखने को मिलती है जहाँ भी गोपिकाओं के नेत्रों में विरह की बेल जन्म ले लेती है—

मेरे नैना विरह की बेल बई
सींचत नैन नीर के सजनी मूर पतार गई।
विकसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरवारों सजनी सब तन पसरि छई।

और— **निशि दिन बरसत नैन हमारे।**
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।

दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भये कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी, उर बिच बहत पनारे।
सूरदास प्रभु अम्बु बढ़्यो है गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्याम घन सुन्दर बिकल होत अतिभारे।

यह नेत्रों से जो मोती बिखरे हैं वह असीम व्यक्ति के वियोग में बिखरे हैं पर प्रसाद के नेत्रों के आँसू ससीम के वियोग में निकले हैं। आँसू में हृदय को हिला देने वाली वेदना है—

"जो घनी भूत पीड़ा थी,
मस्तक में स्मृति सी छायी।
दुर्दिन में आँसू बन कर,
वह आज बरसने आयी।"

कवि के हृदय की पीड़ा नेत्रों के द्वार से अपनी कहानी कह जाती है। कवि ने जीवन में किसी से प्रेम किया था, उसका सौन्दर्य अनुपम था। उसके आगमन के साथ ही उसके जीवन में मधुमास का प्रवेश हुआ। अपनी दुनिया में मस्त रह कर उसने कभी यह सोचा भी न था कि उसके जोवन में कभी दुख आवेगा। प्रभात आता है, अनुराग बिखेर देता है। सन्ध्या आती है, उदासी की बात कहकर चली जाती है। रात्रि आलिङ्गन का जादू पढ़कर चली जाती है; पर उसके नेत्र सारे समय किसी को खोजते रहते हैं। उसके पास केवल आँसू और उच्छ्वास ही रह जाता है, भावनाएँ सो जाती हैं। जीवन में सुख का आगमन कुछ ही समय के लिए हुआ था।

"जल उठा स्नेह दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा,
अवशेष धूप रेखा से—
चित्रित कर रहा अँधेरा।"

कवि के पास केवल आकुलता शेप रह गयी है। वह चंचल चपला सी उसके जीवन में आयी और इन्द्र धनुप के समान अपनी स्मृति छोड़कर चली गयी। सुख के अभाव में केवल आँसू ही रह गये। आँसू बहते हैं, निःश्वास पवन के साथ बह जाती है। आँसू में कवि ने प्रेम को जीवन-तत्व (Philosophy of life) के रूप में ही स्वीकार किया है। प्रेम में वह सुख और दुख दोनों को ही स्वीकार करता है—

"मानव जीवन वेदी पर,
परिणय हो विरह-मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेंगे,
है खेल आँख का मन का।"

सुख का स्वागत करते हुए भी कवि दुख से दूर भागना नहीं चाहता। पीड़ा में ही उसे सुख मिलता है, साथ ही उसे सुख-दुख की सन्धि ही अभीप्ट है।

"हो उदासीन दोनों से,
सुख-दुख से मेल करायें।
ममता की हानि उठाकर,
दो रूठे हुए मनायें।"

पंत जी ने गुंजन में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख।
सुख-दुख की खेल मिचौनी,
जीवन खोले अपना मुख।"

आँसू में आध्यात्मिक स्वर की अपेक्षा लौकिक वेदना का स्वर ही मुखर हुआ है। यह शुद्ध मानवीय काव्य है। इसका आधार ससीम व्यक्ति है जिसके मिलन सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना की सृष्टि की है।

हिन्दी के कुछ आलोचकों ने प्रसाद जी के पास पत्र भेजकर यह पूछा कि आपका प्रिय स्त्री है या पुरुष ? इसका कारण यह है कि प्रसाद जी ने अपने प्रिय को पुल्लिग में ही सम्बोधित किया है। फारसी काव्य में प्रिय को पुल्लिग के रूप में सम्बोधित किया गया है। प्रसाद जी शीघ्र ही किसी बात से विचलित नहीं होते थे। जब यह चर्चा अतिशय होने लगी तब गौड़ जी की आँसू की प्रति पर बाबू साहब ने एक छन्द लिख दिया—

"ओ मेरे प्रेम बता दे,
तू नारी है कि पुरुष है।
दोनों ही पूछ रहे हैं,
तू कोमल है कि परुष है।
उनको कैसे बतलाऊँ,
तेरे रहस्य की बातें।
जो तुझ को समझ चुके हैं,
अपने विलास की घातें॥"

प्रसाद जी पर किये गये आक्षेपों का यह बहुत सुन्दर उत्तर है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि यह आक्षेप केवल उन्हीं व्यक्तियों ने लगाये थे जिन्होंने प्रसाद के काव्य की आत्मा का अध्ययन नहीं किया था।

प्रेम काव्य के भौतिक पक्ष व उसके कलेवर में छिपी वास्तविकता की ओर संकेत एक प्रकार की साहित्यिक अश्लीलता है। यह कठोर शब्द प्रयुक्त करने का एक कारण है। साहित्य का प्रसाद प्रसाद रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। यदि वह स्वास्थ्य-दायक भी है तब तो यह और भी आवश्यक है कि उसको पाते समय वह सांसारिक वृत्ति नहीं रखनी चाहिए जो होटल में खाना खाते समय रखी जाती है।

कवि के व्यक्तिगत जीवन को हम आलोचकों या पाठकों द्वारा निषिद्ध नहीं मानते। किन्तु उसका यथार्थ व्यक्तिगत जीवन वह है जो उसने काव्य रूप में प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि कवि के व्यक्तिगत जीवन में घटित घटना का महत्त्व अधिक नहीं है क्योंकि वैसी ही अनेक अगणित घटनाएँ साधारण जनों के जीवन में घटित होती रहती हैं और उनका महत्त्व नगण्य होता है। अतः कवि का काव्य, घटना की स्थूलता पर आश्रित नहीं होता, उसके आत्मिक, बौद्धिक व काव्यात्मक अर्थों पर आश्रित होता है। कवि के प्रेम की उत्पत्ति लौकिक क्षेत्र में हो सकती है, जो आँसू के विषय में सही है क्योंकि आँसू के प्रथम संस्करण में आत्मिक पक्ष की ओर विशेष संकेत भी नहीं था, तथापि हमें उस प्रेम का वही रूप स्वीकार करना है जो कवि को अभीष्ट था।

इसमें आलिंगन, अधरों की मौन भाषा, निःश्वासों तथा चाँदनी के समान मुख का वर्णन किया गया है—

"हिलते द्रुमदल कल-किसलय,
देती गलबाहें डाली।
फूलों का चुम्बन होता
मधुपों की तान निराली।"

यह मानवीय वर्णन है। कहीं-कहीं आँसू में प्रसिद्ध पक्षियों को लेकर मानवीय भावों की व्यंजना की है— **चातक की चकित पुकारें,**
श्यामा ध्वनि सरल रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की,
टुकड़ी आँसू से गीली।

कहीं-कहीं पर प्रसाद जी ने आँसू में परम्परागत नख-सिख का वर्णन किया है—

"बाँधा था विधु को किसने,
इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से।"

और— **तिर रही अतृप्ति जलधि में,**
नीलम की नाव निराली।
काला पानी बेला सी,
है अंजन-रेखा काली।

कहीं-कहीं अपनी प्रेयसी की निष्ठुरता का भी इन्हें बोध होता है—

वह रूप रूप था केवल,
या हृदय रहा भी उसमें।
जड़ता की सब माया थी,
चैतन्य समझ कर मुझ में।

और— रो रो कर सिसक सिसक कर,
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते,
करते जानी अनजानी।

प्रसाद जी कहीं-कहीं रीति कालीन संयोग शृंगार वर्णन के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं— परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके,
मुख - चन्द्र, चाँदनी - जल से,
मैं उठता था मुंह धो के।

जीवन के सम्बन्ध में प्रसाद जी की धारणा यह थी—

"पीता हूँ, हाँ, मैं पीता हूँ,
यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा
मधु लहरों के टकराने से,
ध्वनि में है क्या गुंजार भरा।"

इन्द्रिय-माध्यम से जीवन को आत्मगत करने की इच्छा ने प्रसाद की कविता को चित्रात्मक, मधुर संगीतमय और स्पर्श संवेद्य बना दिया है। अन्तर्भावनाओं का आरोप कर देने के कारण प्रकृति कवि के साथ बातचीत करती तथा उसके मन में विविध प्रकार की संवेदनाएँ, आकांक्षाएँ और आशाएँ उत्पन्न करती है। कवि अपने को प्रकृति में विलीन कर देता है। कवि की पीड़ा के साथ हमारी आत्मीयता है। प्रारम्भ में चित्राधार और कानन-कुसुम के कवि के रूप में उनमें एक प्रकार की झिझक है। यद्यपि इस झिझक की प्रतिध्वनि आँसू में भी सुनायी देती है। इस काव्य में प्रथम वार ही कवि का वैयक्तिक पक्ष पूर्ण रूप से विकसित हो पाया है।

कामायनी में मानव माया की कथा का वर्णन हुआ है परन्तु आँसू मानवीय भावों की मूल गाथा का मार्मिक पक्ष उद्घाटित करता है। इसमें हृदय की भावुकता के साथ गहरी करुणा है। मिलन का सुख और विछोह का दुख अनुभव की हुई पीड़ा है और हृदय के तार झंकृत कर देने वाला संगीत है। यह दुख के पलों में स्मृति का सम्बल है।

समस्त संसार के मंगल की भावना भी इस काव्य में है—

"सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में,
बरसो प्रभात हिम कन सा,
आँसू इस विश्व सदन में।

डॉ० राम कुमार वर्मा ने—

"शशि मुख पर घूंघट डाले,
आंचल में दीप छिपाये.

जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये।"

में "तुम" का अर्थ सत्य से लिया है और उन्होंने आँसू का आलम्बन सत्य माना है।

कुछ व्यक्ति आँसू को मुक्तक प्रधान काव्य भी मानते हैं। आँसू का प्रत्येक मोती गुलदस्ते के समान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी रखता है और सारे गुलदस्ते मिलकर एक उपवन तो बन ही जाते हैं।

रवीन्द्र ने महाकवि की तुलना एक विशाल वट वृक्ष से करते हुए कहा है कि "प्राणि मात्र को अपनी शीतल छाया के नीचे विश्राम देने वाले वट वृक्ष के समान महाकवि अपने युग की मानवता को शीतल छाया प्रदान करता है।" प्रसाद के साहित्य ने भी आज की मानवता को निश्चित रूप से शीतलता प्रदान की है।

संघर्ष से तापित और उद्वेलित विश्व को "आँसू" का संश्रय यदि एक पलायन है, तो वह महान् पलायन है। काव्य चाहे कितना ही वस्तुवादी हो जाये, वह सांसारिक समस्याओं का यदि समाधान कर सकता है तो इसी पलायन रूप में जो उसकी आक्रांत भावनाओं को कल्पना की नवीन सृजनशील संस्कृति से परिचय कराने की क्षमता रखता है।

पन्त का काव्य

[श्री कृष्णावतार शर्मा, एम् ए०, ला मार्टीनियर कालेज, लखनऊ]

काव्य रचना समाज सापेक्ष होती है। समाज की गति विधियाँ काव्य की प्रेरणा-दात्री होती हैं, इसलिए श्री सुमित्रानन्दन पन्त की काव्य-साधना का विश्लेषण करने के पूर्व समसामयिक परिस्थितियों पर दृष्टिपात कर लेना असंगत न होगा। पंत जी ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ही काव्य-रचना प्रारम्भ की। सारा संसार इस युद्ध से क्षत-विक्षत हो कराह रहा था। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य अपनी सत्ता को हाथ से निकल जाने की आशंका से शंकालु हो, दमन चक्र चला रहा था। भारतीय हितचिन्तक १८५७ के सामरिक अभियान में असफल हो जाने के पश्चात् यह अनुभव कर रहे थे कि शासकों और भारतीय जनता में किसी प्रकार का साम्य नहीं है तथा इस शासन का विनाशकारी प्रभाव हमारे सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर छाता जा रहा है। मुक्ति का साधन खोजते समय भारतीय मनीषियों का ध्यान धर्म की ओर गया। भारतीय धर्म को विजेता के धर्म से यदि श्रेष्ठ नहीं तो उसी स्तर का सिद्ध करने के प्रयत्न में ही ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा प्रार्थना-समाज जैसे आन्दोलन प्रारम्भ हुए। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में स्वामी विवेकानन्द के भाषणों ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू धर्म किसी भी अन्य धर्म से हेय नहीं है। इससे भारतीय बुद्धि-जीवियों को बड़ा बल मिला और आत्म-विश्वास भी। किन्तु शीघ्र ही उनकी समझ में आ गया कि हमारा कल्याण अब धर्म के आश्रय में नहीं वरन् राजनीति में है। अखिल भारतीय काँग्रेस की १८८५ ई० में स्थापना इस ओर पहला कदम था। १९०५ ई० तक इस संस्था में ब्रिटिश सरकार की नीतियों के समर्थकों के साथ-साथ एक शक्तिशाली विरोधी दल भी बन गया। इस प्रकार काँग्रेस ने अनौपचारिक रूप से राष्ट्रीय संसद की मान्यता प्राप्त कर ली, इसका श्रेय लोकमान्य तिलक को है, जो सदा सरकार के कोप-भाजन बने रहे।

लोकमान्य तिलक संघर्ष करने के लिए मार्ग प्रशस्त कर चुके थे; ऐसे ही समय में महात्मा गाँधी भारतीय राजनीतिक मंच पर सत्य एवं अहिंसा का संदेश लेकर आये। वे देश की नस पहचानते थे। सुभाष चन्द्र बोस ने उनके विषय में लिखा था "From a talking body he has converted the Congress into a living

and fighting organization. "गाँधी जी के भारत आने के पूर्व श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्राच्य एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा साहित्य का समन्वय कर रहे थे। श्री अरविन्द भी इसी श्रेणी में आते हैं; प्रथम तो वे हिंसात्मक क्रान्ति के समर्थक थे किन्तु शीघ्र ही उन्हें राजनीति से वैराग्य हो गया और वे साधना करने पाण्डुचेरी चले गये। जबकि सारे भारतीय समाज पर एक प्रकार की मानसिक अराजकता छायी हुई थी, केवल आशा के केन्द्र थे गाँधी, ठाकुर और अरविंद।

इनकी विचार-धाराओं का प्रभाव तत्कालीन बुद्धिजीवियों पर अत्यधिक पड़ा और आज भी अधिकांश पर है। भारतीय परम्परागत साहित्य के साथ पाश्चात्य साहित्य का अध्ययन भी प्रारम्भ हो चला था, जिसका प्रभाव भी कम न था। हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में रीतिकालीन कविता, युग के लिए अनुपयोगी समझी जाने लगी थी। नैतिकता के बंधनों में बद्ध इतिवृत्तात्मक काव्य का सृजन हो रहा था। किन्तु कवि का चंचल मन इस बंधन के प्रति विद्रोह कर उठा—'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह', जिसको एक शब्द में कहा गया छायावाद्।

"....छायावाद हमारी विशेष सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया।' ऐसा डॉ० नामवर सिंह का विचार है। अपनी पुस्तक 'छायावाद' में वे लिखते हैं, "समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढ़ियों से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओं की ओर भी प्रेरित किया। व्यक्तित्व की स्वाधीनता, विराट कल्पना, प्रकृति-साहचर्य, मानव-प्रेम, वैयक्तिक-प्रणय, उच्च नैतिक आदर्श, देश-भक्ति, राष्ट्रीय स्वाधीनता आदि के प्रसार द्वारा छायावाद ने हिन्दी जाति के जीवन में ऐतिहासिक कार्य किया।"

छायावाद की परिभाषा तथा स्वरूप के विषय में खूब आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ, जिसके फलस्वरूप एक ओर तो छायावाद रहस्यवाद का पर्याय बन गया और दूसरी ओर प्रो० सद्गुरु शरण अवस्थी द्वारा केवल 'अभिव्यंजन-चमत्कार' कह कर टाल दिया गया। 'जब परमात्मा की छाया आत्मा में पड़ने लगती है और आत्मा की छाया परमात्मा में।' डॉ० रामकुमार वर्मा की राय में 'यही छायावाद है'। प्रसाद जी गहन एवं तात्त्विक विवेचन करते हुए लिखते हैं, 'ध्वन्यात्मक लाक्षणिकता, सौंदर्य प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं।' 'छायावाद का' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन।' आलोचना के सामान्य स्तर को ऊँचा उठाने में भी छायावाद का हाथ रहा है।

छायावाद के युग के प्रथम-चरण में कविवर पंत ने

'माँ अपने जन का पूजन
स्वीकारो पत्रं पुष्पम्'

कहते हुए 'वीणा' लेकर हिन्दी साहित्य क्षेत्र में प्रवेश किया। तरुण-भावुक मन प्रकृति के 'अज्ञात आकर्षण' के स्वर्ण-जाल में फँस गया। सौंदर्य एवं कल्पना ने मिल-कर 'प्रकृति के प्रति' उसके मन में अगाध मोह उत्पन्न कर दिया। यही मोह 'वीणा' के स्वरों में मुखरित हुआ। प्रकृति, कवि की सभी रचनाओं में सौंदर्य के विविध रूपों में विद्यमान है। इस संचयन की कुछ कविताओं पर अद्वैत वेदान्त का भी प्रभाव है। 'दार्शनिक कृतियों का महत्त्व होने पर भी' डॉ० नगेन्द्र की यह धारणा है कि 'वास्तव में जो कविताएँ 'वीणा' की प्राण-रूपा हैं वे सभी भाव प्रधान हैं।' अनायास ही प्रथम मिलन के क्षणों में—

'एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानों प्रणय सम्बन्ध था'

यही प्रणय,'ग्रन्थि' का सृजन करता है। उस नव-कुसुम के 'अन्य-मानस-विभूषण' बन जाने पर कवि स्वयं को कंकाल अनुभव करता है। 'ग्रन्थि' असफल प्रणय की कहानी है जिसमें विप्रलंभ शृंगार का ही आधिक्य है, वैसे पूर्वराग का वर्णन भी सराहनीय है।

"पल्लव" 'युवक का उन्मुक्त-गान है'। डॉ० नगेन्द्र की राय में स्वभावतः ही उसमें अनुभूति और भावोन्माद का आवश्यक संयम नहीं हो सका है।" इसमें कवि की दृष्टि पैनी है तथा वह जीवन को स्नेह-सूत्र में बाँधती है, जीवन के प्रत्येक अंश में स्नेह की व्यापकता इन पंक्तियों में अंकित है—

'यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप-विलास
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकाश
जरा का अन्त नयन प्रकाश
जन्म का है यही हुलास
मृत्यु का यही दीर्घ-निःश्वास।'

'मौन-निमंत्रण' रहस्यवादी रचनाओं की कोटि में रखी जा सकती है। 'सृजन-सिंचन-संहार' का विधायक 'परिवर्तन' निराला जी की राय में 'किसी भी बड़े कवि की रचना से निःसंकोच भाव से मैत्री कर सकता है।' "परिवर्तन' लिखने के बाद मेरा काव्य-बोध का क्षितिज बदलने लगा था।' पंत जी की यह स्वीकारोक्ति निश्चय ही इस रचना का मूल्य बढ़ा देती है।

अपने 'मानस-मंथन के युग' में कवि ने 'गुंजन' के स्वरों की सहायता से 'सूक्ष्म-दृष्टि' प्राप्त की। इस सूक्ष्म दृष्टि के कारण ही—

'दुख दावा से नव अंकुर
पाता जग जीवन का बन'

तथा सुख-दुख दोनों का अति होना उत्पीड़न का कारण होता है इस सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। महादेवी जी 'रश्मि' की भूमिका में लिखती हैं, 'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।' पन्त जी का दुःख तपस्वी के तप के समान जीवन को सुन्दर से सुन्दरतम की ओर ले जाता है। 'जग के वसन्त के वैभव' मानव को

'तुम सहज सत्य सुन्दर हो
चिर आदि और चिर अभिनव'

कह कर भव्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। 'भावी पत्नी के प्रति' प्रकट किये गये उद्‌गार 'गुंजन' में अपना विशेष स्थान रखते हैं। डा० नगेन्द्र के विचार से यह रचना 'गुंजन-पल्लव' शैली का 'संधि-स्थल' है। दार्शनिकता, 'गुंजन' की रचनाओं को प्रौढ़ता प्रदान करती है, फिर भी एक 'मधुर-इच्छा' पर 'त्रिभुवन-यौवन-धन' अर्पित करने के मोह का संवरण कवि नहीं कर पाता।

यदि मानव की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखना है तो रूढ़ियों का मोह त्याग कर यह घोषणा करनी ही होगी—**'नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन**
ध्वंस-भ्रंश जग के जड़ बंधन'

तभी गत युग की संस्कृतियों द्वारा निर्मित देश-जाति की कारा से मानवता की मुक्ति संभव है जिससे यह स्वप्न—

'गूंजे जय-ध्वनि से आसमान
सब मानव मानव हैं समान'

सत्य हो सके। कवि का विश्वास है कि गाँधी जी मानवता के मुक्ति-दूत बन कर आये, इसीलिए उन्हें 'शुद्ध बुद्धि आत्मा केवल' कह अपनी श्रद्धा का ज्ञापन करता है। यही 'युगान्त' का संदेश है। कवि के पगों की गति आदर्श से यथार्थ की ओर है। प्रकृति के प्रति कवि उदासीन नहीं केवल उसका दृष्टिकोण बदल गया है। 'युगान्त' में कवि की साधना का एक युग समाप्त होता है। युगान्त नया मोड़ है।

'वीणा' से 'युगान्त' तक की रचनाओं में विविधता होने पर भी साम्य है। प्रारम्भिक कृतियों में प्रकृति का वर्णन अधिक है यहाँ तक कि उनको प्रकृति का कवि माना गया और वे हिन्दी के वर्डस्‌वर्थ कहे जाने लगे। प्रकृति केवल आधार पीठिका तथा उद्दीपन का साधन मात्र ही नहीं है, उसमें अपनी सजीव सत्ता एवं संवेदन शीलता है। प्रारम्भ में तो कवि प्रकृति साहचर्य के लिए किसी अन्य के मोह में अपने को नहीं बाँधना चाहता। आदिम युग से ही प्रकृति मानव की सहचरि के रूप में उसके साथ रही फिर उसकी उपेक्षा कवि क्यों करे। उसमें भी रागात्मक तत्व है जो वैसे ही प्रगट होते हैं जैसे मनुष्यों के व्यवहार में। प्रकृति का मानवीकरण कितना हृदयहारी है—

'अधर मर्मर युत, पुलकित अंग
चूमती चल पद चपल तरंग'

कितनी कोमल कल्पना—

'सजल छवि नील कंचु तन गौर
चूर्ण कच साँस सुगंध झकोर'

कह कर कवि ने सत्य बना दी है। पन्त की चित्रण प्रतिभा की सराहना करते हुए डॉ० नगेन्द्र को 'काव्य, चित्र, संगीत तीनों की सरस त्रिवेणी इनकी प्रत्येक पंक्ति में नहीं प्रत्येक शब्द में तरंगित रहती है' कहना पड़ा। रंगों का, स्वरों का तथा भावों का एक अनूठा मेल इनकी प्रत्येक रचना में मिलता है। अलंकार-योजना के विषय में पन्त जी का विचार है "अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति का भी विशेष द्वार है।.....वे वाणी के हास अश्रु स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।" रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख तथा प्रतीप आदि अलंकारों का प्रयोग इन रचनाओं में मिलता है जो परिपाटी का पालन मात्र न होकर अपना स्वतंत्र महत्त्व रखते हैं, पुराने होते हुए भी नयी चमक-दमक के साथ हैं। छायावाद की परम्परा के कारण छन्द के बंध तो टूटे किन्तु उनमें उच्छृंखलता नहीं है। अपना प्रवाह है, अपनी गति है। आधुनिक कवि भाग २ की भूमिका में 'पल्लव से गुंजन तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौंदर्य की पुष्टि करने वाले हैं।' पन्त जी ने स्वयं भी स्वीकार किया है।

उपरोक्त रचनाओं में पन्त का छायावादी दृष्टिकोण समाप्त होता है, क्योंकि कर्त्तव्य भावुकता से बड़ा होता है और "छायावाद की सार्थकता, पन्त जी की दृष्टि में, उस युग के विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तक ही सीमित है, जो भारतीय जागरण की चेतना का सर्वात्मवाद मूलक कैशोर समारंभ भर था, उस युग की कविता में और भी अनेक प्रकार के अभिव्यंजना के तत्व तथा रूप शिल्प की विशेषताओं के व्यापक उपकरण हैं, जो खड़ी बोली के गद्य-पद्य के लिए स्थायी देन के रूप में रहेंगे।" फिर भी छायावाद का अन्त हुआ जिसका कारण पन्त जी के ही अनुसार यह है कि 'उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौंदर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था।"

जिस नवीनता की खोज कवि करता है उसकी प्रतिध्वनि—

'मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में जन जीवन परिणति।
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन वास, वसन सुन्दर तन।'

'युगवाणी' के इन स्वरों में सुनायी पड़ती है। इस समय तक कवि के कानों में रूसी क्रान्ति का जयघोष पड़ चुका था और 'मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अनेक दुर्बल-सशक्त पक्षों' को वह अपने मित्र पी० सी० जोशी तथा अपने भाई स्व० देवीदत्त पंत

की संगति में समझ चुके थे। पन्त ने 'चिदंबरा' के चरण-चिह्न में स्वीकार किया है कि "उनकी निष्कपट मैत्री के स्पर्श ने उन उग्र सिद्धान्तों को ममता तथा सहानुभूति की दृष्टि से देखना सिखला दिया इसलिए 'युगवाणी एवं ग्राम्या' की कृतियों पर इसका नवीन चेतना पूर्ण प्रभाव देखने को मिलता है। 'मार्क्स के प्रति' अपनी श्रद्धा वह उसे 'त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु से प्रगट हुए प्रलयंकर' कह कर प्रदर्शित करता है किन्तु बापू 'नव संस्कृति के दूत' बनकर 'मानव-आत्मा' के उद्धारार्थ इस भूमि पर अवतरित हुए हैं, यह भी नहीं भूल पाता। 'मरणोन्मुख-साम्राज्यवाद' तथा 'सुरांगना, संपदा, सुराओं से संसेवित' धनपतियों के प्रति आक्रोश, 'कर जर्जर, ऋणग्रस्त' कृषकों तथा 'दैन्य कष्ट कुण्ठित' और 'भूख प्यास से पीड़ित' श्रम जीवियों के प्रति कवि सहानुभूति प्रकट करता है।

साम्यवाद की अर्थ व्यवस्था, सामूहिक जनतंत्र, न्याय एवं समता आदि के सिद्धांतों पर वह आस्था रखता है। 'साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर पदार्पण' यही उसका विश्वास है। किन्तु 'मनुष्यत्व का तत्व सिखाता निश्चय हमको गाँधीवाद' यह भी कवि मानता है। सब की मुक्ति की कामना करने वाला कवि नारी को भी जो 'नर की लालसा प्रतिमा' बनकर रह गयी है; भूला नहीं है। वह 'चिर बंदिनी नारी' को 'युग युग की बर्बर कारा से मुक्त करो' का नारा लगता है।

'सर्व एक मत, एक ध्येय
सर्व श्रेय व्रत हे!
जन भारत हे!
जाग्रत् भारत हे!'

यह 'राष्ट्र-गान' गाता हुआ कवि 'ग्राम श्री' निहारने 'ग्राम्या' में ग्रामों की ओर चल पड़ता है। 'ग्राम्या' में ग्राम्य-जीवन के बड़े सजीव चित्र प्रस्तुत किये गये हैं, पन्त जी गाँवों का कोना-कोना झाँक आये हैं। ग्रामों की सम्पत्ति को गिनते नहीं बनता—

'महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली
फूले आड़ू, नीबू, दाड़िम
आलू, गोभी, बैंगन, मूली
× × ×
लह लह पालक, मह मह धनियाँ
लौकी औ' सेम फली, फैली
मखमली टमाटर हुए लाल
मिरचों की बड़ी हरी थैली,

खेतों में बिखरे ग्राम-वैभव को समेट कवि ग्रामीणों के सुख-दुख में भाग लेने जा पहुँचता है—

'फहराता लँहगा लहर लहर
उड़ रही ओढ़नी फर फर फर
× × ×
लो छन छन, छन छन
छन छन छन छन
हुलस गुजरिया हरती मन'

'नाच देखकर लौटते पंत जी को 'वह बुड्ढा' भी मिल जाता है, जो

'खड़ा द्वार पर लाठी टेके
वह जीवन का बूढ़ा पंजर
सिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलती हड्डी के ढाँचे पर।'

पन्त जी को आता देखकर वह यों ही खड़ा नहीं रह जाता—

'बैठ, टेक धरती पर माथा
वह सलाम करता है झुककर।'

कभी कवि अपनी 'खिड़की से' गाँव की शोभा देखता है, कभी 'दिवा-स्वप्न' देखने में मग्न रहता है तो कभी पनघट पर पहुँच 'ग्राम-युवति' के उद्दाम-यौवन को लालसा भरे नयनों से निहारता है—

'जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते संग युग रस भरे कलश
जल छलकाती
रस बरसाती
बल खाती वह घर को जाती
सिर पर धर घट
उर पर धर पट।'

इस प्रकार 'ग्राम्या' की रचनाओं में अधिकांश ग्रामीण चित्र हैं। 'ग्राम्या' में जन-जीवन और प्रकृति-विलास का निरीक्षण पन्त जी ने बहुत समीप से किया है। 'युग-वाणी-ग्राम्या' को प्रगतिवादी रचनाओं का संचयन कहा जा सकता है। पन्त के ही अनुसार इन दोनों संग्रहों की 'कलात्मक अभिव्यक्ति वस्तु परक है।' भाषा भी वर्ण्य-विषय के अनुसार पर्याप्त सरल हो गयी। पन्त जी 'युगवाणी-ग्राम्या' की रचनाओं के प्रगतिवादी होने पर भी वे उतनी संकीर्ण अर्थ में प्रगतिवादी नहीं हैं कि किसी दल विशेष का प्रचार मात्र बन जाय, प्रत्येक साहित्य में प्रचार होता है किन्तु एक मात्र

प्रचार ही साहित्य नहीं बन सकता तथा काव्य तो और भी नहीं। इसलिए पन्त जी गाँधीवादी विचारधारा एवं साम्यवाद के सिद्धान्तों में समन्वय के पक्षपाती हैं। 'चिदम्बरा' के चरण-चिह्न में पन्त जी अपने विचार इस प्रकार अंकित करते हैं "मानव जीवन के व्यापक सत्यों को, चाहे वे आर्थिक हों या आध्यात्मिक, पूर्वग्रह और विद्वेषों की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों में भटकाकर, झुठलाया नहीं जा सकता; समय पर वे लोक-मानस में अपना अधिकार अवश्य स्थापित करेंगे। सम्भवतः जिस संकीर्ण अर्थ में अब प्रगतिवाद का प्रयोग किया जाता है, उस अर्थ में मैं प्रगतिवादी हूँ भी नहीं।" इसी में एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं, "युगवाणी और ग्राम्या में अनेक नवीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण मेरे मन में उदय हुए हैं। आज भी, जब नव मानवता की दृष्टि से, मैं विश्व जीवन के बाह्य पक्ष की समस्याओं पर विचार करता हूँ तो मार्क्सवाद की उपयोगिता मुझे स्वयं-सिद्ध प्रतीत होती है।"

मार्क्सवाद को पन्त जी ने मानव-मुक्ति का साधन-मात्र ही स्वीकार किया है, अन्तिम लक्ष्य कभी नहीं। भारतीय आध्यात्मवाद एवं पाश्चात्य साम्यवाद दोनों को वे एकांगी मानते हैं। इसलिए उनका कथन है, "मैंने भौतिक, आध्यात्मिक, दोनों दर्शनों से जीवनोपयोगी तत्वों को लेकर, जड़ चेतन संबंधी एकांगी दृष्टिकोण का परित्याग कर व्यापक सक्रिय सामंजस्य के धरातल पर, नवीन लोक-जीवन के रूप में, भरे पुरे मनुष्यत्व अथवा मानवता का निर्माण करने का प्रयत्न किया है, जो इस युग की सर्वोपरि आवश्यक समस्या है।" इसलिए यही उनकी दृष्टि में 'नये युग का सत्याग्रह' है। देश जातियों में बँटा हुआ सारा विश्व 'भीम विरोधी शिविरों' का निर्माण करने में रत है, तथा अपने प्रभाव-क्षेत्र प्रसार के लिए ये शिविर अन्य-शस्त्रों की होड़ में लगे हैं और बेचारा मानव—

'सोच रहा मानव भविष्य पर
नाश छोर पर खड़ा मूढ़ मन!

किन्तु कवि मानव-भविष्य के प्रति निराश नहीं है, वह

'दृढ़ श्रद्धा विश्वास, स्वयं ही
जन भू आशा के चिर जीवन।' में विश्वास करता है।

'स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, युगपथ, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, सौवर्ण प्रतिमा और वाणी' पन्त जी के १९४४ से लेकर १९५७ तक के कृतित्त्व का प्रमाण हैं। इन रचनाओं में जिस विचारधारा का ऊपर वर्णन किया गया है, ओत-प्रोत है। श्री अरविन्द के दर्शन का पूर्ण प्रभाव इन संचयनों की रचनाओं में देखने को मिलता है। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के प्रणयन के पश्चात् यूरोप में विकासवाद तथा भौतिकवाद की एक लहर आ गयी। इसी लहर से प्रभावित हो व्यक्तिगत सम्बन्धों तथा नैतिक सम्बन्धों (जिनका अधिक सम्बन्ध स्त्री-पुरुष से था) की व्याख्या करते समय फ्रायड ने जीवन में काम की व्यापकता की ओर बुद्धिजीवियों का ध्यान आकर्षित किया।

आर्थिक एवं राजनीतिक तथा समाज के सम्बन्धों को इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कर 'मार्क्स' ने समझाया। इस प्रकार विकासवादी सिद्धान्तों के अनुसार मानव प्रकृति के विकास की चरम परिणति तथा साम्यवादी अर्थ एवं राज्य व्यवस्था मानव समाज का अन्तिम सत्य स्वीकार कर लिया गया। इसी को जड़वादी अथवा भौतिक वादी दर्शन कहा गया।

किन्तु मानव शरीर के विकास के पश्चात् भी विकास क्रम समाप्त नहीं होता। वह निरन्तर अबाध गति से चलता रहता, जिसका क्षेत्र चेतना अथवा 'प्रज्ञा' कहा जा सकता है जिसके विकास का चरम शिखर है 'मोक्ष', जीवन मुक्त होना। जिन्हें पन्त जी—

'व्यक्ति विश्व के संघर्षण से
निखर उठा मन में नव मानव
जो विकास पथ में अब भूपर
अन्तर में ले अक्षय वैभव
जन्म पीढ़ियों में ले नव - नव
मर्त्य अमर को करना विकसित
भू जीवन मन को अतिक्रम कर
स्वर्ग धरा पर रचना जीवित'

'वाणी' की पंक्तियों में अंकित करते हैं। 'स्वर्ण किरण' की 'हिमाद्रि' कविता में हिमालय को प्रेरणा का साधन मान कर कवि अहम् का विस्तार करना चाहता है, कवि जिस समय 'जीवनोदधि के तट पर खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित हो क्षुद्र अहम् की शिखर लहरियों का कुत्सित रण देख रहा था, तो 'हिमाद्रि' कवि का अज्ञात एवं अपरिचित रूप से शिक्षक रहा। 'स्वर्णोदय' एक लम्बी कविता है जिसमें शैशव, यौवन तथा वार्धक्य के बड़े ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। शैशव के वर्णन में विकास के द्वन्द्व नियम का रूप दिया गया है :—

'जननि-जनक में स्वयं विभाजित
वह अवतरित हुआ या विकसित'

'यौवन' को देखकर तो कवि आश्चर्य चकित हो कह उठता है—

'यह लज्जा सज्जा सुषमा मधुरिमा कहाँ थी गोपन,
नव यौवन औ' प्रथम प्रणय औ' मुग्धा तरुणी का तन।'

और 'वार्धक्य' आने पर वही

'चल रहा झुक लाठी पर आज
वृद्ध, जीवन के प्रति साभार,'

और तभी तो वह विश्व को नवीन संदेश दे पाता है—

'सहिष्णुता सद्भाव शान्ति से
हों गत संस्कृति धर्म समन्वित।

वृथा पूर्व पश्चिम का दिग् भ्रम,
मानवता को करे न खंडित,
बहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि ज्ञान से योजित !'

यह कविता एक मानव को जीवनावस्था का चित्रण मात्र ही न होकर पूरी मानवता की परिधि को घेरती है। 'स्वर्णधूलि' इसी ओर अगला कदम है। इसमें कुछ प्रणय-गीत भी हैं। 'परकीया' 'पतिता' आदि में नारी की समस्याओं की ओर कवि का ध्यान चला गया है। 'मानसी' नामक प्रबंधरूपक को भी इस संग्रह में स्थान दिया गया है। 'युगपथ' में कवि ने अपने जीवन-पथ के प्रकाश-स्तम्भों के प्रति अपनी 'श्रद्धा के फूल' चढ़ाये हैं। गाँधी के प्रति जो रचना है उसे हम शोक-गीत की श्रेणी में रख सकते हैं। 'कवीन्द्र रवीन्द्र', 'मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति' 'अरविन्द' आदि कविताएँ अपना प्रमुख स्थान रखती हैं, "उत्तरा को सौंदर्य बोध तथा भाव ऐश्वर्य की दृष्टि से, पन्त जी अब तक की अपनी 'सर्वोत्कृष्ट कृति' मानते हैं।" उन्हीं के शब्दों में 'उत्तरा' के पद नव मानवता के मानसिक आरोहण की सक्रिय चेतन आकांक्षा से झंकृत हैं। 'युग संघर्ष' का चित्रण 'शोषक है इस ओर इधर है शोषित' इसलिए यह 'मृत्यों की परवशता, मिटते कट मर'। 'वैदेही' की ये पंक्तियाँ अनायास ही मन को हर लेती हैं—

'यह [illegible] बद्ध लालसा नहीं
जो नारी प्रतिमा मूर्तित।'

चिदंबरा की भूमिका में 'रजत-शिखर' एवं 'शिल्पी' के विषय में पन्त जी लिखते हैं कि प्रथम में उन्होंने उपचेतन समस्याओं तथा जीवन की मान्यताओं का चित्रण किया है दूसरी में कला मूल्यों का। 'सौवर्ण' में भारतीय निष्क्रिय आध्यात्मवाद में नवीन प्रेरणा भर उसे सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया गया है। क्रांत द्रष्टा कहता है—

जीवन प्रत्याख्यानों के ऋण अस्थि सौध सा
नेति नेति का आत्म निषेधों का दुर्गम गढ़।

× × ×

स्पंद शून्य भैरव नीरवता महा शून्य की
घेरे इसको महामृत्यु के बृहत् पंख सी!

जो आज के दुःख जड़ित जन-जीवन और संन्यासियों के व्यवहारों में दीख पड़ता है, कितना सत्य है। 'जन मानवता का प्रतीक' सौवर्ण अपना परिचय

'नव संस्कृति का सारथि, नव आध्यात्मिकता मैं,
नव विकसित इन्द्रिय, मन प्राणों से अति चेतन।'

कह कर देता है। विश्व में फैले 'शोषण, दुःख अन्याय, दैन्य' को नष्ट कर वह अपने आने का कारण, 'सप्त चेतना भुवनों के अक्षय वैभव को' 'नव मानवता में करने आया हूँ वितरित' बताता है।

'अतिमा-वाणी' में 'वर्तमान के मुख पर' पर कवि भविष्य की छाया देखने लगता है। नवीन 'जिज्ञासा' का उदय होता है—

'कौन स्रोत मैं
श्रद्धा औ विश्वास-रुपहले
राज मरालों के से जोड़े
तिरते सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा जोड़े।'

'कौए, बतखें, मेढक' कविता प्रयोगवादी प्रयोग में लिखी गयी प्रतीत होती है—

कौए— **'कहाँ मढ़ा लाये सोने से अपनी चोंचें।**
पौ फट गई! सुनहला युगक्षण आओ, सोचें।'

× × ×

बतखें— **'कहाँ जड़ा लाई हीरों में अपनी पाँखें**
नई दृष्टि यह! पाप पुण्य फल? खोलो आँखें!'

× × ×

मेढक— **'कहाँ गढ़ा लाये कंठों में वीणा के स्वर—**
प्रेम तत्व यह! सृजनातुर अग जग का अन्तर'

'वाणी' की 'आत्मिका' पन्त जी की काव्य में मुखरित आत्म कथा है जिसमें उनके जीवन के सारे आरोह-अवरोह तथा विचार तत्त्व आ जाते हैं। चिदंबरा की भूमिका में इन पुस्तकों के विषय में पन्त जी लिखते हैं 'पल्लव'-'गुंजन' की सूक्ष्म कला-रुचि को मैं अपनी रचनाओं में बहुत बाद को, परिवर्तित एवं परिणत रूप में, संभवतः, 'अतिमा-वाणी' के छन्दों में, पुनः प्रतिष्ठित कर सका हूँ, जिनमें उसका विकास तथा परिष्कार भी हुआ है और उसमें कला-वैभव के साथ भाव-वैभव भी उसी अनुपात में अनुस्यूत हो सका है, जो 'पल्लव-गुंजन' काल में सम्भव न था।

इस प्रकार पन्त जी का लगभग चालीस वर्ष का साहित्यिक जीवन हमारे समक्ष है। इन चालीस वर्षों में कवि की गति अग्रगामी है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। अपनी साधना के प्रारम्भ-काल में कवि भाषा और शैली के रूप में जो प्रयोग कर रहा था, उनका पूर्ण विकास उत्तरकालीन रचनाओं में प्रकट होता है। पन्त की कला के विषय में डॉ० नगेन्द्र का मत है कि "कला का यह चिर-सुन्दर स्वरूप उनकी मनन प्रवृत्ति का ही फल है।" प्रकृति के सजीव चित्र अंकित करते समय वे अच्छे-अच्छे चित्रकारों को मात करते हैं। अपने उत्तर काव्य में 'सोनजुही' को एक नवेली नायिका रूप में चित्रित किया है— **'कुहनी टेक कँगूरे पर**
वह मुस्काती अलबेली।'

कितना सुन्दर चित्र है। अपने प्रथम उत्थान काल की रचनाओं में कवि पन्त अपने भोले बचपन और अल्हड़ यौवन के चित्र, प्रकृति-सौंदर्य में निमज्जित कर प्रस्तुत करते

हैं। किन्तु द्वितीय उत्थान में वे नवीन-जीवन दर्शन लेकर हमारे सामने आते हैं। साहित्यिक क्षेत्र के तबसे तीन युग आ चुके हैं, छायावाद, प्रगतिवाद और आजकल प्रयोगवाद का दौर-दौरा है। सभी में पन्त जी का काव्य वैभव व्याप्त है। नयी कविता के विषय में पन्त जी की राय है कि "अभी तक तो उसमें असंपृक्त खंडित बिम्बों तथा भग्न प्रतिमाओं के खँडहरों में इधर-उधर क्षण-सौंदर्य की झांकी के साथ चकाचौंध और कृत्रिम चमत्कार ही अधिक मिलता है। प्रकाश जो अंतस्तल एवं अंतर्गठन है, उसके बीज तथा अंकुर अभी नहीं दिखायी पड़ते।" छायावाद के विषय में उनका अनुमान है—"हिन्दी काव्य के राजपथ पर, अभी तक तो छायावाद ही, नवीन सौंदर्य मंजरियों का मुकुट लगाये, नवीन प्रकाश की खोज में, मंद धीर गति से चरण बढ़ा रहा है।" इसीलिए छायावादी कवि पन्त भी काव्य सृजन के पथ-पर अबाध गति से बढ़ रहा है, क्योंकि—

'सृजन हुताशन की हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर।
दृष्टि दिशा में ज्योति मूर्त स्वर,
ॐ ऋतो स्मर कृतं स्मर
ऋतो स्मर कृतं स्मर'

पंत और प्रकृति

[श्री कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह, एम० ए०,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, बड़ौदा]

दूर—हिमालय की उपत्यका में कौसानी ग्राम में पण्डित गंगादत्त पंत के एक पुत्र हुआ। नाम रखा गया "सुमित्रानन्दन"। तब कौन जानता था कि सरस्वती मन्दिर के एक पुजारी ने जन्म लिया है। संसार विक्टोरिया के निधन से संतप्त था। विवेकानन्द विश्व भ्रमण से लौटकर मिशन का संघटन कर रहे थे और रामतीर्थ जापान, अमेरिका गये हुए थे। राजनीति में सुधारों की माँग हो रही थी और उसमें भी गर्मी आ रही थी। सुमित्रानन्दन को माँ उसे असमय में ही छोड़कर परमधाम चली गयी थीं। समय बीतता गया। बालक पंत हाथ पर ठुड्डी रखे हुए दूर तक फैली हुई घाटी की हरियाली देखता रहता, गिरि-शिखरों और बादलों की लुका-छिपी देखता और धूप और मेघों की आँखमिचौनी देखता हुआ सुध-बुध भूल जाता। इससे भी अधिक शोभा कहीं हो सकती है—अल्मोड़े के सरकारी स्कूल में पढ़ते हुए, काशी में अध्ययन करते हुए, वह सोचा करता, और अन्त में प्रतिभा ने उसके अध्ययन और अध्यवसाय से दीप्त होकर उसके हृदय में नवीन कल्पना दी, नयी भाषा दी, नये छन्द दिये। प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कालेज का छात्र सुमित्रानन्दन कवि हो गया और इस कवि के बाल-मानस में अंकित प्रकृति का सौंदर्य आज तक उसके काव्य का मुख्य प्रेरणा स्रोत है।

सरस्वती के आँगन में वह "वीणा" लेकर आया। बँगला साहित्य वह पढ़ रहा था, "प्रियप्रवास" उसने बहुत जल्दी पढ़ डाला था। प्रसाद का "झरना", कीट्स और शैली की कविताएँ उसके हृदय को पहले ही झकझोर चुकी थीं। "वीणा" में उसने १९१८ से १९२० तक के गीत रख दिये। प्रकृति की छोटी-मोटी वस्तुओं को भी कल्पना की तूली से रँग कर उसने काव्य की सामग्री इकट्ठा कर दी। चिड़ियाँ, तारे, इन्द्रधनुष, ओस, सायं, प्रातः—सभी उसकी बाल कल्पना की पिटारी सजाये हुए हैं। प्रकृति को एकाग्र होकर देखने वाले उस बालक को उसमें एक रम्य नारी मूर्ति लगी और वह अचानक कह उठा—

उस 'फैली हरियाली में
कौन अकेली खेल रही माँ।'

प्रकृति में यह तन्मयता ही उसमें एक रहस्यात्मक पुट देने लगी। किन्तु यह रहस्य-भावना बिलकुल स्वाभाविक थी। वाद की लपेट से दूर इसमें प्रकृति के स्पष्ट रूपों की

एक आह्लादमयी अनुभूति थी जो अप्रस्तुत रूपों की योजना करती है जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौन्दर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग खुल जाते हैं।

ग्रंथि, उच्छ्वास, 'आँसू' पहले की ही रचनाएँ हैं। ये कथानक गीति हैं और इनमें छायावादी काव्य धारा के नवीन भावोच्छ्वास. नवीन वेदना एवं बाँकी लाक्षणिकता के साथ नये आवेग से सामने आये। प्रेम का यह स्रोत, करुणा की गहराई में प्रकट होता है। उसमें भारतीय पद्धति के अनुसार कहीं-कहीं हास-विनोद भी है, किन्तु कहानी तो निमित्तमात्र है। प्रमुख तो सौन्दर्य भावना की अभिव्यक्ति और आशा, उल्लास, वेदना, स्मृति, आदि की अलग-अलग व्यंजना है। उच्छ्वास और 'आँसू' में एक अजीब अस्पष्टता है। यह रहस्यवाद की किसी आध्यात्मिक उड़ान के कारण नहीं है। ये मानवीय वियोग का वर्णन करते हुए जान पड़ते हैं किन्तु विलष्ट होने के कारण आध्यात्मिकता का भ्रम उत्पन्न करते हैं। इनमें कवि 'प्रेम' का बाधा विहीन रूप दिखला रहा है। 'ग्रंथि' उच्छ्वास और आँसू की अस्पष्टता से मुक्त है। इसमें स्पष्ट मानवीय विरह का शोक संताप है जिससे अत्यन्त करुण वातावरण की सृष्टि होती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है कि कवि यहाँ वियोग व्यथा में इतना तल्लीन हो गया है कि उसमें एक विलक्षण जड़ता आ गयी है।.....ग्रंथि के वियोग वर्णन में विषाद और तज्जन्य मानसिक दौर्बल्य का भी आभास बराबर पाया जाता है। पर इसमें भावाक्षिप्त और अलंकृत रूप में प्रकृति का जो मनोहारी चित्रण हुआ है वह इस विषाद की जड़ता को बहुत कुछ दूर कर देता है।

पंत का सुनिश्चित क्रान्तिकारी रूप 'पल्लव' में सामने आया। वर्ड्सवर्थ की 'निरिकल बैलेड्स' की भूमिका की तरह इसमें काव्य के नये प्रतिमान स्थिर किये गये और प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण किया गया। रामचन्द्र शुक्ल ने इसमें प्रतिभा का उत्साह पहचाना। पहले की लिखी हुई कृतियाँ 'आँसू' और 'उच्छ्वास' इसी में प्रकाशित हुई थीं। वीणा में कवि का प्रकृति के प्रति जो अनुराग था, वह अब सौन्दर्य भावना में परिणत हो गया। फिर भी उसमें प्रकृति का वह साहचर्य नहीं जो वीणा की कविताओं में था। पल्लव में प्रकृति की वस्तुएँ स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक भर गये हैं। कला का सौन्दर्य और प्रकृति प्रेम की व्यंजना तथा प्रकृति रहस्य इसमें प्रमुख हो उठा है। पल्लव की रचनाओं में कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। कुछ कविताएँ कल्पना-प्रधान हैं जैसे 'निर्झरी', 'नक्षत्र' आदि, कुछ कल्पना-प्रधान हैं जैसे 'मोह' आदि और किसी में दोनों का अभूतपूर्व मिश्रण है जैसे 'अनंग', 'स्वप्न' आदि। पंत स्वयं लिखते हैं—"कविता-जगत् में नित्य जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचना काल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' इस अनुसंधान का केवल प्रतीक मात्र है।"

वास्तव में 'पल्लव' जहाँ एक ओर पंत का प्रकृति की ओर सुनिश्चित दृष्टिकोण 'मोह' में निर्धारित करता है, वहीं दूसरी ओर 'परिवर्तन' नामक कविता में एक परिवर्तित दृष्टिकोण की भी सूचना है। वर्ड्सवर्थ की 'टिंटर्न एबे' तथा 'ओड आन इन्टी-

मेशन्स आफ इम्मार्टेलिटी'—में भी कवि का परिवर्त्तित दृष्टिकोण सामने आता है। 'टिन्टर्न एबे' में वर्ड्सवर्थ को अपनी काव्य-शक्ति के ह्रास का पता नहीं था, किन्तु 'इम्मार्टेलिटी ओड' में आकर उसने स्पष्ट रूप से अपने प्राचीन काव्य-वैभव के समाप्त हो जाने की घोषणा की है। 'परिवर्तन' कविता में ही पंत जी को जीवन का सुन्दर और सुखमय पक्ष निरन्तर बीतता हुआ जान पड़ा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी 'परिवर्तन' कविता को वियोग वर्णन की कविता मानते हैं। सम्भवतः वे कवि के जीवन में असफल प्रेम की कोई छाया पाते हैं जिसे कवि ने स्वयं 'आँसू' और 'उच्छ्वास' कविता के मूल में माना है। किन्तु मेरे विचार से परिवर्तन उस स्तर की कविता है जहाँ व्यक्ति की क्षुद्र सीमाएँ विलीन हो जाती हैं और वह एक महती भूमिका पर पहुँच कर संसार की उलट-पुलट को तटस्थ रूप से देखता रहता है। वर्ड्सवर्थ की दो लम्बी कविताओं का उल्लेख करने का मेरा तात्पर्य यह है कि ऐसा सभी कवियों के जीवन में होता है जो प्रकृति से प्रेम करते हैं। प्रकृति स्वतः सुख-दुःख निरपेक्ष है। कोलरिज ने लिखा था कि हमारे अन्दर ही प्रकृति का निवास है, और जैसी हमारी मनोदशा होगी वैसी ही प्रकृति भी दिखलायी पड़ेगी। यही बात आल्डस हक्सले ने 'वर्ड्सवर्थ इन ट्रापिक्स' नामक पुस्तक में दिखलाया है कि यदि कवि इंगलैंड के लेक डिस्ट्रिक्ट जैसे सुरम्यतम स्थान में न रहे होते तो उनकी प्रकृति कविता का रूप ही दूसरा होता। किशोर सुमित्रानन्दन पंत ने कौसानी के अड़ोस-पड़ोस प्रकृति का जो समृद्धिशाली चित्र देखा उसके पीछे उनके पिता का सुखमय जीवन भी था। किन्तु जब जीवन में किसी शक्ति के द्वारा पवित्र प्रेम कुम्हला गया, देश के झंझटों में जब कालेज छोड़ना पड़ा उस समय प्रकृति का रम्य अंचल मानव की ओर उन्मुख अपने नये प्रेमी को उलझाये न रख सका। प्रकृति की सुरम्यता का प्रेमी पंत मानवता के नये सुनहले स्वप्नों में डूब कर गुञ्जन के गीत गाने लगा।

रामचन्द्र शुक्ल ने परिवर्तन कविता में भाव-विकास की पाँच दशाएँ बतायी हैं। प्रथम, क्षोभ भरा हाहाकार स्वर जो सुख का दुःख में, उल्लास का विषाद में, सुषमा का रूप शुष्कता में और म्लानता में बदल देता है। दूसरी, कवि दुख से सुख में परिवर्तन देखकर चिन्तनोन्मुख होता है। तीसरी, कवि परिवर्तन को महाकरुण काण्ड के स्थान पर सुख-दुख की उलझी समस्या के रूप में देखता है जिसका समाधान व्यक्त जगत् से परे है और वह रहस्य जीवन के उस पार ही खुल सकता है। चौथी तात्विक दृष्टि से जगत् के द्वन्द्वात्मक विधान को समझ कर कवि अपने मन को शान्त करता है। पाँचवीं—जीवन का उद्देश्य अनुभव करता है—

"वेदना में ही तपकर प्राण,
दमक दिखलाते स्वर्ण हुलास।
अलभ है इष्ट, अतः अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल।"

अतः "जीवन का एक सत्य स्वरूप लेकर, अत्यन्त मार्मिक अर्थपथ पर सम्बद्ध रूप में चलने के कारण, कलना की क्रीड़ा और वाग्वैचित्र्य पर प्रधान लक्ष्य न होने के कारण इस कविता का समन्वित प्रभाव पड़ता है।" शिवदान सिंह जी के मतानुसार 'परिवर्तन' पर आध्यात्मिक दर्शन का प्रभाव है जिसके कारण 'निष्ठुर, दुर्जेय, विश्वजित्—उग्र विराट्' आदि उपमाएँ दी गयी हैं, जिसके सम्मुख मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुख का कोई मूल्य नहीं। इसी आध्यात्मिक प्रभाव के कारण 'परिवर्तन' में किसी अभावात्मक दृष्टिकोण के स्थान पर मानव प्रेम विकसित होता है।

'परिवर्तन' कविता में पंत जी की कल्पना सजग और शक्तिशालिनी रूप लेती है। यहाँ वह तटस्थ रूप से निराशा मूलक विचार प्रकट करती है। कविता को जीवन में तपाये हुए दर्शन का सहारा मिल जाता है और उससे उसकी अतिशय कोमलता दूर हो जाती है। अब कवि को जीवन से कोई असंतोष नहीं। उसने उसकी वास्तविकता परख ली है जो निराशामूलक होते हुए भी उसकी दार्शनिक तटस्थता को भंग नहीं कर सकती। कवि जीवन से समझौता कर लेता है। यहाँ भी यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि 'परिवर्तन' में पंतजी ने जीवन के जिस सत्य को व्यक्त किया है उसके अभिज्ञान और अभिव्यक्ति दोनों की मुख्य साधक प्रकृति है। इसके अतिरिक्त इस कविता में पंतजी ने प्रकृति के केवल मनोरम रूपों की ही ओर दृष्टिपात नहीं किया है अपितु उसके उग्र-विराट् नाना रूपों पर आत्मीयता की दृष्टि डाली है।

'गुंजन' में हम कवि को जगत् और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर बढ़ते पाते हैं। कल्पना की रुचिरता से तृप्त होकर तथा प्रत्यक्ष बोध से अतृप्त होकर और बुद्धि के व्यापारों से थक जाने पर रहस्य की छाया में विश्राम करने की प्रवृत्ति होती है। जग की सुषमा से वह जीवन सम्पन्न करना चाहता है। वह अतिवाद से असंतुष्ट है। वह जग-जीवन में सामञ्जस्य चाहता है। पंत स्वयं स्वीकार करते हैं कि वह संघर्ष प्रिय अथवा निराशावादी नहीं। फिर भी 'पल्लव' में वियोग पक्ष प्रमुख होने के कारण जहाँ एक अश्रुमती झलक है वहीं 'गुंजन' में कवि आस्तिक होने का प्रयास करता है तथा रचनाओं में संयोग पक्ष प्रधान हो जाता है। हिन्दी के शृंगारी कवियों ने संयोग शृंगार का अत्यन्त स्थूल चित्र खींचा है, किन्तु पंतजी ने शृंगार वर्णन में कल्पना का साथ कहीं नहीं छोड़ा है, वियोग वर्णन में चाहे वह छूट भी जाये। अतः उनका संयोग पक्ष अधिक संयमित, शुद्ध और अनुभूतिप्रद हुआ है।

कवि की रहस्यमयी दृष्टि प्रकृति के उस रूप की ओर जाती है जो किसी विराट् राज्य का प्रतिबिम्ब है। कभी-कभी उसको जो अनुभूति हो जाती है, यह आनन्द की मुक्ति है। उसकी साधना स्वाभाविक है। आचार्य शुक्ल को पंत जी की यह वादमुक्त रहस्य भावना अत्यन्त प्रिय थी।

नारी के प्रति विद्रोह करते हुए भी कवि उससे दूर नहीं रह सका। पहले वह

प्रकृति को उसी रूप में देखता था किन्तु बाद में वह 'गुंजन' में आकर 'देवि' हो गयी। 'गुंजन' में काव्य-शैली संयत और गंभीर है।

'युगान्त' में कवि की कलित कान्तिवाणी का युगान्त हो जाता है। वे प्राकृतिक दर्शन से सामाजिक दर्शन की ओर चल पड़ते हैं। आचार्य शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को शुद्ध स्वच्छन्दतावाद (True Romanticism) कहा और स्वागत किया। इसमें परिवर्तन की प्रबल आकांक्षा, श्रमजीवियों की दशा तर्क-वितर्क छोड़कर श्रद्धापूर्वक बढ़ना आदि आचार्य शुक्ल को बहुत पसन्द आये। वह लिखते हैं—"युगान्त में कवि को हम केवल रूप-रंग, चमक-दमक, सुख-सौरभ वाले सौन्दर्य से आगे बढ़कर जीवन-सौंदर्य की सत्याश्रित कल्पना में प्रवृत्त पाते हैं। उसे बाहर के जगत् में सौंदर्य, स्नेह और उल्लास का अभाव देखना पड़ता है। वे जीवन की सुन्दरता की भावना मन में करके उसे जगत् में फैलाना चाहते हैं। ताजमहल में वह "रवीन्द्रनाथ के अनुसार काल के गाल पर आँसू की बूंद" वाली सुन्दर कला कृति के पीछे असंख्य भूखी जनता का करुण क्रंदन सुनता है। वह नयी ज्योति देखना चाहता है।"

ऐसे स्थलों को देखकर शुक्ल जी को स्वाभाविक शंका हुई थी कि कवि अपनी वाणी को कहीं वादों के पीछे तो नहीं लगा रहा है। युगवाणी का मंच इस सन्देह को और भी पुष्ट करने लगा। उसमें मार्क्सवाद, गाँधीवाद आदि सभी की गूंज सुनायी पड़ी जिसमें पहाड़ का भोला कवि मानवता के नये विकास का स्वर सुन रहा था; इसमें कवि योग कर्म में प्रवृत्त नहीं, स्वतंत्र द्रष्टा नहीं, केवल सामूहिक स्वर को कह रहा है, लेकिन उसे अति भौतिकता इष्ट नहीं। वह अध्यात्मवाद भी चाहता है। ग्राम्या में भारतीय जीवन के स्थूल चित्र आये। कवि कल्पना भारत की दीनता में खो गयी। आशा हुई कि बौद्धिक चिन्तन और आत्ममंथन से युग सत्य उपलब्ध होगा, किन्तु वह व्यापक दृष्टिकोण उत्पन्न नहीं हो सका। "जीवन की कुरूपता के समक्ष संघर्षण करके पंत प्रतिक्रियाओं से दूर बौद्धिक भावना प्रक्रिया के तल पर नयी मानव वादी संस्कृति के निर्माण स्वप्न कल्पना में गूँथते रहे।"

इसके पश्चात् काफी समय तक कवि विभिन्न कारणों से मौन रहा, किन्तु १९४७ से अचानक कविता धारा स्वर्ण किरण,"स्वर्ण धूलि, युगपथ और उत्तरा" में फूट चली। मार्क्सवादी कवि अरविन्द दर्शन से प्रभावित हुआ, वह बाह्य जगत् से मुड़कर अन्तर्जगत् में ही समस्त सुख खोजने लगा। प्रकृति से मावन और मानव से व्यक्ति का मन—संक्षेप में पंत जी के काव्य की गति यही रही है।

अन्त में हमें यह देखकर आश्चर्य होता है कि कौसानी के कवि की चेतना कहाँ जा पहुँची। यद्यपि चेतना के विकास से तो सभी को सुख हुआ, फिर भी उससे मड़कती हुई कविता के दब जाने पर डॉ० राम विलास शर्मा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी प्रभृति सभी साहित्य प्रेमियों को खेद हुआ। एक विद्वान् का यह कथन बिल्कुल सत्य है—"नये जीवनादर्श के प्रकाश से आलोकित होने पर भी वे कविता

में दार्शनिक गाम्भीर्य नहीं भर रहे हैं वरन् दर्शन को काव्य रूप देकर तरल बना रहे हैं।"

कुल मिलाकर पंत जी के कर्तृत्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि उन्होंने हिन्दी परम्परागत शृंगारी काव्य-धारा की संयोग और विप्रलंभ नाम की दोनों शाखाओं को नया मोड़ दिया, उनका पूर्ण परिष्कार किया। पुराने कवियों ने संयोग शृंगार के वर्णन में स्थूल संयोग की कथा कहने की प्रवृत्ति दिखायी, और विप्रलंभ में ऊहा की विपथ गति अपनायी। तात्पर्य यह कि संयोग में जब उन्हें कल्पना-तत्व के उपयोग का पूरा अवकाश था, तब तो उन्होंने उसको छुआ ही नहीं। परिणामस्वरूप संयोग-शृंगार की कायिक अनुभूतियों के वर्णन में उनकी प्रतिभा का क्षय होता रहा। दूसरी ओर विप्रलंभ को जिसे स्वानुभूति निरूपक होना चाहिए था, उन्होंने ऊहात्मक बना डाला। पंत जी ने हिन्दी काव्य में कवि-कर्म के इस विपर्यय को मिटाया। संयोग-शृंगार में इनकी कल्पना का उदय नवनवोन्मेष निरन्तर संयमित और परिष्कृत रहकर उन्हें कहीं-कहीं रहस्यमय परोक्षाभास अर्थात्, आध्यात्मिक भाव जगत् तक ले जाता है। कम से कम संयोग शृंगार की उनकी रचनाओं में कायिक संभोग की जड़िमा कहीं नहीं दिखायी देती। 'अनंग', 'भावी पत्नी के प्रति' और 'अप्सरा' आदि उनकी संयोग शृंगार की प्रमुख रचनाएँ कही जा सकती हैं। इनमें भी विशेषतः 'अप्सरी' में व्यक्ति विशिष्ट सौंदर्य चित्रण का प्रायः चरम अभाव है। उसके स्थान पर विश्व-व्यापी सौंदर्य चेतना को कल्पना की शक्ति से रूप-रंग, आकार-प्रकार देने का प्रयत्न किया गया है। व्यक्ति विशिष्ट सौन्दर्य के स्थान पर सौन्दर्य चेतना का चित्रण पंत के काव्य की प्रमुख विशेषता है। 'अप्सरी' इस दृष्टि से हिन्दी की एक अन्यतम रचना है।

विप्रलंभ शृंगार में विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की विशद व्यंजना ही कवि का ध्येय है। 'ग्रंथि' पंत जी का अत्यंत मर्मस्पर्शी विरह गीत है। उसमें मानवीय विरह तथा शोक, संताप, विषाद, स्मृति आदि उनके अनेक संचारियों का अत्यन्त स्पष्ट स्वानुभूति निरूपक प्रकाशन है। अवश्य प्रसाद के आँसू की तरह उसमें कवि कल्पना का तटस्थ व्यक्तित्व प्रस्फुटित नहीं हो पाया है, फिर भी 'ग्रंथि' हिन्दी का एक अत्यन्त मनोरम विरह काव्य है। उसमें उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकरणों का आकर्षण तो अनुपम ही है। इन अलंकरणों की सामग्री का चयन पंतजी ने प्रकृति के मनोरम क्षेत्र से किया है। 'पन्त जी की अजेय अप्रतिम कल्पना, उनकी सरस सार्थक शब्द सृष्टि, सुगेय छन्द और सुन्दर प्रशस्त भाषा हिन्दी काव्य की दिव्य विभूति है।' इस विभूति की दिव्यता का मूल स्रोत प्रकृति के शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध का महिमामय साम्राज्य है।

जैसा कहा जा चुका है, पंत जी का नवीनतम काव्य अरविंद-दर्शन से प्रभावित और प्रणोदित है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण धूलि' 'रजत-शिखर', 'अतिमा' आदि आगे आने वाले स्वर्ण-युग की आशा-आकांक्षा को चित्रित करती हैं। पंत जी इन स्वर्ण-स्वप्नों को इस युग की मरणासन्न वास्तविकता से कहीं सत्य और अमूल्य' मानते हैं। इन रचनाओं

में चेतना के विविध स्तरों का बड़ा मनोहारी वर्णन किया है, विशेषत: अतिमानस या ऊर्ध्व चेतन की आरोहण अवरोहण की शत-शत अनुभूतियों का बड़ा सुन्दर प्रकाशन इन रचनाओं में हुआ है। इस स्थिति तक पहुँचकर वह प्रकृति-जगत् और मानव-जगत् के भेद को निःसार मानने लगता है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और मानव, जड़ तथा चेतन सब एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति हैं—

वही ब्रह्म तिरोहित जड़ में जो चेतन में विकसित।
वही फूल, मधु, सुरभि वही मधुलिह चिर गुंजित।
वस्तु भेद ये : चिर अमूर्त ही भव में मूर्तित।
वह अज्ञेय, स्वतः संचालित, एक अखंडित।
अधः ऊर्ध्व बहिरन्तर, उसके सृष्टि संचरण।
सांत, अनंत, अनित्य, नित्य का वह चिर दर्पण।

आरंभ में प्रकृति के सौंदर्य के प्रति जो विमुग्ध विस्मय का भाव था, वह अब भी कभी-कभी फट पड़ता है। अब प्रकृति के अनेक दिव्य रूप कवि को सुपरिचित अलक्षित सत्ता के सौंदर्य से अभिमंडित दिखायी पड़ते हैं। 'स्वर्ण किरण' की 'हिमाद्रि' शीर्षक कविता इसका एक श्रेष्ठ निदर्शन है। 'हिमाद्रि' को संबोधित कर कवि ने कहा है—

शुभ्र शान्ति में समाधिस्थ हे! शाश्वत सुन्दरता के भूमृत।
तुम्हें देख सौन्दर्य-साधना मेरी महाश्चर्य से विस्मित॥

चिन्मयी, हिमाद्रि और समुद्र, भू-प्रेमी, ऊषा, चन्द्रोदय, प्रभात का चाँद, कौवे के प्रति आदि कविताएँ इसी श्रेणी में आती हैं। पहले की प्रकृति-संबंधी कविताओं में और इनमें मुख्य अंतर यह है कि इन रचनाओं में प्रकृति के विभिन्न उपादान अतिमानस या ऊर्ध्व-चेतना की गति-स्मृति के प्रतीकों के रूप में व्यवहृत हुए हैं।

रत्नाकर : जीवन और काव्य

[श्री शिवबालक शुक्ल, के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद]

अन्य देशों की अपेक्षा भारत में गंगा-जल पीने और आम खाने वाली प्रवृत्ति विशेष है। गंगोत्स के स्वास्थ्यकर तत्त्वों तथा सफेदा और लँगड़ा के योग्य जलवायु पर ध्यान इने-गिने लोगों का जाता है। साहित्य-संसार में भी कवियों तथा लेखकों का जीवन-वृत्त अज्ञान की कुहेलिका से आच्छन्न रहता है। किन्तु किसी कवयिता अथवा लेखक की कला-कृतियों को समझने के हेतु उसके जीवन से परिचित रहना अनिवार्य है।

स्थानान्तरण की दृष्टि से, वैश्यों के अभिजात अग्रवाल कुल में प्रादुर्भूत जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' के पूर्वजों पर 'रमता जोगी बहता पानी' की उक्ति बहुत अंशों में चरितार्थ होती है। पानीपत-निवास और मुगल दरबार के सम्मान्य पदों को छोड़कर रत्नाकर के पूर्वज लखनऊ आये। प्रपितामह सेठ तुलाराम, लखनऊ के विशिष्ट रईस थे और यहाँ भी परंपरा के अनुसार जहाँदारशाह के दरबार में प्रतिष्ठित पद से अपना अन्योन्य सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। अमीरी और वदान्यता के जन्मजात गुण इस कुल की अपनी विशेषता रही थी। किसी नवाब द्वारा ३ करोड़ रुपये मांगे जाने पर सेठ जी ने उसके जुटाने में कष्ट उठाकर भी अपनी शाही शान की रक्षा की थी। दरबारी साज-सज्जा और अमीरी ठाठ-बाट रत्नाकर जी को उत्तराधिकार में मिली थी। यही सेठ तुलाराम आगे चलकर लखनऊ से काशी चले आये, और आज तक काशी स्व० रत्नाकर तथा उनके पुत्रों का अभिजन है।

फारसी के विद्वान् श्री पुरुषोत्तम दास को सं० १९२३ के भाद्रपद मास की शुक्ल पंचमी को हिंदी का 'रत्नाकर' पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। भाद्रपद में उत्पन्न होने वाले गोवत्स तथा बच्चे समाज में अनादृत होते हैं किंतु जगन्नाथ भगवान् कृष्ण की भाँति अपवाद ही सिद्ध हुए। काशी की विद्वन्मण्डली में उस समय पुरुषोत्तमदास तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र शीर्षस्थ थे। सौभाग्य से इन दोनों महानुभावों का सहज स्नेह 'रत्नाकर' को प्राप्त था। उक्त दोनों महानुभावों के घर पर साहित्यिकों का जमघट लगा रहता था, फलतः साहित्य के पूत पर्यावरण ने हिन्दी को सुरुचि सम्पन्न कवि दिया। फारसी में एम० ए० करने की बलवती आकांक्षा फलवती न हो सकी अन्यथा स्यात् फारसी का 'जकी' हिंदी का 'रत्नाकर' न हो पाता। अपने पूर्वजों की भाँति 'रत्नाकर' जी भी

(आवागढ़ तथा अयोध्या के) राज-दरबारों में रहे थे। आवागढ़ के कोष-निरीक्षक का पद प्रतिकूल जलवायु के कारण उन्होंने छोड़ दिया था, किंतु अयोध्या में महाराज के दिवंगत हो जाने पर भी महारानी ने उन्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाकर सम्मानित किया था।

रत्नाकर जी के आकर्षक व्यक्तित्व तथा स्वभाव की मृदुता के कारण उनके मित्रों की परिधि बड़ी व्यापक थी। काशी, लखनऊ, प्रयाग आदि के साहित्यिक रत्नाकर के सुहृद थे। रत्नाकर की पवित्र लहरों में ही नारायण हरि का अधिवास है फिर भी दास संसार की दृष्टि में अपने आराध्य से अभिन्न होने के हेतु जून १९३२ में हरिद्वार में पहुँचकर सदा के हेतु हरिचरणों में ही अन्तर्लीन हो गया।

हिंदी साहित्य के द्विवेदी-युग में खड़ी बोली की उठती हुई जवानी ने अनेक सत्कवियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। कनपुरिये 'प्रताप नारायण' और प्रयाग के 'पद्मकोटी' 'पाठक' में द्वन्द्व भी हुआ परंतु रत्नाकर धीर, गंभीर और प्रशान्त ही बना रहा। मर्यादा का ध्यान रखते हुए 'जगन्नाथ' ने नवयौवना आधुनिक खड़ी बोली के प्रेमियों को उसे नित्य नवीन परिधेय वस्त्रालंकारों से परिहित तथा अलंकृत करते देख स्वस्थ-मना हो वर्षीयसी किन्तु वय-सिद्धा (age-proof) ब्रजभाषा के अश्रु-आर्द्र कपोलों को पोंछकर उसे अनाथ नहीं किया।[१]

सागर का जल नमकीन होता है और रत्न उसकी अतल गहराई में पाये जाते हैं। रत्नाकर में लुनाई पूर्ण माधुर्य है और पुंजीभूत भाव-रत्न भी। रत्नाकर जी ने ब्रजभाषा की विगत (रीतियुगीन कविता की अंतिम घड़ियों के समय) सुंदरता को सँवारना समीचीन समझकर 'हरिश्चन्द्र','गंगावतरण,'जैसे उत्कृष्ट प्रबंध काव्य और 'उद्धव शतक' सदृश चित्रोपम प्रबंधात्मक मुक्तक या पूर्णतः प्रबन्धों का आभास देने वाले मुक्तक लिखे थे। पहले उनके मनोहारी शब्द चयन को लेते हैं। रत्नाकर जी को शब्द की नहीं शब्दात्मा की सच्ची परख थी। किसी लेखक के अभिप्रेत अर्थ को समझने के हेतु जिन चार बातों की अपेक्षा रहती है वे रत्नाकर में बराबर मिलती हैं। योग्यता, आकांक्षा, आसक्ति तथा तात्पर्य गुण प्रत्येक शब्द में अन्तर्हित है। प्रसिद्ध अँग्रेज लेखक जॉन मैंसफील्ड के शब्द उनकी भाषा पर चरितार्थ होते हैं—

The entrance to poetry is through the spirit and not through the words.

डॉ० रसाल ने कहा है, 'भाषा वही है जो मानसिक भाव एवं भावनाओं को स्वाभाविक यथार्थता और स्पष्टता के साथ सुव्यक्त कर सके। उनके कुछ शब्द लीजिये।

१ जान खड़ी बोली पै कोऊ भयौ दिवानी,
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन मैं है बहलानी।

—समालोचनादर्श

'उद्धव शतक' के ९वें छंद में 'चबाइ' और 'झौंकि' शब्द प्रयुक्त हैं। 'षट्-रस-व्यंजन को चबाइ से सम्बद्ध करके रत्नाकर के कृष्ण ने यह संकेत किया है कि 'षट्रस-व्यंजन सुस्वादु नहीं होते। उनको जबरदस्ती येन-केन-प्रकारेण चबाना पड़ता है। रुचि के प्रतिकूल भोजन को उलटे सीधे निगलना पड़ता है पेट भरने के लिए। 'चबाइ' में आतंक-वश बनाये गये तथा कथित 'षट्रस-व्यंजन विषयक अरुचि समायी हुई है। मथुरा में स्नेहमयी वत्सला यशोदा सा यह ध्यान किसे होगा कि अच्छा भोजन बनने पर उनका लाल दो चार ग्रास अधिक खाकर माता को हार्दिक संतोष देगा ? अब 'झौंकि' शब्द पर आइये। भड़भूजा लकड़ी और पत्तों को भाड़ में झोंक तो देता है पर यह नहीं विचार करता कि उन लकड़ियों तथा पत्तों के साथ कोई कृमि-कीट चला गया है। चला गया हो, उसकी बला से। कवि ने गोपियों के कृष्ण की उपेक्षा न दिखाने की भावना से प्रेरित हो कृष्ण से 'झौंकि' शब्द प्रयुक्त कराया है। 'पर्यो' से, जो छंद की प्रत्येक पंक्ति के मध्य में प्रयुक्त है, विकल कृष्ण की कातरतापूर्ण विवशता का चित्र समक्ष आ जाता है। बहुत रोकने पर भी चलने की उत्सुकता किसी न किसी रूप में व्यक्त ही हुआ चाहती है।

रत्नाकर जी शब्दों के करामाती कारीगर और भाषा के जौहरी थे। उन्होंने पूर्वी भाषा के शब्दों को ब्रजभाषा के साँचे में इस प्रकार ढाला है कि वे उससे अभिन्न हो जाते हैं। अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग रत्नाकर ने किया है किन्तु प्रभाव शैथिल्य, दुर्बोधता एवं क्लिष्टता से बचकर। यत्र-तत्र किन्हीं सीमित अक्षरों से पूरा छंद लिखा गया है मानों किसी पाक-विज्ञान विशारदा (विशेषकर फ्रांसीसी महिला) ने भोजन के अत्यल्प उपकरणों और साधनों द्वारा ही अनेक 'डिशेस' प्रस्तुत किये हों। 'उद्धवशतक' के पाँचवें छंद में क त प न म र ल ह प्रभृति वर्णों का बाहुल्य है। पद्माकर की अनु-प्रासमयी भाषा के समक्ष इसे भले ही साधारण माना जाय किन्तु अंग्रेजी आदि साहित्यों में इस प्रकार की भाषा की अपनी महत्ता है। टेनीसन की दो पंक्तियाँ लीजिए—

So sweet a *face* such angel *grace*

तथा— In garb and *crown* the king step *down*

टेढ़े लिखे शब्दों में मध्यवर्ती तुकों के कारण संगीतात्मक माधुर्य पाकर पृष्ठ के पृष्ठ रँगे गये हैं। रत्नाकर जी की इस विशेषता को लेकर तो पुस्तक लिखी जा सकती है।

शब्द युग्मक के प्रयोग से पदार्थमूलक वीप्सा द्वारा कवि मार्मिक भाव-चित्र प्रस्तुत करता है—

हमको लिख्यौ है कहा हमको लिख्यौ है कहा

तथा— रंचक हमारी सुनौ रञ्चक हमारी सुनौ.....आदि

में औत्सुक्य संचारी का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर होता है। प्रश्न हो सकता है कि गोपियों में भी क्या लड़कपन था कि सभी ने अपने विषय में जानने की भावना एक

साथ प्रकट की। बात ठीक है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से ब्रह्म-सूत्रों का प्रारंभ हुआ। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में आचरण-चूड़ निमग्न थीं। डूबते को तिनके का सहारा मिला था। उनकी यह जिज्ञासा कि कृष्ण का उनके प्रति क्या भाव है सहज स्वाभाविक था। उनकी स्थिति, निःसंदेह उन परीक्षार्थियों के सदृश थी जो समाचार-पत्र की एक ही प्रति द्वारा अपना परीक्षाफल जानने के हेतु उत्सुक रहते हैं। सहृदय पाठकों ने रेलवे स्टेशनों पर परीक्षा-परिणाम घोषित होने के दिन ऐसे दृश्य देखे ही होंगे।

भाषा के कुशल जौहरी ने सुवर्ण की परीक्षा कर, अलंकारों विशेषतया शब्दालंकारों द्वारा कविता-कामिनी को समलंकृत किया है। यमक और श्लेष पग-पग पर मिलते हैं। वैद्यक, रसायन, मनोविज्ञान, वेदान्त और तर्क आदि के विवेचन में इनके प्रयोग अतीव आकर्षक हैं। एक उदाहरण लीजिये—

रस के प्रयोगनि के सुखद सँजोगनि के,
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हू यों सुधि सिराई है।

'रस' और 'सुदर्सन' के साधारण रीति से दो अर्थ हैं किन्तु चमत्कार बहुत हैं। ईश्वर को 'रसो वै सः' कहा गया है। कृष्ण भगवान् तो १६ कलाओं से समृद्ध अवतार हैं अतः उन्हें रसमय होना ही चाहिए। हाँ तो कृष्ण बहुत बड़े केमिस्ट और ड्रगिस्ट हैं। बसंत मालती और चन्द्रोदय जैसे बहुमूल्य रसों की बात वे कैसे करतीं! स्यात् ऐसे मूल्यवान् रस कुब्जा के कूबड़ोपचार के ही योग्य थे। सारा रस उसी का प्राप्तव्य था। दीना हीना बेचारी ब्रज बल्लभियों को 'सुदर्सन' चूर्ण ही बहुत था। 'कृष्ण-काव्य में भँवरगीत' के लेखक श्री केशवनारायण सिंह जी ने यह कवित्त हास्यास्पद बताया है। रस शब्द की आत्मा की विशालता पर बिना मनोयोग पूर्वक विचार किये कोई कुछ कह सकता है।[1] बहुज्ञता और सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर विरोधाभास, पुनरुक्ति प्रकाश और परिवृत्ति के प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

ज्यों ज्यों चले जात दूरि दूरि प्रिय प्रान भूरि
त्यों त्यों ढरकैसे जात मन - मुकुर हमारे मैं।
और मुक्ति-मुकुता को मोल माल ही कहा है जब,
मोहन लला पै मन - मानिक ही वारि चुकीं।

मुक्ति-मुकुता से सम्बद्ध रूपक साधारण महत्त्व नहीं रखता। मोती छिछले और रत्न सागर की गहराई में पाये जाते हैं। इस कम मूल्यवाली मुक्ति के लिए तमाम तूमार बाँधने की क्या आवश्यकता जब मन सा माणिक्य देकर हमने प्यारे मोहन को प्राप्त किया है। देव ने कहा था :—

---

१ इस विषय में शीघ्र प्रकाशित होने वाली 'उद्धव शतक की व्याख्या' में छंद ३४ के विशेष में सविस्तार लिखा गया है। —लेखक

मनु मानिका दै हरि - हीरा गाँठि बाँध्यो हम...

वृत्यानुप्रास, परिवृत्ति, रूपक तथा काव्यार्थापत्ति की यह संसृष्टि बड़ी मनोहर है।

यदि सूरदास शृंगार तथा वात्सल्य के एकाधिकारी कवि माने जाते हैं, यदि गोस्वामी तुलसीदास 'रूपकों के बादशाह' का (लाला भगवानदीन द्वारा) उच्च पद पाते हैं तो मैं निःसंकोच कहूँगा कि रत्नाकर रूप एवं मुद्रा चित्रण के चक्रवर्ती सम्राट् हैं। विभाव-अनुभावों की इतनी सुष्ठु व्यंजना खोजने से ही मिलेगी।

भृकुटी जुगुल मिलाय किये नासा पुट पोले —हरिश्चन्द्र

द्वारा किसी भी व्यक्ति की आक्रोशमयी मुद्रा का पता चल सकता है। गंगावतरण में गंगा का सामना करने को समुद्यत शंकर का रूप चित्रण देखते ही बनता है। यह चित्र छंदों की प्लेट पर एक व्यक्ति का है—

बाघम्बर को कलित कच्छ कटितट सौं नाध्यौ,
सेसनाग कौ नाग बंध तापर कसि बाँध्यौ।

× × × ×

जुगल कंध बल संध हुमकि हुमसाइ उचाए,
दोउ भुजदंड उदंड तोलि, ताने लमकाए।
कर जमाइ करिहाइ, नैन नभ ओर लगाए,
गंगागम की बाट लगे जोहन हर ठाए।

शक्तिशाली शत्रु के अभियान की प्रतीक्षा शंकरजी किस तत्परता तथा शौर्य सुलभ भाव से करते हैं उपर्युक्त पंक्तियों से सब परिलक्षित है।

'उद्धव शतक' में उद्धव के ब्रज से बिदा होते समय छंद ९८, ९९ और १०० में कलाकार ने तीन 'फोटो ग्रुप' लिये हैं। तीसरा ग्रुप (छंद १००) जिसमें नर-नारी, बाल-वृद्ध सभी प्रकार के लोग सम्मिलित हैं, अच्छा खासा उतरा है।

लीजिए देखिए—

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले,
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से।
कहै 'रतनाकर' सुदेस तजि कोऊ चले,
कोऊ चले कहत संदेस अबिरल से।
आँस चले काहू के सुकाहू के उसाँस चले,
काहू के हियँ पै चन्द्रहास चले हल से।

ब्रज से प्रत्यावर्तित उद्धव की मुख-मुद्रा रत्नाकर जी ने बहुत समीप से देखी थी। छंद १०७ (प्रेम मद माते पग परत कहाँ के कहाँ·····) पठनीय है। रत्नाकर जी का विभाव-चित्रण असाधारण है। कविवर नरोत्तम दास के सुदामा 'सीस पगा न झगा तन पै' को तो आपने कई बार देखा होगा; आइए, रत्नाकर जी के सुदामा पर भी एक दृष्टि डाल लीजिए—

कहै रतनाकर प्रगट ही दरिद्र रूप, फटही लँगोटी बोध बाद सो लगाये हैं,
छीनता की छाप दीनता की थाप धारे देह, लग्गी के सहारे काठी नीठि ठहराये हैं,
संकुचित बाँह पै अँधौटी सी कँधौटी किए, तापर सछिद्र छोटी लोटी लटकाये हैं,

इस 'सछिद्र छोटी लोटी' को तो देखिए। पीतल की छोटी सी (मिर्जापुरी) लुटिया, जैसी दान में पुरोहितों को दी जाया करती है, (ब्राह्मण-बंधु क्षमा करें) डोर से बँधी हुई पीठ के पीछे लटक रही है और बोड़ी की हुई डोर हाथ में है। यह लुटिया कन्धे पर पड़ी हुई लुंगी का स्पर्श करती है। कितना सुन्दर चित्र है ? पाठक तनिक अपनी कल्पना-शक्ति से भी काम लें। वृद्ध के पिचके हुए कपोलों के सदृश उस लुटिया में पटके पड़े होंगे और पटकों में छिद्र। रत्नाकर कृत 'भीष्म-प्रतिज्ञा' में कृष्ण की कुछ ऐसी ही मुद्रा चित्रित है।

रत्नाकर के जीवन की विविध परिस्थितियाँ उनके काव्य में प्रतिफलित हैं। डॉ० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है, 'उनके जीवन व्यापी शृंगार में छिपी हुई दुख की छाया मानों उद्धव शतक का केन्द्र पाकर साकार हो गयी है।' रत्नाकर जी रीतिकालीन कवियों की भाँति वैभव-विलास में पले थे। और यह सत्य है कि रीति युग की अनेक परंपराएँ रत्नाकर की रचनाओं में मिलती हैं। परन्तु उनके काव्य की मर्मस्पर्शिता तथा प्रभविष्णुता के मूल में कवि की तन्मयता सन्निहित है। साहित्य के मर्मी कलाकार एक ओर 'ताज को काल के कपोल पर रखा विंदु' मानते हैं तो दूसरी ओर 'मृत्यु का अपार्थिव पूजन'। यही स्थिति रत्नाकार के काव्य की है। बहुत से साहित्यिक उनकी शब्द योजना, अलंकरण, सूक्तिप्रियता लाक्षणिकता को देखकर उन्हें चमत्कारवादी कह बैठते हैं किन्तु उनके काव्य के ताजमहल में सूक्ष्म एवं जटिल कारीगरी ही नहीं है। उनके पवित्र अन्तर्मन की प्रेम-भावना समाविष्ट है जिसे समझने के लिए रवीन्द्र के नेत्र चाहिए पंत का दृष्टिकोण नहीं। शृंगार की सीपी में करुणा के जो मुक्ताकण हैं उन्हें कितने जाम, समझ सकते हैं ? रत्नाकर के हृदय की वेदना-फल्गु की पीयूषधारा में विरले ही अवगाहन कर सकते हैं। उनकी रचनाओं पर प्रियवर व्यास की शब्दावली चरितार्थ होती है—

तुमने अधरों की मुसकानें ही देखीं,
उर की पीड़ा का तुमको आभास नहीं।

रत्नाकर के हृदय की करुणा मिल जाने से शृंगार विखर उठा है। रत्नाकर के हृदय की कचोट और अनुभूत कसक कला का आवरण ओढ़कर निकली है। अपनी विरह-व्यथा तो साधारण विरही, जन-जन के समक्ष कहता रहता है। कहते हैं प्रसाद के तीन विवाह हुए परंतु प्रेयसी न मिली। रत्नाकर की स्थिति भी वैसी ही रही है। उन्हें भी राग-रंजना ने वरण नहीं किया, प्रणय प्रवञ्चना ही परिणीता रही। इसीलिए कृष्ण-विरह को गोपी-वियोग के समान ही महत्त्व मिला है। कृष्ण के व्याज (कालिदास की भाँति) से रत्नाकर रोये हों तो आश्चर्य क्या ? निःसंदेह !

मकतबे इश्क़ के होते हैं अनोखे अंदाज,
उसको छुट्टी न मिले जिसको सबक़ याद रहे।

इसीलिए तो 'बात' नीर बनकर आँखों से बही है और गोपियों ने थोड़ी बात शब्दों में, उसका अधिकांश नेत्रों से तथा परिशिष्ट हिचकियों में कहा है। परंतु इसका आशय यह कदापि नहीं कि रत्नाकर जी के काव्य में शृंगार और करुण रस ही की प्रधानता है। उनके काव्य में भक्ति-उद्रेक भावनाओं का सहज उद्रेक द्रष्टव्य है तथा द्रौपदी क्रंदन में यदि करुणा की कल्लोलिनी प्रवहमान है तो भीष्म-प्रतिज्ञा में वीर रस की प्रखर पयस्विनी।

डॉ० श्यामसुन्दर दास के कथन की पुष्टि अति संक्षेप में ऊपर की गयी है। इसका उपबृंहण उदार तथा सजग पाठक स्वयं कर सकते हैं। अकल मंदाराँ इशारा काफी अस्त। अब हम उनके काव्य पर पड़े हुए भक्ति और रीति युग के सम्मिलित प्रभाव पर विचार करते हैं। किसी भी युग के सार ग्राही कवि के लिए अपने युग के श्वासोच्छ्वासों की भाँति विगत अतीत की विभिन्न प्रवृत्तियों का आकलन और आहरण आवश्यक होता है। न किन्हीं दो युगों के बीच विभाजन रेखा ही खींची जा सकती है और न तो साहित्य के अप्रतिहत प्रवाह को किन्हीं विशिष्ट प्रवृत्तियों के बाँध से अवरुद्ध किया जा सकता है। रत्नाकर पर भक्ति और रीति युग का पूर्ण प्रभाव है और इसीलिए उन पर ठीक बैठती है—

सोने में सुगंध औ सुगंध में सुन्यौ न सोनो,
सोनो औ सुगंध तो में दोनों पाइयतु है।

भक्ति युग में भक्ति भावना का विशेष महत्त्व था। तुलसी ने राम तथा सूर एवं अष्टछाप के अन्य कवियों ने कृष्ण का गुण-गान किया। रत्नाकर ने प्रबन्ध-काव्य-प्रणयक-परिपाटी भक्ति युग से ली तथा 'गंगावतरण' जैसे पौराणिक कथानक का प्रबन्ध-काव्य के रूप में प्रस्तवन कर भक्ति युग का प्रतिनिधित्व किया। रामायण कथा में हनुमान पातालपुरी में प्रवेश करते हैं, आकाश में संजीवनी लेकर विचरते हैं। गंगावतरण में कपिल के आश्रम में (पातालपुरी में) तुरंग की टोह मिलती है। और स्वर्ग से अवतरिता गंगा पाताल में प्रविष्ट होकर सगर-सुतों को निष्कृति प्रदान करती हैं। 'उद्धवशतक' में सूर की भाँति रत्नाकर की रुचि कृष्ण कथा को संश्लथ कर अतीव मार्मिक प्रसंग-वर्णना में रमी है। यद्यपि प्रबन्ध काव्य का वह कसाव और खिचाव इसमें नहीं है जो होना चाहिए था, फिर भी 'उद्धव शतक' प्रबन्धात्मक मुक्तक है और मुक्तकाभास प्रबन्ध है। यह दोनों युगों का प्रभाव है। चंद्रावली नाटिका से भारतेन्दु पर वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव परिलक्षित है, ऐसी ही अनुग्रह-याचना की भावना रत्नाकर में द्रष्टव्य है। भक्ति-युग की तन्मयता, आत्मविह्वलता और रीति-युग की कला का सामंजस्य महत्त्वपूर्ण है। काशी में जन्म लेने वाले (कल काशी के कवि) ने बुद्धिजीवी होने के कारण अयोध्या-निवास किया। महाराज एवं महारानी की वैष्णवी प्रवृत्ति से हरिद्वार में रहने का

सुयोग रत्नाकरजी को मिला। काशी निवास तथा मणिकर्णिका घाट के दृश्यों ने 'हरिश्चन्द्र', 'कल काशी' के सृजन की प्रेरणा दी। उनकी ब्रजभाषा टकसाली हो, कारक आदि चिह्नों का प्रयोग समुचित हो, इस दृष्टि से जहाँ भाषा शास्त्री ने ब्रज-निवास किया वहीं 'हिंडोला' और 'उद्धवशतक' के स्रष्टा के रूप में अपने भावों को व्यक्ति दी। माधुरी मुकुलित पर्यावरण, पुरातन संस्कार तथा आनन्द वाष्प पर्याकुलित नेत्रों का प्रभाव परिलक्षित हुआ।

भक्ति-युग के कवि अपनी बहुज्ञता के बल पर प्रत्येक वस्तु को सुस्पष्ट करने में कृत संकल्प रहे हैं। तुलसी ने अपनी 'कवितावली' में राम के 'विराट-उर' के बढ़ते हुए 'रावन-राजरोग' के लिए 'रसायनी समीर सूनु' द्वारा 'मृगाङ्क' सी महौषध तैयार करायी थी। रत्नाकर ने भी उद्धव द्वारा 'पारद' का विशुद्धीकरण तथा गंधक का समुचित प्रयोग कराकर 'कायनि की रुचिर रसायन रसीली' बनवा दी। यदि तुलसी अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत की प्रतिष्ठा करते हैं, यदि सूर अपने को पुष्टि मार्ग का अभिभावक सिद्ध करते हैं तो रत्नाकर जी पञ्चतत्व में एक सत्व की सत्य सत्ता का संदेश देते हुए अनन्त शक्ति सम्पन्न ईश्वर और माया के कारण उसकी अबोधगम्यता की ओर इंगित करते हैं :—

जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं,
जैसे सपने मैं अपने को लहिबौ करैं।

भक्ति-युग के प्राण तुलसी ने भक्त और ज्ञानी में जो अंतर दिखाया है उसकी स्पष्ट छाप रत्नाकर जी पर लगी है। उनका कथन है—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी, बालक सिसु सम दास अमानी।

और रत्नाकरजी के यहाँ बेचारे ज्ञान को भक्ति के समक्ष मुँह की खानी पड़ती है। उन कृष्ण सखा का, जिनको क्रिया विहीन ज्ञान पर (ज्ञानं भारः क्रियाम् विना) गर्व था, ज्ञान ध्यान सरक गया। तुलसी के—

नयनन्हि संत दरस नहिं देखा, लोचन मोर पङ्क कर लेखा।

और रत्नाकर की गोपियाँ बोल उठीं—

ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर पँखिया चहैं।

मूर्तियों में लगे कौड़ी के नेत्रों में कितना प्रकाश होता है और मोर पंख दृगाकार होते हुए भी दृष्टि नहीं रखते। गोपियों ने उद्धव से 'आँखें हैं या बटन' वाली उक्ति सार्थक की है।

संत कबीर ने हठयोग का प्रतिपादन किया है। 'कन कन पीसै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस' जैसा कथन किया है। रत्नाकर ने उद्धव को हठयोग सिद्धान्त प्रतिष्ठापक माना है। उन्होंने गोपियों को 'त्रिकुटी' में कृष्णचन्द्र के दर्शन पर बल दिया। किन्तु ब्रजाङ्गनाएँ जब उसे समग्र ब्रह्माण्ड में आँख फाड़ कर देखने पर भी नहीं पातीं तो आँख मूँदकर त्रिकुटी में उसे पाना असम्भव ही था।

भक्ति-युग में 'रसखान' ने प्रवासी कृष्ण को मुखपात्र बनाकर जो मातृभूमि-प्रेम प्रदर्शित किया है, उसे 'उद्धव शतक' के छंद ६, ७, ८, १० के कुछ अंशों से मिलाइये। रसखान लिखते हैं—

ग्वालन सँग जैबो अरु सेबौ सुगाइन संग,
हेरि तान गैबो हा हा नैन फरकत हैं।
ह्याँ के गज मोती माल वारौं गुंज मालन पै,
कुंज सुधि आये हाय प्रान धरकत हैं।
गोबर को गारो सु तौ मोहि लगै प्यारौ कहा
भयो महल सोने को जरत मरकत हैं।
मांदर ते ऊँचे यह मंदिर हैं द्वारिका के,
ब्रज के खिरक मेरे हिए खरकत हैं।

रत्नाकर की पंक्तियाँ सुनिये—

जमुना - कछारनि की रंग - रस - रारनि की,
विपिन - विहारनि की हौंस हुलसावती।

× × ×

कहत गुपाल माल मंजु मनि पुंजनि की,
गुंजनि की माल की मिसाल छवि छावै ना।

× × × ×

ऊधौ ब्रज-बास के बिलासनि को ध्यान धँस्यो,
निसि दिन काँटे लौं करेजे कसकत है।

× × × ×

गोकुल की रज के कनूका कौ तिनूका सम,
सम्पति त्रिलोक की विलोकन में आवै ना।

भक्त रसखान की भावना का आयाभ रत्नाकर की भाव-गहराई में समाहित है। सचमुच ही रत्नाकर के काव्य की आत्मा भक्ति काल की है। रसखान और रत्नाकर बहुव्रीहि समास से एक हैं अतः दोनों महाकवियों के मति-मुकुर में कृष्ण की स्थिति समभाव से प्रतिफलित हुई और प्रायः समानान्तर भावों का प्रस्फुटन हुआ। प्रातिभ-विवेक-वरिष्ठ रत्नाकर की तत्पुर प्रवेश प्रतिमता सम्बन्धी (यद्यपि ऐसा है नहीं) प्रयास भी कितना स्पृहणीय है !

रावण का ह्रास सुरों की भक्ति-भावना पर अवलम्बित था। अयोध्या कांड के प्रारम्भ में सुरों की शारदा के समक्ष की हुई मनुहार विस्मृति-पटी में विलीन हो गयी हो तो पढ़ लीजिए—

विपति हमारि विलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुर काजु॥

और रत्नाकर के यहाँ जब कृष्ण को राधा और ब्रजमण्डल की याद आयी तो—

आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुर पुर माँहि,
तथा— **सुर सुरराज सुद्ध स्वारथ सुभाव सने,**
संसय समाए धाए धाम विधि हर के।

फक्कड़ कबीर की दैन्य-दर्शना 'मोतिया कूता' से प्रकट है। सूर की अनन्य निष्ठा 'विषकीरा' में समाहित है। तुलसी की चातकी वृत्ति अथवा विनय पत्रिका में कहे गये ये शब्द स्मृतव्य हैं—

खोटो खरो रावरो हौं, रावरे सों झूठ क्यों कहौंगो,
जानों सबही के मन की।

ठीक ऐसा ही रत्नाकर की गोपियों का उद्घोष भी श्रवणीय है—

चेरी हैं न ऊधो काहू, ब्रह्म के बबा की हम
तथा— **हम जमराज की धरावती जमा न कछू**

× × ×

वै तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ,
हम उनहीं की उनहीं की उनहीं की हैं।

रत्नाकर के काव्य में मिलने वाली भक्तियुगीन भावना पर ऊपर विचार किया जा चुका है अब रीति काल का प्रभाव द्रष्टव्य है। शृंगार काल के कलाकार कवि थे और आचार्य भी। रत्नाकर की रचनाओं में श्रांगारिक प्रवृत्तियाँ झलझला उठीं हैं। वे शब्द शिल्पी थे, भाषाशास्त्री थे और थे काव्य की नाड़ी के सच्चे पारखी। 'बिहारी-रत्नाकर' 'सूर-सागर' का अधूरा संपादन, समालोचनादर्श आदि इसके पुष्ट प्रमाण हैं। बिहारी रत्नाकर तथा बिहारी पर लिखा हुआ स्वतंत्र प्रबन्ध उनकी चिन्तना-शक्ति, गहन अध्ययन एवं उनके अनुसंधाता की कर्मठ एवं धैर्य का परिचय देते हैं। समालोचनादर्श में आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट शक्ति-निपुणता तथा शिक्षा की ओर (पोप के ग्रंथ के अनुवाद से नितान्त अलग) संकेत किया गया है—

बिन प्रतिभा के लिखत तथा जाँचत विवेक बिन,
अहंकार सों भरे फिरत फूले नित निसि दिन।

× × × ×

सब्द अर्थ कौ ज्ञान न कछु राखत उर माहीं

× × × ×

जानत हू नहिं कहा अति व्याप्ति, अव्याप्ति, असंभव,
बनि बैठत साहित्यकार आचार्य स्वयंभव।

नीलकंठ दीक्षित के शब्द स्मरण हो आते हैं—

मत्वा पदः ग्रंथन मेव काव्यम्, मंदाः स्वयं तावति चेष्टमानाः।
मज्जन्ति बाला इव पाणिपादं प्रस्यन्द-मात्र प्लवनं विवन्तः॥

रत्नाकर जी केशव, बिहारी तथा घनानंद द्वारा निर्दिष्ट ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देने में विश्वास रखते हुए उस कार्य को पूर्ण करने में अनुरत रहे। इस प्रकार उसके रीति युगीन गुणों से समलंकृत होने में संदेह नहीं रह जाता। रीतिकाल चमत्कार एवं उक्ति वैचित्र्य के हेतु प्रसिद्ध रहा है। 'शृंगार लहरी' और उद्धवशतक' की भाव-व्यंजना के अनूठे ढंग मोहक हैं। अपने वीर रस परक अष्टकों में वे 'भूषण' के युग में रहते बताये गये हैं। लाल, बैताल, हरिकेश, सूदन तथा चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि रीति-युग में वीर रसोपेत काव्य-स्रष्टा थे। रत्नाकर जी शृंगार रस के प्रयोग में तो सफल रहे ही हैं, वीर रस में भी वे कृतविद्य माने जायँगे। रीति-काव्य की विरह वर्णना के अंतर्गत जिस अतिशयात्मकता के दर्शन होते हैं, वह रत्नाकर में भी हैं।

सूखि जात स्याही नेकु लेखनी को डंकु लागे

में बिहारी की विरहिणी का तप्त शरीर दीख पड़ा—

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह जरति बिललात,
बीचहि सूखि गुलाब गो, छींटो छुयो न गात।

देव कहते हैं—

सखियाँ ह्वै मेरी मोहि अँखियाँ न सींचतीं तौ,
वाही रतियाँ में जाती छतियाँ छ टूक ह्वै।

छाती के दो टूकों में वियोग-व्यथा नहीं अट पा रही थी तब चार टूक और बढ़ जाने की नौबत आ गयी। रत्नाकर ने कहा है—

टूक टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारो हाय, चूकि हू कठोर बैन-पाहन चलावौ ना,
एक मनमोहन तौ बसि कै उजार्‌यौ मोंहि, मन में अनेक मनमोहन बसावौ ना।

विरोधाभास, लाक्षणिकता तथा उक्ति वैचित्र्य एक साथ द्रष्टव्य हैं यहाँ। वियोग वैश्वानर विदग्धा ब्रजांगनाओं ने अपने ही अंगों में सभी ऋतुओं का समारोप कर दिया था। छंद ८७-९३ पठनीय हैं। यह प्रभाव रीतियुग का है। घनानंद ने विरह को गोपी-अंगों में फाग मचाते और चौपर खेलते देखा था—

घर ही घर चौचँद चाँचरि है, बहु भाँतिन रंग रचाय रह्यौ,
× × ×
घन आनन्द पै ब्रजगोरिनि कौ नख ते सिख लौं चरचाय रह्यौ।

ब्रजबालाओं की परिस्थिति (परिकल्पित पर अस्वाभाविक नहीं) का चित्र देखिए—

जीवन वियोगिनी को मेघ अँचयो सो किधौं,
उपच्यौ पच्यौ न उर ताप अधिकाने मैं।

और उधर देव 'पिसाचिनि प्राची' को वियोगिनी का 'लोहू' पीने वाला बताते हैं। पद्माकर की गोपियों के गोविन्द तो उनके हृदय में ही रहते हैं। वे बोल उठीं—

ऊधो ! वे गुविंद कोऊ और मथुरा मैं यहाँ,
मेरे तौ गुविंद मोहिं-मोहिं में रहत हैं।

रत्नाकर ने उसी प्रकार कहा है—

लै गये अक्रूर क्रूर तन तें छुड़ाय हाय,
ऊधौ तुम मन तें छुड़ावन पधारे हौ।

रीति काल की करामात अक्रूर क्रूर शब्दों में है। हमसे कृष्ण को दूर ले जाने वाले का नाम अक्रूर (राम ! राम !! कितना बड़ा अन्याय है यह) रखा गया है। व्यंग्य विरोध के प्रश्रय से विवक्षित है।

कृष्ण के प्रति गोपिकाओं की अनन्यासक्ति, भावुकता और उर्दू शायरों जैसी कथन की चुलबुलाहट यहाँ देखिए—

जैहैं प्रान - पट लै सरूप मनमोहन को,
ताते ब्रह्म रावरे अनूप को मिलैहैं हम,
जौ पै मिल्यौ तौ तौ धाइ चाय सौं मिलैंगी पर,
जौ न मिल्यौ तौ पुनि इहाँ ही दौरि ऐहैं हम।

'सजन' के संग 'नरक की धरक' बिहारी ने नहीं मानी है। प्रेम में स्वर्ग-नरक का प्रश्न उठता ही नहीं। प्रेमी प्रिय के निकट ही रहना चाहता है। शेक्सपियर की आलीविया वायला से कितने सुन्दर शब्दों में कहती है—

Well, come again tomorrow ; fare thee well :
A fiend like thee might bear my soul to hell

उर्दू का शेर लीजिए—

न जायँगे, जन्नत को भी न जायेंगे, अगर न होयगा नक़शा तुम्हारे घर का सा।

कला-काल की शृंगार-वर्णना और उर्दू की शायरी में बड़ा साम्य है। हिन्दी का रत्नाकर फारसी के 'ज़की' से पुरातन संस्कार की ही भाँति प्रभावित था। गोपियाँ उद्धव से 'तर्जे अंदाज' के द्वारा अपनी परिस्थिति कृष्ण के समक्ष रखने के हेतु उद्धव से अनुरोध करती हैं कि वे कृष्ण से कुछ न कहें वरन्

आह कै कराहि नैन नीर अवगाहि कछू,
कहिवे कौं चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ।

और इधर उर्दू के किसी शायर ने प्रेमी द्वारा क़ासिद से 'तर्ज़े-इनकार' की बाबत सवाल किया है। रूहानी तसकीन हो जायगी न—

तग़ाफ़ुल तो था उनको आने में क़ासिद,
मगर यह बता तर्जे इन्कार क्या था।

'हाँ ते भली नाहीं' तथा दिन में 'प्यास लगी कोऊ पानी दै जाइयो' वाले न[illegible] को तो पाठकों ने रीति युग में देखा है परन्तु गोपियों के इन शब्दों को उत्त[illegible] अश्लील कैसा शृंगार कहा जाय ?

सोच है यहै कै संग ताके रंग भौन माहिं,
कौन धौं अनोखो ढंग रचत निराटी हैं,

छाँटि देत कूबर कै आँटि देत डाँट कोऊ,
काटि देत खाट किधों पाटि देत माटी हैं।

यहाँ 'ताके संग रंग भौन माँहि' 'कूबर' और 'खाट' का सम्बन्ध कितना स्पष्ट है ! इस पर अधिक लिखना असंगत होगा। 'नंददास' ने

बदन त्रिभंगी आप हैं, बदन त्रिभंगी नारि।

कहकर सब कुछ कह दिया था। 'पद्माकर' ने इतना कहकर संतोष कर लिया कि

कूबरी के कूबर में बेध्यो है त्रिभंग,
ताको त्रिभंगीलाल कैसे सुरझाइ है !

यहाँ मुझे 'अर्थोगिराम्' अपिहित ही प्रतीत होते हैं। मरहट्टबधूकुचाभः का नाम ही नहीं है फिर 'गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढ़' का प्रश्न ही नहीं उठता है। बहुत साफ रत्नाकर जी ने लिखा है। 'आन्ध्री पयोधर इवातिरां प्रकाशः।' यह रीतिकाल का ही प्रभाव है। रीतिकाल का प्रभाव उनके नाम से ही स्पष्ट है। 'पद्माकर' के वजन पर 'रत्नाकर' नाम इस बात का द्योतक है। 'रहत सदाई हरियाई हिय घायनि में' जैसी पंक्तियों में रत्नाकर के उक्ति चमत्कार और अलंकरण ने बालारुण को शोणित युक्त खप्पर' बताने वाले के निकट पहुँचा दिया है।

रत्नाकर का काव्य अनेक अर्थ रत्नों एवम् सुवर्ण समूह से युक्त है। उसमें रीतिमात्र का ही पालन नहीं है—

तान्यर्थरत्नानि न संति येषां सुवर्ण संघे न च ये न पूर्णाः,
ते रीति मात्रेण दरिद्र कल्पा यान्ताश्वरत्वं हि कथं कवीनाम्।

आधुनिकता के इस युग में जहाँ आस्तिकता को सौ कोस से नमस्कार किया जा रहा है, रत्नाकर ने दूर के ढोलों को निकट लाकर भी बजा दिया है और वे पूर्ववत् सुहावने भासित हुए हैं। पुराण-प्रथित, इतिहास-विश्रुत कृष्ण हरिश्चन्द्र तथा गंगा से सम्बद्ध कथानकों को अपनाकर प्राचीनता का निर्भीक कवि ने उतारा नहीं है उसके बासी फूलों में भी भीनी भीनी सुगन्ध है जिससे साहित्योद्यान सदैव सुरभित रहेगा—निःसन्देह कवि की यह गर्वोक्ति स्वभावोक्ति है—सत्योक्ति है

कहति गिरा यों गुनि कमला उमा सौं चलौ,
भारत मही मैं पुनि मंजु छबि छाजैं हम।
राजैं जौ न नेंकु टेक जन-मन-रंजन की,
हरि हर बिधि की वृथा ही बाम बाजैं हम।
माख मानि बैठ्यो ऐंठि लाड़िलौ हमारौ ताकौ,
करि मनुहार सुधाधार उपराजैं हम।
साजैं सुख संपति के सकल समाज आज,
चलि रतनाकर कौं नेंसुक निवाजैं हम।

हिन्दी की नयी कविता

[डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल 'तरुण',
वल्लभ विद्यापीठ, वल्लभ नगर (गुजरात)]

हिन्दी की नयी कविता पर विचार करते ही जीवन और कला-साहित्य-सम्बन्धी नाना आदर्शों, विचारधाराओं, आन्दोलनों, धारणाओं, प्रवृत्तियों, शैलियों, रचना-रूपों आदि का एक अविराम और विचित्र द्वंद्व सामने आ खड़ा होता है। धार्मिक-नैतिक संयम-मर्यादा और साहित्य-शास्त्रीय अनुशासन के अतीत युगों में कला-सृजन और आलोचन में शायद ही कभी इतनी आकुलता-अस्थिरता रही हो ! इसका कारण संभवतः यह है कि पहले साहित्य क्षेत्र में भावक (आलोचक) और भावुक (कवि) प्रायः दोनों ही जीवन के व्यापक (धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक) विधि-निषेधों को शिरोधार्य करके चलते थे। वे विधि-निषेध अक्षुण्ण और विवादातीत से थे। यह स्थिति उनके जीवन में वह उद्वेग और अस्थैर्य उपस्थित नहीं होने देती थी जो आज विश्वव्यापी आर्थिक-राजनीतिक व सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के संघात के कारण, जन-जन के मन का लक्षण हो गया है। छायावाद युग को बीते (अपने सूक्ष्म रूप में वह अभी भी जीवित है, और जीवित रहेगा) अभी अधिक समय नहीं हुआ है। वह युग हिन्दी-कवि की वैचारिक-सांस्कृतिक क्रान्ति का युग था, किन्तु बाहरी तरंगाघातों के बहुत नीचे तल में शाश्वत आदर्शों की एक मञ्जुल शान्ति, शुभ्रता और पावनता निवास करती थी। शनैः-शनैः विश्व-जीवन में वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं जो नवयुग के कवि की जीवन-दृष्टि को आमूलचूल परिवर्तित होने से बचा न सकीं।

भौतिक विज्ञान ने तर्क और तथ्य को सर्वाधिक महत्त्व दिया। परिणाम स्वरूप यथार्थ के अत्यधिक आग्रह से जीवन की परंपरागत भावुकता-रसात्मकता सूख चली। अर्थशास्त्र के क्षेत्र के क्रान्तिकारी चिंतक मार्क्स ने अर्थ या द्रव्य को सामाजिक व्यवस्था का मूलाधार ठहराया। विज्ञान के क्षेत्र की प्रयोग-परीक्षण की पद्धति को अपनाने वाले दर्शन शास्त्र ने यथार्थवाद की महत्ता प्रतिपादित की। मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड ने मन के सभी स्तरों का सूक्ष्म विश्लेषण करके ऐसे-ऐसे आश्चर्यजनक तथ्य हमारे सामने रखे कि भक्ति, साधना, रहस्य और अध्यात्म का सारा प्रभा-मण्डल फीका-सा जान पड़ने लगा। धर्म के क्षेत्र का अधिकारवाद और गुरुडम अपनी अंतिम साँसें गिनने लगा। फ्रान्स की राज्य क्रान्ति ने साधारण मानव की महत्ता प्रतिष्ठित कर समानता, स्वतंत्रता और बंधुता के आदर्श प्रस्तुत किये। इससे व्यक्तिवाद को बल मिला; देवता, सम्राट्, मठाधीश और सत्ताधारी का सनातन गौरव क्षीण हो गया। अच्छा और बुरा, पाप

और पुण्य, उचित और अनुचित का निर्णय नीति ग्रंथों के लौह वाक्यों के आधार पर न होकर कर्ता के वास्तविक मन्तव्य और अभिप्राय के आधार पर होने लगा। ईश्वर, धर्म, ब्रह्मचर्य आदि विषयों की सर्वथा नयी व्याख्या की गयी। रूस में जारशाही का अन्त एक व्यापक जन-क्रान्ति के द्वारा किया गया। यह क्रान्ति सफल रही। इसने साहित्य को यथार्थवाद और राजनीति को साम्यवाद नामक वाद प्रदान किये। इस प्रकार विज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, राजनीति, धर्म आदि क्षेत्रों में हुए व्यापक आंदोलनों और उनके गुणात्मक परिणामों और उन परिणामों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं ने मानव-जीवन का समस्त ढाँचा बदल दिया। प्राचीन और नवीन की भिड़न्त हो गयी। प्रत्येक विचारवान् या भावुक के मन में एक सनातन द्वन्द्व खड़ा हो गया। आदर्श और यथार्थ टकरा गये, पूँजीवाद और साम्यवाद में लोहा बज उठा, व्यक्ति और समाज में खींचतान हो गयी, भौतिक और आध्यात्मिक में ठन गयी, पृथ्वी और आकाश का आमना-सामना हो गया, नैतिकता और स्वच्छंदता में तू-तू मैं-मैं हो गयी। साहित्य, काव्य और कला में आकर यही व्यापक संघर्ष विषय और शिल्प, उद्देश्य और निरुद्देश्य, उपयोगिता और अनुपयोगिता, कला, कला के लिए या कला जीवन के लिए आदि का अविराम संघर्ष हो उठा।

हिन्दी की नयी कविता का जन्म ऐसे आँधी-पानी के बीच हुआ।

'नयी कविता' से तात्पर्य किस कविता से है? 'नयी कविता' से हमारा तात्पर्य उस समस्त काव्य-समष्टि से है जो उक्त वातावरण में उत्पन्न हुई और बड़ी हुई है। इसमें छायावाद के बाद रची जाने वाली सारी कविता सम्मिलित है। यदि उसमें कई फिरके हैं, तो सुविधानुसार उसे प्रगतिवादी (अब सामाजिक यथार्थवादी) या प्रयोगशील (इस खेमे के लोग शायद 'प्रयोगवादी' न कह कर 'प्रयोगशील' कहना ही पसंद करते हैं) कह देना उचित होगा। केवल प्रयोगशील कविता के लिए 'नयी कविता' संज्ञा देना गलत रूढ़ि है। यह ठेकेदारी शोभनीय नहीं। द्विवेदी युग के अंत में छायावादी कविता नयी कविता थी। छायावाद के अंत में प्रगतिशील कविता नयी कविता थी। भविष्य में जो कविता होगी वह नयी कविता होगी। अतः 'नयी कविता' शब्द का प्रयोग केवल प्रयोगशील कविता के ही लिए करना दृष्टि-संकोच है।

कविता के बारे में हम विचार करने जा रहे हैं, पर यह भी तो जरा देख लें कि बेचारी उस अनादि मर्म-मधुरा कोमला की आज क्या दशा है! विज्ञान के इस इति-वृतात्मक युग में कविता की आवश्यकता के संबंध में ही संदेह किया जाने लगा है। श्री सी० डे० लेविस (C. Day Lewis) ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'A Hope for Poetry' में ठीक ही कहा है कि तुमुल नादवाले नारों, राष्ट्रीय गीतों, अखबारों की हेड लाइनों, व्यस्त जीवन में मतलब की नपी-तुली बातों, लाउड स्पीकरों, घोषणापत्रों, (manifestos) मर्केट-व्यापार, पागल खाने की गपशप और ऊँचे-ऊँचे आदर्शों के बीच बेचारी कविता अपनी बात सुनाने की क्या आशा रख सकती है! पर खैर, इतना

निराश होने की अभी कोई आवश्यकता भी नहीं। आचार्य शुक्ल, पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, मैथ्यू-आर्नल्ड और स्वयं लेविस साहब जैसे, काव्य के अस्तित्व और उसके महान् भविष्य के बारे में आश्वस्त और आशावान पंडितों की धारणा से हमारे मन में भी आशा का पूर्ण संचार होता है।

छायावाद काल के पश्चात् रची जाने वाली कविता को हम मोटे तौर से ३ भागों में बाँट सकते हैं—(१) प्रगतिवादी कविता (२) प्रयोगवादी या प्रयोगशील कविता, और (३) स्वच्छन्दतावादी कविता (जिसमें छायावाद के तत्त्वों का आधिक्य अथवा अतिरेक है और जिसकी स्निग्ध-क्षीण धारा अब भी दिखायी दे जाती है)। प्रगतिवादी कविता के भी दो मुख्य रूप दिखायी पड़ते हैं—(१) जीवन की अन्तर्बाह्य सहज स्वस्थ सर्वांगीण प्रगति को लेकर चलनेवाली कविता, और (२) एक विशेष राजनीतिक सामाजिक विचार-धारा से प्रेरित-पोषित होकर चलनेवाली कविता। व्यक्ति और समाज की पारस्परिक व्याख्या से मूलतः प्रेरित होने के कारण व्यंग्य, विनोद, वक्रोक्ति के तत्त्व भी इनमें, मुख्यतः दूसरी में, यत्र-तत्र दिखायी पड़ते हैं। इसी प्रकार प्रयोगवादी या प्रयोगशील कविता के भी दो मुख्य रूप दिखायी पड़ते हैं—(१) सृजन-चेतना की स्फूर्ति और ताजगी का परिचय अथवा आश्वासन देने वाली सजग-प्रयत्नशील कविता जो व्यंजना की नयी-नयी व रमणीय शैलियों का आविष्कार करती है तथा छंद और भाषा का, सैकड़ों प्रकार से जाँच-परख करके, मार्मिक अभिव्यंजना की दृष्टि से प्रयोग करती है, और (२) वह कविता जिसमें मनमाने ढंग पर, उच्छृंखल रूप में, प्रयोगों का मिथ्या अभिनय करके आँख में सरासर धूल डालकर कवि होने का अभद्र प्रदर्शन किया जाता है। स्वच्छंदतावादी कविता के संबंध में ऊपर संकेत किया ही जा चुका है।

कुछ विशिष्ट अथवा स्वस्थ (वादमुक्त) अपवादों को छोड़कर आज हिन्दी में जो रचना हो रही है वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रगतिवादी या प्रयोगवादी विचार-धारा से अनुप्राणित है। काव्य क्षेत्र में ये दोनों दल इस समय बहुत सक्रिय हैं; कुछ विशिष्ट कवि अपने-अपने क्षेत्रों की विचारधारा अथवा काव्य शैली का बड़े होसले के साथ नेतृत्व-प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। यह भी स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि रस, छंद, अलंकार, प्रकृति-निरूपण, कल्पना आदि विशिष्ट काव्यांगों को लेकर नहीं, किन्तु इन सब का शासन-नियंत्रण करने वाली उक्त दोनों प्रकार के काव्यों की आधारभूत विचारधारा ही आज काव्य संबंधी व्यापक विग्रह या संघर्ष का कारण हो गयी है।

प्रगतिवादी काव्य का मुख्य आधार सामाजिक यथार्थवाद है जो यथार्थवाद के अनेक भेदों (प्राकृतवाद, अस्तित्ववाद, नग्नवाद, व्यक्तिवाद, यथार्थवाद आदि) में से एक है। हिन्दी में प्रगतिवादी कविता अपने आरंभिक चरण में बड़ी उग्र थी, किन्तु हर्ष की बात है कि शनैः-शनैः उसकी गति सौम्य और सुस्थिर होती गयी। इस बात का प्रमाण हमें प्रगतिवाद के उन कतिपय समर्थ समीक्षकों की सुचिन्तित धारणाओं से मिलता है जिनके चिन्तन का स्वस्थ लचीलापन उनकी नेकनियती में हमारा भरोसा

बँधाता है। डॉ० रामविलास के ये वाक्य द्रष्टव्य हैं—"यथार्थ चित्रण और कल्पना—इन दोनों में भी परस्पर विरोध नहीं है।" × × × "यथार्थवाद को सीमित अर्थ में लेना अनुचित है। उसमें सामाजिक समस्याओं के चित्रण के अलावा प्रकृति-चित्रण भी हो सकता है; संघर्ष के चित्रण के अलावा प्रेम के मुक्तक भी लिखे जा सकते हैं। मनुष्य के सौंदर्य बोध में जो परिवर्तन होते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में यथार्थ चित्रण से असम्बद्ध होते हुए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते।" × × × "साहित्य का विकास दो परस्पर सम्बद्ध स्तरों पर होता है। एक विश्व-प्रतीति का स्तर, सामाजिक जीवन के हमारे ज्ञान का स्तर, और दूसरा है, भाव-जगत् इन्द्रियबोध, हमारे सौंदर्यबोध का स्तर। इनमें संतुलन का कायम रखना आवश्यक होता है। इस सन्तुलन को भुलाकर न तो उच्च कोटि का साहित्य रचा जा सकता है, न यथार्थवाद का सही विवेचन किया जा सकता है।" एक अन्य स्थान पर श्री 'अनन्त' जी डॉ० धर्मवीर भारती की नयी कविता (प्रयोगवादी) संबंधी इस कथन का समर्थन-सा करते दिखायी पड़ते हैं—"वास्तव में नयी कविता प्रथम बार समस्त जीवन को व्यक्ति या समाज इस प्रकार के तंग विभाजनों के आधार पर न मानकर मूल्यों की सापेक्ष स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रही है।"[१] प्रगतिवाद के वरिष्ठ उन्नायक श्री शिवदान सिंह चौहान प्रयोगवाद की अर्जना को स्वीकार करते हुए कहते हैं—"साथ ही यह बात नहीं कि प्रयोगवादी आन्दोलन से कोई लाभ नहीं हुआ। अतः प्रयोगवादी कवियों ने भावी साहित्यिकों को नयी राह दिखाकर उपयोगी कार्य किया है।"[२] अस्तु, इन उद्धरणों के द्वारा मैं केवल यह बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि प्रगतिवादी विवेचकों में जहाँ साम्प्रदायिक (?) जोश-खरोश है वहाँ नेकनियती से सम्पन्न साहित्यिक दृष्टि भी पूरी-पूरी है। अतः उनके प्रतिपक्षी प्रयोगवाद की खामियों के संबंध में उनकी बात पर गौर करना भी साहित्य के व्यापक हित की दृष्टि से मुनासिब है।

प्रयोगवादी कविता और उनकी जीवन दृष्टि के प्रति प्रगतिवादियों के मन में बड़ा उग्र विरोध और क्षोभ है। संक्षेप में वह मोटे रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है—प्रगतिवादी समीक्षक प्रयोगवादी कविता को पूँजीवादी, साम्राज्यवादी, उपनिवेश-वादी मनोवृत्तियों की उपज मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रयोगशील कवि ह्रासोन्मुख और प्रतिगामी है; क्योंकि वह बूर्जुआ पूँजीवादी मनोवृत्ति के अनिवार्य लक्षण शोषण, भोग, संग्रह, आलस्य, प्रमाद आदि की सड़ी-गली उपज है। इस कविता में निराशा, रुदन, घुटन, उदासी, बेचैनी का प्राधान्य है। जिस मानव का और मानव-मन का इसमें निरूपण होता है वह समाज और उसके जीवन से सर्वथा निरपेक्ष होता है। चेतना की विभिन्न तहों का निरूपण करने के बहाने इसमें मन की अतृप्त वासना,

---

१ उक्त उद्धरण 'समालोचक' के 'यथार्थवाद विशेषांक' से लिये गये हैं।

२ सप्तसिंधु (अक्तूबर, १९५९) पृ० ७६।

कुंठा, सड़ान, उमस, कुत्सा और अश्लीलता का नग्न नृत्य होता है। अश्लील और भदेस को वह सुन्दर के रूप में प्रस्तुत करती है। उसमें सनकी, बहके, अर्धविक्षिप्त, प्रमादी, रोगी व आत्महत्याभिलाषी कवियों की-सी जीर्ण और विषण्ण अभिव्यक्ति अधिक है। वह सामाजिक दायित्व से सर्वथा पराङ्मुख है और वह पाठकों के लिए साधारणतया अंगीकृत नहीं होती।

प्रगतिवादी कविता अपना उद्देश्य स्पष्ट चाहती है। वह समाज और समाज के परिपार्श्व में आये हुए मानव और प्रकृति को ही अपना मुख्य विषय बनाना चाहती है। वह मानव और उसके जीवन के प्रति सजग आस्था और पुरुषोचित जीवनोत्साह धारण करने का पाठ पढ़ाती है और सिखाती है कि आँख खोलकर जगत् और जीवन की परिस्थितियों से जूझकर, श्रम और संघर्ष द्वारा अपनी समस्त शक्तियों और क्षमताओं को व्यायाम देकर संसार को व्यवस्थित, और अन्तर्मन को स्वस्थ, प्रफुल्लित और स्फूर्तिवान् बनाने में ही जीवन का सच्चा मजा है। बाह्य अथवा व्यावहारिक जीवन से तटस्थ, उदासीन या पराङ्मुख होकर केवल भीतरी धूमचौकड़ी मचाना ही कविता नहीं। कवि को जीवन का आलोचक अथवा व्याख्याता होना चाहिए। इस दृष्टि से उसे संसार के बहुसंख्यक पीड़ित वर्ग के रोग, शोक, अभाव-चिन्ता, कष्ट-क्रन्दन, हास-रुदन, आशा-आकांक्षा, हर्ष-विषाद, उत्सव-आमोद आदि का उत्साह पूर्वक भावपूर्ण चित्रण करना चाहिए। यथावसर उसे सरकार, समाज के शत्रु और प्रतिगामी शक्तियों के प्रति घृणा और आक्रोश व्यक्त करके समाज और विश्व में समता और शान्ति की स्थापना का सक्रिय प्रयत्न करना चाहिए। संक्षेप में, प्रगतिवादी कविता पृथ्वी पर श्रम और सामाजिक न्याय के आधार पर वर्गहीन समाज और नवीन मानव-संस्कृति की स्थापना का साहित्य के माध्यम से बौद्धिक और भावात्मक प्रयत्न कर रही है।

अब प्रयोगवादी या प्रयोगशील कविता की जीवन-दृष्टि और उसके स्टैंड पर विचार करना चाहिए। यह कविता नवीन और व्यापक युग-परिस्थितियों में ढले आधुनिक युग—मानस का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने का दावा करती-सी दिखायी पड़ती है। 'नयी कविता' के उत्साही प्रवक्ता श्री धर्मवीर भारती ने अपने एक वक्तव्य में ('धर्मयुग' ४ अक्टूबर'५९) उक्त कविता की गतिविधि और उसकी अर्जना का सूत्र रूप में समाहार करते हुए लिखा है—"नयी कविता हमारे युग के **सम्पूर्ण मानव को** प्रतिबिंबित करती है, उसकी अन्वेषण प्रवृत्ति, उसका बौद्धिक आग्रह, उसका संकट और **उस संकट में आस्था का उदय भी**। चूंकि वह **वास्तविकता को ऊपरी स्तर से न ग्रहण कर उसकी तह तक उतरकर** उसके जटिलतम संदर्भों में आत्मसात् करने का प्रयास करती है इसीलिए उसमें पूर्व निर्देशित अनुमान, संकेत, प्रयोग और साहसिक अभियान तत्व प्रमुख रूप से मिलते हैं।" उक्त कथन में निहित तथ्य सामान्यतः स्वीकृत किया जा सकता है, पर विशिष्ट स्थलों में निहित मन्तव्यों का खस्ता-करारा उत्तर 'भारती' जी प्रगतिवाद के समीक्षकों से शायद पाये बिना न रहेंगे। केवल "बौद्धिक आग्रह" की बात

कहकर ('भावना' शब्द पुराने फैशन का है !) तो भारती जी मानों कविता की मूल प्रकृति को ही बदल डालने का हौसला रखते हैं ! जहाँ तक अनुमान और संकेत का प्रश्न है, वह कविता की अभिव्यक्ति-पद्धति के सर्वथा अनुरूप है; ध्वनि शास्त्र उसका समर्थन करता है। प्रयोग सही आशय के साथ और सही रूप में अवश्य स्वीकार्य्य होने चाहिए। साहित्य, काव्य और कला-जगत् के सब श्रेष्ठ और युगान्तरकारी प्रयत्न साहसिक अभियान के ही परिणाम हैं, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं।

जो भी हो, उक्त दोनों जीवन दृष्टियों और तज्जन्य काव्य-स्वरूपों में कड़ा विरोध और मौलिक मतभेद है। भारती जी लिखते हैं—"लेकिन एक बिन्दु पर आकर यह समझौता टूट गया और दोनों की राहें अलग हो गयीं।" क्यों ?

उधर, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद पर कुछ गंभीर आरोप लगाता है जो संक्षेप में सामान्यतः यों परिगणित किये जा सकते हैं—प्रगतिवादी कविता में नारेबाजी अधिक है; वह मानव और समाज को खण्डों में बाँटती है; उसमें मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है; वह सतही है; वह केवल एक राजनीतिक वाद (साम्यवाद) से अनुप्राणित है; उसमें काव्य के शैली-शिल्प की महीनता, बारीकी और सुगुम्फन नहीं; उसमें नवमानव के प्रसवकाल की मार्मिक अनुभूति और वेदना नहीं; उसमें कला की सूक्ष्मता—सुकुमारता नहीं; आदि आदि।

'भारती' जी नयी 'कविता' में ही अन्तर्बाह्य जीवन का मधुर और तृप्तिकारी रूप पाते हैं। नयी कविता की उपलब्धि को वे एक नये अध्यात्म के धरातल पर पहुँची हुई मानकर बड़े आश्वस्त स्वर से कहते हैं—"उसने (नयी कविता ने) धीरे-धीरे इस समस्त तीव्र संसरण के बीच में मानव-मन में गहरे उतर कर एक शान्त अविचल चेतना का बिन्दु खोजा, जहाँ निजी और सामूहिक नियति एक हो जाती है—जहाँ क्षण में अनन्त-काल प्रसुप्त रहता है, जहाँ मनुष्य जीवन के स्थिति खण्डों और काल खण्डों को भरपूर जीते हुए भी सम्पूर्ण का साक्षात्कार रहता है।" उक्त लेखक की दृष्टि में अभी बहुत ही कम लोग (स्वयं नयी कविता के भारतीय-विदेशी पक्षकार भी नहीं) नयी कविता के वास्तविक मर्म को समझ पाये हैं ! प्रायः सभी ने भ्रान्तिपूर्ण और एकांगी समझ का परिचय दिया है।

यह है नयी कविता (हमारे व्यापक अर्थों में) के सम्बन्ध में आरोप-प्रत्यारोप ! वह सरला जिसका जन्म आदि मानव के सहज सुख-दुःख की मर्म-मधुर घड़ियों में हुआ था, आज वाद और तर्क के सघन कान्तार के काँटों में अपना रेशमी आँचल उलझाये मुक्ति के लिए छटपटा रही है।

तो हिन्दी की नयी कविता का स्वरूप क्या है? और क्या हो—ये प्रश्न विचारणीय हैं। क्या है, उसके आधार पर (बिना किसी कवि विशेष का नामांकन किये) ऊपर बताया गया है। उसे देखकर इतना अवश्य कहा जायगा कि संक्रान्ति-कालीन कविता में चेतना की बड़ी प्राणमयी चटचटाती चिनगारियाँ हैं : अडिग अथवा कम लचीले

प्रामाणिक विद्वान् भले ही कविता में गतिरोध की शिकायत करें। भौगोलिक-जगत्, भाव-जगत्, विचार-जगत् और विज्ञान्-जगत् में आज कितना ऊहापोह है! उसमें वैसी ही कविता उत्पन्न हो सकती है जैसी कि आँखों के आगे है। धारा का पानी कितना वेगवान् है, गँदला अवश्य है, किन्तु झड़ी भी तो कैसी मूसलाधार रही है। आश्विन् लगते-लगते पानी शुभ्र नील हो जायगा, कूड़ा-कबाड़ भी बेतहाशा बह रहा है, पर लहरें सब ठीक कर देंगी। निश्चित ही युग के कतिपय कवियों ने नवमानव के प्रसव की व्यथा, युग की आग, उमस, घुटन, विवशता, व्यथा, आकांक्षा, विडम्बना को सशक्त वाणी दी है और उस वाणी के ओज, माधुर्य व प्राणवत्ता को स्वीकार न करना अपनी जड़ता का ढिंढोरा पीटने के समान होगा।

उपर्युक्त दोनों काव्य-धाराओं में विरोध दिखायी पड़ता है, किन्तु वह ऊपरी है। जीवन की चरम वास्तविकता दोनों को मिलाकर रहेगी, क्योंकि सनातन मन की माँग एक ही है। मानव वाणी की बहती धारा को तलवार से दो भागों में बाँटकर अधिक समय तक नहीं रखा जा सकता। मानव-मुक्ति के लिए कविता के जिम्मे जो काम सौंप दिया गया है वह उसे करना है।

कविता को मानव की पूर्ण, परिपक्व व रसमयी वाणी बनना है। स्वस्थ-स्वच्छ, प्रबुद्ध, प्राणवान् व सरस-मधुर व्यक्ति की तरह कवियों को कविता का व्यक्तित्व भी सर्वांगपूर्ण बनाना है। इसके लिए काव्य का कथ्य, विषय या सामग्री प्राणपोषक तत्वों से परिपूर्ण रखनी होगी। कल्पना केवल हवाई न होकर जगत् और जीवन के तथ्यों के क्षेत्र में स्वच्छंद विचरण करती हुई काव्य को रमणीय बनाने में योग-दान करेगी। बौद्धिकता के नाम पर काव्य को नीरस और गद्यात्मक बनाना काव्य के मूल स्वरूप से अनभिज्ञता का परिचायक होगा। स्वच्छ बुद्धि का प्रयोग काव्य के कलापक्ष के पुष्ट विन्यास और स्वस्थ और सुसंगत कल्पना-विधान में ही प्रदर्शित करना होगा, न कि काव्य-क्षेत्र को निर्जीव तथ्यों का पुलिन्दा मात्र बनाने में। अत्यधिक वैयक्तिकता के नाम पर ऐसी बेहूदी, भौंड़ी, बेतरतीब, वरहिट या अल्ल-जल्ल, जिसको कवि दंभ-दुराग्रह के साथ अपनी आत्मा के साँचे में से उपजी कोई अत्यन्त विलक्षण, नवीन व मौलिक कृति सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयत्न करे, कविता नहीं समझी जायगी, क्योंकि मुख या लेखनी से, सनक, बहक या प्रमाद में जो भी कुछ झर पड़े, फिसल पड़े या चू पड़े, वह सब कविता की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। सामान्य लोक-हृदय को काव्य की प्रामाणिकता या मार्मिकता का निकर्ष मानना होगा। ऊँची बौद्धिकता का दावा करने वाला कवि इस मामले में यह कहकर मुक्ति नहीं पा सकेगा कि मैं तो अत्यन्त आत्म-लीन क्षणों में ऐसी रचना कर गुजरा हूँ, अब यदि वह किसी के पल्ले न पड़े, तो मैं क्या इलाज करूँ! ऐसा कहना अपनी रचना का मानव मन की शाश्वत निधि अथवा विश्व संस्कृति के कोष में समाविष्ट हो सकने की सम्भावना का आत्मावरोध होगा।

मनोविज्ञान की समस्त सूक्ष्मताएँ और अतल गहराइयाँ कविता में स्वीकार्य होंगी, पर उनके आवरण में केवल सुषुप्त, अचेतन या अवचेतन मन की मेक-अप की हुई सड़ाँद या कलुष-कालिमा का लास नहीं होगा। केवल भाषा और छंद-सम्बन्धी प्रयोग मात्र, (जो कवि कर्म का अंश मात्र है—महत्त्वपूर्ण अवश्य।) चाहे वह कितना ही सूक्ष्म व कौशलपूर्ण क्यों न हो, काव्य नहीं समझा जायगा; उसका अतिरेक छिछोरापन या बाल-कौतुक ही समझा जायगा। काव्य का जाग्रत जीवन और संसार से भी घनिष्ठ संबंध रहेगा। स्वस्थ व स्फूर्तिपूर्ण बहिर्जीवन के अभाव में अन्तर्जीवन निष्प्राण, लूला और दीन है। मानव, जीवन, समाज और विश्व की अन्तर्बाह्य पूर्णता कवि का दायित्व है और इस दायित्व के पूर्ण निर्वाह से पूर्व कवि की मुक्ति नहीं।

मानव मन की असीम संभावनाओं के आकाश के नीचे और यथार्थ की ठोस भूमि पर खड़े रह कर आज के कवि को अपनी दिशा निश्चित करके पगडंडी पकड़नी है। आज कवि-कर्म कितना कठिन है। और अब मानव की चन्द्रलोक की यात्रा सामने है। अज्ञात और अनन्त के न जाने कितने और क्या-क्या रहस्य अभी उद्‌घाटित होने हैं। उनके उद्‌घाटन के साथ-साथ कविता की वस्तु और शैली में न जाने कितनी क्रान्तियाँ अभी आनी हैं! क्या नयी कविता का स्वरूप बन चुका? विश्व की न जाने कितनी अनागत परिस्थितियाँ, घटनाएँ, तथ्य, उसके स्वरूप-निर्माण की तैयारी में बैठे हैं।

हिन्दी-कवि का मार्ग कितना अनन्त और बीहड़ है, पर प्रभात की पुरवैया उसके अंगों को भी गुदगुदा रही है।

छायावाद, या प्रगतिवाद या प्रयोगवाद या और जो कोई भी वाद हो—देखें कौन इस मानवी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करता है—

'पूर्ण हो मनका चेतन राज' (कामायनी)

छायावाद की काव्य-साधना

[श्री सत्यनारायण त्रिपाठी एम्० ए०, हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय]

इतिहास—छायावाद अपनी पूर्व प्रचलित श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि की स्वच्छन्दतावादी कविताओं की स्वाभाविक परिणति है। इसीलिए बहुत से आलोचकों ने इसे ऐतिहासिक दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी कविताओं का दूसरा उत्थान माना है। यह प्रवृत्ति वैसे द्विवेदी-युग में ही परिलक्षित होती है और आज भी डॉक्टर रामकुमार वर्मा के नूतन काव्य 'एकलव्य' जैसी कृतियों में जीवित है। किन्तु प्रमुख रूप से इसकी साधना सन् १९१५ से १९३६ तक हुई। छायावाद के निर्दिष्ट रूप के अध्ययन का प्रथम प्रयास जबलपुर से निकलने वाली 'श्री शारदा' में छपे हुए १९२० के श्री मुकुटधर पांडेय की 'हिन्दी में छायावाद' नाम की लेख माला का है। छायावादी काव्य नितांत अभिनव प्रतीत होने के कारण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर आज तक के आलोचकों के बीच काफी विवाद का विषय रहा है। और आलोचना-प्रत्यालोचना के रूप में इसका काफी मंथन हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी तथा डॉक्टर नगेन्द्र आदि आलोचकों के अतिरिक्त पंत, प्रसाद, निराला प्रभृति छायावादी कवियों ने भी विशिष्ट व्याख्याओं के आधार पर इस काव्य की दिशाओं को निर्दिष्ट किया है। किन्तु 'कल्पना के ये विह्वल बाल' किसी निश्चित परिभाषा में नहीं बँध सके हैं। क्योंकि इनकी मूल वृत्ति एकता में अनेकता और अनेकता में एकता की है। यही कारण है कि डॉक्टर नामवर सिंह के लिए "छायावाद विविध यहाँ तक परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली काव्य-प्रवृत्तियों का सामूहिक नाम है।"

व्याख्या—छायावाद संबंधी तमाम व्याख्याओं के विश्लेषण से कुल तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक, अस्पष्टता, रहस्यमयता, सूक्ष्मता, लाक्षणिकता आदि के रूप में 'छाया' शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं जिससे छायावाद का निश्चित बोध नहीं हो पाता है। दूसरे, व्याख्या की दृष्टि के विन्दु विशेष पर केन्द्रित होने से आंशिक सत्य ही सामने आता है और पूर्ण सत्य अव्यक्त रह जाता है। तीसरे, छायावाद आधुनिक हिन्दी काव्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है जिसके लिए समय-समय पर छायावाद, रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म), स्वच्छन्दतावाद (रोमैन्टिसिज्म), प्रकृतवाद (नेचुरलिज्म) गीतिकाव्य (लिरिक्स) आदि नाम सुझाये गये हैं जो अर्थ की दृष्टि से एक दूसरे से काफी भिन्न हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि इतनी तमाम विशिष्टताओं के समन्वित रूप को छायावाद मानने से उन व्यापक सत्यों, सर्वमान्य भावों और समूची प्रवृत्तियों का बोध हो जाता है जिन्हें छायावाद कहते हैं।

प्रवृत्तियाँ—छायावादी काव्य की कुल तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं—रहस्यमयता, स्वच्छन्दता और स्वानुभूति मूलक गीतिमत्ता। सबसे अधिक विवाद रहस्यवृत्ति को लेकर रहा है। छायावादी रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद के काफी समीप होते हुए भी मूलतः उससे भिन्न है। वैसे यह भी भारतीय अद्वैतवाद की ही तरह समस्त जड़-चेतन में एक ही व्यापक चेतना का आरोप करता है और महादेवी जी के अनुसार इसका मूल दर्शन सर्ववाद अथवा सर्वात्मवाद है किन्तु छायावादी रहस्योक्तियाँ कवि के विस्मय विमुग्ध मन की जिज्ञासायें हैं, अध्यात्म दर्शन नहीं। रहस्यानुभूति बौद्धिक है न कि स्वानुभूति मूलक, और आधार धार्मिक आस्था नहीं अपितु आध्यांतरिक साधना है। अतः छायावाद की रहस्य भावना परोक्ष रूप से भारतीय दर्शन से प्रभावित होते हुए भी मूलतः भारतीय रहस्यवाद से भिन्न है। स्वच्छन्दता की अभिव्यक्ति तीन ढंग से हुई है—विषयगत, दृष्टिगत और कलागत। प्रथम रूप में विषय के स्थान पर विषयि और वस्तु की स्थूलता के स्थान पर भाव की सूक्ष्मता का ग्रहण हुआ है। छायावाद के कवि ने पौराणिक अथवा ऐतिहासिक वस्तु की जगह व्यक्तिगत सुख-दुख की स्वानुभूति लेकर सीधे अपने काव्य का विषय निर्धारित किया। प्रसाद के 'आँसू' की असीम वेदना, पंत के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' के संस्मरण, निराला के 'सरोज-स्मृति' के शोकोद्गार और महादेवी की प्रत्येक साँस का इतिहास एकदम निजी है। दूसरा रूप सामाजिक रूढ़ियों, पारिवारिक सीमाओं और धार्मिक संकीर्णताओं के प्रति 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' की भावना का है। 'एक कर दे पृथ्वी आकाश' की आकांक्षा और क्षितिज या परदे के उस पार के जानने की जिज्ञासा असीम आत्म-प्रसार की लालसा है। कला के क्षेत्र में पिछली समूची रीतिबद्ध मान्यताएं तोड़ कर स्वच्छन्द भावुकता, उन्मुक्त कल्पना और स्वतंत्र-रूप विधान की व्यवस्था कलागत स्वच्छन्दता का परिणाम है। स्वानुभूति मूलक गीतिमत्ता की अभिव्यक्ति, संगीतात्मकता, आत्माभिव्यंजना और अतिशय भाव-संकलन के रूप में हुई।

प्रेरणाएं—छायावाद के उदय और विकास के पीछे पाँच प्रमुख प्रेरणाएँ रही हैं। अँगरेजी का रोमांटिक काव्य, रवीन्द्र युग का बंगला काव्य, भारतीय काव्य-साधना, द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया और तत्कालीन युग-चेतना। वैसे भिन्न-भिन्न वर्ग के आलोचकों ने इनमें से किसी एक को ही छायावाद के उदय का कारण माना है किन्तु सच बात तो यह है कि इस काव्य को सँवारने में इन तमाम प्रेरणाओं ने समन्वित रूप से काम किया है। छायावाद के इतने अध्ययन और मनन के बाद आज तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह काव्य अपने युग की देन है। धार्मिक संकीर्णताओं की घुटन, सामाजिक अभावों के दर्शन, आर्थिक संकटों की ऊब और राष्ट्रीयता से संवलित सामूहिक जन-चेतना के क्रोड़ में इस काव्य का उदय हुआ है, और इन तमाम प्रेरणाओं से शक्ति ग्रहण कर विकसित हुआ है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कलात्मक दृष्टि सूक्ष्म होने के नाते युग स्पष्ट नहीं हो पाता है, किन्तु उसके प्रकृत रूप की झलक इसके छाया-चित्रों में भी काफी साफ है।

अनुभूति—काव्य में जिस भाव निरूपण और रसनिष्पत्ति की चर्चा की जाती है, छायावाद उसका कायल नहीं। छायावाद संबंधी इस प्रकार के अध्ययन प्रायः परंपरा-पोषण मात्र हैं। कामायनी की काव्य-कोटि क्या है ? इसका उत्तर तो हिन्दी का अपना काव्य-शास्त्र ही दे सकता है जो भविष्य की चीज है किन्तु इतना निश्चित है कि उसमें रसपरिपाक विधिवत् नहीं हुआ है। यह बात चिंता, आशा, लज्जा आदि सर्गों के नाम से ही स्पष्ट हो जाती है। वे तो केवल अनुभूति मात्र हैं। हाँ, यह अवश्य है कि भावनाओं के बिम्ब इतने पूरे उतरे हैं कि उनमें रसदशा का भ्रम हो उठता है। फिर अन्य छायावादी कविताएं तो निस्सन्देह केवल अनुभूति के उद्गार हैं। भावना के क्षेत्र में रस और भाव को छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को पकड़ कर साकार करना सचमुच इन कवियों का बड़ा भारी साहस है। वैसे तो करुणा, हास, उन्माद, निर्वेद, आश्चर्य, हर्ष, उत्सुकता आदि सभी प्रकार की अनुभूतियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। किन्तु छायावाद की आत्मा, रति की अनुभूति है। प्रेम की बहुरंगी अभिव्यक्ति जहाँ एक ओर जीवन के जाने-अनजाने विभिन्न मर्मों को स्पर्श करती है वहाँ दूसरी ओर रति के अनेक अछूते और नूतन स्तरों का उद्घाटन भी करती है। पंत जी ने अनंग में प्रेम की सूक्ष्म स्निग्धता और तरलता प्रस्तुत की तो प्रसाद जी ने कामायनी में काम के माध्यम से प्रेम का व्यापक रूप सामने रक्खा। काम आत्मा की पुकार, जीवन की प्रेरणा और आनन्दोपलब्धि का प्रमुख साधन है। काम की यह व्यापकता वस्तुतः प्रेम की ही व्यापकता है। निराला के काव्य में प्रेम के स्वच्छन्द और प्रगल्भ रूप के दर्शन होते हैं। इस तरह छायावाद ने कविता को द्विवेदी युगीन 'पत्रों के मर्मर संगीत' (नीरसता) और रीति कालीन 'पुष्पों के रस-पराग' (रसिकता) की दो अतियों से तो उबारा ही, साथ ही आज के व्यावसायिक जीवन की अतिव्यस्तता के बीच नीरस हुए मानव सम्बन्धों को सरस भी किया।

रहस्यमयता—इस प्रेम की अभिव्यक्ति चार रूपों में हुई है—रहस्य प्रेम, मानव (विशेषतः नारी) प्रेम, प्रकृति-प्रेम और राष्ट्र-प्रेम। रहस्यानुभूति का आलम्बन अज्ञात अथवा परोक्ष सत्ता है जो विराट और अस्पष्ट है। किन्तु वह 'प्रिय' विश्वात्मा है और उसका रूप सार्वभौम है। महादेवी के 'असीम प्रियतम' पंत के 'अनजान छविमान' प्रसाद के 'अनन्त रमणीय' एवं निराला के 'नाद-वेद-आकार-सार' इसी परोक्ष सत्ता के पर्याय हैं। साधना का स्वरूप बौद्धिक है। जिसमें भावना का स्थान सरल जिज्ञासा, सहज कुतूहल और विस्मय-विमुग्धता ले लेती है। इस प्रेम में मिलन के स्थान पर झलक मात्र मिलती है और वह भी विस्मृति या मदहोशी में। साधना का लक्ष्य मिलन अन्य आनन्द नहीं अपितु विरह उद्भूत वेदना है। पंत का 'उच्छ्वास' गीला गान है और साधना आँखों से उमड़ी है। प्रसाद की असीम वेदना 'आँसू' के स्वरों में गरजती है। महादेवी का तो सब कुछ पीड़ामय है—"तुमको पीड़ा में ढूँढा,तुम में ढूँढूँगी पीड़ा" इस रहस्यानुभूति की सबसे अधिक निवृत्ति महादेवी और रामकुमार वर्मा के काव्य में हुई है।

मानवता—छायावादी कवियों ने मानवी के साथ मानव की भी प्रतिष्ठा की। 'सबकी तिल सुषमा से निर्मित, होने के नाते मानव तिलोत्तम और 'निखिल सृष्टि में चिर-निरुपम' है। स्वाभिमान, स्वच्छन्दता, कर्मठता, उदारता, सहृदयता तो है ही, साथ ही उसमें सबसे बड़ी बात मानवपन की है। वह मनु, राम, तुलसी, गाँधी, मार्क्स, अरविन्द, टैगोर आदि विभिन्न रूपों में युग मानव है। इस महामानव ने सबसे बड़ा काम नारी को मुक्त करने का किया। छायावादी रति की क्रोड़ में कामायनी एवं रत्नावली जैसी महामानवी का उदय हुआ। नारी ऐश्वर्यमयी और सुन्दरतामयी के साथ स्नेहमयी और कल्याणी हुई। वह मध्य युगीन वासना-कूप से निकल कर देवि, सहचरि, प्राण, हो गयी। कहने का अभिप्राय यह है कि इन कवियों ने अपने प्रेम के अमृत स्पर्श से नारी के सुन्दर में शिवं की स्थापना कर उसे परम उदात्त रूप दिया। किन्तु वह नायिका भेद से उबर कर भी प्रेयसी ही रह गयी। उसके पत्नी, माँ, बहन, कन्या आदि के रूप नहीं उभर पाये। नारी भोग्या से पूज्या बन सकी इतनी उपलब्धि कुछ कम नहीं।

प्रकृति—छायावाद की सबसे बड़ी उपलब्धि प्रकृति सम्बन्धी है। उसने युगों की जड़ प्रकृति से प्रेम का नाता जोड़ा। उसकी जड़ काया में चेतना के प्राण फूंके। प्रकृति की माया में उलझने वाले पंत की छाया, सखी, निराला की जूही की कली और प्रसाद की कामायनी वाली रजनी इसी प्रेम की सृष्टि है। प्रकृति मानव की माँ, सखी, सहचरी और प्रेयसी हो उठी। कवियों ने जहाँ एक ओर अपनी स्वतंत्रता एवं स्वच्छन्दता से प्रेरित होकर उसे प्राचीन परिपाटी और दृष्टि से मुक्ति दी वहाँ दूसरी ओर महत्त्व भी प्रदान किया। ओस, किरण, बादल, उषा, संध्या, आदि के सौन्दर्य का स्वतंत्र रूप से मोल आँका। कवि को प्रथम बार प्रकृति की विराटता का बोध हुआ। प्रसाद की 'विश्व सुन्दरी',महादेवी की 'प्रिय माँ' इसी विराटता की सहज स्वीकृति हैं। प्रकृति का अभिनव शृंगार कर इन कवियों ने न जाने उसके कितने नये रूपों का उद्‌घाटन किया। 'विहंगम सा बैठा गिरिवर, सुहाता था विशाल अम्बर' अथवा 'पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश' जैसे पंत जी के पार्वतीय दृश्यों के चित्र अन्यत्र दुर्लभ हैं। इसके अतिरिक्त वर्ण, ध्वनि, गंध आदि विविध ऐन्द्रिय बोध जगाने वाले अनेक चित्र भी छायावादी कवियों के अपने निजी हैं। प्रकृति के प्रति प्रेम की इस नूतन दृष्टि ने उसकी प्राचीन दृष्टि को नितांत अभिनव सज्जा प्रदान की। अप्रस्तुत विधान में इन कवियों ने आकार साम्य की अपेक्षा प्रभाव साम्य पर अधिक बल दिया। यह विधान कभी अनुभूति पर और कभी कल्पना पर आधारित है। इस प्रकार छायावादी कवि ने प्रकृति के जाने-पहचाने सौन्दर्य को एकदम अभिनव रीति से सँवारा है और अनेक नये दृश्यों का उद्‌घाटन कर अपने सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, नूतन सौन्दर्य बोध और उदार प्रेम का परिचय दिया है। किन्तु कहीं-कहीं अतिशय भावातिरेक के फलस्वरूप कवि का मन प्रकृति के वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य को भूलकर कल्पना का कौतुक भी करने लगा है।

राष्ट्र-प्रेम—राष्ट्र-प्रेम की व्यंजना कई रूपों में हुई है। निराला की 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताओं में पुनर्जागरण या पुनरुत्थान की भावना है। प्रसाद के नायकों के कई गीतों में यही उद्‌बोधन है। प्रसाद की 'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण', निराला का 'छत्रपति शिवाजी का पत्र' जैसी कविताओं में जातीय भावना और आत्म-गौरव जगाया गया है। इस प्रेम का दूसरा रूप राष्ट्र-प्रेम या देश-प्रेम का है। प्रसाद और पंत के 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तथा 'भारत-माता ग्राम वासिनी' जैसे उद्‌गार उदात्त देश प्रेम के निदर्शन हैं। प्रसाद जी में भारतीय संस्कृति का प्रेम है तो निराला में वर्तमान अवस्था के प्रति क्षोभ। निराला वर्तमान सामाजिक अनैतिकता, आर्थिक निर्धनता और धार्मिक अंधता से मुक्ति चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने भिखारी, विधवा, किसान आदि के माध्यम से वर्तमान का यथार्थपरक विश्लेषण कर आमूल परिवर्त्तन के लिए विप्लव के बादल का आह्वान किया है। प्रसाद जी का 'हिमाद्रि-तुंग-श्रृंग' वाला प्रयाण गान ऐसी क्रान्ति का अभियान है। अस्तु, छायावाद पर राष्ट्रीयता विषयक उदासीनता का आरोप कुछ अधिक समीचीन नहीं क्योंकि छायावादी कवियों में राष्ट्र-प्रेम कुछ कम नहीं। हाँ राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति अपने ढंग से होने के नाते छायात्मक अवश्य हो गयी है।

कल्पना—छायावादी कवि के लिए कल्पना एक अमोघ शक्ति है। उसका जो कुछ भी जैसा है वह कल्पना की ही देन है। वह बुद्धि, से उद्‌भूत नहीं, भावावेग से निस्सृत है उसकी विशिष्टता है वह पुरानी अप्रस्तुत विधानी स्थूल कल्पना से भिन्न एक अन्तरदृष्टि, जो एक ओर जीवन के सत्य को पकड़ती है और दूसरी ओर व्यक्त करती है। यही कारण है कि इन कवियों ने कल्पना को बड़ा महत्त्व दिया है और संसार को महान् एवं उदात्त वस्तुओं को कल्पना कहा है। प्रसाद के लिए हिमालय विश्व कल्पना है तो पंत के लिए बादल 'त्रिभुवन की कल्पना महान्'। उनके लिए कल्पना ही काव्य है। पंत का काव्य "कल्पना का विह्वल बाल" है तो निराला की कविता 'कल्पना के कानन की रानी।' प्रसाद जी ने तो स्वतंत्र रूप से कल्पना पर कविता लिख कर उसके महत्त्व को स्वीकार किया है। इसलिए कल्पना ने भी छायावाद के लिए कुछ उठा नहीं रक्खा। उसने मानव हृदय को खोल कर रख दिया; उसकी प्रकृति और नारी को सँवार कर नया रूप प्रदान किया। अपने संस्पर्श से प्रकृति के जड़-सौन्दर्य को चेतना प्रदान की। पीड़ित वर्तमान के बीच मधुर स्वप्न लोक रचा। उसने अतीत की सुनहरी झाँकी अपने हाथों सजायी और भविष्यत् के स्वर्ग की रूपरेखा प्रस्तुत की। विश्वजनीन भावना और सार्वभौम मंगल-भावना का विकास कल्पना का परिणाम ही है। उसने छायावाद की मुस्कान को विस्तार दिया और वेदना की गहराई। कहने का अभिप्राय यह है कि कल्पना वस्तुतः वह शक्ति थी जिससे छायावादी कवि ने एक ओर सब कुछ देखा और दूसरी ओर सब कुछ रचा।

शैली एवं अलंकृति—छायावाद की शैली अभिव्यंजना प्रधान लाक्षणिक गीति शैली है जो 'स्व' की अभिव्यक्ति के लिए वाणी की सुसंगत सहज अलंकृति स्वीकार करती है। पंत जी का विचार है—"अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए, आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं, पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं।" इस आधार पर अध्ययन करने पर पता लगता है कि अलंकृति के सम्बन्ध में छायावाद की प्रमुख तीन मान्यताएं हैं—भावसंगति भाषान्विति और चित्रोपमता। अतः अलंकारों की योजना परम्परा और रूढ़ियों से हट कर नूतन सौंदर्य चेतना के अनुसार हुई है। इस अलंकार विधान की सफलता अभिव्यक्ति की सार्थकता, भावना की अनुरूपता और सांकेतिक विम्ब ग्रहण की है। सारा प्रयोग दो पद्धतियों पर है–भारतीय और पाश्चात्य। भारतीय अलंकारों में उल्लेख, स्मरण, संदेह, उत्प्रेक्षा, आदि सभी मौजूद हैं। किन्तु विशेष प्रिय अलंकार उपमा और रूपक हैं। औपम्य विधान का आधार रूपसाम्य, धर्मसाम्य, कार्यसाम्य के अतिरिक्त प्रभावसाम्य विशेष रूप से है। औपम्य-कल्पना में विविधता, नवीनता, कोमलता, और विराटता है। महादेवी वर्मा जब लिखती हैं—

अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब काँपता।

तो इसी विराटता के दर्शन होते हैं। उपमाएँ कुल चार प्रकार की हैं—मूर्त्त के लिए मूर्त्त—जैसे, बादल के लिए हंस, जंबाल-जाल इत्यादि—पंत, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त—जैसे बादल के लिए संशय, अपयश, लालसा—पंत, अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त—जैसे छाया के लिए विस्मय, तुतलामय, मादकता आदि—पंत और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त जैसे छाया के लिए वातहता विच्छिन्नलता, व्रजवनिता आदि—पंत। रूपकों में सबसे अधिक ध्यान आभ्यन्तर प्रभाव साम्य पर है। चाँदनी (शीतलता) उषा (उल्लास) बसंत (यौवन) आदि प्रतीक लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक हैं। रहस्यात्मक प्रतीकों में सांकेतिकता एवं विराटता दोनों हैं। पाश्चात्य अलंकारों में मानवीकरण और विशेषण विपर्यय प्रमुख हैं। बृद्ध अनुभव, सिसकता गान, सुरीला हाथ, आदि विशेषण विपर्यय के दृष्टांतों में अद्भुत वाणी विदग्धता के दर्शन होते हैं। इस तरह छायावादी कवि ने पुराने अलंकारों को नयी चमक दी है। नवीन अलंकरण सामग्री की उद्भावना भी की है।

भाषा—कला के क्षेत्र में सबसे बड़ी समस्या भाषा की थी। छायावादी कवियों ने बड़ी सतर्कता के साथ भाषा को नवीन भावों की अभिव्यक्ति के योग्य बनाने के लिए चेष्टा की। भाषा की क्षमता अभिवृद्धि और समृद्धि के लिए देश-विदेश से शब्दों का आयात हुआ। भाषा के निर्माण में सबसे बड़ा हाथ संस्कृत का है। शब्द-माधुर्य और पद-लालित्य के लिए बँगला पदावली का ग्रहण हुआ। पंत के 'गंध विधुर

समीरण' 'नीप-निकुंज' और प्रसाद के 'मंदिर माधव', माधवी कुंज, और इंदीवर जैसे शब्द बँगला के हैं। यह प्रवृत्ति सबसे अधिक निराला में है। यद्यपि प्रारम्भ में ब्रज भाषा से विरोध था किन्तु आगे चलकर जब मनमुटाव कम हुआ तो 'अजान' एवं 'अनजान' रूप से ब्रज माधुरी के 'घूम धँआरे काजर कारे बिकरारे बादर' छायावाद के अजिर में भी यदा-कदा बरसने लगे। फिर तो छायावाद की भाषा 'हौले-हौले' लोक-भाषा के 'घोरे' भी आ गयी। इसके अतिरिक्त नादान 'परवीना पैंजो' इत्यादि विदेशी शब्दों का ग्रहण भी हुआ। किन्तु बहुत कम। इस प्रकार का शब्द ग्रहण विभिन्न भाषाओं से पहले भी हुआ है किन्तु छायावादी काव्य ने पूर्णतः पचाकर आत्मसात् कर लिया है। इसकी भाषा अपनी चीज हो गयी है। उसके शब्दों का निजी व्यक्तित्व है। उनमें नयी शक्ति, नयी अर्थवत्ता और नयी व्यंजना है। इतना करने पर भी जब पूरा परता नहीं पड़ा और भाव-प्रकाशन की पूरी व्यवस्था नहीं हो सकी तो इन कवियों ने स्वप्निल, पांशुल, स्वर्णिम जैसे नये शब्द ढाले और स्वर और लय के तकाजे पर व्याकरण की परवाह न कर प्रियाह्लाद की प्रिया आह्लाद तथा मरुदाकाश की मरुताकाश संधि की। और अँग्रेजी पदों के रूपान्तर किये—स्वर्गीय प्रकाश (हेवेनली लाइट), अजान (इनोसेन्ट) आदि। इन तमाम शब्दों का प्रयोग अर्थ विवेक तथा ध्वनि बोध के आधार पर हुआ है और शब्द गुम्फन श्रुति-माधुरी के सहारे। इस तरह लाक्षणिकता, चित्रोपमता, सांकेतिकता, गीतिमत्ता आदि छायावादी भाषा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। किन्तु वाक्य विन्यास सम्बन्धी दूरान्वय, न्यूनपदत्व, क्रिया-हीनता आदि त्रुटियों के कारण कहीं-कहीं भाषा अस्पष्ट हो गयी है।

छन्द—छायावाद की आत्मा है गीतिमत्ता। इसी गीतिमयता ने छन्दों को अपने लय और स्वर के अनुसार ढाला है। आधुनिक काव्य में छायावाद से पूर्व फारसी के बहर, संस्कृत के वर्णवृत्त और मध्ययुग के कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि को लेकर काव्य प्रयोग हुए किन्तु वे हिन्दी के संस्कार के अनुकूल न होने के कारण प्रयोग मात्र ही रह गये। ऐसी स्थिति में छायावाद ने भारतेन्दु, चौधरी प्रेमघन और श्रीधर पाठक द्वारा चलाये लोकछन्द—लावनी, आल्हा, कनरवा आदि के सहारे अपने नूतन छन्दों का निर्माण किया। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी के तीस-इकतीस मात्रा वाले छन्दों की सृष्टि आल्हा और लावनी के ही आधार पर हुई है। रोला, रूपमाला, सखी, राधिका, पीयूषवर्षण, अरिल्ल आदि मध्ययुगीन छन्दों के सहारे भी बहुत सी कवितायें लिखी गयीं। पंत के 'उच्छ्वास' में रोला तथा प्रसाद के 'आंसू' मे सखी छन्द का आधार लिया गया है। गीत का उत्कृष्ट रूप भी छायावाद में उपलब्ध होता है। प्रसाद के नाटकों के गीत, निराला की गीतिका और महादेवी के गीत मध्ययुग की पद शैली के चरम विकास हैं। छायावाद के छन्द-विधान की सबसे बड़ी उपलब्धि मुक्त छन्द की है जिसके प्रवर्तन का श्रेय निराला को है। यह छन्द के बाहरी बंधन तुक आदि से स्वतंत्र होता है, इसलिए मुक्त है और आंतरिक बंधन—लय को स्वीकार करता है,

इसलिए छन्द है। इस छन्द की विशिष्टता भावानुरूपता की है। निराला के मुक्त छन्दों की आधार शिला घनाक्षरी है। इन छन्दों के अलावा छायावाद में अंग्रेजी के ओड्स, सॉनेट और एलिजी के प्रयोग भी मिलते हैं।

उपलब्धि और सीमाएँ—छायावाद की मूल प्रवृत्ति विद्रोहात्मक स्वच्छन्दता की है। उसने कविता के साथ जीवन को भी परंपरागत रूढ़ियों से स्वतंत्र किया। एक ओर उसने नर और नारी के बीच स्वच्छन्द प्रेम की व्यवस्था की तो दूसरी ओर उसके आत्मप्रसार की आकांक्षा ने मानव और प्रकृति की विराट चेतना में रागात्मक संबंध स्थापित किया। स्वच्छन्दता के प्रसार से उसने अतिशय नियमन के बंधन ढीले किये। छायावाद की असीम कल्पना ने अतीत को साकार कर हमारी देश-भक्ति और राष्ट्रीय चेतना को जगाया। अपनी नूतन भावना के उन्मेष के उपयुक्त उसने अभिव्यक्ति की नयी प्रणालियाँ आविष्कृत कीं। छायावाद ने अपनी स्वानुभूतिमूलक भावुकता, सृजनात्मक कल्पना, व्यापक प्रेम और लाक्षणिक अभिव्यंजना प्रणाली से हिन्दी कविता के स्तर को काफी उन्नत किया। इन सबके अतिरिक्त उसमें आत्मानुभूति, अनन्त सौन्दर्य, सार्वभौम मंगल भावना, विश्व जनीन मानव-प्रेम और शाश्वत हर्ष-विषाद आदि स्थायी कविता के तत्व हैं। छायावाद की यह सिद्धि सभी कवियों की सामूहिक साधना का फल है। पंत ने अपने शिल्प सौन्दर्य से छायावाद की वाणी को परिष्कृत किया। निराला अभिव्यक्ति के लिए नयी-नयी राहों के अन्वेषी रहे। महादेवी ने उसकी गीतिमत्ता के सरगम को साधा और प्रसाद जी ने समूची उपलब्धि के समन्वित रूप को साकार किया। इन तमाम उपलब्धियों के बावजूद छायावाद की कुछ अपनी सीमाएँ भी हैं। वह एकदेशीय है। उसके परिमित परिवेश में जीवन का सारा विस्तार नहीं आ सका है। फलतः उसमें जीवन्त तत्व बहुत कम हैं। वह अतिशय वैयक्तिक होने के कारण व्यापक जन जीवन से कटी-कटी सी है। काल्पनिक अतिरंजना के फलस्वरूप वह जीवन की वास्तविकता से दूर और वायवी है। शैली में लाक्षणिकता और राग में भावुकता की अतिशयता के साथ उसमें विचार और रागगत असामंजस्य भी है। इस तरह डॉ० देवराज के शब्दों में "भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से छायावाद का विकास एकांगी हुआ।"

हिन्दी गीति-काव्य : स्वरूप एवं विकास

[श्री तपेश कुमार चतुर्वेदी, दयालबाग, आगरा]

गीत क्या है ?—हृदय का मार्मिक पुलक जब मुखरित होता है तभी गीतों का आविर्भाव होता है। गीत, काव्य का अति माधुर्यपूर्ण अंग है। आत्मगत् मधुर भावनाओं के संगीतात्मक प्रस्फुटन का नाम ही गीत है। संगीत को गीत का पूरक तथा अपरिहार्य अंग माना जाता है। कारण यह है कि गीत, छन्द एवं संगीत से बँधा हुआ चलता है। संगीत समन्वित उद्‌गारों के प्रकाशन को ही हम काव्य कह सकते हैं; और इस प्रकाशन एवं आत्मानुभूति की सरल, सूक्ष्म तथा तीव्र गतियों की अन्तर भावात्मक सुकुमारता और सुषमा के मधुर सामंजस्य को ही गीत कहते हैं।

गीतोद्‌भावना के अपेक्षित तत्त्व—गीत का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से है। सरल आत्माभिव्यक्ति ही इसे अनुप्राणित करती है। गीतिकार अपनी भावनाओं के प्रकाशनार्थ, अलंकारों में उलझने का प्रयास नहीं करता; उसके तीव्र भाव सहज रूप से वाह्य जगत् से साक्षात्कार करते हैं। उन्हें किसी भाँति की सजावट अथवा बनावट की आवश्यकता नहीं होती।

अलंकरण से मुक्त, सहज एवं सूक्ष्म भावों का उद्वेलन, अन्तर से तीव्र उद्‌बोधन और उसका संगीत से योग गीतों के लिए अनिवार्य है। संगीत गीतों की शक्ति है, उसका प्राण है। हृद्‌तंत्री के तारों में स्पन्दन उत्पन्न कर देने की क्षमता केवल संगीत में ही है। अन्तरतम की कोमल भावनाओं को तन्द्रिल कर देने में ही गीत की संगीतात्मकता की चरम परिणति है।

गीतों के लिए लघु होना अति आवश्यक है। लघुता से तात्पर्य यह नहीं है कि इस गुण का समावेश करने में भावाभिव्यक्ति के वेगपूर्ण प्रवाह को बाँध दिया जावे। लघुता अपेक्षित होती है, गाने के कारण। साथ ही साथ प्रभाव एवं सूच्य शक्ति के प्रति भी ध्यान रखना अनिवार्य है। पदों के गेय होने के लिए यह पहली आवश्यकता है कि वह छोटा हो। छोटे होने से केवल यही अर्थ नहीं है कि पद में पंक्तियाँ कम हों, इसका अर्थ यह भी है कि शब्दों का प्रयोग इस प्रकार का हो कि साँस लेने में सुविधा हो। लम्बे-लम्बे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी के साथ यह भी कह देना जरूरी है कि गीतों में अति कोमल शब्दों का प्रयोग होना अनिवार्य है।

परुष शब्द गीतों की गीतात्मकता को बड़ी ठेस पहुँचाते हैं। कोमल पदावली कर्णप्रिय होने के अतिरिक्त मानव की रागानुभूति को स्पर्श करती है, उद्वेलित करती है और उसमें अतीव मधुरिमा का संचार करती है। केवल कोमल शब्दावली के प्रयोग से ही गीत की उत्पत्ति नहीं हो जाती; उसके लिए कोमल तथा मधुर भावों का होना भी अत्यावश्यक है। यदि भाव कर्कश अथवा कठोर हुए तो भी गीतों का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतएव भाव-स्वरूप एवं भावाभिव्यंजना का मधुर सामंजस्य ही गीतोत्पादन है।

गीतों की एक बड़ी विशेषता समभाव-प्रदर्शन भी है। गीत में भाव की एकरसता रहती है। आरम्भ में जो भाव होता है वही अन्त तक रहता है। इस समभावीय प्रदर्शन की तीन गतियाँ होती हैं—प्रारम्भ-गति, तुमुल गति, अवसान-गति। प्रारम्भ-गति में गीतिकार अपनी मूल भावना का परिचय देता है अपने भावों का प्रसार करता है। इस अवस्था में भावोद्रेक अधिक गहरा अथवा तीव्र नहीं होता। केवल परिचयात्मक अवस्था में ही, यह अपेक्षित तुमुल-गति का जन्म दाता है। इस गति में कवि की भावना प्रपात की प्रचंड लहरों की भाँति हृदय से निकल कर बड़े वेग से बहने लगती है। यही वह अवस्था है जब कि गीत के विशुद्ध रूप की अवतारणा होती है। इसी अवस्था के अन्तर्गत गीतिकार की प्रत्येक चेष्टा, प्रवृत्ति, भावना अपने विकसित रूप में हमारे सामने आती है। वह अपनी भाव-प्रवणता के वशीभूत होकर अपने स्वच्छन्द उद्गारों को, स्वतंत्र रूप से बहने का सामर्थ्य प्रदान कर देता है। गीतिकार की भावनाओं के इस अतिरेक में तीन गुण अनिवार्य हैं—अबाधता, तीव्रता तथा गूढ़ता। इस प्रशस्त, उन्मुक्त एवं उद्वेलित भावोन्मीलन के उपरान्त वह दशा आती है जब कि कवि की भावनाएँ पुनः अपने सहज रूप में बहने लगती हैं। इन तीनों गतियों को यदि एक झरने की तीन गतियाँ कहा जाय तो असंगत न होगा। झरना पहाड़ी से जिस समय निकलता है उसमें तीव्रता अवश्य होती है; परन्तु उतनी गड़गड़ाहट, उतनी उथल-पुथल और उतनी प्रबलता नहीं होती जितनी की धरती से मिलने की द्वितीयावस्था में। अपनी अवसान गति में झरना पुनः अपने मधुर प्रवाह को प्राप्त कर लेता है। हृदय से भावों का प्रस्फुटन अति उद्रेकपूर्ण गति से होता है, प्रवाह की तीव्रता अपने चरम तक पहुँचकर अति सहज एवं सरल गति से अपने लक्ष्य में लय हो जाती है।

बाबू श्यामसुन्दर दास के मतानुसार "गीति-काव्य में कवि अपनी अन्तरात्मा में प्रवेश करता है और वाह्य जगत् को अपने अन्तःकरण में ले जाकर उसे अपने भावों से रंजित करता है। आत्माभिव्यंजना-सम्बन्धी कविता गीति काव्य में ही छोटे-छोटे गेय-पदों में मधुर भावनापन्न, आत्म निवेदन से युक्त स्वाभाविक भी जान पड़ती है। उसमें शब्द की साधना के साथ-साथ स्वर (संगीत) की भी साधना होती है। भावना सुकोमल होती है और एक-एक पद में पूर्ण होकर समाप्त हो जाती है। कवि उसमें अपने अन्तर्तम को स्पष्टतया दृष्टव्य कर देता है।" इस मत के अनुसार भी हम

इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीत भावावेश के साथ-साथ संगीतात्मकता को लिये हुए चलता है; आत्माभिव्यक्ति के कोमल शरीर को सूक्ष्मता के झीने परदे से ढके रहता है। इसी मत को श्रीमती महादेवी वर्मा भी अपने शब्दों में व्यक्त करती हुई कहती हैं कि "सुख-दुख के भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।.....गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है, इसमें सन्देह नहीं।" इनके कथन में विशेष रूप से चार बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम तो यह कि अभिव्यक्ति 'विशेष' शब्दों में हो, द्वितीय कि शब्द गिने-चुने हों, तृतीय कि चित्रण संगीतात्मक हो और चतुर्थ यह कि अभिव्यक्ति वैयक्तिक भावनाओं को ही हो; अन्य के अन्तःकरण की अवस्था सम्बन्धी नहीं। विशेष शब्दों से अभिप्राय यह है कि शब्द कोमल, मधुर तथा प्रसंगानुकूल हों। गिने-चुने शब्दों से मतलब यह है कि भावाभिव्यक्ति कम से कम शब्दों में ही की जावे। यों भी कह सकते हैं कि गीत संक्षिप्त हों जिनमें शब्दों का चयन सहज एवं सुव्यवस्थित रूप में हो।

'गीति' में सुकुमार एवं हृदय स्पर्शिनी भावनाओं की अभिव्यंजना होने के नाते उसमें कोमल रसों का ही प्रयोग अपेक्षित है। 'गीति' के लिए शृंगार, वात्सल्य तथा शान्त रस ही उपयुक्त हैं। शृंगार रस के दो पक्ष होते हैं—संयोग और विप्रलम्भ। 'गीति' के लिए संयोग की अपेक्षा विप्रलम्भ अधिक उपयुक्त है। इसका कारण है विप्रलम्भ-दशा का गीति रूप में हृदय पर प्रभाव। यह तो सर्वमान्य है कि करुणा मानव हृदय में सहानुभूति का संचार करने में सफल रहती है; और इसीलिए गीति-काव्य के लिए शृंगार का विप्रलम्भ पक्ष ही अधिक उपयोगी माना जाता है। वीर रस में भी कुछ गीति-काव्य लिखा गया है। परन्तु उसमें 'गीति' की मधुरिमा का अभाव होता है। कारण है कोमल शब्द के स्थान पर परुष शब्दों का प्रयोग।

सारांश में कहा जा सकता है कि गीति-काव्य काव्य का वह प्रमुख अंग है जिसमें कवि की मधुर भावनाओं की अभिव्यक्ति और उसकी अनुभूतियों की अभिव्यंजना, कोमल, सरस शब्दों द्वारा एक सीमा बाँधती हुई चलती है। वस्तुतः गीति-काव्य की विशेषताएँ हैं—संगीतात्मक आत्माभिव्यक्ति; अन्तर्जगत् का सहज प्रकाशन; संक्षिप्तता; कोमल शब्दों का चयन; सुकुमार एवम् सरल भाषा द्वारा भावस्वरूप एवम् भावाभिव्यंजना का मधुर समन्वय; एक रसता-जिसकी तीन स्पष्ट गतियाँ हों—प्रारम्भ, तुमुल, अवसान, शृंगार, वात्सल्य और शान्त रसों का प्रयोग; और गीतात्मा का मानव हृदय पर सीधा प्रभाव।

गीति-काव्य का विकास—गीति-काव्य का आविर्भाव कोई दस-बीस या पचास वर्ष पुरानी घटना नहीं है; उसका आविर्भाव वेदों के साथ-साथ ही हुआ है। वेद अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ हैं जो संगीतात्मक एवं भावात्मक मंत्रों से ओत-प्रोत हैं। वेदों में विशेष रूप से ऋग्वेद में, ऋचाएँ मिलती हैं जो भावों का मधुर भाण्डार जान

पड़ती हैं। इन ऋचाओं में उषा पर लिखी गयी ऋचाएँ विशेषतः गीतिमय हैं इनमें 'यजन गौरव', 'मान' आदि के लिए प्रार्थना की गयी है। कल्पना, भावादि का अलौकिक दर्शन करवाया गया है। सामवेद में भी हम अनेक सुन्दर और मधुर गीतों का समावेश पाते हैं। ये गीत वे मंत्र हैं जो यज्ञादि के शुभ अवसरों पर गाये जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि गीतिकाव्य की धारा सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक साहित्य के चौरस मैदान में बहकर अनेक संकीर्ण गुहाओं को पार करती हुई अपने उस युग की ओर बढ़ी जिसे हम गीतिकाव्य का स्वर्ण युग कहते हैं।

वेदों की गीतात्मक ऋचाओं के पश्चात् हम उस युग में आते हैं जब, महर्षि बाल्मीकि के समय के उपरान्त, गीतों में काव्योचित भावों के स्थान पर—संगीत प्रमुख माना जाने लगा। आगे चलने पर केवल नाटकों में ही यत्र-तत्र गीतों की रचना को महत्त्व दिया गया; और वह भी केवल गाकर उन्हें अधिक रोचक बनाने के हेतु।

धीरे-धीरे संस्कृत के स्थान पर प्राकृत भाषा प्रयुक्त की जाने लगी। यही वह भाषा है जिसमें पहली बार लोकगीतों का जन्म हुआ था। आगे चलकर हिन्दी गीति काव्य का सृजन इसी आधारशिला पर हुआ। प्राकृत भाषा लोक भाषा बन चुकी थी। यह इतनी प्रिय तथा प्रभावशालिनी भाषा थी कि संस्कृत के नाटकों में भी उसी में गीत लिखे गये। इन नाटकों में मुख्य ये हैं—मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय।

जब धीरे धीरे प्राकृत भाषा साहित्यिक भाषा का रूप पाने लगी तब अपभ्रंश ने लोक भाषा की गद्दी सँभाली। अपभ्रंश का साहित्य बौद्ध धर्म के अनुयायी सिद्धों तथा जैन आचार्यों ने ही दिया; परन्तु जहाँ तक गीतिकाव्य का प्रश्न है, योगमार्गी सिद्ध अपना विशेष महत्त्व रखते हैं।

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक एक 'नाथ पन्थ' प्रचलित रहा। हिन्दी साहित्य में सन्त सम्प्रदाय का आविर्भाव इसी नाथ पन्थ द्वारा हुआ। इस सन्त सम्प्रदाय ने गीतिकाव्य में एक नूतन रस का संचार किया। अब तक स्वतंत्र गीति काव्य की रचना नहीं हुई थी। बारहवीं शताब्दी में जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' रच कर हिन्दी साहित्य में एक अजीब लहर उत्पन्न कर दी। इनके 'गीत-गोविन्द' में ऐसे गीतों का सृजन हुआ जिनमें अतीव मधुरता, सुकुमारता, लालित्य तथा कोमल- भावनाओं की अभिव्यंजना एक अनोखे रूप से हुई। इन गीतों का हिन्दी गीति-काव्य के उन्नायकों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे गीतों के रचने में तन्मय से हो गये। इनमें प्रमुख नाम विद्यापति का है।

काल-विभाजन : आदि काल—हिन्दी गीति काव्य को वस्तुतः तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—आदिकाल, मध्यकाल तथा आधुनिक काल। इन तीनों कालों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि मध्यकाल हिन्दी गीति काव्य का स्वर्ण काल कहा जा सकता है। यही वह काल है जिसमें सूरदास तथा तुलसीदास जैसे भक्त कवियों ने अपनी दिव्य मधुर वाणी द्वारा संगीत से परिपूर्ण ललित गीतों को

गाकर हिन्दी गीति काव्य को अमरता प्रदान की। आदि काल में जो गीत रचे गये उनका उद्देश्य तथा उनकी आत्मा वास्तविक गीत के उद्देश्य तथा आत्मा से नितान्त भिन्न थी। उन गीतों में वीर रस का सर्वत्र प्रयोग किया गया है, जो कि गीतों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। इन गीतों का उद्देश्य था वीरों को उत्साह प्रदान करना, आत्माभिव्यंजना द्वारा 'स्वांतः सुखाय' की पूर्ति करना नहीं। यदि गीत के लिए अपेक्षित कलेवर एवम् अन्तरतम् को दृष्टि में रखते हुए इन गीतों को देखा जावे तो मेरे विचार से उन्हें गीत की श्रेणी में रखना असंगत होगा।

मध्य काल—मध्य काल में गीति काव्य की रचना ऐसे पदों में हुई जो राग-रागिनियों से जकड़े हुए थे। इन पदों में दो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—निर्गुणोपासना में प्रेम समन्वित भावना और सगुणोपासना में भक्ति समन्वित भावना। प्रथम प्रवृत्ति में रहस्यवाद की अभिव्यंजना मिलती है। ऐसे गीतों के रचयिता सन्त कवि थे जिनमें कबीर, दादू, नानकादि प्रमुख हैं। द्वितीय प्रवृत्ति भक्त कवियों में मिलती है, जिन्होंने राम तथा कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर अनेक रागपूर्ण सहज गीतों को गाया है। इनमें सूरदास, मीरा तथा तुलसी मुख्य हैं।

जिस प्रकार सूर का 'सूरसागर' विशुद्ध गीतों का भाण्डार है, उसी प्रकार 'विनय पत्रिका' तुलसीदास के आत्मबोध एवम् आत्म-निवेदन से युक्त गीतों का अपरिमित निलय है। तुलसी के गीत लौकिक वियोग अथवा संयोग की रागात्मक अनुभूति की करुण-मधुर व्यंजना नहीं, वरन् आराध्य-आराधक के पारलौकिक, पुनीत रागात्मक सम्बन्ध की गम्भीर अनुभूति के अनुपम प्रतीक हैं। अपने समकालीन गीतिकारों में केवल मीरा के गीत तुलसी के पर्याय माने जा सकते हैं। जो अन्तरवेदना, आत्मानुभूति, आत्मलघुत्व तथा दैन्यभाव तुलसी के गीतों में मुखर हुआ है उसी की व्यंजना मीरा के गीतों की विशेषता है। सूर के गीत तुलसी के गीतों से अपनी आत्मा में भिन्न हैं। सूर ने अधिकांश रूप में स्वगत-भावों अथवा अन्तर्वेदना की अपेक्षा गोपिकाओं के अन्तःकरण तथा व्रजवासियों की आकुल भावनाओं का ही चित्रण किया है। अतः सूर के गीत स्वपरक न होकर अन्यपरक हैं।

तुलसी से पूर्व हिन्दी-गीति के मुख्य प्रणेता विद्यापति तथा कबीर माने जा सकते हैं। तुलसी के विनय-पदों की आत्मा इन दोनों गीतकारों की आत्मा से भिन्न है। तुलसी पर उनका प्रभाव लेशमात्र भी नहीं पड़ा है। विद्यापति के गीतों में जयदेव की आत्मा मुखर हुई है जिसमें वासनामयी प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है। कबीर के गीतों में उनकी भक्ति भावना निराकार की ओर लक्ष्य करके उन्मुख हुई है। फलतः कबीर के गीतों में भक्त की वह आत्माभिव्यक्ति व आत्म-समर्पणता की भावना नहीं मिलती जिनका उन्मेष विनय-पत्रिका में सर्वत्र हुआ है। अतः यह कहने में संकोच न होना चाहिए कि तुलसी द्वारा प्रणीत विनय-पदों के गीति काव्य का यह अध्यात्म रूप हिन्दी-गीति-साहित्य में सर्व प्रथम है।

मीरा के गीतों में आत्मनिवेदन तथा मूल आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता है। स्वपरक एवं सहानुभूति के परिचायक होने के नाते मीरा के गीत संवेदन व लालित्य से ओत-प्रोत हैं। कृष्ण को अपना सर्वस्व मानकर उन्हीं से तादात्म्य स्थापित करने वाली मीरा का हर्ष-विषाद, उत्कण्ठा, व्यग्रता आदि उसके गीतों में सहजतः मुखर हो उठा है। यही गीत की सफलता है।

आधुनिक काल—आधुनिक युग में प्रवेश करते ही भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द अपने राष्ट्रीय गीतों के लिए सामने आते हैं। प्राचीन परम्परा का परित्याग कर नवीन भावों से प्लुत गीत भारतेन्दु के समय से ही प्रकाश में आने लगे। देश-प्रेम व मातृ-वन्दना ही इन गीतों के प्राणों में स्पन्दन-रूप थे। भक्ति सम्बन्धी जो गीत भारतेन्दु बाबू ने रचे हैं उनमें सूर, विद्यापति आदि के स्वर गूंजते जान पड़ते हैं। इन्हीं गीतों में रचनाकार का वास्तविक रूप व आत्मा का उन्मीलन हुआ है। भारतेन्दु द्वारा खीची लोक पर चलने वाले द्वितीय गीतिकार हैं—मैथिली शरण गुप्त। गुप्त जी ने स्फुट गीत कम लिखे हैं। 'साकेत' एक ऐसा प्रबन्ध-काव्य है जिसके नवम् सर्ग को 'गीति मंजूषा' कहना असंगति न होगा। उसमें जो गीत हैं उनमें राष्ट्रीयता, प्रेम-विरह, उपदेशात्मकता आदि समस्त भाव-तत्व मिल जाते हैं।

गुप्त जी के पश्चात् जो गीत रचे गये इनमें वैयक्तिकता, अनुभूति, सरसता व माधुर्य की अजस्र धारा प्रवाहित हो उठी। प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र, अंचल, नेपाली, नीरज प्रभृति अनेक गीतकारों ने गीति काव्य की झोली, सुन्दर कोमल सुवासित गीत-प्रसूनों से भर दी।

प्रसाद के गीतों में अनुभूति एवम् सौंदर्य वृत्ति के सामञ्जस्य से उत्पन्न माधुर्य, सहजता, गाम्भीर्य तथा तरलता का न्यूनत्व कहीं नहीं मिलता। जीवन के विविध पक्षों की सूक्ष्म-परख, रूप-यौवन का सुखद चित्रण प्रसाद के गीतों में अच्छा उतरा है। एक उदाहरण देखिए :—

(अ) आज यौवन के इस माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा

यौवन तथा रूप का समन्वय थोड़े से शब्दों में ही कितने सुन्दर ढंग से हुआ है, देखिये—

सुरभित हाला पी चुके पलक, वह मादकता मतवाली थी।
भोले मुख पर थे खुले अलक, सुख की कपोल पर लाली थी॥

प्रसाद के गीतों में कल्पना, अनुभूति, सौंदर्यवृत्ति के साथ-साथ चित्रात्मकता, लाक्षणिकता तथा भावानुरूप अभिव्यंजनात्मकता बड़े गठे हुए रूप में मिलती है। भोले मुख पर वे खुले 'अलक' अथवा 'आँसू वरुनी से उलझे हों' में चित्रात्मकता

दर्शनीय हैं। 'दीप जलाये बैठे थे तुम किये प्रतीक्षा पर अधिकार' में लाक्षणिकता कितनी है। प्रतीक्षा पर अधिकार होना मिलन के ठोस विश्वास का परिचायक है। भावानुरूपता तो प्रसाद के लगभग सभी गीतों में मिलती है।

निराला जी स्वच्छन्द व मुक्त काव्य के प्रवर्त्तक हैं। गीत काव्य के क्षेत्र में उनसे अधिक विविध व्यक्तित्व वाला अन्य कवि नहीं मिलता। उनके गीतों में संयम, सौंदर्य के प्रति आकर्षण, समाज के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण दृष्टि, प्रकृति का छायावादी मानवीकरण, कोमल भावना, कल्पना एवं बुद्धि का समन्वय विशेष रूप से देखा जा सकता है। विविधता इस सीमा तक जा पहुँची है कि निराला को प्रयोगवादी कवियों की श्रेणी में ला बिठाया गया है।

पन्त की काव्य-प्रेरणा, सत्य एवं वास्तविक प्रकृति रही है। अतः उनके गीत, प्रकृति की रम्य सुषमा, उसके रूप-रंग, उसकी सुवासित श्वास, उसकी मनहर छवि को अपने शरीर व अपनी आत्मा में लपेटे-समेटे हुए हैं। पन्त ने अनुभूति को कल्पना का योग देकर, मसृण शब्दों के माध्यम से, प्रकृति के रंगों में रंग कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह सजीव हो उठी है। पन्त के गीत, गीति काव्य के विकास क्रम में, प्रमुख स्थान रखते हैं।

महादेवी वर्मा गीति काव्य की आत्मा की प्रतीक हैं। उन्हें आधुनिक काल में सर्वश्रेष्ठ गीतिकार माना जा सकता है। गीत के लिए जो अपेक्षित गुण हैं वे सब महादेवी जी के गीतों में उपलब्ध हैं। संगीतात्मकता, वैयक्तिक साधना, आत्माभिव्यंजना, लय, आदि का जितना सुन्दर व सफल संयोजन महादेवी के गीतों में मिलता है उतना अन्यत्र नहीं। उनके गीतों की वाणी, जीवन का एकाकीपन, वेदना करुणा नैराश्य, अज्ञात के प्रति आकर्षण, मूल आत्मनिवेदन आदि से निःसृत होकर पाठक की अन्तरात्मा में प्रवेश कर जाती है। इनके गीतों में रहस्यात्मकता प्रमुख रूप से मिलती है।

रामकुमार वर्मा जीवन के प्रति एक नूतन दृष्टिकोण लेकर काव्य-क्षेत्र में आये हैं। तत्सम शब्दावली के माध्यम से रहस्यवादी गीतों का सृजन इनकी विशेषता है। भाव-गाम्भीर्य, सूक्ष्म कल्पना तथा सहज अनुभूति के सम्मिलन से जो अभिव्यक्ति होती है वह कभी-कभी दुरूह गीतों के रूप में सामने आ जाती है अन्यथा रहस्यवादी परम्परा को आगे बढ़ाने वालों में रामकुमार वर्मा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

बच्चन निराशावादी कवियों की परम्परा के कवि हैं। उनके गीतों में जीवन की कटुता, गहनता, वेदना आदि मुखर हो उठी है। व्यक्तित्व विद्रोही होने के नाते गीतों में विद्रोह-भावना भी स्फुटित हुई है। आत्माभिव्यक्ति होने के कारण गीत सुन्दर बन गये हैं।

नरेन्द्र, अंचल, नेपाली, नीरज आदि तरुण गीतिकार विशिष्ट शब्दावली में प्रेम, शृंगार, रूपाशक्ति, लौकिकता, सौंदर्य, वासना, कुंठित भावनाओं को अभिव्यक्ति दे रहे हैं। नरेन्द्र के गीतों में लौकिकता की ही प्रधानता है। प्रकृति से उपमान जुटाकर

मानव-सौंदर्य का रोचक वर्णन उनकी विशेषता है। आरम्भ में निराशा का प्राधान्य होने पर भी इधर उनके गीतों में आशा व अलौकिकता का पुट दिखायी देने लगा है। अंचल में मांसलता अपने चरम पर पहुँची हुई है। जान ऐसा पड़ता है कि अध्यात्म के प्रति विद्रोही भावना को प्रश्रय दे रहे हैं। नारी का रूप नग्न व सर्वथा वासनात्मक है। विरह-वर्णन में अध्यात्म को खोजना निरर्थक सा जान पड़ता है। इधर प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपना लेने के कारण वासनामयी प्रवृत्ति कुछ हल्की हो गयी है। नेपाली के गीतों में प्रकृति-तत्व को अधिक महत्त्व मिला है। प्रकृति के प्रति कवि का आकर्षण वासनामय है, उनका सम्बन्ध मादक है। यह नेपाली के गीतों की विशेषता है कि उनमें जो लौकिकता है वह सीमा के भीतर है। अंचल की भाँति नारी के रूप वर्णन में मांसलता नहीं आयी है। नीरज का प्रारम्भिक कवि रूप का प्यासा, प्रेम में पागल और काम से अतृप्त जान पड़ता है। जगत् के सकल गोचर-अगोचर पदार्थ एक 'प्रेम' का ही संदेश देते हैं। ऐसे प्रेम का जो 'धरती' से ही सम्बन्धित है; यहाँ के 'आदमी' के प्रति ही है, वहाँ के प्रति नहीं। उद्दाम वासना ही नीरज के गीतों का केन्द्र विन्दु है। हाँ, छन्द, लय, शब्द चयन नीरज का अत्यन्त सुन्दर है। भावों अथवा कल्पनाओं में नवीनता अवश्य मिलती है; परन्तु गहराई नहीं। इधर कुछ दिनों से नीरज की वाणी में परिवर्तन आया है। अध्यात्म (कबीर के अध्यात्म) की ओर उनका झुकाव अधिक हो गया है। नश्वरता क्षणिकता, अस्थिरता की ओर कवि का ध्यान लग गया है। नीरज से गीत-जगत् को बहुत आशा है।

उक्त कवियों के अतिरिक्त हिन्दी गीति काव्य को योग देने वाले कवियों में उल्लेखनीय नाम ये हैं—गिरिजाकुमार माथुर, जानकी वल्लभ शास्त्री, हंस कुमार तिवारी, सुमन, शम्भूनाथ सिंह, देवराज दिनेश, बालस्वरूप राही, रामानन्द दोषी, रामकुमार चतुर्वेदी, वीरेन्द्र मिश्र, कुमारी कमलेश सक्सेना, पद्मासुधि, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल आदि, आदि।

भविष्य—गीति काव्य का भविष्य अधिक उज्ज्वल नहीं है। आज 'प्रयोग' के नाम पर काव्य के 'संगीत'-तत्व का गला घोंटा जा रहा है। छन्द विहीन, बन्धन मुक्त काव्य-रचना को यथेष्ट प्रोत्साहन दिया जा रहा है। रचनाकार के मन में जो भाव उठते हैं उन्हें 'किसी भी' भाषा में, संगीत, ध्वनि, लय आदि का कोई ध्यान न रखते हुए, वह प्रस्तुत कर देता है। ऊटपटांग, भौंडी, अनगढ़ रचनाओं को 'प्रयोग वादी' काव्य कह कर कविता की पावन आत्मा को निरादृत और कलुषित करना है। यदि यही दशा रही तो गीति काव्य का यह अन्तिम चरण ही समझिये। उसका पनपना, पल्लवित होना असम्भव है।

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-चित्रण

[डॉ० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी एम० ए०, पी-एच० डी०
बी० एन० एस० डी० कालिज, कानपुर]

प्रकृति का मानव से शाश्वत सम्बन्ध है। आदि-युग का मानव प्रकृति को अपनी सहचरी मानता था। वैदिक साहित्य में तो प्रकृति के विविध रूपों की वन्दना भी की गयी है। वैदिक कवियों की दृष्टि में उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण, सूर्य, चन्द्र, गिरि, सरिता, वन आदि प्रकृति के अंग सजीव एवं विस्मयविमुग्धकारी रूप थे। सामवेद की ऋचाएं इन अलौकिक एवं आश्चर्यकारक स्वरूपों के प्रति अपनी श्रद्धा एवं आस्था व्यक्त करती हैं। इस भावना में नवीन विकास हुआ और मानव का दृष्टिकोण बदला। डॉ० किरण कुमारी गुप्ता ने ठीक ही लिखा है:—

"वह प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में अपने लघुतम अस्तित्व पर विचार कर रहा था कि एकाएक प्रकृति ने अपना मनोमुग्धकारी रूप पलटा, अगाध जलनिधि ने अपनी फेनिल लहरों को उगलना आरम्भ किया और उसका गम्भीर निनाद मानव के कर्ण-कुहरों को विदीर्ण करने लगा।.....समस्त वातावरण में एक भय और आतंक छा गया।....जो कुछ भी सौम्य और सुन्दर था वह रौद्र बन गया।....मानव भय से कम्पित और जड़ हो गया।....परन्तु प्रकृति का यह रूप भी स्थायी नहीं रहा, शान्त वातावरण का आभास होने पर मानव ने नेत्रोन्मीलन किया।.....उसके हृदय से भय के भाव अन्तर्हित हो गये। उसने प्रकृति को पुनः चिर सहचरी के रूप में देखा। सिन्धु, जलद, गिरि, सूर्य, पवमान आदि में अन्तर्हित मांगलिक भावना का भी उसने अनुभव किया।....इस प्रकार उसने प्रकृति के उपादानों के अद्भुत, रौद्र, शिव एवं सुन्दर रूपों का अवलोकन कर नवीन भावनाओं को ग्रहण किया।"

वैज्ञानिक एवं कवि दोनों ने ही प्रकृति से प्रेरणा ग्रहण की। वैज्ञानिक ने प्रकृति की सञ्चालिका एवं नियामिका शक्ति का पता लगाने में अपना श्रेय माना तथा कवि ने चाहा कि वह हृदय के नाना भावों की खोज प्रकृति में करे। वैज्ञानिक प्रकृति के रहस्यभूत तत्वों का पता लगाकर उस पर विजय प्राप्ति की कामना रखता था। वह तो प्रकृति के द्वारा मानव-मन पर पड़े हुए प्रभावों की खोज में व्यस्त था।

भारतीय काव्य में प्रकृति की पर्याप्त प्रतिष्ठा हुई है। संस्कृत काव्य में भवभूति, कालिदास तथा वाल्मीकि आदि ने प्रकृति के विविध स्वरूपों को ग्रहण किया है। दार्श-

निकता से अभिभूत होने वाले प्राणियों की प्रकृति अनुशासिका सी दिखायी पड़ी किन्तु इन कवियों को प्रकृति का विशुद्ध सौन्दर्यात्मक स्वरूप ही आकर्षक प्रतीत हुआ। हिन्दी के कवियों ने संस्कृत-कवियों से बहुत कुछ सीखा। प्रकृति-वर्णन की परम्परा भी उन्हें संस्कृत से प्राप्त हुई।

हिन्दी-कविता में मुख्यत: प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दो रूपों में प्रकृति-वर्णन किया गया है। प्रस्तुत रूप में प्रकृति-वर्णन करने की दो प्रणालियाँ हैं—अर्थग्रहण एवं बिम्ब-ग्रहण। अर्थग्रहण में प्रकृति का शुद्ध रूप एवं नाम परिगणनात्मक रूप भी आ जाता है। बिम्बग्रहण करते हुए कवियों ने चार प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है—शुद्ध प्रकृति-चित्रण, पृष्ठभूमि के रूप में, मानवीकृत रूप में तथा अलंकृत रूप में। यदि इस वर्गीकरण पर हमारी आस्था न हो तो प्रकृति-चित्रण के निम्नांकित भेद भी कर सकते हैं।

(१) आलम्बन या यथातथ्य रूप में।
(२) मानव-भावनाओं का आरोपित रूप।
(३) मानव-भावनाओं एवं कार्यों की पृष्ठभूमि के रूप में।
(४) उद्दीपन के रूप में।
(५) प्रतीकात्मक रूप में।
(६) बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में।
(७) उपदेशिका के रूप में।
(८) आलंकारिक रूप मे।
(९) दूतिका के रूप में।
(१०) रहस्यात्मक रूप में।

सरलता की दृष्टि से यह वर्गीकरण उपयुक्त है। अत: इसे ही लक्ष्य मान कर इस विषय पर प्रकाश डाला जावेगा, परन्तु इसके पूर्व समस्त हिन्दी साहित्य पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डाल लेना परमावश्यक है अन्यथा हमारा विवेचन अपूर्ण रहेगा।

वीर-गाथा-कालीन काव्य में प्रकृति वर्णन का महत्त्व नहीं के बराबर है। हिन्दी के भक्तिकालीन सन्त कवियों ने अलौकिकता से प्रेम करने के कारण लौकिक प्रकृति के प्रति अपनी उपेक्षा व्यक्त की है। कहीं-कहीं पर कबीर की अन्योक्तियों में जो प्रकृति का समावेश हो गया है उसे प्रकृति का वर्णन मानना अधिक संगत प्रतीत नहीं होता। कबीर की अभिव्यक्ति का एक नमूना देखिए:—

"माली आवत देखिकै, कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुन लए, काल्हि हमारी बार।"

जायसी के प्रकृति-वर्णन कवि के विशेष दृष्टिकोण को व्यक्त करते हैं। उनमें हृदय का रमाने की विशेषता कम दिखलायी पड़ती है। यथा:—

"लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर।
आसपास घन ईमली औ घन तार खजूर॥"

सूर के काव्य में प्रकृति का स्वाभाविक स्वरूप देखने को मिलता है। उसमें गोपी, ग्वाल एवं कृष्ण की क्रीड़ाएँ एवं यमुना-तट पर बिहार आदि का वर्णन किया गया है। वियोग में प्रकृति भी दुखी प्रतीत होती है यथा:—

"नाचत नहीं मोर ता छिन ते बोले न बरषा काल।
मृग दूबरे तुम्हारे दरस बिन सुनत न बेनु रसाल॥"

तुलसी के प्रकृति-वर्णन में स्वाभाविक एवं संश्लिष्ट रूप भी है तथा उपदेशयुक्त वचन भी। उपदेशयुक्त वचनों के मध्य में प्रकृति-चित्रण गौण हो गया है। उनका एक संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। यह वर्णन चित्रकूट का है जो गीतावली में लिखा गया है:—

"सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातुरंग रँगे मँगे सृङ्गनि।
मनहुं आदि अंभोज बिराजत, सेवित सुर मुनि भृङ्गनि।"

उनका उपदेशात्मक वर्णन मानस में मिलता है। यथा:—

"बरसहिं जलद भूमि नियराए।
जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥"

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति-वर्णन का महत्त्व अधिक बढ़ गया। नायक-नायिकाओं की विविध प्रेमलीलाओं को प्रकृति ने आश्रय दिया है और कवियों ने प्रकृति की वह झांकी सजायी कि पाठक भाव-विभोर हो गये। इस प्रकृति-वर्णन में काव्य-कौशल को प्रधानता दी गयी फलतः उसमें उपदेश और दर्शन पनप न पाये। प्रकृति के सभी रूप सजाकर प्रस्तुत किये गये। निस्सन्देह ये कविगण प्रकृति को मानव-मन से पृथक् हटाकर न देख सके और न उन्हें इसके लिए अवकाश ही था। वे तो अधिकांश मुक्तक कार थे। बिहारी का समीर-वर्णन देखिए:—

"रनित भृङ्ग घंटावली, झरित दान मदनीर।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज समीर॥"

रीतिकाल के कवियों ने प्रकृति के मदमाते यौवन को भी देखा और उससे प्रेरणा प्राप्त की। केशव जैसे कुछ कवियों ने प्रकृति को केवल अपने स्वार्थ-साधन मात्र के निमित्त ही ग्रहण किया, परन्तु सेनापति का एक छन्द देखिये जहाँ प्रकृति को मानव-मन पर प्रभाव डालते हुए दिखाया गया है यथा:—

"लाल लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल संग,
स्याम रंग भेटि मानों मसि में मिलाए हैं।"
आधे अनसुलगि सुलगि रहे आधे मानौं,
बिरही-दहन काम क्वैला परचाए हैं॥"

आधुनिक काव्य में प्रकृति-चित्रण को नवीनता प्रदान की गयी। छायावादी कवियों ने तो प्रकृति के रमणीय रूप को ही सर्वाधिक अपनाया।

पन्त जी छाया से कहते हैं—

"कहो कौन तुम दमयन्ती सी इस तरु के नीचे सोई।
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि! नल सा निष्ठुर कोई ।।"

मानवीकरण एवं प्रतीकात्मक योजना भी छायावादी कवियों के प्रिय-विषय रहे हैं। महादेवी वर्मा को प्रकृति में अनेक रूपक प्राप्त हुए हैं यथा—

"रूपसि! तेरा केशपाश" में पावस का रूपक है।

प्रकृति-चित्रण की इस संक्षिप्त ऐतिहासिक चर्चा के पश्चात् अपनी विचार-सारणि के आधार पर भी देखना चाहिए कि काव्य में प्रकृति-चित्रण का कहाँ-कहाँ पर किस-किस प्रकार का विधान किया गया है।

सर्वप्रथम यह देखना है कि प्रकृति का आलम्बन रूप से चित्रण करने में कवियों की भावधारा को प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्त्व कौन-कौन थे ? इस विषय में अधिक न कह कर यदि केवल यह कहा जाय कि इस नीति का अनुसरण करने में सुगमता की ओर लक्ष्य अधिक रहा होगा क्योंकि इस रूप में प्रकृति का चित्रांकन करने के लिए कवि को प्रकृति के विविध अंगों से ध्यान हटाकर केवल संश्लिष्ट रूप की ओर अपना ध्यान ले जाना पड़ता है साथ ही यह सरल और स्वाभाविक वर्णन-शैली भी है। वाल्मीकि, भवभूति और कालिदास के अतिरिक्त हमारे समक्ष चिन्तामणि, सेनापति, तुलसी, हरिऔध, पन्त, प्रसाद एवं गुप्त आदि कवियों के यथातथ्य वर्णन हैं।

चिन्तामणि का एक प्रकृति-वर्णन देखिए—

"ओढ़े नील सारी घन घटा कारी चिन्तामनि,
कंचुकी किनारी चारु चपला सुहाई है।
इन्द्रबधू जुगुनू जवाहिर की जगाजोति,
बग मुकतान माल कंसी छबि छाई है।।
लाल पीत सेत बर बादर बसन तन,
बोलत सुमृङ्गी धुनि नुपुर बजाई है।।
देखिबे को मोहन नवल नट नागर को,
बरषा नबेली अलबेली बनि आई है।।"

पन्त को प्रकृति का आलम्बन-रूप नायिका के रूप से भी अधिक प्रिय है। तभी तो वे कहते हैं—

छोड़ द्रुमों की शीतल छाया, तोड़ द्रुमों से भी नाता।
बाले! तेरे केश जाल में, कैसे उलझा दूँ लोचन ?

हरिऔध जी का एक यथातथ्य वर्णन देखिए—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा ।।"

रीति कालीन कवियों में सेनापति तथा अनेक अन्य कवियों ने भी आलम्बन रूप से प्रकृति चित्रण किया है। चिन्तामणिकृत उपर्युक्त छन्द एक ऐसा ही उदाहरण है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण रीतिकाल के अन्य कवियों के काव्य से दिये जा सकते हैं। द्विजदेव का एक छन्द देखिए—

"चहंकि चकोर उठे सोर करि भौंर उठे,
बोलि ठौर ठौर उठे कोकिल सुहावने।
खिलि उठीं एकै बार कलिका अपार,
हलि हलि उठे मारुत सुगंध सरसावने॥
पलक न लागी अनुरागी इन नैनन मैं,
पलटि गए धौं कबै तरु मन-भावने।
उमंगि अनन्द असुवान लौं चहूंधां लागे,
फूलि फूलि सुमन मरंद बरसावने॥"

प्रकृति में मानव-भावनाओं के आरोप में प्रकृति का वास्तविक स्वरूप ही दिखाया जाता है परन्तु अन्तर यह हो जाता है कि जहाँ यथातथ्य वर्णनों में प्रकृति का मानव-मन से अधिक प्रयोजन नहीं रहता वहाँ इस प्रकार के वर्णनों में प्रकृति मानव-मन का अनुकरण करती हुई सी दिखायी देती है। हरिऔध का एक प्रकृति-वर्णन देखिए—

"देता था सुप्रवाह उत्स उर में,
ऐसी उठी कल्पना।
धारा है यह मेरु से प्रसवती,
स्वर्गीय आनन्द की॥
या है भूधर सानुराग द्रवता,
अंकस्थितों के लिए।
आँसू है वह ढालता विरह में,
किंवा ब्रजाधीश के॥"

उपर्युक्त प्रकृति-वर्णन में गोवर्धन पर्वत कृष्ण के वियोग में निर्झर के रूप में उसी प्रकार अश्रु-प्रवाह करता हुआ दिखलाया गया है जैसे ब्रज के निवासीगण अश्रु-प्रवाह करते हों।

एक अन्य स्थल पर भी गोवर्धन-पर्वत का चित्रण इस प्रकार से किया गया है जैसे उसमें भी मानवता हो। यथा—

"सद्भावाश्रयता अचिन्त्य दृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना कौशलमूलता अटलता न्यारी क्षमाशीलता॥
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता समा भंगिमा।
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ भूभाग का॥"

प्रकृति के इस रूप के अतिरिक्त उसका पृष्ठ-भूमि-रूप में जो चित्रण हुआ है उस

पर दृष्टिपात करते हुए यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आलम्बन-रूप में किये गये प्रकृति-वर्णनों में तो प्रकृति का केवल यथातथ्य वर्णन करना ही अभीष्ट रहता है जबकि इस प्रकार के वर्णनों का लक्ष्य मानवीय इच्छाओं की पूर्ति के निमित्त प्रकृति का विविध प्रकार से उपयोग करना भी होता है। उदाहरण के रूप में मैथिली शरण गुप्त के निम्नांकित दो छन्दों पर विचार कीजिए—

"उस काल पश्चिम ओर रवि की रह गई बस लालिमा।
होने लगी कुछ कुछ प्रगट सी यामिनी की कालिमा॥
सब कोकगण-शोकित हुए, विरहाग्नि से डरते हुए।
जाने लगे निज निज गृहों को विहंग रव करते हुए॥"

यह एक पृष्ठभूमि बनायी गयी है जिसके आधार पर अर्जुन की मानसिक चिन्ता का दिग्दर्शन कराना लक्ष्य था। अगले छन्द में अर्जुन की चिन्ता को भी इस प्रकार दिखाया गया है कि उसमें प्रकृति-वर्णन पुनः पृष्ठभूमि का काम करता है। यथा—

"यों अस्त होना देख रवि का पार्थ मानों हत हुए।
मुंदते कमल के साथ वे भी विमुद गौरवगत हुए॥"

प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण करते समय कवियों के समक्ष दो उद्देश्य थे। प्रथम उद्देश्य के अनुसार संयोगावस्था में प्रकृति का कार्य संयोग सुख में वृद्धि करना था जबकि द्वितीय उद्देश्य के अनुसार वियोगावस्था में उसका कार्य विरहोद्दीपन करना था। इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सभी कवियों के काव्य में इस प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं। ग्वाल कवि का एक छन्द देखिए—

"ऊधौ! ये सूधौ सो संदेसौ कहि दीजो जाय,
स्याम सौं सिताबी तुम बिन सरसंत है।
कोप पुरहूत कैं बचाई बारि धारन तें,
तिन पै कलंकी चंद बिष बरसंत है॥
"ग्वाल कवि" सीतल समीर जे सुखद ही ते,
बेधत निसंक तीर पीर परसंत है।
जेइ बिपिनागिन ते बरत बचाई तिन्हैं,
पारि बिरहागिन में बारत बसंत है॥"

तुलसी ने भी कहा है—

"विष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥"

बिहारी का एक संयोग चित्र देखिए जिसमें प्रकृति उद्दीपन-कार्य कर रही है।

"मिलि बिहरत बिछुरत मिलत, दंपति अति रति लीन।
नूतन बिधि हेमंत सब, जगत जुराफा कीन॥"

प्रतीकात्मक रूप में प्रकृति-वर्णन करते समय कवियों का ध्यान प्रतीकों पर रहता

है। वे अपने भावों के प्रतीक-रूप में कुछ शब्दों को ग्रहण कर लेते हैं जो परोक्ष रूप में उनके भावों को व्यक्त करते हैं। हम 'झंझा-झकोर गर्जन' एवं 'नीरद माला' को 'निराशा' का एवं 'बिजली' को 'आशा की किरण' का प्रतीक मानकर कल्पना करें तो हमारी प्रतीक-योजना 'प्रसाद' के समान इस प्रकार होगी।

"झंझा-झकोर गर्जन थी,
बिजली थी नीरद-माला।
आकर इस शून्य हृदय में,
था सबने डेरा डाला॥"

इसी प्रकार यदि हम 'झंझा के झोंके' को 'विपत्ति' का प्रतीक मान लें तो मैथिली-शरण गुप्त के समान हम कह सकते हैं—

"झांक न झंझा के झोंके में, झुककर खुले झरोखे से॥"

बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में प्रकृति-चित्रण करते समय प्रकृति और मानव के क्रिया-कलापों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब साम्य रहता है। प्रकृति भी वही करती दिखलायी पड़ती है जो मानव करता है। गुप्त जी की यशोधरा का एक कथन देखिए—

"रवि पर नलिनी की पितृछवि पर मौन दृष्टि तब जा रही।
वहाँ अंक में मधुप यहाँ मैं गिरा एक गुण गा रही॥"

उपदेशिका के रूप में प्रकृति का जो वर्णन तुलसी ने किया है उसका उल्लेख किया जा चुका है। वृन्द, दीनदयाल, रहीम और गिरधर आदि ने भी अपने नीति-काव्य में प्रकृति का आधार लिया है। रहीम का नीति का एक दोहा देखिए—

"रहिमन अती न कीजिए, गहि रहिए निज कानि
सहिजन अति फूलै तऊ, डार पात की हानि॥"

यहाँ 'सहिजन' नामक वृक्ष की दशा का वर्णन करते हुए नीति का उपदेश दिया गया है।

अलंकार के प्रदर्शन रूप में प्रकृति का उपयोग प्रचुरता से हुआ है। सौन्दर्य के समस्त उपमानों की खोज कवियों ने प्रारम्भ में प्रकृति में ही की। डॉ० रघुवंश ने तो यहाँ तक लिखा है।

"प्रकृति से अलग किये उपमान अपनी किसी भी योजना में काव्य के उत्कर्ष का कारण नहीं हो सकते।"

भारतेन्दु का यमुना-वर्णन अलंकारमयी शैली में लिखा गया है। एक उदाहरण देखिए—

"तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुं सुहाए॥"

इसमें अनुप्रास एवं उत्प्रेक्षालंकारों की छटा दिखायी पड़ती है। तुलसी का प्रकृति वर्णन भी अलंकारमय है। यथा—

"प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥"

यहां पर उपमालंकार का व्यवहार किया गया है। राम-जन्म के समय अयोध्या नगरी का वर्णन प्राकृतिक उपमानों की सहायता से किया गया है।

"अवधपुरी सोहति एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥
देखि भानु मानहु सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥"

यहाँ भी उत्प्रेक्षालंकार का व्यवहार हुआ है। 'गोकुल' कवि के द्वारा भ्रमरावली का वर्णन अलंकारमयी शैली में किया गया है। यथा—

"घन-बन-बीथिन तें घर-घर घेरि रहे,
लाल-पीरे लागत न जानि परैं कारे से।
गावत समाज करे आवत नवाज राज,
करी ये निलज्ज छाके छाक मतवारे से॥
'गोकुल' बसंत में वियोगिन के जारिबे को,
होरी सी हिए में हरषित निरधारे से॥
भीजे मकरंद सों पराग लपटाने देखो,
मधुकर डोलत फिरत फगुहारे से॥"

प्रसाद ने "कामायनी" में श्रद्धा का वर्णन इस प्रकार किया है कि उसमें प्रकृति का अलंकारमय वर्णन भी आ गया है। यथा—

"नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ बन बीच गुलाबी रंग॥"

दूतिका के रूप में भी प्रकृति का वर्णन मिलता है।

यों तो प्रायः सभी कवियों की वियोगिनी नायिकाओं ने प्रकृति को अपना संदेशवाहक माना है परन्तु हरिऔध जी का पवनदूत विशेष विख्यात है। राधा पवन से इस प्रकार कहती हैं—

"संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से।
ले के नाना कुसुमकुल का गन्ध आमोदकारी॥
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना।
आते जाते पथिक जिससे पंथ में मोद पावें॥"

रहस्यात्मक रूप में प्रकृति का वर्णन करते समय कवि प्रकृति में ही रहस्यमयी सत्ता के दर्शन करने लगता है।

प्रसाद के निम्नांकित प्रकृति-वर्णन में रहस्यात्मकता भी है। यथा—

"महानील इस परम व्योम में, अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान।
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण, किसका करते थे संधान?"

प्रकृति-चित्रण की दिशा में हमारी भावना-राशि नित्य संवर्द्धनशील है और नये युग से नयी आशाएं हैं।

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय भावना

[श्री ईश्वर लाल देसाई, डभोई कालिज, बड़ोदा]

राष्ट्रीय भावना मनुष्य हृदय की एक चिरस्थायी भावना है। राष्ट्रों का उदय भी इसी भावना के फलस्वरूप हुआ है। विश्व के इतिहास और काव्य में यह भावना विभिन्न रूप धारण करके विभिन्न मोड़ लेती हुई बहती रही है। हिन्दी काव्य में भी इसकी यही गति रही। हिन्दी काव्य में प्रवाहित इस भावना के स्वरूप विकास को देखने से पूर्व भावना और राष्ट्रीय भावना को समझना आवश्यक बन जाता है।

भाव या भावना कोई सरल विकार न होकर एक संकीर्ण मनोविकार है। संस्कृत में भाव का अर्थ है स्थिति। साधारण-रूप में यह कहा जा सकता है कि, "बाह्य जगत् के संवेदनों से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते हैं—वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।" और आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाव या विकार के सम्बन्ध में लिखते हैं, "विशेष बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतंत्र विचारों द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है—जिसके दो प्रधान गुण हैं अनुभूति और प्रयत्न।' मानव हृदय के ये विकार या जागृत मनोदशाओं को विद्वानों ने जिन में विभाजित किया है, उनमें एक है रति। रति का मूल है 'राग' जो कि एक मौलिक मनोवेग (Elemental passion) है। यही हमारी सभी प्रवृत्तियों का संचालक भी है।

रति के विभिन्न रूपों दाम्पत्य, वात्सल्य, देव विषयक, देश विषयक— में से देश विषयक रति ही राष्ट्रीय भावना में परिणत होती है। इस भावना के मूल में है मनुष्य की सामाजिकता। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि Man is a social animal अर्थात् मनुष्य सामाजिक प्राणी है। आहार, भय, मैथुन आदि मूल भूत प्रवृत्तियों के लिए भी उसे दूसरे मनुष्य की सहायता और सहयोग की आवश्यकता पड़ती ही है। उसके मस्तिष्क का संघटन ही ऐसा है कि वह अपनी मनोवृत्तियों के संचलन से ही दूसरों के सहयोग की अपेक्षा करता है। इसीके फलस्वरूप सामाजिकता और राष्ट्रीयता का जन्म होता है। आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक हितों की समानता रखने वाले मनुष्य समुदाय से राष्ट्र का जन्म होता है। राष्ट्र समाज का ही एक विशिष्ट रूप है।

अरस्तू के मत में, "राष्ट्र परिवारों का और गाँवों का एक ऐसा समुदाय है, जिसका लक्ष्य है पूर्ण और स्वावलम्बी जीवन" जबकि विल्सन का मत है, "राष्ट्र का

अर्थ है एक निश्चित प्रदेश में निवास करने वाले लोगों की, शासनादि के लिए व्यवस्थित की हुई संस्था।" गार्नर का मत इस विषय में विशेष मान्य है, जिसकी राष्ट्र की परिभाषा है—"राष्ट्र मनुष्यों का बड़ी संख्या में निर्मित एक ऐसा संगठन है जो एक निश्चित प्रदेश में हमेशा के लिए निवास करता है और जिसकी एक ऐसी व्यवस्थित सरकार है जो बाहर के किसी भी शासन से स्वतंत्र हैं और जिसके कानून को राज्य की अधिकांश जनता मानती है।" गिलक्रिस्ट भी कुछ ऐसा ही मानते हैं, साथ ही 'राष्ट्र एक नैतिक संगठन है' इस बात पर बल देते हैं। इस प्रकार राष्ट्र है एक निश्चित प्रदेश में स्थित, संगठित और व्यवस्थित समाज।

राष्ट्र की यह परिभाषा ही राष्ट्रीय भावना के स्वरूप को निश्चित और नियंत्रित बना देती है। राष्ट्रीय भावना में व्यक्तिगत हितों का प्रश्न नहीं उठता। सामाजिकता और सामुदायिकता इस भावना के कण-कण में समायी हुई हैं बल्कि यह कहना अधिक उचित होगा कि सामुदायिकता और सामाजिकता से ही राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व जब संकीर्णता की दीवारें तोड़कर सामुदायिकता में विकसित और विलीन हो जाता है, तब राष्ट्रीय भावना का उदय होता है। जब इस भावना का उदय होता है तब एक का हित सब का हित बन जाता है। राष्ट्र के एक कोने में फोड़ा उठता है तो सारा राष्ट्र इस वेदना को कसक से कराह उठता है। राष्ट्रीय भावना के उदय के साथ ही राष्ट्र के सभी हृदय एक ही तन्त्री के तार में ग्रथित हो जाते हैं। वे रोते हैं तो सभी एक साथ, खिलखिलाते हैं तो एक साथ।

अब हिन्दी काव्य में निहित राष्ट्रीय भावना के स्वरूप व विकास को देखें। हिन्दी काव्य का आरंभ हुआ खड्ग की झंकार से और वीरों की हुंकार से। खनखनाती हुई तलवारों के बीच जब राजपूत वीर उन्मत्त आवेग के साथ युद्ध करते थे तब हिन्दी कवि भी अपनी लेखनी को उसी रंग में रंगता था। हिन्दी साहित्य की नींव में ये ही ईंटें पड़ीं जिसमें राष्ट्रीय भावना के विस्तृत एवं संकीर्ण सभी रूप पाये जाते हैं। हेमचंद्राचार्य का निम्न दोहा तत्कालीन मनोवृत्ति का सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है—

पुत्ते जाअे कवणु गुण, अवगुण कवणु मुएण।
जो बपिक्कि भुम्हडि, चम्पिजइ अवरेण॥

पितृ कुल से विरासत में प्राप्त भूमि की रक्षा करने में असमर्थ पुत्र पैदा हुआ तो क्या, न पैदा हुआ तो क्या? राष्ट्रीय भावना का यह वह स्वरूप है जो बाह्य आक्रमण से सावधान करता है। किन्तु प्रश्न तो 'बपिक्कि भुम्हडि' और 'अवर' की परिभाषा का है। यदि यह 'बपिक्कि भुम्हडि' नन्हा-सा राज्य न होकर समस्त भारतवर्ष है और वह 'अवर' वास्तव में राष्ट्र से बाहर का है, तब तो यह राष्ट्रीयता सभी को सहानुभूति और सद्भाव जीतने में समर्थ सिद्ध होगी। किन्तु यह 'अवर' अपनी ही जाति का हुआ तो?

वीरगाथा काल में यह 'अवर' था कौन? चंद बरदाई के पृथ्वीराज के लिए यदि शहाबुद्दीन गोरी 'अवर' है तो केवल इसलिए कि वह उसके मार्ग में आता है और उसके

लिए तो जयचंद भी 'अवर' है। भट्ट, केदार तथा मधुकर कवि के जयचंद-प्रकाश और जयमयंक-जस चंद्रिका में पृथ्वीराज के लिए जयचंद ही नहीं जयचंद के मित्र या सामन्त कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमादि देव (परमाल) भी तो 'अवर' हैं। यही नहीं तत्कालीन सभी राजाओं के लिए 'जिहिकी बिटिया सुन्दर देखि' वही 'अवर' हो गया। यही कारण है कि यद्यपि अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ आज तक जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीर दर्प पूर्ण प्रतिध्वनि बलखाती हुई गा रही है कि—

बारह बरिस लै कूकर जीऐं, औ तेरह लै जिएं सियार।
बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन को धिक्कार॥

किन्तु फिर भी उनके शौर्य का, उनके उत्साह का, उनकी हुंकार का क्रम 'अवर' की परिभाषा के संकीर्ण घेरे में घिर-घिर कर घुटता-सा मालूम पड़ता है। यों तो पृथ्वीराज की अनुराम वीरता को व्यक्त करने वाली चंदबरदाई की इन पंक्तियों को पढ़कर किस वीर की भुजाएं फड़क न उठेंगी—

उठि राज प्रिथिराज बाग मनो लग्ग वीर नट।
कढ़त तेग मनवेग लगत मनो बीजु झट्ट घट॥
थकि रहे सुर कौटिक गगन, रगन मगन भट्ट शोन धर।
हदि हरषे वीर जग्गे हुलसि, हुरेउ रंग नव रत्त वर॥

किन्तु भुजाएँ फड़कना वीर रस का अनुभाव भले हो हो, केवल इसी को राष्ट्रीयता कह सकेंगे क्या ? राष्ट्रीयता तो रति और उत्साह के मिश्रण के परिपाक से इस दशा पर पहुँचती है।

निष्कर्ष में हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वीरगाथा काल में भले ही खड्गों की झंकार से दिग्मंडल झंकृत हुए हों, भले ही वीरों की हुंकार से रणक्षेत्र हहर उठे हों, किन्तु उनके काव्य में या तलवारों की झनझनाहट में विस्तार या विशालता कहाँ ? माना कि उनका उत्साह या आकर्षण उच्चकोटि का था, संसार के किसी भी कोने के वीरों से कम न था, किन्तु उनके 'अवर' की परिभाषा व्यक्तिगत अहं, झूठा आडंबर और मिथ्याभिमान की बू से दूषित नहीं क्या ? इसलिए यह स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्य में वीरता भले ही कूट-कूटकर भरी हो, सामाजिक 'शिव' की राष्ट्रीय भावना का तो यहाँ अभाव ही था।

इसके पश्चात् आता है हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल। अपनी अन्तर्भावना के द्वारा सभी की हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने की अभिलाषा उसे सामाजिक 'शिव' के भाव राग बजाने को प्रेरित कर देती है। उसकी इस कोमल कमनीय भावना में उत्साह के कण धुल जाते हैं और वह सामाजिक 'शिव' के गीतों को अपनी नाना अभिव्यक्ति से अभिसिंचित कर देता है। वीरगाथा युग की वीर की परिभाषा अब युग और परिस्थिति के साथ नया मोड़ ले रही थी। युद्ध वीरों की वीरता अब मुगलों की विलास-म्यान में विश्राम करने लगी थी। किन्तु जनता उद्विग्न थी, उत्पीड़ित थी।

पर अब कवि राजाओं का भाट या चारण नहीं था, वह तो जनता का चारण बनने लगा था। वह भी सामान्य जनता ही की तरह उत्पीड़न और विलास जनित विषाद के धुंधलके में फँसा हुआ था। उत्पीड़ित जनता की आततायियों से रक्षा कर सके ऐसे वीरों की वह खोज कर रहा था। उसने शक्तिवानों की ओर दृष्टि डाली—पहले प्रजा में फिर शासकों की ओर, किन्तु ऐन्द्रिय विलास की जड़ दीवारों के साथ टकरा कर वह निराश दृष्टि पुनः लौट आयी। इस अवस्था में उसने देवकोटि के काव्यनायकों का आश्रय लिया और जनता के निराश हृदय में एक नवीन आशा का संचार करने का प्रयत्न किया। यह प्रयत्न जाति और धर्म के साँचे में ढला हुआ होने पर भी उसमें राष्ट्रीयता का औदार्य था, इसमें सन्देह नहीं है। यदि तत्कालीन काव्य में यह औदार्य न होता तो न तो 'ताज' कृष्ण की भक्तिन बन पाती और न ही रसखान 'कलधौत के धाम, करील की कुंजन' पर वार जाते।

और फिर तुलसी के राम न तो केवल हिन्दुओं के थे और न हिन्दुस्तान ही के। वे तो **भू-भार उतारन** हैं। स्पष्ट शब्दों में वे तो कहते हैं कि—

"निसिचर हीन करौं महि भुज उठाय प्रण कीन"

समग्र पृथ्वी के हित के लिए चिन्तित ये वीर किसी जाति या धर्म के घेरे में बंध सकते हैं क्या ? और उनकी यह भावना तो राष्ट्रीयता की संकीर्ण दीवारों को भी ढहाकर अन्तर्राष्ट्रीय-विश्व भावना तक पहुँच गयी है।

कुछ भी हो भक्तिकालीन काव्य में प्राचीन संस्कृति के गौरव के पुनरुत्थान की चेतना भरी है, इसमें तो तनिक भी सन्देह की गुञ्जाइश ही नहीं है। यह काव्य हममें प्राचीन संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने की क्षमता रखता है और यही राष्ट्रीय भावना का एक अंग भी है। भक्ति के इन स्वरूपों में और काव्य में किसी भी प्रकार की संकीर्णता नहीं दिखायी देती और इसी कारण से इसे केवल सांप्रदायिक काव्य कह देना इसके प्रति अन्याय ही होगा। क्योंकि इनसे पहले ही कबीर ने स्पष्ट कह दिया था—

"कोई हिन्दु कोई तुरक कहावै, एक जमीं पर रहिये।"

सन्त काव्य के इस सांप्रदायिक घेरे से परे की भाव भूमि पर ही कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति शाखा की नींव पड़ी थी। इनसे भी हम एक विशिष्ट औदार्य की अपेक्षा रखते ही हैं और वह है भी।

सूफी प्रेम काव्य में भी जो प्रेम कथाएँ चुनी गयी हैं वे भारत के गौरवपूर्ण अतीत से सम्बन्धित हैं। पद्मावत का रत्नसेन चितौड़ का प्रसिद्ध शूर वीर राजा ही तो था। अतीत की यह गोरवमयी गाथा देश प्रेम की भावना के संचार में सहायता नहीं करेगी क्या ?

इन्हीं कारणों से हम कह सकते हैं कि क्या सन्त-काव्य, क्या प्रेम-काव्य, क्या कृष्ण-भक्ति-काव्य और क्या राम-भक्ति-काव्य सभी में प्राचीन संस्कृति की चेतना की जो एक अंतः सलिला बहती है, जिसमें हममें सुषुप्त देशभक्ति की भावना जगाने की

क्षमता है; उसी के प्रकाश में हम इसकी राष्ट्रीय भावना का मूल्य लगाते हैं। और यह मूल्य भी इसे अमूल्य बना देता है।

इसके बाद तो—

'समय पलटै, पलटि प्रकृति, कौन तजे निज चाल', के अनुसार कवियों ने भी प्रकृति बदल ली। अठारहवीं शताब्दी का यह वह काल था जब मुगल साम्राज्य की जड़ें ढीली होने लगी थीं। अब औरंगजेब के बाद छोटे-छोटे नवाब और सरदार भी राजा बन बैठे थे। राष्ट्रीय भावना का तो उनमें नितान्त अभाव था। उन्हें तो 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' के सिवा और कुछ दिखायी नहीं देता था। हरम बेगमों से भरने लगे और दरबार में भोग विलास का बोलबाला था। कामिनियों के भ्रूविलास अब उनके हृदय पर कटारी चलाने लगे और वे चोट खा-खाकर नशे में चूर होकर उनके चरणों में गिरने लगे। यहाँ तक कि राजपूत नरेशों की भी यही दशा थी। उनका राज्य छीन लिया गया था और वे निर्वीर्य हो चुके थे। राज्य के नाम पर बचा था केवल अन्तःपुर जिसमें शरीर सौन्दर्य व सौष्ठव से भरी राजपूतानियों के शरीर शासन के लिए वर्तमान थे। इस्लामी-संस्कृति ऐन्द्रियता की प्रेरणा तो दे ही रही थी। इसी-लिए वासना की खनक से वे गूंज उठे।

दरबारों में कलावन्त रखे गये, किन्तु उनका काम था अपने आश्रय-दाताओं को किसी भी प्रकार खुश करना। राजकीय वर्ग ही उनका समाज था। इससे तत्कालीन कलावन्त को 'उर्दू' ने 'तर्जे बयां' दी, सतसई परम्परा ने ऐहिक शृंगार वर्णन सिखाया और माधुर्य भावना ने प्रतीक दिये और इन सबकी सहायता लेकर कवि ने भी युग की धड़कनों में धड़कनें मिला दीं और विलासिता का रंग और भी गहरा बना दिया।

किन्तु इसके साथ-साथ इसी काल में एक सर्वथा भिन्न धारा भी चल पड़ी जो आकार तथा प्रकार में वीर-काव्य परम्परा के अंतर्गत आती है। इस धारा की प्रमुख रचनाएँ हैं—लाल कवि का 'छत्र प्रकाश' सूदन का 'सुजान चरित्र' चन्द्रशेखर का 'हम्मीर हठ', जोधराज का 'हमीर रासो', भूषण का 'शिवराजभूषण' एवं 'छत्रसाल दशक' तथा पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली' आदि। इनमें से अधिकतर तो हैं अपने आश्रय -दाताओं के चरित-काव्य। वीर गाथा कालीन काव्य भी ऐसा ही तो था। भूषण को छोड़कर इन सभी की रचना प्रबन्ध रचना है। भूषण की कविता में व्यक्तिगत चाटुकारिता की गंध तक नहीं है। उन्होंने हिन्दू-प्रतिष्ठा, हिन्दू-मान-मर्यादा तथा हिन्दू-स्वाभिमान के प्रतीक जैसे राजा छत्रसाल तथा शिवाजी का यशगान किया है। इसके वीरता वर्णन में जब जनता की अपनी भावना प्रतिबिम्बित हो रही थी। इसी कारण से इसके काव्य में जातीय गौरव और राष्ट्रीय गौरव भी आ गया है।

छत्रसाल और शिवाजी दोनों मानव-कल्याण के पथ प्रदर्शक थे। उन्होंने अत्या-चार के विरुद्ध विद्रोह किया और उसे नष्ट करने का भी भरसक प्रयास किया। उनमें दृष्टि की संकीर्णता का अंश भी नहीं था। भूषण और लाल ने इन्हीं राष्ट्रनायकों को

अपने काव्य का विषय बनाया। यद्यपि शुक्ल जी भूषण को हिन्दू जाति के प्रतिनिधि 'कवि' मानते हैं किन्तु हमारा विनम्र अभिप्राय है कि यह घेरा उनके लिए अत्यंत संकीर्ण सिद्ध होगा। वे तो शिवाजी और छत्रसाल ही की तरह राष्ट्रीय भावना से और 'बहु-जन हिताय' की भावना से पूरित थे। लाल कवि की राष्ट्रीय दृष्टि भी अत्यंत व्यापक थी। छत्रसाल का आश्रित होने पर भी उन्होंने शिवाजी की राष्ट्र व्यापी महत्ता का सुन्दर वर्णन किया है।

इस प्रकार उस शृंगार काल में भी राष्ट्रीय भावना की यह लहर मंथर गति से बहते हुए वायु से फैली हुई जल लहरियों की भाँति हिलोरें ले रही थी।

अब नव युग की उषा का उदय होता है। पश्चिमी वायु के झोंकों में सभी मस्त होकर झूमने लगते हैं। यह मधुर वातावरण स्वप्न सृष्टि का-सा सुनहला लगता है। तन्द्रावस्था में झूमता हुआ कवि अब कभी समाज की ओर भी दृष्टि डाल लेता है और कभी राष्ट्र की ओर भी। किन्तु अभी तक स्थिति की वास्तविकता से वह पूरी तरह परिचित नहीं है। मेकाले के उस प्रसिद्ध सिद्धांत ने—If you want to destroy a nation, destroy its history first; the nation will be abolished of its own accord" सभी शिक्षितों के मन फेर दिये हैं। इसी के साथ अंग्रेजों ने रेल, डाक, तार तथा राज्य-व्यवस्था-संबंधी सुविधाएँ भी प्रदान कीं। किन्तु इसकी आड़ में जो आर्थिक शोषण हो रहा था यह सूक्ष्म दृष्टि वाले कवि से बचा नहीं था। भारत भर के सुख-दुःखों को अपने हृदय में संचित करके अपनी राजभक्ति और देश-भक्ति की मिश्रित भावना से उदीप्त भारतेन्दु गा उठे—

अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥

और धीरे-धीरे जब उनकी इसी दृष्टि का विकास होता गया तो उनसे रहा न गया और कह उठे—

आवहु सब मिलकर रोवहु भाई,
हा, हा, भारत दुर्दशा देखी न जाई॥

किन्तु केवल रोने से क्या? यह तो राष्ट्र-प्रेम का निराशावादी (Negative) स्वरूप है। पर इसी निराशा में आशा की किरण फूटती है तो एक नवीन ताज़गी और उल्लासमय प्रकाश फैल जाता है। यही हाल कवि की भावना का भी हुआ। उन्होंने देखा कि अंग्रेजों के चंगुल से छूटने का एक ही उपाय है और वह है—एकता,

जो आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं,
तजि गृह कलहहिं अपनी कुल मरजाद विचारैं।
तौ ये कितने नीच महा इनके बल भारी,
सिंह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मझारी॥

भारतेन्दु राष्ट्र के सोये हुए सिंहों को जगाना चाहते थे। अंधकार में डूबी हुई

जनता के ये 'इन्दु' बन गये। हिन्दी कविता में शुद्ध और सात्विक सभी प्रकार के राजनीतिक वाद विवाद से परे—देश-प्रेम का संचार इसी के साथ होता है। राष्ट्रीय भावना शब्द को आज जिस अर्थ के घेरे में बाँध लिया है वह यही है। इसी से कुछ लोग असली राष्ट्रीय भावना का आरंभ इसी युग से मानते हैं, किन्तु वास्तव में इतनी संकीर्णता न तो युगानुकूल है और न ही वांछनीय भी।

भारतेन्दु मंडल के प्रायः सभी सदस्यों में इस भावना का थोड़ा बहुत संचरण हुआ ही है। भारतेन्दु के समान ही उनकी सुधार भावना सभा में कई रूपों में—समाज-सुधार, देश-प्रेम, राष्ट्र-भावना आदि में खिली है। प्रतापनारायण मिश्र ने अपनी लाक्षणिक विनोद और व्यंग भरी शैली में लिखा—

छोड़ि नागरी सुगुन आगरी उर्दू के रंग राते।
देसी वस्तु विहाय विदेसिन सों सर्वस्व ठगाते॥

और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' जी लम्बी सांस लेते हुए बोले—

पी प्रमाद मदिरा अधिकारी लाज सरम सब धो ली।
लगे दुसह अन्याय मचावन निरख प्रजा अति भोली।
देश असेस अन्न धन उद्यम सारी सम्पति ढो ली॥

भारतेन्दु मण्डल से भी ऊँची आवाज़ थी श्रीधर पाठक की। प्रकृति का वर्णन करते-करते पाठक जी युग की सामूहिक चेतना के प्रत्येक रूप से प्रभावित हुए। देश की दशा पर चिन्तित होते हुए आप बोले—

निज देश दशा किन सोचहुं मिलि भाई।
किहि रीति कुमति पथ मिटै सकल दुखदाई॥

कवि देश की दशा देखकर निराशा से भर जाता है किन्तु कहीं कोई मार्ग नहीं मिलता। 'भारत-गीत', 'श्री गोखले प्रशस्ति' तथा 'श्री गोखले गुणाष्टक' में आपकी राष्ट्रीय भावना पूरी गति से बही है। भारत जननी की प्रशस्ति गाते-गाते कभी विद्वत्तापूर्ण समास शैली में आप गाते हैं—

सुखधाम अति अभिराम गुन निधि, नौमि नितप्रिय भारतम्।
सुठि-सकल जग संसेव्य शुभथल सकल-जग-सेवारतम्॥

तो कभी सीधी सादी सरल भाषा में जनता की जबान में गा उठे—

'जय जय प्यारा भारत देश'

उनका यह गीत तो किसी समय सारे हिन्दी प्रदेश में गूंज उठा था। राष्ट्रीयता की धारा इनके गीतों से अत्यंत तेजपूर्ण बनी। इसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। साथ ही सन् १९०५ की तिलक जी की 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' घोषणा भारत भर में गूंज उठी। सभी में एक नया आत्मबल, नयी स्फूर्ति और स्वतंत्रता के लिए नयी चेतना जागृत होने लगी। इस स्फूर्ति और चेतना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा द्विवेदी युग के सर्वाधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र—मैथिलीशरण गुप्त पर। उन्होंने

युग की बहती धारा में अपनी नाव बड़ी तेजी से खेना आरंभ कर दिया। १९१३ ई० में ही स्फूर्तिमय राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न सामयिक कृति 'भारत-भारती' के प्रणयन के साथ ही वे इस धारा के प्रसिद्ध कवि बन गये। देश की दयनीय दशा पर उनका कवि बोल उठा—

हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ! सभी मिलकर विचारें यह समस्याएं सभी॥

तभी से लेकर आज तक गुप्त जो राष्ट्रीय धारा के प्रमुख कवि माने जाते रहे हैं। राष्ट्रीयता के लिए गुप्त जी निम्न बातों को आवश्यक मानते हैं—

१—प्राचीन गौरव पर विश्वास और अभिमान।
२—देश-प्रेम।
३—संस्कृति का सुधार।
४—स्वतंत्रता।

प्राचीन भारत के अत्यंत मनोरम चित्र आपने अपने कई ग्रंथों में प्रस्तुत किये हैं। देश के प्रति आपका प्रेम अत्यंत अटल है। वे कभी भारत की स्तुति करते हुए कहते हैं—

जय भारत भूमि भवानी।
अमरों तक ने तेरी महिमा बारम्बार बखानी।

तो कभी ऐसी चौंध से परे रहकर हृदय का निर्मल प्रेम प्रस्तुत करते हुए गाते हैं—

मैं हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ बरसूँ कहीं।

'वक संहार', 'अनघ' आदि में वे राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-साथ जीवन के अन्तः संस्कार के महत्त्व की और संस्कृति के सुधार की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। स्वतंत्रता के महत्त्व का गान वे अनेक काव्यों में गाते हैं। पंचवटी में प्रजातंत्र की ओर संकेत करते हुए आप कहते हैं—

पर अपना हित आप नहीं क्या कर सकता है यह नरलोक? 'अनघ' और 'साकेत' में हमें गाँधीवादी सहिष्णुतापूर्ण वीरता का निदर्शन कराया है। अब अत्याचार का बदला भी प्रेम और हृत्परिवर्तन से ही किया जा सकता है। इस प्रकार गांधी जी की अहिंसा ने इनकी राष्ट्रीय भावना को भी नया मोड़ दिया।

राष्ट्रीय भावना के अन्य गायकों में प्रसिद्ध हैं पं० रामनरेश त्रिपाठी जिन्होंने काल्पनिक कथा वस्तु पर काव्य रचना करके देश-भक्ति, धर्म और प्रेम के प्रति रसात्मक दृष्टिकोण उपस्थित किया। मिलन खंडकाव्य में भारत का ही रूपक बाँधकर स्वतंत्रता की आवश्यकता दिखाते हुए आपने स्पष्ट बताया कि—

इस कुतंत्र में तो दरिद्रता कभी न होगी दूर,
यह कर देगा शीघ्र जाति को निर्बल चकना चूर।

जब तक इस कुतंत्र-बंधन से होंगे हम न स्वतंत्र,
तबतक सिद्ध न हो सकता है कोई हितकर मंत्र ।।

सुभद्राकुमारी चौहान तो 'झाँसी की रानी' की पर्याय-सी बन गयीं। उनकी ओज-स्विनी वाणी से राष्ट्रीय भावना की लहर कम्पित हो उठी। श्यामनारायण पाण्डेय की 'हल्दीघाटी' की हुंकार ने सभी के प्रताप को फड़का दिया।

अब "मानवीय कवि की कल्पना अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतः समुत्थित अभिव्यक्ति बिना किसी अभ्यास के और बिना किसी प्रयत्न के भावस्रोत स्वयं निकल पड़ा" और वही छायावादी कविता के रूप में प्रसिद्ध हुआ। छायावादी राष्ट्रीय गीतों में संकीर्णता के स्थान पर अत्यंत व्यापकता है। देश की स्वतंत्रता तो ये भी चाहते हैं, परन्तु वह दूसरे के अमंगल से नहीं। वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से वे अनुप्राणित थे। वे स्वदेश मंगल भी चाहते हैं तो विश्व मंगल के लिए ही। स्व० जयशंकर प्रसाद के कई राष्ट्रीय गीत इसी कोटि में आते हैं। वे इसी भावना से गाते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

राष्ट्रीय भावना का यह मधुमय रूप हिन्दी साहित्य का अमूल्य रत्न माना जाता है।

इसके पश्चात् राष्ट्रीय आन्दोलन में भी गति आ गयी और कविता में भी। माखन लाल चतुर्वेदी राष्ट्रीयता के अग्रदूत बनकर आये। वे सही अर्थों में 'भारतीय आत्मा' बन गये। 'फूल की चाह' प्रकट करते हुए उन्होंने कहा फूल की चाह नहीं है कि वह सुर बाला के गहनों में गूँथा जाय। उसे तो चाह है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक ।।

कितनी उत्कृष्ट है यह भावना ! त्याग की यह ज्वाला कितनी मधुर ज्योति से ज्योतित है।

राष्ट्रीय भावना अब तो प्रायः सभी कवियों का वण्य बन गयी। अब जनता की शिथिलता लोगों से सही नहीं जाती थी। दिनकर जी ने मिट्टी की ओर में—

"तुम कब घर आओगे कवि" द्वारा समयानुकूल राष्ट्रीय गीतों की ओर कवियों को आकर्षित किया। हुंकार में उन्होंने भी हुंकार भरी। नवीन तो अत्यंत उग्र बनकर गा उठे—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल पुथल मच जाये।

पन्त जी भी भारत माता की दुर्दशा देख न सके। कुछ उग्र तान में आह्वान कर उठे—

गा कोकिल बरसा पावक कण,
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन।
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बन्धन॥

और इसी विस्फोटक भावना ने प्रगतिवादी राष्ट्रीय कविता का रूप ले लिया। इस काव्य में तलवार की धार पर दौड़कर शत्रुओं को पछाड़ने का आमंत्रण है। अब विश्व के शोषित वर्गों की एकता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया। किसान-मज़दूरों के प्रति सहानुभूति का ज्वार उमड़ आया। भावना में पुनः उग्रता आयी। इस उग्रता में कोमलता का अभाव-सा लगता है। यह उग्रता पौरुष से भरी उग्रता है। उदय शंकर भट्ट आज़ादी के दीवाने बनकर गाते हैं—

गरजे बादल से आज़ादी,
बिजली में स्वर आज़ादी का।

× × ×

हम आज़ादी के दीवाने,
परतन्त्र रहेंगे कभी नहीं।

और कौन नहीं जानता कि इसी स्वर के पीछे-पीछे सारा भारत आज़ादी का दीवाना बन गया और अन्त में आज़ाद होकर ही चैन की साँस ली।

आज भी राष्ट्रीय भावना की लहर वर्तमान है किन्तु अब इस परमाणु और राकेट युग में जब अन्तरिक्ष विजय की तैयारियाँ हो रही हैं हमारी राष्ट्र की परिभाषा पूर्णतः बदल जाने की संभावना है। अब यदि मंगल या शुक्र ग्रह के साथ युद्ध छिड़ गया तो समस्त विश्व ही हमारा राष्ट्र बन जायगा। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना के साथ-साथ राष्ट्र की परिभाषा भी आज नये मान और नया रूप धारण कर रही है। और समस्त संसार के मानव हृदय एक ही तार में अनुस्यूत होते जा रहे हैं।

इस प्रकार हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय भावना की धारा भी युग और परिस्थिति के साथ-साथ अपना स्वरूप बदलती हुई निरन्तर बहती रही है। कभी गिरिवर के क्रोड़ से निकल कर मचलते हुए निर्झर की भाँति वह अठखेलियाँ करती चली है तो कभी धीर गंभीर रूप में और कभी अत्यंत रौद्र रूप में फूत्कार करती हुई, कगारों को भी ढहाती हुई, आगे, और आगे बढ़ती रही है। इसका पट निरन्तर विस्तृत होता रहा है और आज विश्व भावना के सागर में परिवर्तित होने जा रहा है। इसका भविष्य इससे भी उन्नत है इस बात में सन्देह हो सकता है क्या ?

छायावाद

[श्री ऋषिकुमार चतुर्वेदी, एम्० ए० एल्० टी०, सनातन-धर्म कालेज, रामपुर]

जिस समय हिन्दी-साहित्य में छायावाद का जन्म हुआ, उस समय भारत में नव-जागृति की लहरें उठ रही थीं। सहस्रों वर्षों बाद विश्व विस्फारित नयनों से उसके वेदों के पावन आलोक की झाँकी देख कर भारतीय-संस्कृति की प्राचीनता और उत्कृष्टता मानने को बाध्य हो रहा था। राम, कृष्ण, अशोक और विक्रम का स्वर्णयुग संसार के विद्वानों के अनुसंधान का विषय बन रहा था। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, सूर और बिहारी के अमर काव्य ने संसार के साहित्य-रसिकों को मुग्ध कर दिया था। जागरूक मनीषा अपनी उद्बुद्ध चेतना ले कर फिर एक बार भारत को जगद्गुरु सिद्ध कर देने के लिए आकुल हो उठी थी। परन्तु परतन्त्रता की बेड़ियों से उसकी देह जकड़ी थी; उस बंधन से उसकी रग-रग चरमरा उठी थी। पर उसके नियामकों ने उसका शरीर फौलाद का बनाया था, उसकी सहन-शक्ति का चरम-विकास किया था। उस बंधन में भी उसकी शिराएँ इतना उष्ण रक्त प्रवाहित कर रही थीं कि उनकी ऊष्मा विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित किये बिना नहीं रह सकती थी। उसकी चेतना हर लेने के लिए लाया गया पाश्चात्य साहित्य का सम्मोहन-मंत्र उलटा उसकी अग्नि को और दीप्त कर रहा था। देश के कोने-कोने में इस अग्नि की चिनगारियाँ फैल कर अपने आलोक से गौरव-पूर्ण अतीत और गर्हित वर्तमान के रूप को स्पष्ट कर रही थीं।

इधर हिन्दी-साहित्य, जिसका जन्म परतन्त्रता और संघर्षों में ही हुआ था, अपनी पूरी प्राण-वत्ता के साथ जीवित था। हर संघर्ष उसे एक नया जीवन देता था, हर विरोध उसका प्रचार बढ़ाने में सहायक हो रहा था। यदि कोई सितारा बन कर उसका विरोध करता तो तत्काल उसकी रक्षा के लिए इन्दु उत्पन्न हो जाता था। यद्यपि राजनीतिक संघर्ष में उसकी पराजय हुई थी पर कुछ तपस्वी साहित्यकारों के प्रयत्नों और साधनाओं से वह जनता के गले का हार बनती जा रही थी। विरोध की अवस्था समाप्त हो रही थी और हिन्दी खड़ी बोली के रूप में ढल कर द्विवेदी जी की देख-रेख में मँज रही थी। समय बीत रहा था। मँज चुकने के बाद भी द्विवेदी जी के प्रभाव के कारण उसमें कुछ नीरसता और गद्यात्मकता रह गयी थी; जिसके कारण रसिक-गण उससे संतुष्ट न थे। स्वयं उसके विधायकों ने इस त्रुटि का अनुभव किया था और

गुप्त जी जैसे कवि इसकी व्यञ्जकता और मधुरिमा बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थे। बहुत अंशों में उन्हें सफलता भी मिल गयी थी।

इसी सामाजिक और साहित्यिक भूमिका में छायावादी महाकवि काव्य-साधना का उपक्रम कर रहे थे। अभी-अभी इन्होंने युवावस्था में प्रवेश किया था। यौवन का मधुर उभार उनके आकुल हृदयों में मचलने लगा था और वे हृदय की उन रंगीनियों को चित्र-विचित्र कल्पनाओं के पंखों पर उड़ाने के लिए आतुर थे। पर ये रंगीनियाँ 'चार दिन की चाँदनी' थीं। शीघ्र वियोग की अँधेरी रात ने अपना अंधकार फैलाया। फिर तो इन कवियों का विफलप्रणयी-हृदय दुगुने वेग के साथ फूट पड़ा। उनकी विफलता की यह टीस हृदय से बाहर निकल पड़ने के लिए आकुल हो उठी।

ये कवि भारतीय वाङ्मय के अध्येता भी थे। इस अध्ययन ने उनके भीतर भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा उत्पन्न कर दी थी और साथ ही संस्कृत साहित्य के विखरे रत्नों को, भारतीय इतिहास के स्वर्ण अतीत को अर्वाचीन भारत के सम्मुख उपस्थित करने की प्रेरणा भी दी थी जिससे नवीन रूप में सनातन आदर्शों की स्थापना हो सके। पाश्चात्य साहित्य से भी उन्हें कम रुचि नहीं थी। उसके विद्रोही स्वर उन्हें शोषित जनता की ओर बढ़ने के लिए वाध्य कर रहे थे।

वे हिन्दी को प्यार करते थे और चाहते थे कि हिन्दी का आधुनिक रूप बंकिम अभिव्यक्ति और शब्दों के स्वाभाविक लावण्य से चमक उठे। उनके पूर्व के आचार्य सैकड़ों वर्ष पहले "वैदग्ध्यभंगीभणिति" को काव्य की अनिवार्यता घोषित कर चुके थे। कामिनी के अंगों में लावण्य की तरह शब्दों की विच्छित्ति के बिना कोई काव्य अधम काव्य ही हो सकता है। यह सिद्धान्त बहुत पहले सर्वमान्य हो चुका था। उन कवियों का संस्कारी मन उन सिद्धान्तों को शिरसा स्वीकार कर हिन्दी भाषा में भी ऐसी ही तड़प उत्पन्न कर देना चाहता था।

उपर्युक्त सामाजिक एवं साहित्यिक पृष्ठ-भूमि और कवियों के ऐसे व्यक्तित्व की क्रोड में छायावाद पनपा था। फलस्वरूप उसकी प्रवृत्तियाँ भी इससे बाहर नहीं हो सकतीं।

अस्तु, छायावाद की सबसे प्रमुख विशेषता है उसकी शृंगार-मयता। इसका मूल ऊपर निर्दिष्ट उसके कवियों का प्रणयी व्यक्तित्व है। क्योंकि वे इस समय यौवन के द्वार में प्रविष्ट हो रहे थे, इसलिए उनमें यह प्रवृत्ति इतनी अधिक पायी जाती है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार "क्योंकि छायावाद का जन्म व्यक्तिगत कुण्ठाओं से हुआ है और व्यक्तिगत कुण्ठाएँ प्रायः काम के चारों ओर केन्द्रित रहती हैं इसीलिए छायावाद शृंगार-प्रधान है।"

इसी प्रवृत्ति के कारण ये कवि प्रकृति को केवल काम-प्रतीकों के रूप में ही देख सके हैं। निराला को 'सद्यःस्नाता' इसी प्रवृत्ति के कारण अधिक प्रिय है। प्रसाद की सौन्दर्य-भावना ने प्रकृति के सुन्दर रूपों में रमणी के रूप की कल्पना इसी प्रवृति के अधीन रह कर की है। पंत जी ने आरम्भ में तो अपने बाल-जाल में उनके लोचन

उलझाने की चेष्टा करती हुई बाला को झिड़क सा दिया परन्तु धीरे-धीरे वे भी इसी प्रवृत्ति के वशीभूत हो कर प्रकृति के सौन्दर्य में प्रेयसी का सौन्दर्य देखने लगे। आलम्बन रूप में भी इन कवियों ने प्रकृति को ग्रहण किया है, पर बहुत कम। "पंत जी अलबत प्रकृति के रमणीय रूपों में कुछ रुक कर हृदय रमाते पाये जाते हैं।"

कुछ तो धर्म-वाङ्मय के अध्ययन के कारण और कुछ बँगला की छाया के कारण इनका प्रेम ससीम से असीम की ओर बढ़ने लगा या बढ़ता हुआ दिखायी देने लगा। आचार्य शुक्लजी के अनुसार यह केवल बँगला और पाश्चात्य देशों की अनुकृति थी। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार यह एक प्रकार की जिज्ञासा थी जो धार्मिक साधना पर आश्रित न होकर कहीं भावना, कहीं चिंतन और कहीं केवल मन की छलना पर आश्रित है। छायावादी कवियों ने कहा कि हम इसे सीधे उपनिषदों से लाये हैं, यह उस विराट् के प्रति हमारी श्रद्धा और जिज्ञासा व्यक्त करता है, यह हृदय की शुद्ध अनुभूति है। महादेवी का कथन कुछ इस प्रकार है कि यह 'सर्वात्म-वाद' है, स्थूल जगत् से सूक्ष्म जगत् की ओर बढ़ना है। फूलों में उस विराट् का हास छिपा है, चपला में उसके पद-चिह्न हैं, कण-कण में उसका स्पंदन है और हमारी कविता लाक्षणिक शैली में इसी की अभिव्यक्ति है।

मेरी समझ में कवि का हृदय अखण्ड होता है। उसकी अनुभूति के स्थान के विभाग नहीं किये जा सकते। कालिदास के जिस हृदय ने उन्हें लोककल्याण की भावना से रघुवंश की रचना के लिए प्रेरित किया होगा उसी हृदय की प्रेरणा पाकर मेघदूत की ऐकान्तिक प्रणय की अनुभूति उमड़ी होगी। इसी प्रकार छायावादी कवि के जिस घायल हृदय ने लौकिक प्रेम के गीत गाये होंगे उसी हृदय से वे गीत भी निःसृत हुए होंगे जिन्हें आज हम रहस्यात्मक कहते हैं। वास्तव में यह रहस्यात्मकता उनकी शैली की है; उन गीतों में तो कवि ने अपने हृदय की उन्हीं सच्ची अनुभूतियों का अभिव्यक्तीकरण किया है जिनका उद्गम उनका लौकिक प्रेम है। उनके संस्कारों ने, उनके अध्ययन ने उन अनुभूतियों को और अधिक परिमार्जित करके उनमें से मांसलता का निराकरण कर दिया है, इसीलिए वे रहस्यात्मक लगती हैं। इनकी कुछ कविताओं में जगत् के रहस्यों के प्रति कुछ जिज्ञासाओं के दर्शन होते हैं, पर ये जिज्ञासाएँ दार्शनिक नहीं हैं और न कबीर आदि के रहस्यवाद की कोटि में उन्हें रखा जा सकता है। वास्तव में ये कविताएँ इन कवियों के प्रारंभिक जीवन की हैं और इनमें उनके बालस्वभाव की भोली जिज्ञासाएँ ही हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि छायावादी कवि भारतीय-साहित्य एवं इतिहास के अध्येता थे इसलिए वे जीवन की विस्तृत भाव-भूमि की ओर बढ़े बिना नहीं रह सकते थे। आचार्य शुक्लजी ने इस पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए लिखा है—"प्रसाद जी ने 'लहर' में छायावाद की चित्र-मयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवन-खण्डों में ले जाकर आजमाया है। × × कामायनी में उन्होंने नर-जीवन के विकास में भिन्न-भिन्न

भावात्मिक वृत्तियों का योग और संघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चित्रित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार निराला जी ने, जिनकी वाणी पहले से भी बहुमुखी थी, तुलसीदास के मानस-विकास का बड़ा ही दिव्य और विशाल रंगीन चित्र खींचा है।" पंत जी ने तो प्रारम्भ से ही प्रकृति की क्रोड में विश्राम किया है; अल्मोड़े के वसंत में हँसती हुई पुष्पों में भरी चित्रित घाटी को देखा है, राका-रजनी में नौका-विहार किया है; सिंधु की आकुल ऊर्मियों का सकाल की कनक छाया में ढुलकते ओस-कणों का मौन-निमंत्रण सुना है; जगत् का निष्ठुर परिवर्तन देखा है और भारत माँ की उदासिनी प्रतिमा पर आँसू बहाये हैं।

परन्तु इन सब अभिव्यक्तियों के पीछे छायावाद की एक प्रमुख प्रवृत्ति काम कर रही है जिसे हम करुणा या वेदना कह सकते हैं जिसका उद्गम कवियों की विफल प्रणय-भावना से हुआ। वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को ही प्रसाद जी ने छायावाद की प्रमुख प्रवृत्ति बताया है। यही व्यक्तिगत जीवन की करुणा बाद में चल कर सुसंस्कृत हुई और जगत् के सुख-दुख के बीच रमती हुई अभिव्यक्त होने लगी। प्रणय-भावना-जन्य व्यक्तिगत करुणा रस-दशा को पहुँची है, इसमें संदेह नहीं, ग्रंथि इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। बाद में उनकी यही भावना जगत् के सुख-दुख में बँध कर 'निष्ठुर परिवर्तन' में प्रकट हुई है। प्रसाद जी की इसी करुणा ने जले जगत् को वृन्दावन बनाने की कामना प्रकट की है और 'चिरदग्ध दुखी वसुधा' के आलोक माँगने की वृत्ति पर 'उसके लिए नींद लगने का संदेश लेकर आये हैं।' ये अभिव्यक्तियाँ बड़ी मार्मिक बन पड़ी हैं। महादेवी की वेदना तो उनके गीतों में प्राण बन कर समा गयी है। उनके चरण वेदना में भी कभी हारते नहीं, वे संसृति-अंक में से तिमिर का तिरोभाव कर स्वर्ण वेला लाने को आतुर हैं। इस प्रकार, यह केवल व्यक्तिगत करुणा नहीं है अपितु वेदना-मय संसार को सुख-विहान दिखाने की तड़प भी है।

छायावादी कवि पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन के प्रभाव से और स्वयं देश की दुर्दशा देख कर शोषित और पीड़ित मानवता के प्रति वेदना भी छिपाये थे और उसकी अभिव्यक्ति कर रहे थे। प्रसाद की यह वेदना स्वर्ण युगों के आलोक में नवीन आदर्श प्रतिष्ठित करके व्यक्त हुई और निराला जी ने कभी इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई स्त्री के माथे पर श्रम-सीकर दिखा कर व्यक्त की और कभी दीन भारत की दलित विधवा को देख कर आँसू बहाये। पंत जी ने भी आगे चल कर अपनी प्यारी प्रकृति को मानवता के सम्मुख बलिदान कर दिया।

यह तो रही छायावाद के वस्तु-विषय की बात, अब रूप-विधान एवं शैली को लीजिये।

छायावादी शैली भारतीय ध्वनि और वक्रोक्ति के अतिरिक्त पश्चिम के कलावाद से भी प्रभावित है। आचार्य शुक्लजी लिखते हैं—" 'कलावाद' के प्रसंग में आने वाले 'सौंदर्य' शब्द के कारण बहुत से कवि बेचारी स्वर्ग की अप्सराओं को पर लगा कर कोहकाफ़

की परियों या बिहिश्त के फ़रिश्तों की तरह उड़ाते हैं। सौंदर्य-चयन के लिए इन्द्र धनुषी बादल, उषा, विकच कलिका, पराग-सौरभ, स्मित आनन इत्यादि बहुत सी सुन्दर और मधुर सामग्री प्रत्येक कविता में जुटाना आवश्यक समझते हैं। स्त्री के नाना अंगों के आरोप के बिना वे प्रकृति के किसी दृश्य के सौन्दर्य की भावना ही नहीं कर सकते।"

प्रकृति के प्रति इस विशिष्ट दृष्टि को हम प्रतीक-विधान भी कहते हैं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में—"मनुष्य की कुण्ठित वासना ही प्रकृति पर चेतना के आरोप का कारण है, जो अवचेतन में जा प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा अपने को व्यक्त करती है। अतः प्रकृति-वर्णन केवल विश्राम-स्थल रूप में और प्रतीक रूप में है।"

जहाँ पाश्चात्य प्रभाव के कारण छायावाद पर उपर्युक्त प्रकार से कलावाद का प्रभाव पड़ा है वहाँ भारतीय वक्रोक्ति और ब्यंजना का प्रभाव भी कम नहीं है।

पहले हम उसकी भाषा की वक्रता एवं लाक्षणिक-वैचित्र्य को लें। प्रसाद जी ने लिखा है—"हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में एक ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न कर के सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया। .....मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के रूप में कुछ लोगों ने निरूपित किया था।" प्रसाद के द्वारा निरूपित यही छाया वक्रता है और इसी को ध्वनि भी कहा जाता है। छायावादी काव्य में हमें इसकी प्रधानता मिलती है। उदाहरण के लिए—

'धूल की ढेरी में अनजान, छिपे हैं मेरे मधुमय गान।'

यहाँ 'धूल की ढेरी' का प्रयोग असुन्दर वस्तुओं के लिए और 'मधुमय गान' सुन्दर वस्तुओं के लिए हुआ है।

कहीं-कहीं यह वैलक्षण्य विरोध के रूप में मिलता है, जैसे—'लहरों' में प्यास भरी है या 'शीतल ज्वाला जलती है'।

छायावादी शैली में प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का विधान भी खूब खुल कर हुआ है। यह अधिकतर अन्योक्ति पद्धति पर हुआ है, जैसे निराला की 'ठूँठ' शीर्षक कविता में। रूपकों का विधान भी बड़ी मधुरता के साथ हुआ है जैसे प्रसाद जी की 'बीती विभावरी' में, निराला जी की 'संध्या सुन्दरी' में।

उपमा और उत्प्रेक्षाओं की भी छायावाद में कमी नहीं है। इनका आधार किसी न किसी प्रकार की साम्य भावना ही है। हमारे यहाँ अर्थ-गत साम्य दो प्रकार का माना गया है—सादृश्य और साधर्म्य। इन दोनों प्रकारों में प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। छायावाद ने इसी प्रभाव साम्य को बड़ी सहृदयता के साथ अपनाया है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—"कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या बिलकुल न रहने पर भी आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता

है। ऐसे अप्रस्तुत अधिकतर उपलक्षण के रूप या प्रतीक-वत् होते हैं। जैसे सुख, आनन्द, यौवन-काल के स्थान पर उनके द्योतक उषा, प्रभात, मधुकाल, प्रिया के स्थान पर मुकुल, × × विषाद या अवसाद के स्थान पर अँधेरी रात। × × × आभ्यन्तर प्रवाह-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यञ्जनात्मक पद्धति का प्रगल्भ और प्रचुर विकास छायावाद की काव्य शैली की प्रमुख विशेषता है।"

छायावाद का साम्य-विधान अधिकतर प्रकृति रूपों द्वारा व्यंजित मार्मिक भावनाओं के आधार पर किया गया है। इसीलिए वह हृदय-स्पर्शी एवं उद्बोधक बन पड़ा है। उदाहरण के लिए—

जल उठा स्नेह दीपक सा नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम-रेखा से चित्रित कर रहा अंधेरा॥

जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ साम्य-विधान कोरा चमत्कार लगता है। आँसुओं को आँखों के बाल कहना या चाँदनी को नीले नभ के शतदल पर बैठी अनिमिष एकाकिनी बताना ऐसा ही है। आचार्य शुक्ल के अनुसार तो किसी मैखाने से जूठी प्याली ला कर रखना अथवा अपने मर मिटने के अधिकार पर गर्व करना भी कोरा चमत्कार ही है।

छायावादी कवियों के उपमान एवं अप्रस्तुत विधान केवल कवि-प्रौढ़ोक्तियों पर ही अवलम्बित नहीं रहे अपितु वे अपनी नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर नवीन और शोभन उपमान खोज कर लाये। पंत जी की ग्रंथि की नायिका के 'शशि वदन' पर 'बाल-रजनी सी डोलती अलक'—

अचल रेखांकित कभी जो कर रही,
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

प्रसाद की श्रद्धा की वह मुस्कान—

और उस मुख पर वह मुस्कान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम।
अरुण की एक किरण अम्लान,
अधिक अलसाई हो अभिराम।

काम, लज्जा, श्रद्धा आदि अमूर्त भावों के लिए भी वे ऐसे मूर्त उपमान चुनकर लाये हैं कि उनका चित्र सा खिच जाता है। लज्जा का चित्र देखिए—

वैसी ही माया में लिपटी,
अधरों पर उँगली धरे हुए।

पंत ने प्रेम का कितना सुन्दर चित्र खींचा है—

और भोले प्रेम तुम हो
वेदना के विकल हाथों से बने
झूमते गज से विचरते हो वही
आह है, उन्माद है, उत्ताप।

लक्षणा और वक्रता ने भाषा को मसृणता और चित्रोपमता के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा दिया। पंत जी के नौकाविहार में दोनों विशेषताएँ हमें पूरी तरह मिलती हैं:—

सामने शुक्र की छवि झल मल,
पैरती परी सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूंघट से झुक-झुक,
दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता मुग्धा सा रुक-रुक।

शब्दगत लाक्षणिकता के अतिरिक्त छायावाद में पद-गत ध्वन्यात्मकता भी प्रचुर मात्रा में मिलती है। रस-ध्वनि के दो एक उदाहरण लीजिए:—

'आँसू' में निराश विरही की वेदना किस प्रकार ध्वनित होती है।

चुम्बन अंकित प्राची का
पीला कपोल दिखलाता।
मैं सूनी आँख निरखता
पथ, प्रात समय सो जाता।

महादेवी जब मत्त पवन से कहती हैं:—

कामना की पलकों में झूल
नवल फूलों के छूकर अंग
लिये मतवाला सौरभ साथ
लजीली लतिकाएँ भर अंक
यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त।

तब इसमें से यही ध्वनि निकलती है कि पवन के शीतल स्पर्श से विरह वेदना उद्दीप्त होती है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि छायावाद का काव्य स्थूल न होकर सूक्ष्म है, उसमें मांसलता एवं ऐन्द्रिकता नहीं है। पर इसमें सत्य इतना ही है कि छायावाद के कवियों ने लाक्षणिक शैली का प्रयोग करके शृंगार को ध्वन्यात्मक अधिक बना दिया है एवं रूप के साथ-साथ आंतरिक भावों का भी मर्मस्पर्शी वर्णन किया है, इसीलिए लोगों को इसमें सूक्ष्मता के दर्शन होते हैं। कामायनी के चिंता सर्ग में मनु के कल्पना जगत् की देव बालाओं के यौवन, हास-विलास एवं आसक्त देव-पुरुषों के मन्दिर चित्र किन चित्रों से कम मांसल हैं, मनु का व्याकुल चुम्बन (जिससे रक्त खौलने लगता है और तृषातृप्ति के मिस से शीतल प्राण धधक उठते हैं) एवं उनके स्खलन-विकंपित पद, निराला की जुही की कली और पवन की काम-क्रीडा किन अभिव्यक्तियों से कम ऐन्द्रिक है? ऐसी स्वस्थ मांसल रेखाएँ कितनी नायिकाओं की हैं:—

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से
छलकती थी बाढ़ की सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से सीप के।

हाँ, इनके उपमानों को देखकर कोई इसे वायवी बताये, यह दूसरी बात है।

छायावादी काव्य की रचना अधिकतर प्रगीत मुक्तकों के रूप में हुई है, इसीलिए इसमें व्यक्तिगत सुख-दुख की अनुभूतियों की मात्रा अधिक है। इसी कारण कुछ लोग इनमें पलायनवाद और व्यक्तिवाद का आरोप कर रसात्मक-व्यंजनाओं की कमी मानने लगे हैं। पर बात ऐसी नहीं है। उनकी अनुभूतियाँ इस हद तक व्यक्तिवादी नहीं हैं कि वे पाठकों को रसानुभूति न करा सकें। व्यक्तिगत अनुभूतियाँ तो सभी कवियों की होती हैं, यह बात दूसरी है कि कुछ लोग उन्हें इतिवृत्ति के माध्यम से प्रकट कर देते हैं और कुछ विशुद्ध गीतों के माध्यम से। इस दृष्टि से छायावादी कवि सूर, घन आनन्द, मीरा की गीति परम्परा में आते हैं। यह बात स्यात् उन विद्वानों को खले जो छायावादी काव्य का संप्रदाय तीन लोक से न्यारा मानते हैं। पर हम तो कविता की एक अखण्ड धारा मानते हैं, जो हृदय-जगत् के शाश्वत भावों की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रणालियों से करती रहती है। कहने का ढंग बदल जाता है, बात वही रहती है। अस्तु छायावादी सुकवियों द्वारा लिखी गयी विशुद्ध व्यक्तिगत कविताएँ भी सहृदय-हृदय-संवेद्य हैं क्योंकि उनमें मानव-मन की चिरंतन भावधारा का उद्घाटन है। निराला जी की 'सरोज-स्मृति', प्रसाद जी की 'आत्मकथा', पंत जी की 'याद' ऐसी ही रचनाएँ हैं। निराला जी की 'मैं अकेला' देखिए:—

मैं अकेला।
देखता हूँ आ रही मेरे दिवस की सांध्यवेला।
पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मंद होती आ रही, उठ रहा मेला।
मैं अकेला।
जानता हूँ, नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका, हँस रहा यह देख
कोई नहीं मेला।

प्रसाद जी की 'आह वेदना मिली विदाई', 'उस दिन जब जीवन के पथ में', निराला जी का 'सखि वसंत आया', 'भारति जय विजय करे', पंत जी का 'मौन निमन्त्रण' आदि गीतों से हमें रसावस्था प्राप्त होती है, इसमें संदेह नहीं। ऐसा कौन होगा जो महादेवी जी के गीत पढ़ कर वेदना से हिल न उठा होगा?

यद्यपि छायावाद में संकीर्णता, अस्पष्ट रहस्यात्मकता, आदि दोष मिलते हैं परन्तु कुछ दोषों के कारण वह उपेक्षणीय नहीं। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में:—"छायावाद गौरव प्रदान करने योग्य है। जिस कविता ने एक नवीन चेतना जगा कर समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया; जिसने उसकी वस्तुमात्र पर अटक जाने वाली दृष्टि को धार रख कर इतना नुकीला बना दिया कि हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रवेश कर सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को पकड़ सके; जिसने जीवन की कुण्ठाओं को अनन्त रंगों वाले स्वप्नों में गुद्गुदा दिया, जिसने भाषा को नवीन हाव-भाव, नवीन विभ्रम-कटाक्ष, नवीन अश्रु-हास प्रदान किये; जिसने हमारी कला को असंख्य अनमोल छाया-चित्रों से जगमगा दिया और अन्त में जिसने कामायनी को समृद्ध रूपक, पल्लव और युगांत की कला, नीरजा के अश्रुगीले गीत, परिमल और अनामिका की अम्बरचुम्बी उड़ान दी उस कविता का गौरव अक्षय है।"

भाषा तथा लिपि

हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का प्रभाव

[डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

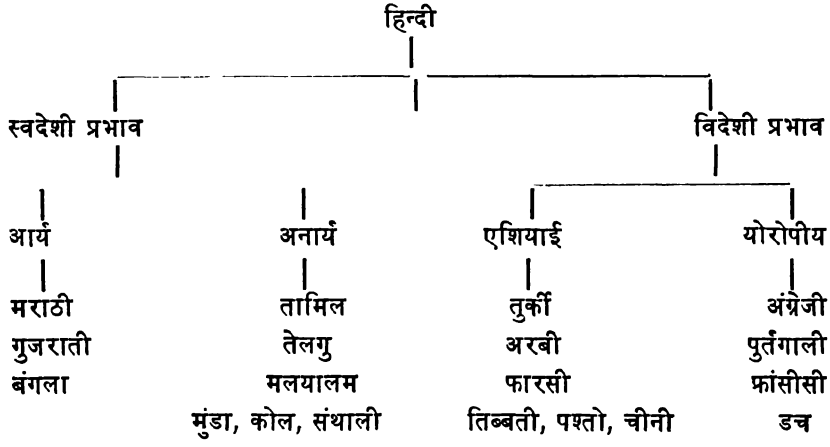
वैज्ञानिक शब्दावली में 'भाषा' शब्द का प्रयोग जनता में प्रचलित किसी बोली के साहित्यिक रूप के लिए किया जाता है। सामान्यतः भाषा वह वर्णमय सार्थक ध्वनि-समूह है जिसके माध्यम से एक व्यक्ति का अभिप्राय परिपूर्ण रूप में दूसरा व्यक्ति ग्रहण कर सकता है। यहाँ 'भाषा' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया गया है। संकुचित अर्थ में बोली का परिष्कृत, सुस्थिर, व्याकरणानुमोदित और साहित्य में व्यवहृत रूप 'भाषा' कहलाता है।

भाषा बोली की भूमिका पर ही पनपती है, उसी से प्राण-शक्ति ग्रहण करती है। बोली दैनिक व्यवहार की वस्तु है, अतएव वह स्वभावतः परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन को भाषा विज्ञान की शब्दावली में विकास कहा जाता है, इसलिए कहा जा सकता है कि बोली स्वभावतः विकसनशील होती है। बोली का यह विकास कई कारणों से उपस्थित होता है। नित्य-प्रति व्यवहार की वस्तु होने के कारण सबसे अधिक परिवर्तन बोली के उच्चारण-क्षेत्र में ही दिखायी पड़ता है। अनेक व्यक्तियों के द्वारा उच्चारित ध्वनियाँ उनके भिन्न अवयव-संस्थान के कारण क्रमशः अनेक रूप धारण कर लेती हैं और आदि में अति-क्षीण सा प्रतीत होने वाला यह परिवर्तन भी कालगति से पुष्ट होता चलता है और इस प्रकार पुराने शब्दों को नये रूप में उपस्थित कर देता है। किसी नयी बात को व्यक्त करने के लिए नये शब्द बनते चलते हैं, जिनका पुरानों से कोई संबंध भी नहीं रहता। कभी किसी नये धर्म के संपर्क में आकर, कभी किसी राजनीतिक संगठन में पड़कर अथवा विदेशी राज्यसत्ता से अधिकृत होकर, कभी किसी व्यापारिक संबंध के कारण, कभी संसार-व्यापी नये परिवर्तनों और नयी खोजों से प्रभावित होकर या इसी प्रकार के अन्य कारणों से प्रभावित होकर बोली अपना रूप बदलती रहती है, नये शब्दों को ग्रहण करती रहती है, पुराने शब्दों को नये अर्थों के व्यवहृत करने में असमर्थ पाकर त्यागती रहती है, दूसरी भाषा में व्यवहृत शब्द-सम्पत्ति के आधार पर अपने यहाँ के शब्दों को खरादती-तराशती और नये-नये संयुक्त रूपों में गढ़ती रहती है, अपने व्याकरण में परिवर्तन लाती रहती है। व्यापारिक समझौते की तरह भाषा और बोली के क्षेत्र में भी समझौता चलता है, जिसके कारण एक बोली में दूसरी

भाषा या बोली के शब्द, नये अर्थ, नये रूप, और नयी ध्वनियों का समावेश होता रहता है। जिनसे हमारा व्यापारिक समझौता कुछ घनिष्ठ है, उनका माल हमारे यहाँ अधिक खपता है, जिनसे कम है या होकर टूट गया है उनका माल कम लिया जाता है या उसका पूर्ण तिरस्कार कर दिया जाता है। इसी प्रकार जिन देशों से हमारा सम्पर्क अधिक है, उनके अपेक्षाकृत अधिक शब्द हमारी बोली और भाषाओं में स्थान पा जाते हैं, जिनके जीवन का, जिनके धर्म और जिनकी राजनीति का जितना अधिक प्रभाव हमारे ऊपर है और जिस सीमा तक हम उन पर आश्रित या उनके अधीन हैं, उतना ही अधिक उन क्षेत्रों में व्यवहृत होने वाले शब्दों का प्रभाव भी हमारी भाषा में दिखायी देने लगता है। तात्पर्य यह कि बोली अनेक रूपों और अनेक मार्गों से अपनी शब्द-राशि में परिवर्तन-परिवर्द्धन करती है। बोली को उपजीव्य बनाकर चलने वाली भाषा स्वभावतः उस परिवर्तन-परिवर्द्धन का लाभ ग्रहण करती चलती है। सहज ही उसमें उपजीव्य बोली के, उसमें आये हुए पास-पड़ोस की बोलियों तथा विदेशी भाषाओं के शब्द संग्रह होते रहते हैं।

प्रत्येक जीवित भाषा को व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से पास-पड़ोस की तथा दूरवर्ती किन्तु अतिसमृद्ध भाषाओं से न केवल विचारों के आदान-प्रदान की ही आवश्यकता आ पड़ती है, बल्कि उन भाषाओं से किन्हीं विशेष विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों को भी ग्रहण करना पड़ता है। संसार की समृद्ध और असंकुचित सभी भाषाओं में इस प्रकार के शब्दों को बराबर ग्रहण किया जाता रहा है। भाषा और साहित्य की समृद्धि इसी आदान-प्रदान के माध्यम से संभव होती है, अन्यथा वे एकदेशीय होकर विकसित होने से रह जायेंगी। भाषा के क्षेत्र में इस प्रकार का ग्रहण अवांछनीय अथवा अवहेलनीय नहीं। यही कारण है कि जर्मन भाषा में विदेशी शब्दों की संख्या १०००० तक पहुँच चुकी है। स्वयं संसार की समृद्धतम कहलाने वाली भाषा अंग्रेजी ने भारतीय भाषाओं से २५०० शब्दों का ऋण सहर्ष स्वीकार कर लिया है, अन्य विदेशी शब्दों की संख्या तो उसमें बहुत अधिक है ही। फारसी भी भारतीय भाषाओं के १५० के लगभग शब्द ग्रहण कर चुकी है। स्वयं भारतीय भाषाओं में बंगला ने अरबी-फारसी और तुर्की के २४०० शब्द तो लिये ही हैं, अंग्रेजी के ७०० तथा पुर्तगाली के लगभग १०० शब्द और ले लिये हैं। हिन्दी के शब्द-भाण्डार में भी इसी प्रकार तुर्की के लगभग ७०, फारसी-अरबी के लगभग ७०००, अंग्रेजी के लगभग २५०० तथा पुर्तगाली के लगभग ८० शब्दों के ग्रहण करने के अतिरिक्त अपने ही घर की द्रविड़ भाषाओं से अनेक शब्द इस तरह आ गये हैं कि वे पराये नहीं लगते, कानों को खटकते नहीं। हिन्दी ऐसे विस्तृत प्रदेश की भाषा है कि उसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रवर्ती बोलियों तथा प्रतिवेशी भाषाओं के शब्द सहज ही स्थान पा गये हैं। भाषाविदों ने इस विस्तीर्ण भू-भाग में व्यवहृत हिन्दी भाषा के रूप में सूक्ष्म अन्तर देखकर उसे मोटे रूप में पश्चिमी तथा पूर्वी हिन्दी के नाम से दो प्रकार का बताया है और पश्चिमी

हिन्दी का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से मानते हुए उसे गंगा-यमुना के दोआबे की भाषा बताया है जिसके अन्तर्गत बांगरू, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली नामक जनपदीय बोलियाँ रखी जाती हैं तथा पूर्वी हिन्दी का विकास अर्ध-मागधी से मानते हुए उसके अन्तर्गत अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी को स्थान दिया गया है। दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं के रूप में राजस्थानी, बिहारी तथा पहाड़ी भाषाओं से भी इसे शब्द-सामग्री मिली है। पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अम्बाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी क्षेत्र के पहाड़ी प्रदेश, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा के बीच तक फैली इस भाषा के लिए जहाँ इन अनेक भाषाओं से शब्दों का ग्रहण किया जाना स्वाभाविक था वहाँ राजनीतिक क्षेत्र में पराजित और मुस्लिम तथा अंग्रेजी शक्तियों के द्वारा दलित देश की भाषा होने के कारण विदेशी भाषाओं से प्रभावित होना भी स्वाभाविक ही था। भारतीय आधुनिक भाषाओं का इतिहास विदेशी शासन से प्रभावित भाषाओं का इतिहास है, अतः सहज ही उन सबमें जिस प्रकार विचार-सामग्री में विदेशीपन की यत्र-तत्र गंध आ जाती है, उसी प्रकार शब्दों, ध्वनियों, शब्द-रूपों आदि में भी उसका प्रवेश पाया जाता है। हिन्दी के शब्द-भंडार में ग्रहण किये जाने वाले ये शब्द मुख्यतः तीन क्षेत्रों से आये हैं—स्वदेशी, एशियाई तथा योरोपीय। स्वदेशी शब्दों में भी आर्य तथा द्रविड़ दोनों प्रकार के भाषा-शब्द हिन्दी में आये हैं। एशियाई भाषाओं में से अरबी, फारसी, तुर्की तथा पश्तो के और योरोपीय भाषाओं में अंग्रेज़ी, पुर्तगाली, फ्रांसीसी तथा डच भाषाओं के शब्द हिन्दी में व्यवहृत होते हैं। इस प्रभाव को निम्नलिखित रूप में सरलता से व्यक्त किया जा सकता है।



हिन्दी-भाषा पर अन्य भाषाओं का यह प्रभाव, जैसा पहले कहा जा चुका है, कई रूपों और कई कारणों से पड़ा है। हिन्दी में कई विदेशी ध्वनियाँ घर कर गयी हैं, उसमें

अनेक विदेशी शब्द कभी-कभी तत्सम रूप में गृहीत हुए हैं और कभी उनका हिन्दी उच्चारण के अनुकूल तद्भव रूप ही ग्रहण कर लिया गया है, अतएव कभी तत्सम ध्वनियाँ हिन्दी में आयी हैं और कभी उनका हिन्दीकरण हो गया है। विदेशी ध्वनियों और शब्दों के अतिरिक्त हिन्दी शब्दों में विदेशी प्रत्यय-उपसर्ग आदि के प्रयोग द्वारा नवीन शब्द-निर्माण में भी सहायता मिली है। कुछ शब्दों का निर्माण और प्रचलन हिन्दी के शब्दों के साथ मिलकर हो गया है तथा कुछ शब्द नितान्त विदेशी मेल से बनकर भी हिन्दी के ही प्रतीत होने लगे हैं, उनका हिन्दी में प्रचलन हो गया है। अर्थ-विकास के क्षेत्र में इस प्रभाव के फलस्वरूप कभी-कभी अपने ही घर के कुछ शब्दों को विदेशी पर्यायों के सामने हार मान लेनी पड़ी है और उनका प्रयोग बन्द हो गया है, कभी विदेशी शब्द अथवा स्वदेशी शब्द हमारी भाषा में प्रविष्ट होकर अपना ही अर्थ खो बैठे हैं और किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं, कभी हिन्दी के शब्द के साथ उसी का विदेशी पर्याय शब्द इस प्रकार जुड़ बैठा है कि उसका अर्थ ही विनष्ट हो गया है। अभिप्राय यह है कि ध्वनि, रूप-रचना, शब्द तथा अर्थ के क्षेत्र में हिन्दी भाषा पर अन्य भाषाओं का अनेकमुखी प्रभाव लक्षित होता है। इस प्रकार अपनी भाषा में आ-जाने वाले शब्दों को विशेषतः व्यावहारिक सरलता की दृष्टि से या तो इसलिए ग्रहण कर लिया गया कि राजकीय क्षेत्रों में उनका व्यवहार था, अथवा उन्हें इसलिए अपना लिया गया कि किसी विशेष स्थिति या पहनावे, खान-पान आदि के लिए हमारी भाषा में उचित अभिव्यक्ति दे सकने वाला शब्द ही उपलब्ध नहीं था। नयी संस्कृति और नये स्वभाव-व्यवहार के कारण अनेक शब्द हिन्दी में चले आये और फिर उसी के होकर रह गये। मुख्यतः कचहरी, सेना, स्कूल, धर्म, पहनावे, खाने, खेल और यंत्रों संबंधी शब्दों का हिन्दी में सहज प्रचार हो गया। इस रूप में या तो विदेशी संस्थाओं के लिए या उनमें प्रचलित शब्द हिन्दी में आये या फिर नयी वस्तुओं के नामों को हिन्दी ने अपना लिया। नीचे दिये गये विवरण से इस प्रभाव को स्पष्टतया समझने में सहायता मिलेगी :—

१—हिन्दी में प्रचलित विदेशी ध्वनियाँ

अ—फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियाँ—क़, ख़, ग़, ज़, फ़, झ़ यथा, काग़ज़, तख़्त, लफ़्ज़, ग़ैर आदि में।

आ—अंग्रेजी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनि—ऑ। यथा, डॉक्टर, कॉलेज में।

हिन्दी में अरबी तथा तुर्की के शब्द फ़ारसी के माध्यम से ही आये हैं, अतएव उन शब्दों की मूल ध्वनियाँ भी फ़ारसी रूपान्तर के साथ ही हिन्दी में प्रविष्ट हुई हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ऐसे शब्दों को फारसी का ही मान लिया जाता है। भाषा वैज्ञानिकों द्वारा बताये गये अरबी-फ़ारसी शब्दों के हिन्दी रूपान्तर को निम्नलिखित कतिपय उदाहरणों से समझा जा सकता है।[1]

१—देखिए, हिन्दी भाषा का इतिहास, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० १९९-२१५।

क—फ़ारसी का अग्र विवृत स्वर 'अ' हिन्दी में अर्द्धविवृत मध्यस्वर 'अ' हो जाता है—यथा, फ़ा० क़दम्—>हि० क़दम

ख—फ़ारसी में ए ओ ध्वनियों के उच्चारण का झुकाव इ उ की ओर है, किन्तु हिंदी में इ उ स्वीकृत हो चुका है।

ग—फ़ारसी संयुक्त स्वर अइ अउ हिंदी में क्रम से ऐ (अए) औ (अओ) हो जाते हैं। यथा, फ़ारसी मेइदान्—>हि० मैदान। फा० म्उसमे्—>हि० मौसम।

घ—स्वरलोप, स्वर-परिवर्तन तथा स्वरागम के अनेक उदाहरण मिलते हैं—फा० मेसेलेह—>हि० मसला, फा० मुवाफ़िक़्—>हि० माफ़िक, फा० निर्ख़्—>हि० निरख।

च—अरबी ह और ह् फ़ारसी में ह् हो जाने पर भी हिन्दी में पुनः ह् बन गया—यथा, ह्ुनेर् (फ़ा०)—>हि० हुनर; फा० मुह्ेरेम्—>हि० मुहर्रम्।

छ—संयुक्त व्यंजनों की उपस्थिति में '्ह्' का या तो लोप हो जाता है या बीच में स्वर उपस्थित हो जाता है। यथा, फ़ा० फ़िह्रिस्त्—>हि० फ़ेरिस्त।

ज—फ़ारसी शब्दों का अनुच्चरित अन्त्य '्ह्' पूर्व 'अ' के साथ मिलकर हिंदी 'आ' का रूप धारण कर लेता है। यथा, फ़ा० किनारे ह्—>हि० किनारा।

झ—फ़ारसी ्द् हि० ज् या द में परिवर्तित हो जाता है। जैसे,

फा० क़ाग़ेद—>हि० काग़ज़ या कागद

ट—फ़ारसी का अन्त्य 'न्' हिन्दी में पिछले स्वर को ही अनुनासिक कर देता है। यथा, फ़ा० ख़ान्—>हि० ख़ां।

ठ—फ़ारसी क़ प्रायः हिन्दी में 'ग' हो जाता है।—फ़ा० नक़्द्—>हि० नगद

ड—बहुत से फ़ारसी शब्दों में हिन्दी तक आते-आते विपर्यय तथा लोप के कारण पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। यथा, फ़ा० मुकेल्चह् तथा लम्हा से हि० मुचल्का तथा लहमा और फ़ा० मुज़ेदूर् से हि० मज़दूर क्रमशः विपर्यय तथा लोप के कारण ही उपस्थित हुए हैं।

इसी प्रकार अंग्रेज़ी भाषा की अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जिनका उच्चारण हिंदी में उसी रूप में नहीं हो पाता और वे ध्वनियाँ हिन्दी की किसी अन्य ध्वनि के रूप में ही यहाँ उच्चरित होती हैं। ये ध्वनियाँ स्वर तथा व्यंजन दोनों प्रकार की ही हैं। उदाहरणतः, स्वर—

(क) अर्द्धविवृत ह्रस्व अग्रस्वर '्ऍ' हिन्दी ए से काफ़ी ऊपर की ओर होना चाहिए, किन्तु हिन्दी में इसका उच्चारण इ या ऍ होता है। जैसे,

कॅलेॅज्—>कालिज, कॉलेज

(ख) इसी प्रकार अंग्रेजी ऍ अॅ, ओॅ, ए', तथा अे का उच्चारण हिन्दी में क्रमशः ऐ (अए), आ, आ, या ऑ, अ तथा अ या ए हो जाता है। जैसे, निम्नलिखित शब्दों में—

(i) अं० मैॅन्—>हि० मैन (ii) ऑफ़िस (अ.)—>आफिस (हि०)

(iii) अं० लॉॅ—>हि० ला, लॉ (iv) ब'ड़(Bird)—>बर्ड (हि०)

(v) अं. अ॑लोउन् (alone)→अलोन या एलोन।

(ग) अंग्रेजी के समान संयुक्त स्वर हिन्दी में न होने के कारण उनके स्थान पर हिन्दी के संयुक्त स्वर आ जाते हैं या कुछ में असाधारण संयुक्त ध्वनियाँ आ जाती हैं।—

(i) अं० एइ>हि० ए [मेइल—मेल] (ii) अं० ओउ>हि० ओ, अ [बोउट्→बोट] इसी प्रकार, अं० अइ→हि० ऐ (अए), आइ, ए; अं० अउ>हि० औ (अओ), आउ; अं ओ॑इ→हिन्दी वाय, वाय ऐ; अं० इअे>हि०इआ, इअ, ए; अं० एअे→हि० एअ, ए, अं० ओ॑अे→हि० ओ तथा अं० ऊअे→हि० यो का रूप धारण कर लेते हैं।

(घ) अंग्रेजी के हिन्दी में व्यवहृत शब्दों में प्रायः स्वरागम दिखायी देता है।—
स्कूल→इस्कूल

व्यंजन–(च) अंग्रेजी वर्त्स्य ट्, ड् हिन्दी में क्रमशः ट्, त् और ड्, द् में परिवर्तित हो जाते हैं—

(i) अं० रिपोर्ट्→हि० रपट (ii) अं० ऑगस्ट्→हि० अगस्त (iii) अं० डे॒स्क→हि० डिकस, डेस्क

(iv) अं० डे॒सेम्बर→हि० दिसम्बर

(छ) अंग्रेजी च् (ट्श्) तथा ज् (ड्झ्) हिन्दी में तालव्य स्पर्श संघर्षी च् ज् हो जाते हैं—चे॒यर→चेयर, जे॒ल→जेल।

(ज) अंग्रेजी ल् स्वर के पूर्व हिन्दी में भी अंग्रेजी के समान उच्चरित होता है, किन्तु व्यंजन के पूर्व या शब्द के अन्त में अंग्रेजी में तो इसका उच्चारण बदलता है, परन्तु हिन्दी में यह वैसा ही रह जाता है। दोनों में भेद नहीं होता।

(झ) अंग्रेजी दंत्य संघर्षी थ् द् ध्वनियां हिन्दी में दंत्य स्पर्श थ् द् में परिवर्तित हो जाती हैं—थर्ड→थर्ड। कहीं—कहीं थ् का हिन्दी में ठ भी होता है— थियेटर→ठेठर।

(ङ) ग्रामीण बोली में अंग्रेजी संघर्षी ध्वनियाँ (फ़्, व्, ज़् श्) फ्, ब् ज्, स् का रूप धारण कर लेती हैं—फुटबाल, बोट (वोट)।

(ट) अंग्रेजी झ् का प्रयोग ज़् के समान होता है—ब्लेझ़र—बलेज़र।

(ठ) ओष्ठ्य अर्द्धस्वर व् हिंदी में व् या ब् हो जाता है—वेस्टकोट→वास्कट।

२–विदेशी उपसर्ग तथा प्रत्यय आदि

हिन्दी में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो विदेशी उपसर्ग अथवा प्रत्यय के मेल से बने हैं। प्रायः वे शब्द जिनमें विदेशी प्रत्ययों या उपसर्गों का प्रयोग किया गया है स्वयं विदेशी हैं, किन्तु ऐसे शब्दों का भी अभाव नहीं है जो हिन्दी के हैं और विदेशी प्रत्यय या उपसर्ग में युक्त हो गये हैं। फ़ारसी-अरबी के प्रत्यय-उपसर्गों की संख्या अंग्रेजी के प्रत्यय-उपसर्गों की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिनका हिन्दी में प्रयोग हुआ है। हिन्दी

शब्दों के साथ अरबी-फ़ारसी के प्रत्यय या उपसर्ग का योग दिखायी देता है, अंग्रेजी शब्दों में प्रत्यय आदि भी अपने ही हैं। फ़ारसी-अरबी से लिये गये उपसर्गों के कुछ उदाहरण देखिए—

(i) कम कमज़ोर, (ii) ग़ैर ग़ैर मुमकिन,(iii) ब बदस्तूर, (iv) दर दरअसल (v) ला लावारिस (vi) हम हमदर्द, (vii) बे बेईमान, (viii) सर सरपंच, आदि। फ़ारसी का 'हर' उपसर्ग न केवल अपनी भाषा के शब्दों के साथ बैठ जाता है बल्कि हिन्दी के शब्दों के साथ भी मेलजोल बढ़ाये है। यथा, हररोज़ भी होता है और हरदिन हरघड़ी भी।

अंग्रेजी से भी इसी प्रकार 'सब' या 'हेड' जैसे उपसर्ग उन्हीं के शब्दों के साथ प्रचलित हैं। जैसे, सब सबडिप्टी, सब पोस्टमास्टर, हेड कांस्टिबुल, हेडमास्टर आदि।

उपसर्गों से अधिक अरबी-फ़ारसी के प्रत्यय ऐसे हैं जो केवल अपनी ही भाषाओं के शब्दों में नहीं लगते, बल्कि हिन्दी के साथ बराबर जुड़ते आ रहे हैं। यहाँ तक कि हिन्दी में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों तक में इनका प्रयोग देखा जाता है। यथा, बाबू के साथ गिरी लगाकर बाबूगिरी बन जाता है। हिन्दी में फ़ारसी-अरबी के ई, कार, दान, दानी बान, वान, आना, खोर, बाज़, बाज़ी आदि अनेक प्रत्यय प्रचलित हैं, जिनकी पूरी तालिका यहाँ देना संभव नहीं है, केवल खुशी, पेश-कार, इत्र-दान, बाग़बान, गाड़ीवान, घराना, सूद-खोर, कबूतर बाज़ आदि शब्दों में उक्त प्रत्ययों के कुछ उदाहरण ही यहाँ देखे जा सकते हैं।

अरबी-फ़ारसी के 'अज़' तथा 'दर' उपसर्ग भी अरबी-फ़ारसी शब्दों के साथ जुड़े रहकर हिन्दी में प्रयुक्त होने पर कारक का काम देने लगते हैं। यथा, अज़-खुद तथा दर-हक़ीक़त।

इसी प्रकार हिन्दी में प्रचलित 'शाबास' विस्मयादिबोधक अव्यय भी फ़ारसी के शाद-बाश शब्द से ही रूपान्तरित और गृहीत है। हिन्दी में प्रचलित 'कि' समुच्चय-बोधक अव्यय की व्युत्पत्ति संदिग्ध बतायी जाती है और भाषा विज्ञानियों का ऐसा अनुमान है कि यह अव्यय भी फ़ारसी से ही हिन्दी में आया है।

३—शब्द—समूह—देशीय तथा विदेशीय

अ—स्वदेशी आधुनिक आर्यभाषा के शब्द—क—बंगला—गल्प, गमछा, उपन्यास, छाता, संभ्रान्त, भद्र, कविराज, रसगुल्ला, चमचम, सन्देश, चूड़ान्त आदि।

ख—मराठी—वांग्मय, लागू, चालू आदि।

ग—गुजराती—गरबा, हड़ताल, कुर्ती, लोहनी आदि।

घ—पंजाबी—सिक्ख, तंदूर आदि।

ब—स्वदेशी आर्य भाषा के शब्द:—क—तामिल—पिल्लै या पिल्ला, चुरुट—शुलुट्टु।

ख—तेलुगु—आलि, अलि, आली—ते० आलु।

ग–मलयालम–साबू। घ–मुण्डा—कोड़ी—कुड़ी मु०।

च–संथाली—हेंडे से हांड़ी। छ–तिब्बत–बर्मी—लुंगी।

इनके अतिरिक्त विद्वानों ने हिन्दी में प्रयुक्त झगड़ा, आटा, घूँटना, खूँटा, सीप जैसे शब्दों की व्युत्पत्ति भी द्रविड़ भाषाओं से दिखायी है तथा संस्कृत के तत्सम से जान पड़नेवाले काल, कला, पुष्प, पुष्कर, पूजा, अणु, वल्गु, नाना, घोटक, पिक, कीचक, मयूर, कदली, कम्बल, बाण, नीर, अटवी, पट्टन, मीन, पल्ली आदि शब्दों को भी द्रविड़ भाषा का स्वीकार किया है। द्रविड़ शब्द 'पिल्लै' का केवल बच्चे के अर्थ में ग्रहण न करके हिन्दी ने उसे कुत्ते के बच्चे के रूप में जो ग्रहण किया है उससे यह अनुमान लगाना उचित नहीं कि द्रविड़ भाषाओं से आये शब्दों का हिन्दी में प्रायः बुरा अर्थ हो जाता है, जैसा कि धीरेन्द्र वर्मा ने स्वीकार किया है। पूर्वोक्त अनेक शब्द इस तथ्य का उद्घाटन करते हैं कि द्रविड़ संस्कारों की पवित्रता का पूरा रक्षण यहाँ हो रहा है। शब्दों के रूप में ही नहीं द्रविड़ भाषाओं ने मूर्द्धन्य वर्ण के प्रयोग में भी आर्य भाषाओं को प्रभावित किया है।

स–विदेशी एशियाई शब्द : क–तुर्की—आक़ा, उजबक, उर्दू, कलगी, कैंची, क़ाबू, कुली, खातून, खां, गलीचा, चकमक, चाकू, चिक, तमग़ा, तोप, दरोग़ा, बहादुर, बीबी, बेगम, बावर्ची, मुचलका, लाश, सौगात, चमचा, चारपाई, तलाश, तोशक आदि।

ख–पश्तो—पठान, रोहिला।

ग–फ़ारसी—आदमी, औरत, बच्चा, हवा, आसमान, ज़मीन, आहिस्ता, देर, मालूम, नज़दीक, सब्र, क़सूर, शर्म, हिसाब-किताब, सिपाही, फ़ौज, मौज, मजा, मुर्दा, गुस्सा, अफसोस, आबदाना, आबरू, आराम, आमदनी, आवारा, आवाज़, आईना, आइन्दा, उम्मीद, किसमिस, कमरबन्द, पैजामा, पर्दा, पुर्जा, परहेज़, बीमार, वारिस, बिरादरी, मादा, मस्त, मलाई आदि हज़ारों शब्द।

घ–अरबी—अल्लाह, पैग़म्बर, रोज़ा, नमाज़, अजीब, अमीर, अत्तार, अर्क, अहमक, अक्ल, असर, आखिर, आफ़त, आदत, इजारा, इनाम, इज्जत, इजलास, इस्तीफा, इमारत, एहसान, क़सर, कमाल, क़दम, किताब, क़िला, कसरत, खबर, खत, जहाज, जवाब, जलूस, तमाशा, तारीख, तक़दीर, तैरना, तादाद, तोता, तहसील, दाखिल, दीवान, नतीजा, मेहनत, मुद्दई, मिसाल, मुंसिफ, मुक़दमा, मौलवी, मतलब, मशहूर, लिहाफ, लिफ़ाफ़ा, लेकिन, वकील, हैजा, हुक्म आदि।

द–विदेशी योरोपीय शब्द : क–डच—तुरुप, बम, स्कावन, चिड़ी, इस्क्रूप केवल पाँच शब्द।

ख—फ्रांसीसी—अंग्रेज़, कूपन, कार्तूस—केवल तीन शब्द। बुर्जुआ।

ग—पुर्तगाली—अनानास, अल्मारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, कमीज़, कप्तान, कनस्तर, कमरा, काज़, काफी, काजू, काकातुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिरजा, गोभी, गोदाम, चाबी, तंबाकू, तौलिया, नीलाम,

परात, पाव, पादरी, पिस्तौल, पीपा, फर्मा, फीता, बपतिस्मा, बाल्टी, बिस्कुट, बटन, बोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज, यीशू, लबादा, सन्तरा, साया, सागू, बंडल आदि।

घ--अंग्रेजी—अंग्रेजी के सहस्रों शब्द हिन्दी के दैनिक व्यवहार में आ रहे हैं। योरोपीय भाषाओं के शब्दों में सबसे अधिक ये शब्द ही हिन्दी के प्रयोग में आते हैं। वस्तुतः इसके पीछे अंग्रेजी राज्य का भारत में दीर्घकाल तक रह जाना ही कारणरूप है। अंग्रेजी को राज्य भाषा का गौरव मिलने से सम्पूर्ण देश की समस्त भाषाएं उससे अत्यधिक प्रभावित हुई हैं। पुर्तगालियों, डचों तथा फ्रांसीसियों का राज्य तो इस देश में कुछ ही क्षेत्र में और वह भी बहुत अल्पकाल के लिए रहा है। उनका संपर्क हिन्दी भाषाभाषी प्रदेश से स्थापित नहीं हो सका था, अतएव हिन्दी में इन भाषाओं के शब्दों की न्यूनता आश्चर्यजनक नहीं है। नीचे कुछ अंग्रेजी शब्द दिये जाते हैं—

जनवरी, फर्वरी आदि, अपील, अफसर, अस्पताल, अमरीका, असेम्बली, अलबम, आपरेशन, आफिस, आर्डर, इंस्पेक्टर, इंच, इंजीनियर, इंजन, स्कूल, स्पीच, एजंट, एक्टर, एक्टिंग, ओवरसियर, कम्पनी, कमीशन, कमिश्नर, कलेक्टर, कलेंडर, कफ़, कमेटी, कांग्रेस, कापी, कालर, क्लास, क्लब, कालिज, कोचवान, कोलतार, गार्ड, गजट गेटिस, गिलास, गैस, गिन्नी, गौरमेंट आदि।

यहाँ केवल मुख्य भाषाओं के नाम का ही उल्लेख किया गया है। खोज करने पर जान पड़ेगा कि अभी और भी कई भाषाओं के शब्द हिन्दी में सम्मिलित हैं। डॉ० उदय-नारायण तिवारी ने ऐसे कई शब्दों पर प्रकाश डाला है। उदाहरणस्वरूप, संस्कृत में लौह, हिन्दी लोहा शब्द की उत्पत्ति सुमेरीय रोध-संस्कृत रुधिर से हुई है। समय के साथ रोध लोध में और फिर लोह के रूप में परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार, बेबिलो-नियन 'मिना' शब्द से तौल का 'मन' शब्द व्यक्त हुआ। ग्रीक का 'सेमिदालिस' हिन्दी 'सेवइयां' का अग्रवर्ती बताया जाता है और 'पुस्तक' शब्द के लिए हम पुरानी फ़ारसी के पोस्त शब्द के साथ 'क' जोड़कर नवीन शब्द-निर्माण के अधिकारी बने हैं। इसी प्रकार मध्य फारसी के मोचक—घुटनों तक का जूता—से मोचिका और फिर मोची बन गया। तश्त—टठ—ही आगे चलकर ठठेरा में रूपान्तरित माना गया।

शब्द केवल रूप-परिवर्तित अवस्था में ही दूसरी भाषाओं से हमारे यहाँ गृहीत नहीं हुए, अपितु दूसरी भाषाओं के वाक्य-संगठन और मुहावरों का प्रभाव भी हिन्दी पर पड़ा। उदाहरणतः, हिन्दी की अपनी स्वभाव-रीति के अनुकूल जो वाक्य लिखा जाना चाहिए था 'हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित", वह लाघव के लिए अंग्रेजी के ढंग पर लिखा जाता है "डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग"। इसी प्रकार अंग्रेजी के ढंग पर एक ही व्यक्ति के कथन को खण्डशः दो वाक्यों में रखकर अब हिन्दी में भी उन दोनों के बीच "कहा राधे ने" आदि रख दिया जाता है। हिन्दी के छायावादी कवियों के बाद से प्रयोगवादी कवियों तक की रचनाओं में ऐसे अनेक शब्द आ गये हैं जो अंग्रेजी शब्दों के अनुवाद मात्र हैं। कुछ अहिन्दी शब्दों

का प्रयोग भी हिन्दी रचनाओं में बराबर होता चला आया है। इसी प्रकार विदेशी, विशेषतः फारसी-प्रभावित मुहावरे भी हमारे यहाँ प्रतिष्ठित हो गये हैं, जिनका हिन्दी रूपान्तर अब संभव नहीं है, उसमें वह अर्थव्यंजकता प्रतीत ही नहीं होगी। उदाहरणतः काला दिल, अक्ल की पुड़िया, दिमाग का दोहरा आदि अनेकानेक मुहावरे हिन्दी में प्रचलित हो गये हैं। अंग्रेजी लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे निश्चय ही नहीं आ सके, वे जहाँ आये हैं अपने अनुवादित रूप में ही उपस्थित हुए हैं अथवा उनके ही समान अर्थ-बोध कराने वाले हिन्दी मुहावरों को हो उनके स्थान पर रख लिया गया है। फारसी-प्रभावित मुहावरों में भी कुछ ऐसे हैं जिनमें सब कुछ फारसी है, सम्पूर्ण शब्दावली फ़ारसी है और कुछ ऐसे हैं जिनमें फ़ारसी हिन्दी का मिश्रण है। काला दिल पहले प्रकार का उदाहरण है।

४—अर्थविकार और विदेशी एवं देशी शब्द—हिन्दी में आकर अनेक देशी-विदेशी शब्द अपना मौलिक अर्थ खो बैठे हैं और अर्थविकार की किसी एक दिशा को ग्रहण करके नये अर्थ देने लगे हैं। देशी शब्दों में तत्सम तथा तद्भव दोनों प्रकार के शब्द लिये जा सकते हैं। उदाहरणतः, गंवार, तेल, मुग्ध, संभ्रान्त, तत्वावधान, गवेषणा, गुह्य, साहसी, मृग, कल आदि शब्द लिये जा सकते हैं। ग्रामवासी का अर्थ छोड़कर अब 'गंवार' असंस्कृत और असभ्य के लिए प्रयुक्त होता है, 'तेल' केवल तिल का ही नहीं अब मछली और मिट्टी का भी होता है और जब तक तेल के साथ विशेषक संज्ञा न लगा दी जाय तब तक उसका स्पष्ट अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता। 'मुग्ध' अब मूर्ख के लिए नहीं मोहित के लिए प्रयुक्त होने लगा, 'संभ्रान्त' संस्कृत से चलकर बंगला की गलियों में विचरण करता हुआ अपने मूल अर्थ को बदलकर भ्रमित व्यक्ति के स्थान पर कुलीन और सज्जन के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। 'तत्वावधान' का वास्तविक अर्थ मूल सत्य की खोज न रहकर अब इतना बदल गया है कि किसी सभा आदि की देख-रेख के लिए ही इसका प्रयोग होता है। 'गवेषणा' के बल गायों की खोज नहीं रह गया बल्कि अब हर प्रकार की शोध या खोज के लिए प्रयुक्त होने लगा। 'गुह्य' अब रहस्य न रहकर गूह के रूप में पुरीषवाची हो जाने से जैसे घृणोत्पादक हो गया उसी प्रकार 'साहसी' अब हत्यारे और व्यभिचारी के लिए प्रयुक्त न होकर किसी शक्ति, धैर्य और आदर्शमय कार्य के करनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त होकर उच्चस्थानीय हो गया है। 'कल' अब कल्य के रूप में केवल बीते कल के लिए ही नहीं आता अपितु परश्वः के अर्थ में आगामी कल का भी द्योतक होकर विस्तार पा गया।

इसी प्रकार विदेशी भाषाओं से आनेवाले शब्दों में भी बड़ा हेरफेर दिखाई देता है। कुछ शब्दों का अर्थ बदलकर हीन हो गया है, कुछ अच्छे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे हैं, कुछ विस्तृत अर्थ ग्रहण कर चुके हैं और कुछ अर्थ-संकोच के शिकार हो गये हैं, आदि। उदाहरणत, अंग्रेजी शब्द स्कूल केवल हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी प्रचलित हो गया है और इसने पाठशाला, विद्यालय, मक़तब सबसे अलग रह

कर अपने विशेष अर्थ का द्योतन कराया है। यों ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं, किन्तु अब शिक्षण-पद्धति की भिन्नता के कारण इनका अर्थ एक-दूसरे से अलग ग्रहण किया जाता है। स्कूल एक ऐसी शिक्षण संस्था है जहाँ केवल अंग्रेजी पद्धति से और अंग्रेजी की अथवा नवीनतम ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं को शिक्षा का प्रबन्ध है किन्तु पाठशाला शिक्षण-संस्था होते हुए भी संस्कृत की शिक्षा देनेवाली पुरातन-पन्थी संस्था है और मक़तब अरबी-फारसी के शिक्षण के लिए स्थापित शिक्षा-संस्था है। इसी प्रकार अंग्रेजी का व्यापक शब्द स्टेशन भी हिन्दी में केवल ठहरने का स्थान न रहकर अब रेलगाड़ी के ठहरने के स्थान मात्र के रूप में संकुचित होकर रह गया है। कभी-कभी ऐसा होता है कि वास्तविक वस्तुनाम के स्थान पर उस वस्तु से संबंध रखनेवाली किसी वस्तु या किसी भाग के नाम का ही प्रचलन हो जाता है। हिन्दी में इसी प्रकार ट्रेन के स्थान पर रेल, जो केवल ट्रेन चलनेवाली पटरी है, का व्यवहार होने लगा है और पटरी के लिए अब रेल न कहकर रेल की पटरी कहते हैं। ट्रेन का व्यवहार केवल पढ़े-लिखे लोगों में है, ग्रामीणों में कभी-कभी उसके लिए रेल-गाड़ी का व्यवहार अवश्य होता है। इसी प्रकार मोटर शब्द अंग्रेजी में चालक मशीन के लिए आता था, किन्तु हिन्दी में वह अब बड़ी चार पहियोंवाली और पेट्रोल से चलनेवाली गाड़ी के लिए प्रयुक्त होने लगा है और अंग्रेजी में उसी से संयुक्त होकर उस गाड़ी का अर्थ देनेवाला शब्द मोटरकार का अर्द्धांश 'कार' मात्र अब वैसी छोटी गाड़ी के लिए प्रयुक्त होता है। अंग्रेजी का 'ग्लास' शब्द अब हिन्दी होकर शीशे के अर्थ में व्यवहृत नहीं होता, 'गिलास' कहलाता है। कुछ विदेशी शब्द तो ऐसे हैं जिन्होंने हमारे यहाँ के तत्सम शब्दों को व्यावहारिक उपयोगिता या ग्रहणशीलता की दौड़ में पछाड़ दिया है, उन शब्दों का प्रयोग ही प्रायः समाप्त कर दिया है। हम जितनी सरलता से हज़ार, इशारा, शीशा या आईना, शक्ल, शराब, शहर, शिकार, खाली आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं उतनी सरलता और अर्थवत्ता के साथ अब सहस्र, संकेत, दर्पण, आकृति, मदिरा या मद्य, नगर या पुर, मृगया या आखेट और रिक्त का प्रयोग नहीं करते। यहाँ तक कि गूह और मूत हमारे भाषा-प्रयोग में अब नहीं आते। उनका स्थान पाख़ाना तथा पेशाब ले चुके हैं। कुछ शब्दों के लिए तो हमारे यहाँ पर्याय का अभाव सा जान पड़ता है या कम से कम उसका प्रयोग इतना अतीतकालीन हो चुका है कि अब उन्हें सुनने से उसी अर्थ का बोध नहीं होता। हम बेईमान और ईमानदार के लिए अब किसी दूसरे शब्द की कल्पना भी नहीं करते। गैस, एटलस आदि को हम जानते तो हैं किन्तु उनके लिए अपने यहाँ के किसी शब्द को ग्रहण नहीं कर पाते।

सारांश यह है कि भाषा व्यावहारिक धरातल पर आकर पारस्परिक संपर्क से बढ़ती और अपना रूप निश्चित करती है। उसमें देशी-विदेशी तत्त्वों का अनजाने सम्मिश्रण होता रहता है और वह उसकी रूप-रचना, उसके संगठन, शब्द-भांडार, ध्वनि-समुदाय तथा अर्थ-द्योतन शक्ति को प्रभावित करता है। हिंदी भी ऐसे अनेक प्रभावों से अछूती नहीं है।

हिन्दी और उसकी जनपदीय बोलियाँ

[श्री बाल गोविन्द मिश्र, एम्० ए०, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह एक विशाल प्रदेश की भाषा है, जिसमें यह शिष्ट जनता के पारस्परिक विचारविनिमय की भाषा है और साहित्यिक अभिव्यक्ति, पत्र-पत्रिकाओं तथा शिक्षा-दीक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत है। यह पश्चिम में जैसलमेर तक, उत्तर-पश्चिम में अम्बाला तक, उत्तर में शिमला से नेपाल के पूर्वी छोर तक, पूर्व में भागलपुर तक, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तक और दक्षिण-पश्चिम में खण्डवा तक फैली हुई है। इस प्रकार इस क्षेत्र में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश के अतिरिक्त वर्तमान पूर्वी पंजाब के कुछ जिले भी आ जाते हैं। इसके पश्चिम में गुजराती, उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, उत्तर में पहाड़ी भाषाएँ, पूर्व में बंगला, दक्षिण-पूर्व में उड़िया और दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम में मराठी तथा गुजराती-भाषा-भाषी क्षेत्र पड़ते हैं। इस विस्तीर्ण क्षेत्र में इस भाषा का व्यवहार करने वाले लोगों की संख्या प्रायः तेरह करोड़ के लगभग है। इस प्रकार भौगोलिक क्षेत्र तथा बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दी का स्थान समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में अन्यतम है।

हिन्दी के इस महत्त्वपूर्ण स्थान के कुछ और कारण भी हैं। हिन्दी भाषा मध्यदेश की भाषा है। मध्यदेश का भारतीय इतिहास में सदैव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टियों से यह समस्त भारतवर्ष का हृदय माना जाता रहा है। प्रायः समस्त धार्मिक तथा सांस्कृतिक चिन्तन-धाराओं एवं आन्दोलनों के प्रसार का केन्द्र-विन्दु यही प्रदेश रहा है। भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्वों का निर्माण इसी प्रदेश में हुआ है। इसी प्रदेश ने सर्वाधिक काल तक सफलतापूर्वक भारत के सांस्कृतिक रूप को अक्षुण्ण बनाये रखा है और उसकी रक्षा की है। इस प्रदेश की भाषा संस्कृत ही भारतवर्ष की सांस्कृतिक भाषा के रूप में यहाँ प्रतिष्ठित रही है। इस समय इस प्रदेश की भाषा होने के नाते स्वाभाविक रूप से यह गरिमापूर्ण स्थान हिन्दी को मिल गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दी को भारतवर्ष की प्राचीन भाषा संस्कृत का महान् उत्तराधिकार सीधे ही प्राप्त हुआ है। उसने संस्कृत के साथ ही भारत के सांस्कृतिक रिक्थ को भी प्राप्त किया है और उसकी रक्षा कर रही है। वर्तमान काल में भी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हिन्दी के सर्वप्रमुख स्थान से न तो कोई इनकार ही कर सकता है और न कोई उसकी उपेक्षा ही कर सकता है।

हिन्दी भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय हमें कई ऐसी विशेषताएँ उसमें दिखलायी पड़ती हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। हिन्दी की ये भाषागत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) हिन्दी की प्रकृति रचनात्मक है—भाषाएँ प्रायः दो प्रकार की होती हैं—रचनात्मक और उधार लेने वाली (Building Languages and Borrowing Languages)। रचनात्मक भाषाएँ अपने प्रत्ययों से ही नवीन शब्दों का निर्माण करने में समर्थ होती हैं पर उधार लेने वाली भाषाओं में इस प्रकार की शक्ति का अभाव होता है और उन्हें किसी न किसी अन्य भाषा से उधार लेना पड़ता है। हिन्दी में अपने प्रत्ययों से नये शब्दों के निर्माण की शक्ति है और उसे बगला के समान पद-पदे संस्कृत से उधार नहीं लेना पड़ता। यह हिन्दी की एक अत्यन्त प्रमुख विशेषता है।

(२) हिन्दी विश्लिष्ट भाषा है—हिन्दी एक विश्लेषण-प्रधान भाषा है। इसकी पदात्मक संघटना में व्यवहितता के लक्षण स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं। यह तथ्य, कारकों के लिए प्रयुक्त परसर्गों तथा क्रियापदों के स्वरूप से भली भाँति सिद्ध हो जाता है।

(३) हिन्दी एक समन्वयात्मक और ग्राहक भाषा है—हिन्दी भाषा पर पड़ोस की विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों का प्रभाव निरन्तर पड़ता रहा है और आज भी पड़ रहा है। हिन्दी ने इन सभी प्रभावों को ग्रहण करके अपने स्वरूप में ऐसा पचा लिया है कि विभिन्न बाह्य प्रभाव आसानी से पहिचाने तक नहीं जा पाते। यह हिन्दी की समन्वयात्मक शक्ति के कारण ही सम्भव हुआ है। वर्तमान काल में भी हिन्दी विभिन्न आर्य तथा आर्येतर भाषाओं के तत्वों को ग्रहण करके उन्हें अपनी गठन के अनुसार ढाल रही है।

(४) हिन्दी में तद्भव शब्दों की प्रचुरता है—हिन्दी के स्वाभाविक स्वरूप में तद्भव शब्दों की प्रचुरता है। ये शब्द प्राकृत-अपभ्रंश युग के स्वाभाविक परिवर्तनों के अनुसार विकसित होते हुए हिन्दी में आये हैं और हिन्दी शब्द-भण्डार के बहु-प्रयुक्त शब्द हैं। ये शब्द ही वस्तुतः हिन्दी शब्द-समूह में प्रचुर मात्रा में हैं। आजकल पारिभाषिक शब्दावली के लिए अवश्य संस्कृत से शब्द ग्रहण किये जा रहे हैं पर सामान्य व्यवहार में इसी श्रेणी के शब्दों की ही प्रमुखता है।

(५) हिन्दी शब्दावली में इतर-भाषीय तत्व भी काफी हैं—प्रायः सभी जीवित तथा व्यवहार में आने वाली भाषाओं के समान हिन्दी भाषा में भी पिछले आठ नौ सौ वर्षों के इतिहास में अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी, पुर्तगाली आदि भाषाओं के शब्द आ गये हैं। भारतीय भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में निरन्तर आते रहे हैं और पिछले दस वर्षों में जबसे हिन्दी राज्यभाषा हुई है इसकी गति और अधिक हो गयी है। इस संबंध में विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इन शब्दों को हिन्दी ने उन भाषाओं से जैसे को तैसा नहीं अपनाया है वरन् उन्हें अपनी ध्वन्यात्मक विशेषताओं और व्याकरणिक संघटन के अनुरूप परिवर्तन कर लिया है।

हिन्दी के इस विशाल प्रदेश के अन्तर्गत बहुत सी जनपदीय बोलियाँ तथा प्रादेशिक

भाषाएँ आ जाती हैं। जनपदीय बोलियों में हरियानी, खड़ी बोली, ब्रज, बुन्देली, कन्नौजी, अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी आती हैं। प्रादेशिक भाषाओं में राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी भाषाएँ गिनायी जा सकती हैं। राजस्थानी की चार स्थानीय बोलियाँ हैं—मारवाड़ी, जयपुरी-हाड़ौती, मेवाती-अहीरवाटी तथा मालवी। इसके अतिरिक्त सौराष्ट्री, भीली, खानदेशी तथा गूजरी नामक सीमावर्ती मिश्रित बोलियाँ भी राजस्थानी के ही अन्तर्गत आती हैं। बिहारी की तीन बोलियाँ हैं—भोजपुरी, मैथिली और मगही। पहाड़ी भाषाओं के अन्तर्गत बहुत सी बोलियाँ आती हैं जिनमें नेपाली, गढ़वाली, कुमाउँनी, जौनसारी, मण्डेआली आदि प्रमुख हैं। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी की जनपदीय बोलियों को दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (१) पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ—इनमें हरियानी, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी और बुन्देली आ जाती है। इनका विकास शौरसेनी तथा कौरवी अपभ्रंश की परम्परा में हुआ है। (२) पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ—इनमें अवधी, बघेली, तथा छत्तीसगढ़ी आती हैं। इनका विकास अर्धमागधी अपभ्रंश की परम्परा में हुआ है। पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी की जनपदीय बोलियों के भाषावैज्ञानिक रूप में मौलिक भेद का कारण उनका अलग-अलग अपभ्रंश परम्पराओं से विकसित होना ही है और यह भेद इस सम्पूर्ण प्रदेश में शिष्ट-भाषा के रूप में नागरी-हिन्दी के व्यवहृत होने के बावजूद आज भी स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

पश्चिमी हिन्दी की विभिन्न बोलियों का विकास मध्यदेशी या अपभ्रंश से हुआ है। मध्यदेश की भाषा का प्राचीन काल से ही बड़ा महत्व रहा है और आज भी पश्चिमी हिन्दी की एक बोली—खड़ी बोली—पर आधारित नागरी—हिन्दी ही राज्यभाषा के पद पर आसीन की गयी है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियाँ कथ्य रूप में उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग, मध्य प्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी भाग, पूर्वी-राजस्थान तथा पंजाब के पूर्वी भाग में प्रयुक्त होती हैं। पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत हरियानी, खड़ी बोली, ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली—पाँच बोलियाँ आती हैं।

हरियानी, हरियाना प्रदेश की बोली है पर यह इस प्रदेश के बाहर भी बोली जाती है। यह बाँगरू, करनाल, रोहतक तथा दिल्ली जिलों के अतिरिक्त पटियाला, नाभा, झींद और हिसार जिले के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका दूसरा प्रसिद्ध नाम बाँगरू भी है। बाँगर शब्द का अर्थ है 'उच्च एवं शुष्क भूमि, जहाँ नदी का पानी बाढ़ के समय न पहुँच सके।' इस बोली का प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से ऐसा ही है। अतएव इस प्रदेश की बोली को बाँगरू भी कहते हैं। इस बोली के कई स्थानीय नाम भी हैं। रोहतक और दिल्ली के आसपास के जाट प्रदेश में इसे जाटू कहते हैं और दिल्ली के बहुत से भागों में चमरवा। कुछ लोगों के विचार से यह वस्तुतः खड़ी बोली का ही राजस्थानी और पंजाबी मिश्रित रूप है पर वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग २२ लाख है।

बाँगरू बोली का स्वरूप अल्प स्थानीय भेदों के अतिरिक्त समस्त प्रदेश में प्रायः समान है। साहित्य-रचना तो इसमें हुई नहीं है पर लोक-साहित्य अवश्य प्राप्त होता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने "आदि हिन्दी के गीत और कहानियाँ" नामक ग्रंथ में बाँगरू लोक-साहित्य की कुछ सामग्री भी संकलित की है। हरियानी लोकगीतों की विशेषताएँ हैं— प्रकृति की रमणीयता के प्रति तन्मयता का भाव, जीवन की स्वच्छन्दता का स्वर, संघर्षप्रियता तथा श्रम के प्रति मोह, जीवन के प्रति उत्फुल्लता तथा उल्लास का भाव और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के सुख-दुःखों की निश्छल अभिव्यक्ति। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाँगरू का लोक-साहित्य पर्याप्त समृद्ध है और उस प्रदेश के जन-जीवन की सफल अभिव्यक्ति करता है।

खड़ी बोली पश्चिमी हिन्दी की एक प्रधान बोली है। इसे 'सर हिन्दी' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह रुहेलखण्ड के पश्चिमी भाग में, गंगा के उत्तरी दोआबे में तथा उत्तर-पश्चिम की ओर अम्बाला जिले तक बोली जाती है। इस क्षेत्र में रामपुर, मुरादाबाद, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फरपुर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, तथा अम्बाला, कालसिया और पटियाला जिलों के पूर्वी भाग आ जाते हैं। इसके पश्चिम में पंजाबी तथा बाँगरू, उत्तर में पहाड़ी बोलियाँ तथा पूर्व एवं दक्षिण में ब्रज का क्षेत्र पड़ता है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ५३ लाख है।

खड़ी बोली का विकास कौरवी अपभ्रंश से हुआ है। खड़ी बोली के आरम्भिक स्वरूप का निर्माण बारहवीं से चौदहवीं शती के मध्य में हुआ है। मध्यकाल में यह कथ्य भाषा के रूप में कुछ प्रदेश में व्यवहृत होती रही है पर इसकी एक शाखा दक्खिनी-हिन्दी के नाम से साहित्य रचना की माध्यम बन गयी थी और पन्द्रहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक इसमें अच्छा साहित्य लिखा गया। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के लगभग इसी बोली के व्याकरणिक ढाँचे में अरबी-फारसी के शब्दों को भर कर एक नयी भाषा का विकास किया गया था जो कालान्तर में उर्दू के नाम से प्रसिद्ध हुई। खड़ी बोली के कथ्य रूप पर भी मुसलमानी भाषा और संस्कृति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इसके शब्द-समूह में अरबी-फारसी के बहुत से शब्द आ गये हैं जो अपने तद्भव रूप में आज भी प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१—साहित्यिक हिन्दी के 'ऐ', 'औ' खड़ी बोली में 'ए', 'ओ' के रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे—पैर>पेर, है>हे, दौड़>दोड़ आदि। कहीं-कहीं तो 'ऐ', 'औ' का लोप तक पाया जाता है, जैसे—बैठ>बट्ठ, और>अर।

२—स्वराघातहीन अक्षरों के आदि में आने वाली 'इ' प्रायः 'अ' के रूप में परिवर्तित हो जाती है—मिठाई>मठाई, सिकारी>सकारी आदि। कभी-कभी तो इस 'इ' का लोप तक पाया जाता है जैसे—इकट्ठा>कट्ठा।

३—मध्य तथा अन्त में आने वाले 'न' तथा 'ल' का क्रमशः 'ण' तथा ळ हो जाता है। इनमें से 'न' का 'ण' हो जाना तो प्रायः अपवादरहित रूप से पाया जाता है पर

'ल' का मूर्धन्यीकरण उतना नियमित नहीं है। उदाहरणार्थ—मानुस > माणुस, अपना > अपणा, सुनना > सुणणा, जंगल > जंगळ, बाळ > बाल, पर ल के अमूर्धन्यीकृत प्रयोग जैसे चला, मिला आदि भी पाये जाते हैं।

४—साहित्यिक हिन्दी के 'ड़', 'ढ़' के स्थान पर 'ड', 'ढ' का प्रयोग होता है, जैसे—गाड़ी > गाड्डी, चढ़ना > चढना आदि।

५—स्वराघातयुक्त दीर्घ स्वरों के परवर्ती व्यंजन का द्वित्व हो जाता है और दीर्घ स्वर 'ई', 'ऊ', 'ए' क्रमशः 'इ', 'उ', 'एँ' हो जाते हैं, जैसे—भूखा > भुक्खा, वेटा > बेँट्टा, भेजा > भेँज्जा, छोटा > छोँट्टा आदि। परन्तु दीर्घ स्वर 'आ' का ह्रस्व 'अ' नहीं होता, जैसे—जाता > जात्ता, बापू > बाप्पू आदि।

६—नकारार्थ में 'नहीं' के अतिरिक्त 'ने', 'नो' का प्रयोग पाया जाता है।

७—भूतकाल में कु छ शब्दों के वैकल्पिक रूप भी मिलते हैं, जैसे—गया, गिया, करा, किया आदि।

८—भविष्यत् काल की सहायक क्रिया 'गा' का संयोग होने पर पूर्व में आने वाले दीर्घ स्वर का लोप हो जाता है, जैसे—जाऊँगा > जाँगा, जाएँगे > जाँगे आदि। यह परिवर्तन अन्य क्रियापदों में भी कहीं-कहीं पाया जाता है, पर यह उतना नियमित नहीं है।

खड़ी बोली में लिखित साहित्य नहीं उपलब्ध होता। खड़ी बोली पर आधारित नागरी-हिन्दी में अवश्य पिछले सौ वर्षों में उत्कृष्ट कोटि का साहित्य रचा गया है पर उसे खड़ी बोली के कथ्य रूप में न लिखा हुआ होने के कारण, खड़ी बोली का साहित्य समझने का भ्रम न करना चाहिए। खड़ी बोली में लोक-साहित्य अवश्य मिलता है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने "आदि हिन्दी के गीत और कहानियाँ" नामक एक संकलन खड़ी बोली के लोक-साहित्य का आज से सात-आठ वर्ष पूर्व प्रकाशित कराया था। इस संकलन में मुख्यतः खड़ी बोली क्षेत्र के लोकगीतों और कहानियों को ही लिया गया है, यद्यपि बाँगरू क्षेत्र की भी कुछ सामग्री आ गयी है। खड़ी बोली के लोकगीत अपने प्रदेश के सामाजिक और पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों और रूपों की बड़ी सरस, मार्मिक और अनूठी व्यंजना करते हैं। साथ ही इनमें इस जनपद के जन-जीवन तथा जन-भावना का बड़ा ही सुन्दर और सफल अंकन मिलता है।

पश्चिमी हिन्दी की दूसरी महत्त्वपूर्ण बोली ब्रज है। यह समस्त ब्रज जनपद और उसके चारों ओर फैले हुए गंगा-यमुना के दोआबे की बोली है। यह दक्षिण में आगरा, भरतपुर, धौलपुर, करौली, ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में बोली जाती है। उत्तर में यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक और उत्तर-पूर्व में बुलन्दशहर, एटा, अलीगढ़ तथा मैनपुरी जिलों में तथा बरेली, बदायूँ और नैनीताल जिलों के कुछ भागों में बोली जाती है। इस प्रकार ब्रज का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इस विस्तृत क्षेत्र में ब्रज के कई स्थानीय और मिश्रित रूप बोले जाते हैं। बुलन्दशहर,

बदायूँ और नैनीताल के कुछ भागों में बोली जाने वाली ब्रज पर खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। बरेली, पीलीभीत, एटा और मैनपुरी की ओर इस पर कन्नौजी की छाप पड़ने लगती है। इस कन्नौजी-प्रभावित ब्रज को 'अन्तर्वेदी' कहते हैं। भरतपुर के आसपास इस पर राजस्थानी की बोलियों का प्रभाव पड़ने लगता है। इस ओर इसे 'डाँगी' कहते हैं। ग्वालियर के उत्तर-पूर्वी भागों में तथा धौलपुर में इसे 'सिकरवाड़ी' कहते हैं। करौली तथा चम्बल-पार की ब्रज पर बुन्देली का प्रभाव पड़ता है और यह मिश्रित बोली' जादो बारी' कहलाती है। इस प्रकार विशुद्ध और आदर्श ब्रज तो केवल मथुरा, अलीगढ़, आगरा के आसपास ही व्यवहृत होती है।

ब्रज के उपर्युक्त स्थानीय रूपों में उच्चारण संबंधी विभिन्नताएँ मिलती हैं। आदर्श ब्रज का भूतकालिक कृदन्तीय-क्रियापद 'चल्यौ' सिकरवाड़ी और जादोबारी में 'चलो' हो जाता है। यही प्रयोग डाँगी में विकल्प से 'चल्यौ' हो जाता है और अन्तर्वेदी में 'चलो' के रूप में मिलता है। खड़ी बोली-प्रभावित ब्रज में प्रायः 'चलो' रूप ही प्राप्त होता है। इस प्रकार भूतकालिक कृदन्तीय रूपों में स्थान-भेद से 'यो', 'यौ', 'ओ', 'औ',—चार प्रयोग मिलते हैं। अन्य स्थलों में भी संध्यक्षरों तथा अर्धस्वरों के उच्चारण में ये चार विकल्पात्मक प्रयोग स्थान-भेद से व्यवहृत होते हैं। बुन्देली-प्रभावित ब्रज में तथा अन्तर्वेदी में 'र्' के पर में आने वाले व्यंजन का द्वित्व हो जाता है और र् का लोप हो जाता है, जैसे—ख़र्चु > खच्चु, उर्द > उद्द आदि। अलीगढ़ में दीर्घ स्वरों के पर में आने वाले 'व' का 'म' हो जाता है, जैसे—बावन > बामन, मनावन > मनामन आदि। कहीं-कहीं कुछ शब्दों में महाप्राण के स्थान पर अल्पप्राण ध्वनि भी प्रयुक्त होती है, जैसे—हाथ > हात। इसी प्रकार के कुछ और ध्वनिविषयक भेद स्थान विशेष में प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः इतने बड़े क्षेत्र में ब्रज के कथ्य रूप में प्रयुक्त होने के कारण इस प्रकार के भेद मिल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है।

ब्रज की इन स्थानीय विभिन्नताओं के अतिरिक्त इस विस्तृत क्षेत्र में भाषा का रूप प्रायः समान है। ब्रज की कुछ प्रमुख भाषागत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१—संज्ञा तथा विशेषण पदों में अन्त्य ओकार का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ—नीको, झगड़ो, छोरा, घोड़ो आदि। सर्वनामीय पदों में और सर्वनाम-जात विशेषणों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है, जैसे—'कैसो', 'जैसो', 'तैसो' आदि।

२—कर्मकारक के परसर्ग 'को' के स्थान पर यहाँ 'कौ' का प्रयोग होता है।

३—पर-अक्षर (Following Syllable) में 'आ' रहने पर पूर्ववर्ती 'इ' तथा 'उ' का लोप हो जाता है, जैसे—सियार > स्यार, बियारी > ब्यारी, कुवाँर > क्वाँर, आदि।

४—'आ' के पर में प्रयुक्त 'इ' का 'य' हो जाता है, जैसे—आय, पाय, दिखाय आदि।

५—संध्यक्षरों का शुद्ध उच्चारण केवल यकार तथा वकार से पूर्व ही होता है, शेष स्थलों पर ऐ > अय्, औ > अव् हो जाता है।

५—संध्यक्षरों का शुद्ध उच्चारण केवल यकार तथा वकार से पूर्व ही होता है, शेष स्थलों पर ऐ > अय, औ > अव हो जाता है।

६—दीर्घ स्वरों के उपरान्त आने वाले 'व' का 'म' हो जाता है, जैसे—आवैंगे > आमैंगे, जावैंगे > जामैंगे आदि।

७—अन्त्य अक्षर में आने वाले 'ह्' के घिस जाने के कारण माहिं, जाहिं, नाहिं, याहि का उच्चारण क्रमशः माँय, जाँय, नाँय, याय हो जाता है।

८—कर्मवाच्य-रूप 'इयै' प्रत्यय लगाकर बनाये जाते हैं, जैसे—मारियै, दिखाइयै आदि।

९—असमापिका क्रिया के लिए 'कै' और 'करि' प्रत्यय लगाकर रूप बनाये जाते हैं।

१०—णिजन्त प्रयोग 'आव्' प्रत्यय के संयोग से सिद्ध होते हैं, जैसे—चलावनौं। ब्रज में दुहरे णिजन्त प्रयोग भी बनते हैं, जो 'वाव्' प्रत्यय के संयोग से बनते हैं, जैसे—चलवावनौं। ये दुहरे णिजन्त प्रयोग कभी-कभी 'वा' प्रत्यय से भी बना लिये जाते हैं, जैसे—चलवानौं।

ब्रज का साहित्यिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। मध्य काल में समूचे हिन्दी-भाषी क्षेत्र में ब्रज का ही साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया जाता था। आज की कथ्य-ब्रज इस साहित्यिक ब्रज से काफी आगे बढ़ आयी है पर उस युग में कथ्य ब्रज में और साहित्यिक ब्रज में विशेष अन्तर न था। ब्रज के इसी प्रसार और महत्त्व के नाते उस युग में इसे भाषा का गौरवपूर्ण पद मिला हुआ था। ब्रज भाषा में भक्ति-काल तथा रीति-काल में बड़ा उत्कृष्ट साहित्य रचा गया है। आज भी ब्रज भाषा काव्य की धारा, क्षीण रूप से ही सही, प्रवाहित तो हो ही रही है। ब्रज भाषा में लिखे गये इस साहित्य में वर्ण्य विषय की दृष्टि से निम्नलिखित मुख्य धाराएँ मिलती हैं :—

१—भक्ति विषयक काव्य—इस प्रकार के काव्य को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—(क) राम-भक्ति विषयक काव्य, (ख) कृष्ण-भक्ति विषयक काव्य, और (ग) विनय, आत्म-निवेदन, दैन्यभाव-प्रदर्शन आदि का वर्णन। इसी कोटि में संसार की असारता का वर्णन, उसके प्रति वैराग्य का भाव, आध्यात्मिक काव्य तथा निर्वेदात्मक काव्य भी आ जाता है।

२—प्रेम विषयक काव्य—यह काव्य मुख्यतः लौकिक प्रेम का-उसकी विविध अनुभूतियों तथा प्रतिक्रियाओं का विशदता के साथ चित्रण करता है। इस प्रकार का काव्य मुख्यतः रीतिकाल में लिखा गया और राज्याश्रय में विशेष रूप से फला फूला। फिर भी रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों के द्वारा, जिनमें घनानन्द, रसखान, बोधा, ठाकुर आदि प्रमुख हैं, प्रेम को बड़े ही व्यापक धरातल पर देखा गया है और उसके स्थूल वासनात्मक पक्ष के स्थान पर, जिस पर राज्याश्रित कवियों ने बल दिया था, अधिक वर्णन किया गया है।

३—वीरता विषयक काव्य—इस प्रकार के काव्य को भी दो श्रेणियों में रखा

जा सकता है। (क) आश्रयदाताओं के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन। इस प्रकार के काव्य में आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उनकी वीरता, उदारता, दानप्रियता और सर्वगुण-सम्पन्नता का बड़ा चमत्कारिक और अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है। (ख) वीर रस-विषयक स्फुट कोटि का काव्य।

(४) नीति और सूक्ति काव्य—इस प्रकार के काव्य में सूक्तियों और नीति-कथनों के द्वारा जीवन और जगत् से संबद्ध विषयों का उल्लेख किया गया है और उपदेश भी दिये गये हैं।

(५) प्रकृति-विषयक काव्य—ब्रज भाषा में प्रकृति का चित्रण तो किया गया है परन्तु भक्ति तथा रीतिकालों में इस प्रकार के काव्य में प्रकृति को केवल उद्दीपनात्मक रूप में ही चित्रित किया गया है। प्रकृति का शुद्ध आलम्बन रूप में चित्रण भारतेन्दु काल के कुछ कवियों ने ही किया है।

(६) स्फुट काव्य—इस कोटि में हास्य रस संबंधी काव्य आता है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु काल में रचित देशानुराग सबधी काव्य तथा सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का चित्रण करने वाला काव्य भी इसी विधा के अंतर्गत आ जाता है।

ब्रजभाषा साहित्य में लक्षण-ग्रंथों की भी रचना हुई है और बहुत अधिक हुई है। रीतिकाल में प्रायः सभी कवियों ने लक्षण ग्रंथ लिखे हैं, क्योंकि उस युग की काव्य परंपरा का यही रूप था। इन लक्षण-ग्रंथों में हिन्दी के कवियों ने कोई नवीन अथवा मौलिक चिन्तन काव्य के स्वरूप के विषय में नहीं किया है। बहुत से कवि तो संस्कृत के आचार्यों द्वारा किये गये निरूपण को ठीक से समझ तक नहीं सके हैं और उसका अन्धानुकरण करने के फलस्वरूप न तो अपनी बात कह पाये हैं और न उसे स्पष्ट ही कर सके हैं। भिखारी दास, श्रीपति, प्रताप साहि आदि कुछ ही कवि सफलतापूर्वक लक्षण-ग्रंथ लिख पाये हैं।

ब्रज भाषा में महाकाव्य बहुत कम लिखे गये हैं। खण्ड-काव्य अपेक्षाकृत अधिक लिखे गये हैं और प्रायः सभी कालों में मिल भी जाते हैं। ब्रज भाषा-काव्य का मुख्य भाग तो मुक्तक-काव्य की कोटि में आता है। सूरसागर प्रगीत-मुक्तक कहा जाता है। ब्रज भाषा में मुक्तक-काव्य प्रायः सभी कालों में लिखा गया है। ब्रज भाषा-काव्य में प्रायः सभी रसों की रचनाएँ मिल जाती हैं, पर शृंगार रस, वीर रस, रौद्र रस और शान्त रस की रचनाओं की मात्रा अधिक है। इन रसों का परिपाक भी सुन्दर हुआ है। भाषा की दृष्टि से भक्ति-कालीन काव्य की भाषा में स्वाभाविकता, प्रसादमयता, सादगी और प्रवाह का अनोखा सौन्दर्य मिलता है, जो इस काव्य में हृदयस्पर्शिता और मार्मिकता भर देता है। रीतिकालीन काव्य की भाषा अपेक्षाकृत रूढ़ है और जनभाषा से दूर भी हो गयी है। इसीलिए उसमें वह सादगी और मार्मिकता नहीं दिखायी पड़ती। छन्दों की दृष्टि से भक्ति-काल में दोहा, सोरठा, कवित्त और सवैया छन्द तो प्रयुक्त हुए ही, इनके अतिरिक्त गेय पदों की बहुत रचना हुई। वस्तुतः भक्ति काव्य का

प्रमुख माध्यम तो ये गेय पद ही थे। रीतिकाल में कवित्त और सवैयों की धूम रही। सतसई-ग्रंथों में अवश्य दोहा छन्द का प्रयोग किया गया। भारतेन्दु-काल के काव्य में इनके अलावा अन्य वर्णवृत्तों का भी उपयोग किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्तिकालीन काव्य में तन्मयता, हृदयस्पर्शिता और मार्मिकता अधिक है तो रीतिकालीन काव्य में कल्पना और सूझ-बूझ की प्रधानता है। रीतिकालीन कवि ने काव्य के वाह्य-रूप को निखारने में, उ न सजाने-सवाँरने में अधिक रुचि ली है, अतएव उस काल के काव्य में आलंकारिता और चामत्कारिकता विशेष है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि ब्रजभाषा का काव्य-साहित्य बड़ा समृद्ध है और हिन्दी साहित्य का गौरव है।

ब्रज का लोक-साहित्य भी बड़ा धनी है। उसमें लोकगीतों के अलावा लोक-कहानियाँ, लोकोक्तियाँ, कहावतें आदि सभी कोटियों का साहित्य मिल जाता है। लोकगीतों में सामाजिक प्रथाओं तथा धार्मिक और सामाजिक संस्कारों के गीत तो हैं ही, पँवारे, ढोला आदि प्रबन्ध-गीत भी मिलते हैं। क्रियागीत, चट्टगीत, बधाए आदि भी पर्याप्त पाये जाते हैं। इन लोकगीतों में ब्रज की जनपदीय संस्कृति की बड़ी सुन्दर झाँकी मिलती है। इनमें ग्रामीण जनता के भोलेभाले हृदयों के सीधे सादे विश्वास झाँकते हैं। कहीं-कहीं तो बड़े ही काव्यात्मक और मार्मिक ढंग से बातें कही गयी हैं। एक वियोगिन ब्रजबाला का प्रिय जब वर्षा में भी नहीं लौटता तो वह उसे सन्देश भेजती है, देखिए—

'अंचर फारि कागज करूँ कोई उँगरी तराच कलम,
नैनन की स्याही करूँ कोई लिखूं सन्देशौ भेज।'

एक क्रियागीत का भी नमूना देखिए। फसल कट रही है। फसल की सम्पन्नता को देख-देख कर नर-नारी सुखविभोर हो रहे हैं। एक किसान-रमणी ऐसे में चिड़िया की ओर से कहती है—

'हरी ए चिरैया यों कहै मैं उपजुंगी लछिमन के खेत।
हरी ए चिरैया यों कहै मैं जैऊँगी ब्वा की धनिअ के थारु।
हरी ए चिरैया यों कहै मैं ओढ़ूंगी ब्वा की धनिअ कौ चीर।
हरी ए चिरैया यों कहै मैं पौढ़ूंगी ब्वा की धनिअ की सेज।'

लोक-कथाओं में व्रतकथाएँ उपदेशात्मक कथाएँ, बुझौवल, हास्य-कथाएँ आदि सभी मिलती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रज का लोक-साहित्य भी बड़ा समृद्ध और भरा-पूरा है।

ब्रज से ही संबंध रखने वाली अन्य बोली कन्नौजी है। यह बोली हरदोई, शाहजहाँपुर, पीलीभीत, फर्रुखाबाद, कन्नौज, इटावा, कानपुर आदि जिलों में बोली जाती है। यह अपने विशुद्ध रूप में इटावा और फर्रुखाबाद में ही मिलती है, शेष स्थानों पर यह किसी न किसी स्थानीय बोली से प्रभावित दिखलायी पड़ती है। पीलीभीत और

शाहजहाँपुर की ओर इस पर ब्रज का प्रभाव पड़ता है और कानपुर की ओर बुन्देली का। हरदोई की ओर यह अवधी से प्रभावित पायी जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या ४५ लाख के लगभग है। कन्नौजी के ध्वनि-समूह तथा व्याकरणिक स्वरूप का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इसे स्वतंत्र बोली न मानकर ब्रज का ही स्थानीय रूप मानना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह ब्रज से बहुत साम्य रखती है। ब्रजभाषा के विशिष्ट अध्येता और प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ० धीरेन्द्र वर्मा इसीलिए इसे पृथक् बोली मानने में संकोच करते हैं और कहते हैं—"कन्नौजी को निश्चित रूप से ब्रजभाषा के अन्तर्गत रखना चाहिए।" लोक-साहित्य की सामग्री और उसके स्वरूप की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। ब्रज क्षेत्र के लोकगीत, लोक-कहानियाँ आदि विशिष्ट स्थानीय ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ इस क्षेत्र में भी प्रचलित हैं और इस प्रकार कन्नौजी के लोक-साहित्य का वाह्य रूप और उसकी आत्मा—दोनों ही प्रायः समान है।

पश्चिमी हिन्दी की पाँचवीं बोली बुन्देली है। इसका यह नाम बुन्देला क्षत्रियों के नाम पर पड़ा है जो इस क्षेत्र में मध्य युग में प्रधान रहे हैं। बुन्देली की सीमाएँ बुन्देलखण्ड जनपद की सीमाओं से कहीं अधिक विस्तृत हैं। यह प्रायः सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के अतिरिक्त ग्वालियर के पूर्वी भाग तथा मध्य प्रदेश के एक बहुत बड़े भूभाग की भाषा है। अपने विशुद्ध रूप में यह झाँसी, हमीरपुर, जालौन, दतिया, सागर, दमोह, ग्वालियर, भूपाल, सिवनी, नरसिंहपुर, होशंगाबाद आदि में बोली जाती है। मिश्रित रूप में यह आगरा और इटावा के दक्षिणी भागों में ब्रज से प्रभावित पायी जाती है, बाँदा जिले में बघेली से प्रभावित दिखलायी पड़ती है और छिन्दवाड़ा, बालाघाट और नागपुर जिलों में मराठी से प्रभावित हो जाती है। इसके उत्तर और उत्तर-पश्चिम में कन्नौजी और ब्रज का, पश्चिम-दक्षिण में राजस्थानी का, दक्षिण में मराठी का और पूर्व में बघेली का क्षेत्र पड़ता है। विशुद्ध रूप से बोली जाने वाली बुन्देली की तीन स्थानीय विभाषाएँ मानी जाती हैं—पँवारी, राठौरी या लोधान्ती और खटोला। पँवारी ग्वालियर के उत्तर-पूर्वी भागों में और दतिया, टीकमगढ़ आदि में बोली जाती है। लोधान्ती अथवा राठौरी हमीरपुर तथा जालौन के अधिकांश भागों में और चरखारी, जिगनी, सरीला आदि स्थानों में बोली जाती है। खटोला बोली दक्षिण में सागर, दमोह, सिमनी, नरसिंहपुर, होशंगाबाद और भूपाल में बोली जाती है। बुन्देली के सीमावर्ती क्षेत्रों में कई मिश्रित बोलियाँ बोली जाती हैं। हमीरपुर जिले के किनारे 'तिरहारी' बोली जाती है जो जिला जालौन तक चली गयी है। बाँदा और हमीरपुर जिलों को पृथक् करने वाली केन नदी के किनारे 'कुण्ड्री' बोली जाती है। 'निभट्टा' जिला जालौन के बुन्देली क्षेत्र और तिरहारी क्षेत्र के बीच बोली जाती है। हमीरपुर के दक्षिण-पूर्व में और वर्तमान मध्य प्रदेश में विलीन भूतपूर्व बुन्देली रियासतों में 'बनाफरी' बोली जाती है। यह एक महत्त्वपूर्ण बोली है। चम्बल नदी के किनारे-किनारे ग्वालियर के पूर्व में तथा आगरा और इटावा के दक्षिण में भदावर क्षेत्र में 'भदावरी' और तोंवरगढ़ क्षेत्र में

'तोंवरगढ़ी' बोली जाती है। दक्षिण की मराठी प्रभावित बोलियों में 'लोधी', 'कोष्टी', 'कुम्भारी' और 'नागपुरी' मुख्य हैं। लोधी बालाघाट के लोधों की बोली है। छिन्दवाड़ा, चाँदा और भण्डारा के कोष्ट कोष्टी बोलते हैं। छिन्दवाड़ा और बुल्डाना के कुम्भार कुम्भारी का प्रयोग करते हैं। नागपुरी नागपुर के मैदानी भागों की मराठी-मिश्रित बुन्देली है। इस प्रकार से बुन्देली का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ७० लाख है।

बुन्देली की भाषागत विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

१—'ऐ' तथा 'औ' प्रायः 'ए' तथा 'ओ' हो जाते हैं, जैसे—और > ओर, कैहैं > केहैं।

२—ह्रस्व 'ए' तथा 'ओ' क्रमशः 'इ' तथा 'उ' हो जाते हैं, जैसे–घोड़ा > घुरिया, बेटी > बिटिया आदि।

३—'ड़' के स्थान पर 'र' हो जाता है, जैसे–घोड़ा > घुरिया।

४—आदि 'य' और 'व' क्रमशः 'ज' और 'ब' हो जाते हैं, जैसे–यह > जो, वह > बो आदि।

५—स्वरमध्यग 'ह' का लोप हो जाता है और यदि उस 'ह' के पूर्व 'आ' होता है तो मध्य में क्षतिपूरक 'उ' हो जाता है अन्यथा 'ए' अथवा 'ऐ' होता है, जैसे–पहिरा कै > पैरा कै, कह रहे थे > कै रए ते। परन्तु चाहत > चाउत आदि।

६—नागरी-हिन्दी के आकारान्त संज्ञा तथा विशेषण पद प्रायः ओकारान्त होते हैं, जैसे–'घोरो' आदि। केवल 'दद्दा', 'नन्ना', 'कक्का' आदि संबंधवाची शब्द आकारान्त होते हैं।

७—स्त्री प्रत्यय 'इन्' के स्थान पर 'नी' का प्रयोग होता है, जैसे–तेलनी, चमरनी, हुरकिनी आदि।

८—बुन्देली परसर्गों में कर्म-सम्प्रदान के लिए 'खें', 'खाँ', 'खा' का प्रयोग होता है जो पश्चिमी हिन्दी की किसी अन्य बोली में नहीं पाया जाता।

९—नकारात्मक सहायक-क्रियापद के रूप में 'नइयाँ' का प्रयोग होता है।

१०–अन्यपुरुष सर्वनाम पद इस प्रकार से हैं–एकवचन–पुल्लिंग–बो, ऊ स्त्रीलिंग–बा बहुवचन—पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग—बे, विकारी बहुवचन—बिन या उन।

११–'आप' के लिए 'अपुन' का प्रयोग होता है।

बुन्देली में साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। इस क्षेत्र के कवियों ने मध्य युग में ब्रज भाषा में, जो उस युग की साहित्यिक भाषा थी, रचनाएँ की हैं। इन कवियों की रचनाओं में स्थान-स्थान पर बुन्देली शब्दावली की छाप मिलती है। केशव, बोधा, गोरेलाल, ठाकुर, प्रतापसाहि आदि के काव्य में यह बात स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। बख़्शी हंसराज कायस्थ की कृतियों पर बुन्देली की छाप अधिक

पड़ी है। उनके काव्य को देखने पर कहीं-कहीं तो यह कहना भी कठिन हो जाता है कि उनकी भाषा ब्रज है या ब्रज से मिश्रित बुन्देली ही है। बख्शी जी रीतिकाल के अंतिम चरण के कवि थे।

बुन्देली का लोक-साहित्य पर्याप्त समुन्नत और समृद्ध है। लोक-साहित्य के प्रायः सभी अंग बुन्देली में भरे पुरे हैं। बुन्देली लोकगीतों में बुन्देली जन मानस का स्वाभिमान, सीधापन और फक्कड़पन झलकता है। बुन्देली सामाजिक जीवन, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक स्वरूप का जीता-जागता चित्र यदि कहीं देखने को मिलता है तो वह उसके लोक साहित्य में ही है। लोकगीतों में सामाजिक तथा धार्मिक संस्कारों के समय पर गाये जाने वाले गीत तो हैं ही, प्रबन्ध-गीत, क्रिया-गीत, ऋतुओं तथा त्योहारों के गीत, जातियों के गीत, गायन, वादन और नृत्य के साथ प्रयुक्त होने वाले गीत और मनोरंजनात्मक गीत—सभी पाये जाते हैं। बुन्देलखण्ड के विशेष गीत हैं 'हरदौल के गीत' जो ओरछा के राजकुमार हरदौल के अपूर्व त्याग और बलिदान से प्रेरणा प्राप्त करके लिखे गये हैं। लोकगीतों के अलावा बुन्देली में लोक-कहानियाँ, नीति, स्वास्थ्य, खेती और वर्षा संबंधी कहावतें और कहनूतें, बुझौवल और अटके भी मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुन्देली का लोक-साहित्य बड़ा ही उन्नत है। लोकगीतों की शैली पर लिखे गये गीत हमें बुन्देली लोक-कवि इसुरी के भी मिलते हैं। इसुरी का रचा हुआ काव्य अभी बहुत कुछ जनता के मुख में ही है। उनकी फागों का एक संकलन अवश्य प्रकाशित हुआ है, जो इसुरी की प्रतिभा का सुन्दर प्रमाण है। इसुरी के गीतों में हृदयस्पर्शिता, अनुभूतिप्रवणता, मार्मिकता, गहराई, स्वाभाविकता, सादगी और प्रवाह का सौन्दर्य छलकता है। एक स्थान पर कवि रूप-चित्रण कर रहा है, देखिए—

'देखौ रजउ खाँ पटियाँ पारें, सिर सबयार उघारें।
मोतिन माँग भरी सेंदुर सें, बेंदा देत बहारें॥
ठाड़ी हतीं टिकीं चौखट सें, सहजइ अपने द्वारें।
काम समर में सिर कटवें खाँ, खोंसें दुइ तरवारें॥'

अन्यत्र इसुरी का उपालम्भ-वर्णन भी देखिए—

'मिलती कबहुँ अकेली नइयाँ, बतकाओ खाँ गुइयाँ।
मिल जाते मन की कै लेते, जैसी हते कबइयाँ॥
बाहर सें भीतर खाँ कढ़ गई, कुल्ल लुगाइन मइयाँ।
ईसुर कात तुमारे लाने, ढूँढत कुआँ तलइयाँ॥'

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुन्देली में उत्कृष्ट कोटि का लोक-साहित्य उपलब्ध होता है।

हिन्दी की बोलियों का दूसरा वर्ग पूर्वी हिन्दी की बोलियों का है। पूर्वी हिन्दी का विकास अर्ध-मागधी की परम्परा में हुआ है। पूर्वी हिन्दी की बोलियाँ आजकल

उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बोली जाती हैं। इनके उत्तर में पहाड़ी बोलियाँ, पूर्व में भोजपुरी तथा नागपुरी, पश्चिम में कन्नौजी बुन्देली और दक्षिण में मराठी का क्षेत्र पड़ता है। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत्त तीन बोलियों की गणना की जाती है—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनमें अवधी ही प्रधान है और इस वर्ग की बोलियों का सफल प्रतिनिधित्व भी करती है। अब हम इनका क्रमशः विवरण देंगे।

अवधी पूर्वी हिन्दी की सबसे महत्वपूर्ण बोली है। इसे कुछ लोग कोसली भी कहते हैं पर अवधी नाम ही अधिक प्रचलित है और अधिक उपयुक्त भी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायबरेली, खीरी, सीतापुर, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी जिलों में तथा फैजाबाद, इलाहाबाद, फतेहपुर, कानपुर, मिर्जापुर और जौनपुर जिलों के कुछ भागों में बोली जाती है। इसके क्षेत्र के उत्तर में नेपाली, पश्चिम में कन्नौजी और बुन्देली तथा पूर्व और दक्षिण-पूर्व में भोजपुरी बोली जाती है। इस विस्तृत क्षेत्र में अवधी के बोलने वालों की संख्या लगभग १ करोड़ ४२ लाख है।

अवधी के विशुद्ध और आदर्श रूप की तीन स्थानीय बोलियाँ हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना के अनुसार ये पूर्वी, पश्चिमी और केन्द्रीय हैं। सीतापुर, खीरी, लखनऊ, उन्नाव और फतेहपुर को अवधी पश्चिमी, बहराइच, बाराबंकी और रायबरेली की केन्द्रीय और गोंडा, फैजाबाद, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, इलाहाबाद, जौनपुर और मिर्जापुर की अवधी पूर्वी है। इनमें से लखनऊ, रायबरेली, फतेहपुर और उन्नाव में बोली जाने वाली अवधी 'बैसवाड़ी' भी कहलाती है। हरदोई, जौनपुर, मिर्जापुर, इलाहाबाद, फतेहपुर और कानपुर जिलों के कुछ भागों मे अवधी मिश्रित रूप में बोली जाती है, क्योंकि वह विभिन्न सीमावर्तिनी बोलियों से प्रभावित दिखायी पड़ती है।

अवधी की भाषा वैज्ञानिक विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—पूर्वी अवधी में 'अ' का उच्चारण अर्धविवृत होता है परन्तु पश्चिमी अवधी में 'अ' का विवृत उच्चारण पाया जाता है।

२—संध्यक्षर 'ऐ', 'औ' का उच्चारण अवधी में क्रमशः 'अइ', 'अउ' होता है, जैसे अइस, अउर आदि।

३—नागरी-हिन्दी के आकारान्त पद अवधी में प्रायः अकारान्त या व्यंजनान्त होते हैं जैसे—बड़, बड़् भल, भल् आदि। वस्तुतः अवधी की प्रवृत्ति ही लघ्वन्त है।

४—आदि 'य्' और 'व्' क्रमशः 'इ' और 'उ' हो जाते हैं। ये 'इ' और 'उ' क्रमशः 'ए' और 'औ' के रूप में भी भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे—यह > ए, ई, वह > ऊ, ओ, आदि।

५—नागरी-हिन्दी के 'ड्', 'ढ्' अवधी में क्रमशः 'र्', 'र्' हो जाते हैं, जैसे—तोड़ना > तोरना, आदि। यह परिवर्तन वैकल्पिक ही होता है क्योंकि कहीं-कहीं 'ड्', 'ढ्' भी प्रयुक्त होते हैं।

६—अवधी में विशेषण पदों का लिंग परिवर्तन विशेष्य पदों के अनुसार होता है—आपन-(पु०) आपनि-(स्त्री०), अइस-(पु०), अइसि-(स्त्री०) आदि। यह परिवर्तन केवल सर्वनामजात विशेषणों में ही होता है।

७—कारक-परसर्गों में सम्प्रदान कारक में 'बाड़े' का प्रयोग भी मिलता है। यह परसर्ग भोजपुरी से अवधी में आया है।

८—सहायक-क्रियापदों में वर्तमान काल के रूपों में दो प्रकार के रूप मिलते हैं—एक तो 'अस्ति' से विकसित 'हौं' अहेउं' आदि रूप और दूसरे 'वर्तते' से विकसित 'बाटेउं' आदि। दोनों प्रकार के रूप वर्तमान काल में सभी पुरुषों, वचनों तथा लिंगों में पाये जाते हैं।

९—स्वरान्त धातुओं में सदैव संध्यक्षर 'व्' का ही प्रयोग होता है 'य्' का प्रयोग नहीं होता, जैसे—बनावा, गवा आदि।

१०—अवधी के वाक्य कर्तृ प्रधान होते हैं, नागरी-हिन्दी की भाँति कर्मप्रधान नहीं।

अवधी में प्रचुर साहित्य की रचना हुई है। प्रेममार्गी-सूफी-कवियों ने अपनी रचनाएँ मुख्यतः अवधी में ही की हैं। इनमें कुतबन, मंझन, जायसी, नूर मुहम्मद, उस्मान आदि प्रमुख हैं। जायसी की कृति 'पद्मावत' तो हिन्दी साहित्य की गौरवपूर्ण कृतियों में से एक है। राम-काव्यधारा की रचनाएँ भी अवधी में ही हुई हैं। इसका एक कारण यह भी है कि राम स्वयं अवध प्रदेश के थे और इसलिए इनके चरित्र का वर्णन करने वाले काव्य की रचना कवियों ने अवधी में ही की है। गोस्वामी तुलसीदास ने अपना विश्वविश्रुत काव्य रामचरितमानस अवधी में ही लिखा है। रामचरितमानस के विषय में इतने संक्षेप में यहाँ कुछ कह पाना कठिन है परन्तु फिर भी यह संकेत किया जा सकता है कि यह काव्य भारतवर्ष का सबसे अधिक प्रसिद्ध काव्य है जिसको बड़े-बड़े विद्वानों से लेकर सामान्य ग्रामवासियों तक सभी बड़े चाव से पढ़ते हैं। यह ग्रंथ भारतीय संस्कृति का अपूर्व भण्डार है और भारतीय जीवन-दर्शन का सुन्दर प्रतिनिधित्व करता है। रीति काल में ब्रज भाषा का प्रचार बढ़ जाने से अवधी में साहित्य-रचना प्रायः बन्द सी हो गयी थी, पर आधुनिक काल में पुनः साहित्य लिखा जाने लगा है। अवधी के वर्तमान कवियों में वंशीधर शुक्ल, रमई काका आदि प्रमुख हैं। वर्तमान अवधी काव्य में देशभक्ति, और राजनीतिक विषयों से संबद्ध रचनाओं से लेकर हास्य-व्यंग्य तक सभी प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

अवधी में लोक-साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। अवधी के लोक-गीतों का संग्रह पं० रामनरेश त्रिपाठी ने किया है। इसके अतिरिक्त 'अवधी लोकगीत और परम्परा' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है, जिसमें अवधी लोकगीतों का संकलन किया गया है। अवधी लोक-साहित्य के अन्य पक्षों का व्यवस्थित अध्ययन अभी नहीं हुआ है, और उनके बारे में कोई विशेष बात फिलहाल नहीं कही जा सकती है। अवधी का लोकगीतों का भाण्डार बड़ा सम्पन्न है। अवधी में भी सामाजिक

प्रथाओं, सामाजिक और धार्मिक संस्कारों, एवं अवधी जन-जीवन की अन्य सांस्कृतिक विशेषताओं का वर्णन करने वाले लोकगीत पाये जाते हैं। इसके अलावा व्रत-त्योहार के गीत, क्रियागीत, ऋतु संबंधी गीत आदि भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अवधी लोकगीतों में अवध प्रदेश के निवासियों के सामान्य जीवन का वास्तविक स्वरूप देखने को मिलता है और वह भी बड़े ही सीधे-सादे और सरल शब्दों में। उदाहरण के लिए एक अवधी लोकगीत देखिए, जिसमें अवध की किसी दुखिया स्त्री की विपन्नता का बड़ा यथार्थ चित्रण किया गया है :—

'टुटही मड़इया बुनिया टपकइ रे, के सुधि लेबै हमार ?
जेठा छवावइ आपन बँगलवा, देवरा छवावै चौपार।
हमरा मंदिलवा केऊ न छवावै, जेकर पियवा विदेस।'

यहाँ पर प्रोषितपतिका नारी की उपेक्षित अवस्था का बड़ा ही करुण वर्णन किया गया है। अवधी का एक शब्द-कोष भी हाल में ही प्रकाशित हो गया है, जो अवधी के साहित्यिक रूप के साथ-साथ उसके कथ्य रूप को भी अपने में समेट लेता है।

बघेली बघेलखण्ड की बोली है। बघेलखण्ड का केन्द्र रीवाँ है और इसलिए इसे 'रिवाँई' भी कहते हैं। यह बघेलखण्ड से बाहर मण्डला, चन्दभकार और जिला मिर्जापुर और जबलपुर के कुछ भागों में भी बोली जाती है। इसका मिश्रित रूप बाँदा, हमीरपुर एवं फतेहपुर जिलों के कुछ भागों में भी बोला जाता है। बाँदा की बोली वस्तुतः बघेली ही है पर उस पर बुन्देली का इतना प्रभाव पड़ा है कि लोग उसे बुन्देली मान लेते हैं। बाँदा जिले की मिश्रित बोलियाँ 'पथा', 'अन्तर्पथा', 'जूड़र', 'कुण्ड्री', 'बग्रावल' और 'अघोर' हैं। मण्डला और जबलपुर में भी मिश्रित बघेली-बोलियाँ ही बोली जाती हैं, इनमें 'मण्डलाही' मुख्य है। इस ओर बघेली पर मराठी का प्रभाव पड़ता है। बघेली के क्षेत्र के उत्तर में अवधी और भोजपुरी, पूर्व में छत्तीसगढ़ी, दक्षिण में मराठी और पश्चिम तथा पश्चिम-दक्षिण में बुन्देली के क्षेत्र पड़ते हैं। बघेली भाषा-भाषियों की संख्या लगभग ५० लाख है, जिनमें बुन्देली प्रभावित बघेली के बोलने वाले प्रायः ९ लाख और मण्डलाही बोलने वाले प्रायः १ लाख हैं। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह अवधी का ही एक स्थानीय रूप है। इस तथ्य को स्वयं डॉ० ग्रियर्सन भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने इसे स्वतंत्र बोली मुख्यतः राजनीतिक कारणों से और जन-भावना के आदरार्थ स्वीकार किया है।

बघेली में साहित्य-रचना नहीं हुई। लोक-साहित्य अवश्य इस क्षेत्र का संकलित किया गया है। 'उरगेश' का संग्रह 'बघेली लोकगीत' और 'श्रीचन्द्र जैन' का संकलन 'विंध्य-प्रदेश के लोकगीत' प्रकाशित हो चुके हैं। बघेली की लोक-कथाओं का एक संग्रह भी 'श्रीचन्द्र जैन' ने 'विंध्य प्रदेश की लोक-कथाएँ' नाम से प्रकाशित कराया है। विंध्य प्रदेश का यह बघेली लोक-साहित्य समीपवर्ती आदि-जातियों के लोक-साहित्य से प्रभावित

हुआ है और इसमें जीवन की सरलता, अकृत्रिमता और स्वच्छन्दता का स्वर विशेष रूप से मुखरित होता हुआ दिखायी पड़ता है।

पूर्वी हिन्दी की तीसरी बोली छत्तीसगढ़ी है। यह 'लरिया' या 'खल्टाही' भी कहलाती है। बालाघाट में इसे 'खलोटी' भी कहते हैं। यह रायपुर, बिलासपुर, काँकर, नन्दगाँव, खैरागढ़, चुइखदान, कर्वधा, चादाँ जिले के उत्तर-पूर्व, बालाघाट के पूर्व और सम्भलपुर के पश्चिमी भागों में अपने विशुद्ध और अमिश्रित रूप में बोली जाती है। कोरिया, जशपुर, उदयपुर, सरगुजा की ओर इसकी मिश्रित बोली 'सरगुजिया' बोली जाती है। यह अपने मिश्रित रूप में बस्तर के कुछ भागों में भी बोली जाती है। छत्तीसगढ़ प्रदेश की आर्येतर जातियाँ भी इसके मिश्रित रूप का प्रयोग करती हैं, जिसमें वे अपनी सुविधानुसार अपनी बोली का मिश्रण कर लेती हैं। छत्तीसगढ़ी बोलने वाले लोगों की संख्या प्रायः ४० लाख है। छत्तीसगढ़ी में बहुवचन के लिए 'मन', 'सब्', 'सब्बों', 'सबो' 'जमा' और 'जम्मा' परसर्गों का प्रयोग होता है। कभी कभी बहुवचन बनाने के लिए 'अन्' प्रत्यय का भी प्रयोग किया जाता है। संक्षेप में छत्तीसगढ़ी के व्याकरणिक रूप पर बाहरी प्रभाव सबसे अधिक पड़ा है, क्योंकि यह हिन्दी प्रदेश के एक किनारे की बोली है और बराबर अन्य भाषाओं तथा बोलियों से प्रभावित होती रही है।

छत्तीसगढ़ी में साहित्य-रचना प्रायः नहीं के बराबर हुई है। इधर नवीन जनगणना और शिक्षा के फलस्वरूप कुछ लोगों ने अपनी बोली के प्रति प्रेम-प्रदर्शनार्थ इसमें रचनाएँ करना प्रारम्भ किया है। छत्तीसगढ़ी का लोक-साहित्य अवश्य समृद्ध है। श्री श्यामाचरण दुबे ने 'छत्तीसगढ़ी लोक-गीतों का परिचय' और श्री चन्द्र कुमार ने 'छत्तीसगढ़ की लोक-कथाएँ' नामक ग्रंथों में इस बोली के लोक-साहित्य की कुछ सामग्री प्रकाशित करायी है। छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य में भी आदि-जातियों के सम्पर्क के फलस्वरूप प्रायः वैसा ही प्रभाव पड़ा है, जैसा बघेली लोक-साहित्य पर पड़ा है। अतएव छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य में जीवन की अकृत्रिमता, सरलता और स्वच्छन्दता की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति है। यह बात वैसे तो छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य के सभी अंगों में पायी जाती है पर छत्तीसगढ़ी लोकगीतों में यह भावना विशेष रूप से प्रबल दिखलायी पड़ती है। संक्षेप में यह कहा जाता है कि छत्तीसगढ़ी लोक-साहित्य में जन-जीवन के प्रति जितनी अधिक निकटता है उतनी अन्यत्र नहीं है और इसलिए उसमें वस्तुतः लोक-साहित्य की आत्मा और उसका सौन्दर्य निखरा है।

हिन्दी क्षेत्र के अन्तर्गत उसकी उपभाषाएँ—राजस्थानी, बिहारी और पहाड़ी बोलियाँ भी गिनी जाती हैं, पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी की बोलियों के अन्दर इन्हीं आठ बोलियों की ही गणना की जा सकती है और हिन्दी की जनपदीय बोलियाँ केवल इन्हीं को अभिहित किया जाना चाहिए। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भागों में एक और बोली—'भोजपुरी'—भी बोली जाती है। यह बोली पश्चिमी बिहार में भी बोली जाती है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से यह बिहारी की जनपदीय बोलियों में से ही एक है

और पूर्वी हिन्दी की बोलियों से यह ध्वनि-समूह और भाषागत गठन तथा संघटन की दृष्टियों से भिन्न है। उसे हिन्दी की जनपदीय बोलियों के अन्तर्गत नहीं ही रखा जा सकता। भोजपुरी का लोक-साहित्य बहुत समृद्ध है। इतना समृद्ध लोक-साहित्य शायद हिन्दी की किसी भी बोली का नहीं है। साथ ही इसका अध्ययन भी काफी किया जा चुका है। इस क्षेत्र में डॉ० उदय नारायण तिवारी, डॉ० कृष्ण देव उपाध्याय, डॉ० सत्य-व्रत सिनहा आदि का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। भोजपुरी का विस्तृत अध्ययन हमारे इस निबन्ध की सीमा से बाहर है, अतएव उस पर विशेष विचार नहीं किया जा रहा है। ठीक इसी प्रकार अन्य उपभाषाओं की जनपदीय बोलियों पर भी इस निबन्ध में विचार नहीं किया गया है।

जनपदीय बोलियों का अध्ययन दो दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है—एक तो इस प्रकार के अध्ययन से विशिष्ट क्षेत्रों की कथ्य भाषा के निश्चित, वैज्ञानिक और व्यव-स्थित स्वरूप का उद्घाटन हो जाता है और वर्णनात्मक भाषावैज्ञानिक सामग्री प्राप्त होती है, जो अन्य उच्चस्तरीय अध्ययन की आधार-भूमि बन जाती है, और दूसरे, जनपदीय बोलियों के अध्ययन से उस विशिष्ट क्षेत्र की संस्कृति का सम्यक् रूप से ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार का अध्ययन उस क्षेत्र के निवासियों के जीवन, उनके सामा-जिक संगठन, रहन-सहन, खान-पान, रीति-रिवाज और उनके विचारों तथा आदर्शों आदि पर सही-सही प्रकाश डालता है और इस प्रकार से ज्ञान के क्षेत्र और उसकी परिधि का विस्तार करता है। जनपदीय बोलियों का अध्ययन वस्तुतः इन्हीं दो उद्देश्यों को सामने रख कर ही किया जाना चाहिए, तभी जनपदीय बोलियों के अध्ययन की सार्थकता है। अपने देश में जनपदीय बोलियों के अध्ययन की ओर अभी विद्वानों की दृष्टि कम गयी है, और उसे महत्त्व भी नहीं दिया जाता है। वस्तुतः इस ओर ध्यान देने की अब स्वतंत्र भारत में विशेष आवश्यकता है।

राष्ट्रभाषा की समस्याएँ

[प्रो० वासुदेव नन्दन प्रसाद, एम्० ए०, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, गया कालेज, गया]

राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं ?

राष्ट्रभाषा किसी भी देश की आत्मा होती है। इसमें राष्ट्र की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक और आध्यात्मिक चेतना की सामूहिक अभिव्यक्ति होती है। यह हमारे स्वाभिमान और आत्म-सम्मान की शक्ति है। 'राष्ट्र' शब्द की परिभाषा के अंतर्गत राष्ट्रभाषा का निजी महत्त्व है। वह देश 'राष्ट्र' नहीं हो सकता, यदि उसकी कोई एक निश्चित भाषा नहीं होती। यही भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है।

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता

राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उपयोगिता पर सभी देशों के नेता और विद्वान् एक मत हैं। यही कारण है कि सभी यूरोपीय देशों की अपनी-अपनी राष्ट्रभाषाएँ हैं। यह समझना भूल होगी कि समस्त यूरोप की राष्ट्रभाषा अंग्रेजी है। रूस, फ्रांस, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, पोर्तुगाल, जर्मनी इत्यादि पश्चिमी देशों की अपनी-अपनी राष्ट्रभाषा हैं, जिनमें वे अपने सारे काम-धंधे करते हैं।

भारत में 'राष्ट्रभाषा' का प्रश्न

इसी सर्वमान्य सिद्धान्त को ध्यान में रखकर हमारे देश में भी राष्ट्रभाषा का प्रश्न उस समय उठा जब हम बृटिश सरकार के विरुद्ध स्वाधीनता का संग्राम दृढ़ता पूर्वक चला रहे थे। प्रश्न यह था कि जब देश स्वतंत्र हो जायगा तब उसकी राष्ट्रभाषा क्या होगी ? भारत में १४ भाषाएँ ऐसी हैं जिनकी महत्ता किसी से कम नहीं है। इनके अतिरिक्त यहाँ लगभग ५०० छोटी-बड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं। इस प्रकार आरंभ में एक उलझन पैदा हुई। 'राष्ट्रभाषा'-पद के लिए सभी प्रान्तीय भाषाओं ने अपने दावे पेश किये। इस दिशा में आश्चर्य की बात यह है कि १९वीं शताब्दी के तीसरे चरण में बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार बंकिम चन्द्र ने ही सबसे पहले 'हिन्दी' को 'राष्ट्रभाषा' का पद देने की सिफारिश की। उस काल के बहुतेरे बंगाली दूरदर्शी महापुरुषों जैसे द्विजेन्द्र लाल राय, केशव चन्द्र सेन, माइकेल मधुसूदन दत्त, जस्टिस

शारदाचरण मित्र, भूदेव मुखर्जी इत्यादि ने हिन्दी का ही समर्थन किया था। केशव चन्द्र सेन ने स्वामी दयानंद सरस्वती (गुजराती) को यह सलाह दी थी कि 'सत्यार्थ-प्रकाश' की रचना वह 'संस्कृत में न कर हिन्दी में' करें। इसी तरह देश के अन्य प्रान्तीय विद्वानों ने हिन्दी के पक्ष में अपना मत दिया। गाँधी जी के नेतृत्व में अन्य सभी प्रान्तीय भाषाओं ने हिन्दी के पक्ष में अपने दावे वापस ले लिये। हिन्दी भावी स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा मान ली गयी।

हिन्दी-उर्दू का संघर्ष

लेकिन, उर्दू के समर्थक अपनी बात पर अड़े रहे। फल यह हुआ कि हिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी-उर्दू का संघर्ष लम्बे अर्से तक चलता रहा। लेकिन आज़ादी के बाद, यह झगड़ा भी समाप्त हो गया। अब उर्दू वाले उर्दू को क्षेत्रीय भाषा बनाने की माँग कर रहे हैं। किन्तु स्थिति अब बहुत कुछ बदल चुकी है; उर्दू के दावे की वास्तविकता लोगां की समझ में आ चुकी है, इसलिए वर्तमान स्थिति में हिन्दी-उर्दू का संघर्ष कोई अर्थ नहीं रखता। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद फरवरी १९५८ में, दिल्ली में, उर्दू की पहली 'कुल हिन्द उर्दू कांफ्रेंस' हुई। इसमें उर्दू के प्रबल समर्थक डॉ० ताराचन्द और मौलाना आज़ाद ने उर्दू वालों को सावधान करते हुए कहा कि 'उर्दू वाले पुरानी बातों को भुलाकर उर्दू की मौजूदा हैसियत को समझें और उसी के मुताबिक काम करें तो सारे झगड़े दूर हो सकते हैं।' सारांश यह कि हिन्दी को अब उर्दू से कोई खतरा नहीं रहा। रह गयी बात लिपि की, तो हिन्दी के कुछ प्रकाशकों ने उर्दू के ढेर-के-ढेर साहित्य को, जो फारसी लिपि में लिखा था, देवनागरी लिपि में उल्था कर यह साबित कर दिया है कि उर्दू वाले यदि देवनागरी लिपि को अपना लें तो सारा विवाद सदा के लिए मिट जाय। लेकिन, ऐसा लगता है, अभी वे तैयार नहीं हैं। उर्दू की दो राष्ट्र वाली नीति के दुष्परिणामों से देश का जितना बड़ा अहित हुआ है, उसे भुलाना आसान नहीं। इसलिए मैं समझता हूँ कि उर्दू को जीवित रखने के लिए देवनागरी लिपि का सहारा बहुत जरूरी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उर्दू हिन्दी की ही शैली है, इसलिए इस शैली को भी बने रहने और जीने का अधिकार है।

हिन्दी में 'राष्ट्रभाषा' की योग्यता

अब प्रश्न यह है कि अन्य प्रांतीय भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी को ही 'राष्ट्रभाषा'-पद का गौरव क्यों दिया गया। इसका उत्तर देने के पहले यह समझ लेना चाहिए कि किसी भी देश की राष्ट्रभाषा की योग्यता पाँच मुख्य बातों पर निर्भर है :—

१. भाषा सरल हो जिससे सीखने में आसानी हो।
२. उच्चारण में कठिनाई न हो।
३. उसके बोलने वालों की संख्या अधिक हो।

४. भाषा में समीकरण की शक्ति हो ताकि वह सभी तरह के भावों और विचारों को अपने में पचा सके और प्रकट कर सके।

५. उसका साहित्य समृद्ध हो।

सच्ची बात तो यह है कि ये सारे गुण हिन्दी भाषा और साहित्य में वर्तमान हैं। हम किसी भी प्रांतीय भाषा को छोटा या बड़ा कहना नहीं चाहते, क्योंकि हर भाषा में कुछ ऐसे गुण हैं जो हिन्दी में नहीं हैं। उदाहरणार्थ, मराठी का गांभीर्य, बंगला का माधुर्य, तामिल की तार्किकता और उर्दू की चुस्ती हिन्दी में लाने की जरूरत है। सच तो यह है कि हर प्रदेश की भाषा में कुछ-न-कुछ अपनी विलक्षणताएँ होती हैं। हिन्दी के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह है कि वह अत्यन्त सरल भाषा है, जिसके बोलने वालों की संख्या इतनी है कि संसार की भाषाओं में इसका तीसरा स्थान है; उसका साहित्य किसी भी प्रान्तीय भाषा से कम समृद्ध नहीं है। इस प्रकार हिन्दी में राष्ट्रभाषा की योग्यता राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में, इसलिए है कि देश के बड़े भाग में उसका प्रचार है, लगभग ५० प्रतिशत लोग केवल हिन्दी बोलते हैं, शेष ५० प्रतिशत में अन्य १३ भारतीय भाषाएँ बोली जाती हैं। दूसरी बात यह कि देवनागरी लिपि वैज्ञानिक है, जिसकी सराहना देश-विदेश के विद्वान् मुक्तकण्ठ से कर चुके हैं। तीसरे यह कि हिन्दी संस्कृत की सीधी परम्परा से संबद्ध है, जिसमें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग उसी रूप में होता है जितना देश की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में। इसमें तामिल एक अपवाद अवश्य है। देश की भाषा-समस्या को दूर करने के लिए उन भाषा-भाषियों से, राष्ट्रीय एकता के नाम पर, त्याग की माँग अपेक्षित है जो राजनीतिक कारणों से हिन्दी का विरोध करते हैं।

स्वतंत्रता-प्राति के बाद

हिन्दी को संवैधानिक मान्यता:—देश की स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संसद् ने सर्व सम्मति से हिन्दी को राष्ट्रभाषा की संवैधानिक मान्यता प्रदान की और इस प्रकार भारतीय संविधान और सरकार ने उसे राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर उसके अधिकार की रक्षा की। संविधान ने उसका सन् १९६५ से केन्द्रीय सरकार की राज-भाषा के रूप में प्रयोग करने का निश्चय किया है। लेकिन, हम देखते हैं कि राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी-प्रयोग की अवधि ज्यों-ज्यों समीप आती जा रही है, त्यों-त्यों कुछ अहिन्दी-भाषी भारतीय उसके मार्ग में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करते जा रहे हैं।

हिन्दी का विरोध

आज कुछ अंचलों में राज-भाषा के रूप में हिन्दी के विरोध में अनेक तर्क और विविध युक्तियाँ दी जा रही हैं। हिन्दी का विरोध और अंग्रेजी का समर्थन जितने बड़े पैमाने पर हो रहा है, उतना स्वतन्त्रता के पहले नहीं हुआ था। इस विरोध में मुख्यत:

अहिन्दी भाषी लोग हैं। दक्षिण के श्री राज गोपालाचार्य, बंगाल के सुप्रसिद्ध भाषा विद् डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी और भारतीय ईसाइयों के नेता श्री फ्रैंक ऐन्थोनी हिन्दी के स्थान पर अंग्रेजी का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहे हैं। इनमें प्रथम दो ऐसे सज्जन हैं जो गुलामी के दिनों मे हिन्दी के समर्थक ही नहीं बल्कि उसके प्रबल प्रचारक भी थे। सन् १९४६ के दिसंबर में सुनीति बाबू ने साहित्य-सम्मेलन के कराँची-अधिवेशन के अवसर पर अपने भाषण में यह स्पष्ट कहा था कि "भारत की प्रतिभू-भाषा हिन्दी ही है।" लेकिन, बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने ११-१२ साल के बाद सन् १९५८ में भाषा-आयोग के प्रतिवेदन में उन्होंने अंग्रेजी को अनन्त काल तक बनाये रखने की युक्ति प्रस्तुत की और कहा कि "हिन्दी अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाएँ अभी इस योग्य नहीं बन सकी हैं, कि वे अंग्रेजी का स्थान ग्रहण कर सकें।" लेकिन यह समझ में नहीं आता कि जब अंग्रेजी अपने आसन पर बनी रहेगी, तब हिन्दी अथवा अन्य प्रादेशिक भाषाओं में वह योग्यता अथवा क्षमता किस प्रकार और कहाँ से आ सकेगी।

उधर दक्षिण के महानुभाव राजा जी ने आज से ३१ वर्ष पूर्व १२ फरवरी १९२८ को पढ़े गये एक निबंध में हिन्दी का समर्थन करते हुए कहा था कि "केन्द्रीय सरकार तथा कानून की भाषा और प्रान्तीय सरकार के परस्पर संबंध तथा भारत सरकार के साथ व्यवहार की भाषा हिन्दी अवश्य ही स्वीकार करनी होगी।" लेकिन आज वे भी बदल गये हैं और अंग्रेजी का समर्थन कर रहे हैं। वे जिस स्वार्थ-भावना से हिन्दी का विरोध और अंग्रेजी का समर्थन कर रहे हैं, वह एक सीमा तक अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। उन्हें इस बात का भय हो गया है कि हिन्दी के राज-भाषा हो जाने पर केन्द्रीय सरकार की सेवाओं में दक्षिण के प्रतिनिधित्व का अन्त हो जायगा और सभी बड़े-बड़े पदों पर केवल हिन्दी-भाषी ही आसीन हो जायेंगे। लेकिन, उनकी यह आशंका सर्वथा निर्मूल है। दक्षिण-भारत में हिन्दी भाषियों की संख्या कम नहीं है और वहाँ के लोग बड़े उत्साह से हिन्दी सीख रहे हैं। १० जून १९५९ को दिल्ली में हुए वर्धा राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति के नवम् वार्षिकोत्सव के अवसर पर हमारे प्रधान मन्त्री पंडित जवाहर लाल नेहरू ने ये शब्द व्यक्त किये—

"दक्षिण में हिन्दी के विरोध की खबरों पर मुझे ताज्जुब होता है, जब मैं मद्रास जाता हूँ, तब मुझे लोग जोर-शोर से हिन्दी सीखते नजर आते हैं। मेरा खयाल है कि दस-पन्द्रह साल में हिन्दी-भाषी राज्यों की बनिस्बत अहिन्दी भाषी राज्यों वाले हिन्दी के ज्ञान में हिन्दी वालों को पछाड़ देंगे।" इससे यह सिद्ध है कि दक्षिण में हिन्दी का विरोध करने वालों की संख्या नगण्य है।

पहले हिन्दी का विरोध यह कहकर किया गया कि हिन्दी यदि बढ़ी, तो वह देश की हिन्दीतर भाषाओं को दबा देगी, किन्तु, हिन्दी के विद्वानों और भारतीय सरकार ने स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दी का आन्दोलन सभी भारतीय भाषाओं का आन्दोलन है। हिन्दी यदि बढ़ी तो सभी भाषाएँ बढ़ेंगी।

हिन्दी-विरोधियों ने जब यह देखा कि हिन्दीतर भाषाएं अब हिन्दी के विरुद्ध भड़कायी नहीं जा सकतीं तब उन्होंने अंग्रेजी का गुण-गान आरंभ किया। अब वे ये तर्क देने लगे हैं कि अंग्रेजी को यदि हमने छोड़ दिया तो शिक्षा और शासन के क्षेत्रों में हमारी प्रगति रुक जायगी।

कुछ ज्ञान-गंभीर लोग भारतीय भाषाओं के इस जागरण को भय की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें शंका होती है कि इससे कहीं देश की एकता में विघ्न न उत्पन्न हो जाय। हमारे बहुत से शासक यह सोचकर भी हिन्दी के प्रति उत्साह नहीं दिखाते कि यदि हिन्दी शासन की भाषा हो गयी तो फाइलों में वे अच्छे नोट न लिख सकेंगे।

जहाँ तक विज्ञान का संबंध है, अंग्रेजी के समर्थक देश को डरा रहे हैं कि यदि अंग्रेजी हटी तो विज्ञान में हमारी योग्यता और उन्नति असंभव हो जायगी। लेकिन यह समझ में नहीं आता कि जब रूस, जापान और जर्मनी के छात्र अपनी राष्ट्र-भाषाओं के माध्यम से विज्ञान की उच्च शिक्षा पा सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि हम इस दिशा में औरों के साथ नहीं चल सकते। प्रश्न प्रयत्न और प्राप्त्याशा का है।

हिन्दी भाषियों का उत्तरदायित्व

आज जहाँ-तहाँ हिन्दी का जो विरोध हो रहा है, उसका उत्तरदायित्व इन विरोधियों पर उतना नहीं है जितना स्वयं हिन्दी-भाषियों पर है। भारतीय संविधान द्वारा हिन्दी के राष्ट्र भाषा के रूप में घोषित होते ही हिन्दी-भाषी दिग्विजय के नशे में चूर हो आत्म-विस्मृत हो गये। उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान न रहा। वे यह भूल गये कि संविधान द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेने से उसका उत्तरदायित्व कितना अधिक बढ़ गया है। इसकी प्रतिक्रिया अहिन्दी-भाषियों पर हुई। उन्हें ऐसा लगा कि हिन्दी-भाषी सारे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। वे इस भावी आशंका से सिहर उठे। फलतः विरोधी आवाजें उठाने लगे और धीरे-धीरे हिन्दी का प्रश्न एक नये रूप में उपस्थित हुआ। और, ये ही नये प्रश्न आज हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी की समस्याएँ हैं।

भारतीय-संविधान ने हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया, उसके प्रयोग की अवधि निश्चित कर दी, पर हिन्दी भाषा-भाषी हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहे। हिन्दी के लेखक उपन्यास और कहानियाँ लिखने में ही लगे रहे; हिन्दी के कवि वादों के विवादों में उलझे रहे; हिन्दी के विद्वानों ने मिलकर हिन्दी की पंचवर्षीय योजना बनाकर हिन्दी भाषा में जीवनोपयोगी साहित्य के निर्माण में विशेष योग नहीं दिया; हिन्दी की प्रमुख संस्थाएँ—हिन्दी साहित्य-सम्मेलन और काशी नागरी प्रचारिणी सभा—सत्ता और चुनाव में इस प्रकार रस-बस गयीं, उसके निर्माणकारी कार्य बंद हो गये। इन संस्थाओं पर भ्रष्टाचार के आरोप होने लगे। हिन्दी के नये उदीयमान लेखक और कवि रेडियो की नौकरियों में चले गये। नतीजा यह हुआ कि जिनके किये कुछ हो

सकता था वे सभी सरस्वती को छोड़ लक्ष्मी के दास हो गये और राष्ट्रभाषा हिन्दी को समृद्ध करने का काम आज तक ज्यों-का-त्यों पड़ा रहा। हिन्दी के पुराने साहित्यकार, कुछ को छोड़, सरकारी उपाधियों, पुरस्कार और लोक सभा या राज्य-सभा में जगह पाकर निश्चित हो गये हैं। हिन्दी वालों में पहले जैसा तप और त्याग अब नहीं रहा।

सरकारी नीति

उधर सरकार की नीति और कार्य-विधियों में भी कोई आशाजनक परिवर्त्तन नहीं हुआ। देश के बड़े-बड़े नेता हिन्दी वालों को दलबन्दी से अलग रहने और भाषा तथा साहित्य को समृद्ध करने के लंबे-चौड़े उपदेश बराबर देते रहे हैं। लेकिन उनकी ओर से १९६५ तक हिन्दी को प्रशासनिक भाषा बनाने की दीर्घकालीन योजना अभी तक नहीं बनी। यहाँ तक कि कोश-निर्माण का काम भी अभी ज्यों-का-त्यों पड़ा है। एक कोश केन्द्रीय सरकार बना रही है, दूसरा प्रान्तीय सरकारों के अधीन है, तीसरा हिन्दी की प्रमुख संस्था काशी नागरी प्रचारिणी के जिम्मे है और चौथा कोश एकाध यूनिवर्सिटी बना रही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोश-निर्माण के कार्य में भी कोई उत्साह नहीं है।

हिन्दी राज्यों की स्थिति

उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और बिहार भारत के हिन्दी-भाषी राज्य हैं। इन राज्यों से राष्ट्र भाषा की दृष्टि से देश का नेतृत्व करने की स्वाभाविक अपेक्षा की जाती है, किन्तु इन राज्यों में भी हिन्दी भाषा के संबंध में कोई संतोष जनक कार्य नहीं हुआ। इनकी स्थिति यह है कि १२ वर्षों के उपरान्त भी प्रशासनिक विभागों का कार्य हिन्दी में नहीं हो रहा है, यद्यपि यह राज्य अपने प्रदेशों की राज भाषा हिन्दी होने की घोषणा पहले ही कर चुके हैं। विभागीय सचिव तो क्या, हिन्दी के प्रबल समर्थक और पृष्ठपोषक होने का दावा करने वाले कुछ मुख्य-मंत्री, मंत्री और उपमंत्री तक हिन्दी में लिखने में लज्जा और अंग्रेजी में लिखने में गौरव का अनुभव करते देखे जाते हैं।

इस दिशा में एक उदाहरण बिहार-राज्य का है। बिहार-सरकार ने निर्णय किया था कि २९ नवम्बर, १९५७ तक राज्य के सारे सरकारी काम हिन्दी भाषा और देव-नागरी लिपि में होंगे, लेकिन उसकी अवधि जब निकट आयी तब सरकार ने अपनी हिन्दी-करण की कार्य-नीति को अगले तीन वर्षों के लिए उठा रखा। इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि हिन्दी का प्रयोग जहाँ-का-तहाँ पड़ा रहा।

कुछ हिन्दी-राज्यों में राष्ट्रभाषा-परिषद् और हिन्दी-समिति की स्थापना अवश्य हुई है लेकिन उनके द्वारा भी योजना बद्ध कार्य नहीं हो रहे हैं। ये संस्थाएँ भी अब धीरे-धीरे राजनीति के फंदे में पड़ती जा रही हैं।

विश्वविद्यालयों की अवस्था

हिन्दी-राज्यों में विश्वविद्यालयों से लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, कि कम-से-कम ये अपने यहाँ हिन्दी को शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बनाने में शीघ्रता करेंगे, लेकिन इनकी नीति से छात्रों के अध्ययन-क्रम में विचित्र असंगति पैदा हो गयी है। अधिकांश विश्वविद्यालयों ने बी० ए० तक हिन्दी को मान्यता दी है, छात्र चाहें तो अंग्रेजी या हिन्दी में प्रश्नोत्तर दे सकते हैं, लेकिन एम० ए० में अंग्रेजी-माध्यम अभी तक अनिवार्य बना हुआ है। फलतः छात्रों की भाषा-अभिव्यक्ति में जितनी शक्ति होनी चाहिए उतनी नहीं आ रही है। हिन्दी के बाद अंग्रेजी की अनिवार्यता एक प्रकार से छात्रों के मन-मस्तिष्क पर बोझ बन गयी है। प्रत्यक्ष परिणाम देखने में यही आता हैं कि हिन्दी-राज्यों की दुरंगी नीति के कारण हमारे विश्वविद्यालय के छात्र केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोजित प्रतियोगिता मूलक परीक्षाओं में अच्छा स्थान नहीं प्राप्त कर रहे हैं और इस प्रकार सरकारी सेवाओं में 'उत्तर' का प्रतिनिधित्व नहीं हो रहा है।

प्रकाशकों का योग

इस दिशा में हिन्दी-प्रकाशकों ने बड़े ही उत्साह वर्द्धक कार्य किये हैं। उत्तर-भारत के सभी छोटे-बड़े प्रकाशकों ने हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन में अन्य सभी प्रान्तीय भाषाओं के प्रकाशकों को मात दे दिया है। आज हिन्दी में जितनी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं उतनी भारत की किसी भी दूसरी भाषा में नहीं। कलकत्ते की नेशनल लाइब्रेरी द्वारा घोषित आँकड़ों से पता चलता है कि १९५८ में ४,७३६ पुस्तकें हिन्दी में, १,६४३ बंगला में, १,८२५ गुजराती में, १,६१५ मराठी में, १,२३० तामिल में, १,०९३ तेलगू में और २९२ पुस्तकें संस्कृत में प्रकाशित हुईं। हिन्दी प्रकाशनों का स्तर आज पहले से कहीं ऊँचा है। अंग्रेजी और उर्दू की मुख्य नगरी और भारत की राजधानी दिल्ली की पब्लिक लाइब्रेरी में सन् १९५८ में हिन्दी की २९ हजार पुस्तकें पढ़ी गयीं। उर्दू, अंग्रेजी, पंजाबी पुस्तकों की संख्या क्रमशः १०,०९७, ५,३६६, १,६८९ है। इन आँकड़ों से पता चलता है कि हिन्दी पाठकों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है और हिन्दी के प्रति जन साधारण का स्वाभाविक अनुराग और आकर्षण पहले से कहीं अधिक बढ़ा है। इसलिए हिन्दी के विकास पर किसी को तनिक भी संदेह नहीं करना चाहिए। इस जन-भाषा को जनता का सहयोग प्राप्त है और यही उसका सबसे बड़ा बल है।

हिन्दी आयोग की रिपोर्ट

यह आशा की जाती थी कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त 'हिन्दी आयोग' राष्ट्र-भाषा हिन्दी की समस्या को सुलझाने में बहुत हद तक सहायक सिद्ध होगा। लेकिन इस आशा के विपरीत आयोग ने यह समस्या और भी अधिक जटिल बना दी है।

आयोग की रिपोर्ट भी दक्षिण के तथा-कथित हिन्दी विरोध के प्रमुख कारणों में से एक है। आयोग के निर्णयानुसार सन् १९६५ से हिन्दी और अंग्रेजी दोनों का उपयोग राजभाषा के रूप में किया जायगा और सरकारी नौकरियों में हिन्दी जानना अनिवार्य नहीं होगा। भारतीय संसद् ने इसे अपनी स्वीकृति दे दी है। इससे आशा जनक परिणाम निकलने की आशा नहीं की जा सकती।

समस्याओं का समाधान

इस दिशा में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद का यह मत सर्वथा मान्य है कि हिन्दी वाले दक्षिण के विरोधों की चिन्ता किये बिना अपनी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनाने में लगे रहें; हिन्दी के लेखक राजनीतिक दल बंदियों के शिकार न हों। मैं समझता हूँ कि हिन्दी भाषा के प्रेमियों को राष्ट्रभाषा के हित में कुछ ऐसी सुनिश्चित योजना का निर्माण भी करना चाहिए जिससे उसका समुचित विकास हो सके और वे सरकार से माँग करें कि केन्द्रीय और प्रान्तीय परीक्षाओं में हिन्दी अनिवार्य हो, हिन्दी या अंग्रेजी में प्रश्नोत्तर लिखने का अधिकार हो; हिन्दी का स्वतंत्र मंत्रणालय हो; राष्ट्रभाषा के विकास के लिए पंचवर्षीय योजना बने; विश्वविद्यालयों में हिन्दी एम्०ए० तक शिक्षा-परीक्षा की माध्यम हो। हिन्दी प्रेमियों को सरकारी नौकरियों का मोह भी छोड़ देना चाहिए। इन्हीं बातों की कार्यान्विति के बाद राष्ट्र भाषा की वर्तमान समस्याएँ दूर हो सकेंगी। और तभी दिनकर जी के शब्दों में, 'वोट' की भाषा और फाइलों पर 'नोट' की भाषा में द्विरूपता मिट पायेगी।

राष्ट्र-भाषा की समस्या

[डॉ० श्रीपति शर्मा त्रिपाठी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

प्रत्येक राष्ट्र के लिए एक राष्ट्र-भाषा की महान् आवश्यकता होती है क्योंकि राष्ट्र का प्रत्येक कार्य भाषा के द्वारा ही संचालित होता है। साहित्य, विज्ञान, धर्म, राजनीति, शासन, शिक्षा तथा व्यापार सबकी शिक्षा भाषा के द्वारा ही संभव है। अतः राष्ट्रीय एकता तथा चेतना का स्वस्थ रूप बिना राष्ट्र-भाषा के संभव नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र का दृढ़ और बलवान बनाये रखने के लिए राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता का होना नितान्त आवश्यक है, जो उस देश की भाषा और लिपि द्वारा ही संभव है। राष्ट्रीयता की भावना का विकास अभी बहुत थोड़े दिन हुए पश्चिमी देशों से हुआ। इन देशों में धर्म का स्थान आज-कल राष्ट्रीयता ने ले लिया है। एक राष्ट्र के झंडे के नीचे सभी नर-नारी चाहे वे किसी वर्ण, जाति या विचार के हों, एकत्र होकर एकता का अनुभव करते हैं। इस सांस्कृतिक एकता का मूल रहस्य भाषा की एकता है। फलतः राष्ट्रीय भाषा के अभाव में राष्ट्र के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं हो सकती। अभी कुछ दिनों पूर्व जब हम अंग्रेजों की पराधीनता में थे, हमारा देश राष्ट्र नहीं कहा जा सकता था, क्योंकि हमारी भाषा अंग्रेजी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश के कर्णधारों का ध्यान बड़े वेग से राष्ट्र-भाषा के निर्माण की ओर गया। भारतीय संविधान ने अब अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज-भाषा घोषित किया है। संविधान की धारा ३५१ के अनुसार इस राज-भाषा के विकास की ओर निम्नांकित शब्दों में दिशा निर्देश किया है :—

"संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का विकास और प्रसार करे, ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना, हिन्दुस्तानी और आठवीं अनुसूची में उल्लिखित अन्य भाषाओं के रूप, शैली और वाक्य-विन्यास को आत्मसात् करते हुए, तथा जहाँ आवश्यक और वांछनीय हो, वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।"

संविधान की उपर्युक्त धारा के अनुसार अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राज-भाषा स्वीकार करने के बाद आज हिन्दी के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व आ गया है।

अंग्रेजी शासन-काल में हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा को समुचित विकास का अवसर नहीं प्राप्त हो सका था। आज हमें यह विकास बहुत थोड़े समय में करने की आवश्यकता है, जिससे हिन्दी एक स्वस्थ और सबल राष्ट्र-भाषा का रूप ग्रहण कर सके। यह आश्चर्य की बात है कि जिस समय हम स्वाधीनता संग्राम की चरम सीमा पर थे, उस समय इस देश के लिए एक राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता समझी गयी, और देश के किसी भी कोने से उसका विरोध नहीं किया गया, परन्तु हम ज्योंही एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में खड़े हुए, राष्ट्र-भाषा निर्माण के मार्ग में अनेक बाधाएँ और समस्याएँ आ उपस्थित हुई।

हिन्दी के सम्मुख आज सबसे महान् समस्या है कि उसका भावी रूप क्या हो? पुराने संस्कारों तथा अभ्यासों में ग्रस्त रहने के कारण कुछ लोग अंग्रेजी को अब भी छोड़ना नहीं चाहते। ऐसे हिन्दी विरोधियों में वे लोग हैं, जो सर्वदा अंग्रेजी और अंग्रेजों के भक्त रहे हैं। स्वतंत्रता मिल जाने पर भी उनकी मानसिक परतंत्रता आज भी बनी हुई है। इनमें से कुछ अंग्रेजी-शासन काल के राजभक्त कर्मचारी और ऐंग्लो-इंडियन हैं जिनके नेता फ्रेंक एन्थोनी हैं। वे राष्ट्र-भाषा विरोधियों की आवाज को ऊँचा करते हुए ये नारे लगाते हैं कि अंग्रेजी हमारी मातृ भाषा है, इसलिए उसे भी भारतीय संविधान में पूर्व निश्चित देश-भाषाओं की सूची में स्थान प्राप्त होना चाहिए। यहाँ तक कि वे आज भी अंग्रेजी को राष्ट्र-भाषा के आसन पर आसीन होने की कल्पना करते हैं। उनका तर्क यह है कि अंग्रेजी देश की एकता को सुरक्षित करने में सहायक रही है, और आगे चल कर भी होगी। अंग्रेजी के इन समर्थकों ने उन दिनों को इतने शीघ्र कैसे विस्मृत कर दिया जब भारत के कोने-कोने में महात्मा गाँधी ने हिन्दी भाषा के माध्यम से पूरे राष्ट्र में राष्ट्रीय चेतना और जागरण का सन्देश सुनाया था। दूसरे, देश की लगभग १८ प्रतिशत साक्षर जन संख्या में अंग्रेजी जानने वाले केवल मुट्ठी भर हैं। ८२ प्रतिशत जनता अब भी निरक्षर है। इन थोड़े से अंग्रेजी समझने वाले लोगों की इच्छा के अनुसार विदेशी भाषा अंग्रेजी कदापि राष्ट्र भाषा के रूप में हमारे ऊपर लादी नहीं जा सकती। कोई भी राष्ट्र विदेशी राष्ट्र-भाषा के बल पर गौरवान्वित नहीं हो सकता। प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपने एक भाषण में एक बार कहा था कि जब मैं विदेशों में जाता हूँ, तब अपने देशवासियों से हिन्दी में ही बोलता हूँ; इसका कारण है कि विदेशों में अंग्रेजी के व्यवहार से हम सम्मानित नहीं वरन् अपमानित होते हैं। अभी हाल की बात है जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने रूस में अपने राजदूतत्व का प्रमाण अंग्रेजी में दिया, तब वहाँ की सरकार ने उसे लौटा दिया था। अनुभव हमारा साक्षी है कि दो सौ वर्षों के सम्पर्क तथा ज्ञान के पश्चात् आज भी हमारे देश ने अंग्रेजी के क्षेत्र में कोई महान् उन्नति नहीं की। दो एक लेखकों को छोड़कर किसी भी भारतीय ने अंग्रेजी ग्रंथ की रचना करके उतना भी मान नहीं प्राप्त किया जितना वहाँ के साधारण से साधारण लेखक को मिलता

है। वर्षों पूर्व हमारे प्रसिद्ध नेता तथा अंग्रेजी के विज्ञ सर तेजबहादुर सप्रू और पं० मदन मोहन मालवीय ने कहा था' पचासों वर्ष तक देश-विदेश में भ्रमण करने के पश्चात् तथा अंग्रेजी में सिर मारने के बावजूद अंग्रेजी बोलते समय उन्हें हर समय खटका और संशय बना रहता था कि कहीं बोलने में अशुद्धि न हो जाय।" हम आँखें फोड़-फोड़ कर, तथा कमर तोड़-तोड़ कर जीवन के प्रारंभिक बीसों वर्षों तक अंग्रेजी ज्ञान की साधना में तत्पर रहते हैं, फिर भी निर्भीक रूप से न तो हम विदेशी भाषा में विचारों का प्रकाशन ही कर सकते हैं, न उसे लिपिबद्ध ही कर सकते हैं। इधर हिन्दी के माध्यम हो जाने से अंग्रेजी का स्तर दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है। फिर भी देश के कतिपय विद्वानों का विचार है कि शिक्षा का माध्यम अब भी अंग्रेजी बनी रहे। मानसिक परतंत्रता की इससे अधिक शोचनीय परिस्थिति और क्या हो सकती है।

परन्तु अंग्रेजी भाषा के विरोध में यहाँ यह कदापि न समझना चाहिए कि राष्ट्रीय विकास में उसका कोई स्थान नहीं है। निस्संदेह अंग्रेजी एक समृद्ध भाषा है, और ज्ञान, विज्ञान का अनन्त भंडार उसमें सुरक्षित है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में हमारे देश के भी अनेक विद्वानों ने इसी भाषा में अपने विचारों और खोजों को लिपिबद्ध कर दिया है। अतः अंग्रेजी का स्थान निश्चित है। जो लोग प्राचीन इतिहास की खोज करेंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का विकास करना चाहेंगे उनके लिए अंग्रेजी आवश्यक है, परन्तु यह समझना कि सारा देश का देश इस विदेशी भाषा में विशेषज्ञ होना चाहेगा, नितांत भ्रममूलक है।

हिन्दी विरोध का दूसरा स्वर अहिन्दी क्षेत्रों से आज ऊँचा किया जा रहा है। कुछ राज्यों का कहना है कि हिन्दी उनके ऊपर 'बलात् साम्राज्यवाद' की भाँति लादी जा रही है। सुदूर दक्षिण, केरल, मैसूर तथा तामिल प्रान्त के लोगों का कहना है कि हिन्दी का साहित्य नगण्य है और अल्प कालीन है, उसे पढ़ने के लिए हम सबको बाध्य क्यों किया जाय ? उसमें ऐसी कौन सी वस्तु है, जो अनूठी और हमारे साहित्य से भिन्न है। सूर, तुलसी और कबीर की विचारधारा तो हमारे संतों की वाणी में भी मिल जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बंगला, गुजराती, महाराष्ट्री तथा दक्षिण की कुछ भाषाओं का साहित्य अत्यंत उन्नत और विकसित है, परन्तु इनमें से कोई भी भाषा हिन्दी की, जिस संख्या में वह बोली तथा समझी जाती है, तुलना नहीं कर सकती। बोलने या व्यवहार करने वाले व्यक्तियों की संख्या की दृष्टि से हिन्दी का स्थान आज विश्व की तृतीय महान् भाषाओं के रूप में है। यह भारतवर्ष के लगभग पन्द्रह करोड़ व्यक्तियों द्वारा व्यवहृत तथा छब्बीस करोड़ व्यक्तियों द्वारा समझी जाने वाली और सबसे सुविधाजनक सामान्य भाषा के रूप में ग्रहीत होने वाली महान् भाषा है। भारत की दूसरी भाषाओं में जैसे मराठी, बंगाली, नेपाली, द्रविड़ तथा चीनी, तिब्बती भाषा बोलने वाले लोग भी, हिन्दी को किसी न किसी रूप में समझ लेते हैं। अतः हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि संख्या-शक्ति के विचार से हिन्दी आज

संसार की महत्त्वपूर्ण भाषाओं में से एक है, जो भारत की राष्ट्र भाषा के सर्वथा उपयुक्त है।

संख्या की महान् शक्ति के साथ ही साथ हिन्दी की सबसे बड़ी विशेषता है, कि उसे संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा का उत्तराधिकार प्राप्त है। अगर हमको हिन्दी में नये विचारों को व्यक्त करने वाले शब्द भंडार की कमी को पूरी करना है, तो हमें संस्कृत का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाएँ प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत से निकली हैं। गुजराती, मराठी, और बंगला की लिपियाँ देवनागरी लिपि से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं, यद्यपि दक्षिणी भारत की भाषाओं की लिपियाँ बिलकुल भिन्न हैं, फिर भी उन भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों की प्रधानता है, अतः हिन्दी को राष्ट्र-भाषा के रूप में ग्रहण करने में अहिन्दी राज्यों को कोई विशेष अड़चन नहीं होनी चाहिए। परन्तु जब हम संस्कृत के आश्रय की बात करते हैं, तब हमें अपना दृष्टिकोण अत्यंत व्यापक, उदार और विस्तृत बनाना चाहिए। संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू, फारसी के उन शब्दों को भी ग्रहण करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए, जो सैकड़ों वर्षों से हमारे यहाँ घुल-मिल गये हैं। हिन्दी को सबल और स्वस्थ बनाने के लिए बंगला, गुजराती, मराठी तथा तामिल भाषाओं के शब्दों और विचारों को भी ग्रहण करना होगा, तभी उसकी ग्राहि का शक्ति महान् हो सकती है। रोटी, और तवा शब्द यदि हमारे यहाँ बाहर से आये हैं, तो उनको निकाल देने से हमें सम्मान नहीं मिलेगा। प्रयत्न यह होना चाहिए कि हिन्दी, राष्ट्र के अधिक से अधिक व्यक्तियों द्वारा बोली और समझी जा सके। संसार की सबसे अधिक उन्नतिशील अंग्रेजी भाषा ने अपने इस रूप को प्राप्त करने में किन-किन भाषाओं से उधार नहीं लिया है। लैटिन और फ्रेंच का उत्तराधिकार तो उसे मिला ही था, उसने योरप की सभी भाषाओं के शब्दों को ग्रहण किया, यहाँ तक कि भारतीय भाषाओं से भी शब्द ग्रहण करने में आनाकानी नहीं की। ठग, लूट, बाबू, जंगल इत्यादि शब्द इसके प्रमाण हैं। जीवित देश की भाषा जीवित देह की भाँति बराबर बनती रहती है। फलतः हमें हिन्दी को भी अन्य राष्ट्रों की सम्पन्न भाषाओं की भाँति सर्वांग पूर्ण बनाना होगा।

अनेक आलोचनाओं के होते हुए भी यह स्पष्ट है कि हिन्दी में साहित्य और भाव दारिद्र्य भी नहीं है। हिन्दी का साहित्य लगभग एक हजार वर्षों के विगत इतिहास तथा परम्परा को लेकर आगे चल रहा है। उसकी उपभाषाएँ, ब्रज, मैथिली, अवधी और राजस्थानी कई सौ वर्षों के पूर्व से ही उन्नत साहित्य से पूर्ण हैं। हिन्दी के चन्द विद्यापति, सूर, तुलसी, केशव, मीरा, विहारी, रसखान, भूषण, मैथिलीशरण, प्रसाद और पन्त आदि कवियों से अहिन्दी भाषा भाषी पूर्ण परिचित हैं। हिन्दी का गद्य साहित्य अभी थोड़े दिनों से प्रकाश में आया है, परन्तु इस अल्प काल में ही उसमें इतनी विविधता, सर्वांगीणता तथा परिपक्वता का प्रवेश हो गया है, कि वह संसार के उन्नत साहित्यों के समकक्ष बैठने का दावा कर रहा है। कहानी, नाटक, उपन्यास,

एकांकी रेखाचित्र, रिपोर्ताज़ आदि की कला काफी समृद्ध हो गयी है। आज विदेशों में भी हिन्दी सीखने तथा हिन्दी साहित्य के अनुवाद की सतत उत्सुकता बढ़ रही है। रूस की माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं में हिन्दी को एक अनिवार्य ऐच्छिक विषय बनाया गया है। हमारे देश के अनेक ख्याति लब्ध विद्वानों को रूसी सरकार अपने यहाँ बुलाकर आज हिन्दी पाठ्य-स्वर निश्चित कर रही है। रूसी में गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के अतिरिक्त लल्लू लाल के प्रेम सागर, प्रेमचन्द, यशपाल, राहुल तथा अश्क की कृतियों का अनुवाद किया जा रहा है। चेक भाषा में भी हिन्दी के आधुनिक कवि और लेखकों की कृतियाँ अनूदित हुई हैं। मास्को, टोकियो, बर्लिन, लंदन, पेकिंग आदि विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्यापन विदेशी विद्वानों द्वारा हो रहा है। यह सब हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के परिचायक हैं, परन्तु हमें इतने ही से संतोष नहीं कर लेना है। हमारा ध्यान इस ओर भी उन्मुख होना चाहिए कि हमारी भाषा में क्या कमियाँ हैं और उनकी पूर्त्ति में हम कौन से साधनों का प्रयोग करें।

हिन्दी के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ललित साहित्य के अतिरिक्त उपयोगी तथा वैज्ञानिक साहित्य को भी तैयार करे। यह साहित्य इतने ऊँचे स्तर का हो, कि देश के अधिक से अधिक व्यक्ति उसको पढ़ने की आवश्यकता का अनुभव करें। हमें ऐसे साहित्य का निर्माण करना है जिसे पढ़ने के लिए लोगों में आकर्षण पैदा हो, तभी बलात् राष्ट्रभाषा लादने की बात दूर हो सकेगी। इसके अतिरिक्त ज्ञान, विज्ञान,रसायन, न्याय तथा शासन सम्बन्धी शब्दों के लिए हमें नवीन पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की ओर भी शीघ्र अग्रसर होना है। अनेक प्रामाणिक कानूनी मसविदों का भी अनुवाद हिन्दी में होना आवश्यक है। हाई कोर्ट, तथा सुप्रीम कोर्ट के फैसले, पार्लियामेंट तथा धारासभाओं द्वारा निर्णीत कानूनों का भी रूपान्तर होना आवश्यक है, जिससे भारतीय जनता शीघ्र राष्ट्रभाषा में न्याय-विधान को ग्रहण कर सके। इस प्रकार के अनुवादों तथा शब्दों के निर्माण में इस बात का ध्यान रखना होगा कि हम उनको सरलता से उच्चारण कर सकें और वे हमारी देवनागरी लिपि में सरलता से लिखे जा सकें। हिन्दी साहित्य में प्रायः सभी भाषाओं के उत्तम ग्रंथों का अनूदित रूप शीघ्र प्राप्त हो जाना चाहिए। इसके लिए कला, दर्शन, समाज शास्त्र, विज्ञान, शिल्प और औद्योगिक शास्त्र के सम्बन्ध में हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का निर्माण अत्यंत आवश्यक है, जिनका स्तर ऊँचा और जिनकी भाषा सरल और बोधगम्य हो। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य राज्य-भाषाओं के शब्द कोष तथा मुहाविरों के कोषों की भी नितान्त आवश्यकता है। देश की बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, मध्य प्रदेश हिन्दी परिषद् आदि संस्थाओं द्वारा यह कार्य अवश्य हो रहा है, परन्तु हमें उतने से ही संतोष नहीं कर लेना चाहिए। देश की महान् आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अभी बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

इतना ही नहीं भारत के प्रत्येक विश्वविद्यालय को हिन्दी माध्यम को स्वीकार करने में आगा पीछा नहीं करना चाहिए। अतः प्रत्येक विश्वविद्यालय में क्षेत्रीय भाषा

के साथ-साथ राज भाषा के माध्यम की भी पर्याप्त सुविधा होनी चाहिए जिससे प्रत्येक भारतीय नागरिक को अखिल देशीय स्थान प्राप्त करने का अवसर मिल सके। और वह देश के किसी भी कोने में जाकर ज्ञान प्राप्त कर सके। अभी हिन्दी क्षेत्रों में ही हिन्दी सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम नहीं बन पायी है। अतः हमें यह प्रयत्न करना होगा कि हिन्दी सर्वांगीण रूप से सभी विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम बन सके। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों में होने वाले शोध कार्य पर भी पर्याप्त नियंत्रण की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यह आवश्यक है कि शोध कार्य का विभाग प्रत्येक विश्वविद्यालय में अलग हो, और उसका संचालन योग्य वैतनिक विद्वानों के हाथ में हो। शोध करने वाले अध्यापकों और विद्वानों को भी सरकार से जब तक उचित सहायता न प्राप्त होगी, तब तक उसका स्तर उच्च और गंभीर न हो सकेगा। इन सभी आवश्यकताओं और अभावों की पूर्ति में शीघ्र गति तथा भगीरथ प्रयत्न की आवश्यकता है, इसीसे हिन्दी का रूप समृद्ध होगा और वह देश के प्रत्येक कोने से समादृत होकर राष्ट्रभाषा का रूप ग्रहण कर सकेगी।

हिन्दी भाषा का भावी रूप

[श्री० बाल गोविन्द मिश्र, एम्० ए०, विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

आधुनिक भारतीय भाषाओं में—चाहे वे आर्य भाषाएँ हों और चाहे द्रविड़,आस्ट्रिक तथा तिब्बत-बर्मी परिवारों की आर्येतर भाषाएँ हों—हिन्दी भाषा का स्थान अन्यतम है। यह भाषा भौगोलिक क्षेत्रफल, वक्ताओं की संख्या और भाषा के संघटनात्मक रूप आदि सभी दृष्टियों से इन समस्त भारतीय भाषाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और सबमें अग्रणी है। यह भाषा उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, दिल्ली, हिमांचल प्रदेश और पंजाब के कुछ भूभाग में बोली और समझी जाती है अथवा शिक्षा-दीक्षा और सामान्य व्यवहार की भाषा के रूप में स्वीकृत है। इस विस्तृत क्षेत्र में इसके बोलने वालों की संख्या लगभग तेरह साढ़े-तेरह करोड़ है। यह संख्या हमारे देश की कुल जनसंख्या की ४० प्रतिशत के लगभग है। इसके अतिरिक्त अन्य अहिन्दी-भाषी राज्यों में हिन्दी का प्रयोग कर सकने योग्य लोगों की संख्या को यदि इसमें जोड़ दिया जाय तो यह संख्या साढ़े-सोलह करोड़ के आस-पास तक पहुँच जाती है। इस प्रकार हमारे देश की सम्पूर्ण जनसंख्या के प्रायः ४७·४ प्रतिशत लोग हिन्दी भाषा का व्यवहार करते या कर सकते हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से भी हिन्दी-भाषी भूभागों का कुल क्षेत्रफल समस्त देश के क्षेत्रफल के ४० प्रतिशत के आस-पास है। भाषा के संघटनात्मक स्वरूप की दृष्टि से भी हिन्दी का ध्वनि-समूह, पद-रचना, वाक्य-गठन और व्याकरणिक स्वरूप, आदि सभी अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा अधिक सहज, सुबोध और सरल है। उसे सीखने में बड़ी सरलता और सुविधा है, तथा जितने कम समय में हिन्दी सीखी जा सकती है उतने कम समय में सम्भवतः अन्य कोई भी भारतीय भाषा नहीं सीखी जा सकती। हिन्दी भाषा की व्याकरण भी जीवित भाषाओं के गुणों से युक्त है। उसमें लोच है, प्रांजलता है और नियमों के प्रति जटिलतापूर्ण आग्रह भी नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिन्दी भाषा का एक विशिष्ट स्थान है और अपनी इसी विशेषता के कारण उसे स्वतंत्र भारत की राजभाषा अथवा केन्द्रीय व्यवहार की भाषा स्वीकार किया गया है।

भारतवर्ष एक बहुभाषा-भाषी देश है। भारतीय संविधान में अपने देश की प्रमुख चौदह भाषाओं की गणना करायी गयी है। ये चौदह भाषाएँ हैं—तामिल, कन्नड़, मलयलम, तेलुगु, असमिया, बंगला, उड़िया, मराठी, गुजराती, पंजाबी, काश्मीरी, उर्दू, हिन्दी और

संस्कृत। इनमें संस्कृत को छोड़कर शेष तेरह भाषाएँ दैनिक व्यवहार की भाषाएँ हैं, यद्यपि उर्दू को प्रादेशिक भाषा की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि यह किसी प्रदेश विशेष की बोल-चाल की भाषा नहीं है, वरन् एक विशिष्ट धार्मिक समुदाय के लोगों की भाषा है। इस प्रकार इनमें बारह भाषाएँ ही प्रादेशिक भाषाएँ हैं, जिनका भिन्न-भिन्न प्रदेशों के राजकीय व्यवहार में उपयोग किया जा रहा है या किया जायगा। एक और भाषा भी है, जो इस सूची से छूट गयी है और वह है सिन्धी। यह भाषा अविभाजित भारत में सिन्ध प्रदेश की भाषा थी। विभाजन के उपरान्त सिन्ध प्रान्त पाकिस्तान में रह गया और शायद इसीलिए सिन्धी भाषा को इस सूची में स्थान नहीं दिया गया, परन्तु सिन्ध से आये हुए लोगों के द्वारा बोलचाल की भाषा के रूप में इसका निरन्तर व्यवहार किया जाता है और इस भाषा के बोलने वाले दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बम्बई आदि सभी राज्यों में फैल गये हैं। भारतवर्ष के इस बहुभाषा-भाषी रूप को ऐक्य में आबद्ध रखने के लिए जहाँ राष्ट्रीय भावना, सांस्कृतिक और विचारगत एकसूत्रता और भावनात्मक ऐक्य की आवश्यकता है वहीं एक ऐसी भाषा की भी आवश्यकता है जो समस्त देशवासियों को परस्पर समीप ला सके, उनके विचार-विनिमय की भाषा बन सके और उनमें वैचारिक और भावनात्मक एकता की भावना भर सके। इस प्रकार की एक भाषा की आवश्यकता राजा राममोहन राय और केशव चन्द्र सेन ने उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में ही अनुभव की थी और यह स्पष्ट कहा था कि हिन्दी में ही यह शक्ति है कि वह समस्त राष्ट्र की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके, किसी अन्य भाषा में नहीं। इसके उपरान्त बीसवीं शताब्दी में तो यह आवश्यकता बार-बार अनुभव की गयी और भारतीय कांग्रेस ने भी हिन्दी को ही राष्ट्रीय स्तर पर विचार-विनिमय और पारस्परिक व्यवहार की भाषा स्वीकार किया। कालान्तर में देश की स्वतंत्रता के उपरान्त जब राज्यभाषा अथवा केन्द्रीय भाषा का प्रश्न उठा तो काफी वाद-विवाद और विचार-विमर्श के उपरान्त हिन्दी को ही केन्द्रीय सरकार के व्यवहार की और अन्तर्प्रादेशिक व्यवहार की भाषा स्वीकार किया गया। उस समय यह भी निश्चय किया गया कि अन्तर्प्रादेशिक भाषा और केन्द्रीय भाषा के रूप में हिन्दी को व्यवहृत करने के लिए सभी आवश्यक तैयारी करने के लिए १५ वर्षों की अवधि रखी जाय एवं तब तक अंग्रेजी भाषा को पूर्ववत् चलते रहने दिया जाय।

हिन्दी भाषा को राजभाषा स्वीकार कर लेने और उसे वास्तविक व्यवहार में लाने के लिए पन्द्रह वर्षों की अवधि निर्धारित कर देने के बाद से ही हिन्दी की वर्तमान सामर्थ्य और उसके भावी रूप के विषय में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क होने लगे हैं। प्रायः प्रत्येक विद्वान्, शिक्षाशास्त्री और राजनीतिक नेता ने यह अपना कर्त्तव्य समझ लिया है कि वह, हिन्दी भाषा का क्या रूप होना चाहिए, इस विषय पर कुछ न कुछ विचार रखे एवं जहाँ-तहाँ उसे प्रकट कर दिया करे। इस प्रकार के लोगों में बहुत से तो ऐसे भी हैं, जिन्हें न तो हिन्दी भाषा और उसके साहित्य तथा संघटनात्मक रूप के

विषय में कोई जानकारी है और न तो वे भाषाओं तथा उनके विकास आदि के संबंध में कोई विशिष्ट प्रकार की जानकारी ही रखते हैं। ऐसे लोगों के द्वारा प्रकट किये गये विचारों पर न तो हम यहाँ ध्यान ही देंगे और न इन पर किसी प्रकार के गम्भीर विचार की आवश्यकता ही है पर विभिन्न भाषाविदों और शिक्षाशास्त्रियों के द्वारा इस विषय पर जो विचार समय-समय पर गम्भीरतापूर्वक प्रकट किये गये हैं वे अवश्य माननीय हैं और अब हम उन पर ही विचार करके यह स्थिर करने का प्रयास करेंगे कि हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए और वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार उसके रूप में क्या-क्या परिवर्तन सम्भावित हैं तथा भविष्य में हिन्दी को राजभाषा के रूप में सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित करने के लिए क्या-क्या प्रयत्न करना वांछनीय है।

हिन्दी के भावी रूप के संबंध में विचार करते ही हमारे सामने इस प्रश्न के दो पक्ष सामने आ जाते हैं—(१) हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए, और (२) हिन्दी का भावी रूप किस प्रकार का होने की सम्भावना पायी जाती है। जहाँ तक 'हिन्दी का रूप क्या होना चाहिए' इस पक्ष की बात है, लोगों के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं और सब अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार ही हिन्दी का विकास होता हुआ देखना चाहते हैं। ऐसे लोग प्रायः यह भी मानते हैं कि यदि उनकी धारणा के अनुसार हिन्दी का विकास नहीं होता, तो वह अपने देश की भावी राजभाषा होने योग्य नहीं बन पायेगी। यदि हम ऐसे सभी मतों को एकत्र करना चाहें तो ये भिन्न-भिन्न मत हमें हिन्दी के भावी रूप के विषय में पाँच परस्पर-भिन्न धारणाओं को व्यक्त करते हुए दिखायी पड़ेंगे। 'हिन्दी का भावी रूप क्या होना सम्भावित है' इस पर विचार करने से पहले इन धारणाओं की मीमांसा कर लेना उचित है।

आजकल इस विषय में सबसे अधिक प्रचलित और किसी सीमा तक मान्य समझी जाने वाली विचारधारा यह है कि हिन्दी को यदि भारत की भावी केन्द्रीय भाषा का स्थान लेना है तो उसमें देश की समस्त भाषाओं अर्थात् संविधान द्वारा स्वीकृत शेष तेरह भाषाओं की शब्दावली और किसी सीमा तक व्याकरण का भी समावेश होना चाहिए। ऐसे लोगों का विचार यह है कि हिन्दी को सबल और पुष्ट बनाने का कार्य करने के लिए सभी प्रादेशिक भाषाओं का मिश्रण किया जाना ही एक मात्र उपाय है और इसी उपाय के द्वारा ही उसे सक्षम बनाया जा सकता है। साथ ही ऐसा करने से विभिन्न प्रादेशिक भाषाभाषियों को यह कहकर संतुष्ट भी किया जा सकेगा कि उनकी भाषाओं की महत्ता को स्वीकार किया जा रहा है एवं हिन्दी उन सबकी समन्वित शक्ति को लेकर ही बन और बढ़ रही है। इस वर्ग के लोगों की यह बद्धमूल धारणा है कि जब तक हिन्दी का भावी रूप इस प्रकार निर्मित न होगा, उसके समस्त देश में स्वीकार किये जाने की कोई सम्भावना नहीं है, भले ही वह प्रादेशिक स्तर पर एक साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत होती रहे। इस विचारधारा का ही यह परिणाम है कि केन्द्रीय सरकार की पारिभाषिक-शब्दावली-निर्मात्री समितियों में जहाँ

सभी भाषाओं के प्रतिनिधि रहते हैं, यदि कोई अन्य भाषा-भाषी किसी पारिभाषिक शब्द के लिए अपनी भाषा का शब्द सुझा देता है तो उसे तुरन्त ग्रहण कर लिया जाता है। ऐसे लोग बिना इस बात का विचार किये हुए कि इस प्रकार की खिचड़ी शब्दावली बनाने का क्या दुष्परिणाम हिन्दी भाषा की गठन पर पड़ेगा, समझौते और लेन-देन की भावना से इस प्रकार के प्रयासों का सदैव समर्थन करते हैं। इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि अंग्रेजी भाषा में जो आज संसार की सर्वाधिक व्यवहृत भाषा है, न जाने कितनी भाषाओं के अगणित शब्द वर्तमान हैं। इस विषय में ध्यान देने की बात तो यह है कि ये अगणित शब्द अंग्रेजी में भिन्न-भिन्न युगों में धीरे-धीरे आते गये हैं और अंग्रेजी भाषा ने कालान्तर में ऐसे शब्दों को पचाया है। हिन्दी में एक साथ बहुत बड़ी संख्या में ऐसे शब्दों को लाने से और भाषा में उनके न खप पाने के कारण स्वयं भाषा के रूप को क्षति पहुँचने की आशंका है। फिर अंग्रेजी ने इस प्रकार के शब्दों को तभी ग्रहण किया है जब उनका ग्रहण करना सर्वथा नये और आवश्यक भावों, विचारों और पदार्थों को व्यक्त करने के लिए अनिवार्य था। जब हमें हिन्दी में अभी ऐसी अनिवार्यता नहीं प्रतीत हो रही है और हिन्दी स्वयं अपने ढाँचे के अन्दर ही शब्दावली निर्मित कर सकती है तो इसकी वैसी आत्यन्तिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरी विचारधारा पहली से कुछ मिलती-जुलती सी ही है। इस वर्ग के लोगों का विचार यह है कि हिन्दी भाषा का रूप अन्य भाषाभाषियों की सुविधा के अनुसार परिवर्तित किया जाना चाहिए। ऐसे लोगों का विचार है कि हिन्दी के प्रादेशिक रूप से हिन्दी का राजभाषा रूप भिन्न होना चाहिए एवं वह ऐसा होना चाहिए जिसे सीखने में इतर-भाषाभाषियों को कोई भी असुविधा न हो। इस विचारधारा के लोगों का प्रतिनिधित्व प्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या करते हैं। डॉ० चाटुर्ज्या का कथन है कि "व्याकरणिक लिंग और सकर्मक क्रिया के भूतकाल के कर्मणि प्रयोग में आवश्यक लिंग एवं वचन का भेद—इन दो बातों के कारण हिन्दुस्थानी व्याकरण की भाषा बड़ी कठिन हो जाती है।"[१] आपका विचार है कि राजभाषा हिन्दी से इन दोनों को हटा देना चाहिए। इस प्रकार लिंग भेद को राजभाषा से हटा देने पर हिन्दी में 'लड़का जाता है' के ही समान 'लकड़ी जाता है' प्रयोग भी बनेंगे। ऐसे ही सकर्मक क्रिया के भूतकाल के कर्मणि प्रयोग में आवश्यक लिंग और वचन के भेद का परित्याग कर देने और परसर्ग 'ने' को हटा देने से फिर हिन्दी में 'हम रोटी खाया', 'हम भात खाया', 'हम एक राजा देखा' 'हम राजा देखा' आदि प्रयोग बन जायँगे। इसी प्रकार के कुछ और परिवर्तन डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या हिन्दी और राजभाषा बनाने के पूर्व उसमें इतरभाषा-भाषियों की सुविधा के नाम पर कर देना आवश्यक मानते हैं। इस प्रकार की हिन्दी को वे 'लघु-हिन्दी' की संज्ञा देते हैं। उनका तो यह स्पष्ट विचार है कि हिन्दी का यह रूप, जो कलकत्ता के बाजार-हाट में तथा व्यवहार में आज भी प्रयुक्त होता है, राजभाषा

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी—पृष्ठ २६० : डॉ० चाटुर्ज्या

हिन्दी के लिए आदर्श के रूप में सामने रखा जाना चाहिए और उसे ही राजभाषा हिन्दी के स्वरूप-विधान के लिए आदर्श मान लेना चाहिए। डॉ० चाटुर्ज्या और इस विचारधारा वाले अन्य लोगों के इस मत की समीक्षा अभी हम आगे चलकर करेंगे पर यहाँ पर इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि इस प्रकार के परिवर्तनों से हिन्दी के मूलभूत व्याकरणिक संघटन को विशेष क्षति पहुँचेगी और तब हिन्दी का अपना स्वरूप ही विकृत होकर नष्ट हो जाने की सम्भावना भी की जानी चाहिए।

हिन्दी के भावी रूप के विषय में तीसरी श्रेणी उन लोगों की है जो यह मानते हैं कि हिन्दी की ध्वनियाँ, उसकी व्याकरण और शब्दावली को उर्दू भाषाभाषियों की सुविधा के अनुसार परिवर्तित किया जाना चाहिए और इस प्रकार हिन्दी को उर्दू के काफी समीप ले जाना चाहिए। इन लोगों के विचार से इस प्रकार के परिवर्तन के द्वारा हिन्दी का रूप अधिक आसान और प्रचलित बनाया जा सकेगा। इस धारणा को मानने वाले लोगों में वस्तुतः वे ही लोग हैं जो किसी समय तथाकथित हिन्दुस्तानी भाषा के हिमायती रहे हैं और आज भी प्रकारान्तर से हिन्दी के नाम पर उसका रूप उस हिन्दुस्तानी जैसा ही बनाना चाहते हैं। ये लोग हिन्दी के रूप को इस प्रकार विकसित करना चाहते हैं कि उर्दू वालों को हिन्दी सीखने में कोई कठिनाई न हो और यदि हो सके तो कालान्तर में हिन्दी और उर्दू में कोई भेद ही न रहे। ऐसे लोग तो यह भी चाहते हैं कि नागरी लिपि के साथ उर्दू लिपि सीखना भी आवश्यक माना जाय। इस प्रकार की विचारधारा के लोगों की संख्या यद्यपि अब कम ही है पर ये लोग केन्द्रीय और राज्य सरकारों में महत्त्वपूर्ण पदों पर हैं और इस प्रकार अपनी आवाज को जोरदार बनाये हुए हैं। इस मत की समीक्षा में तो इतना कहना ही पर्याप्त है कि हिन्दुस्तानी भाषा एक कृत्रिम और गढ़ी हुई भाषा थी और इसकी अनुपयोगिता तो पहले ही प्रकट हो चुकी है। इस प्रकार के भाषा-रूप की ओर हिन्दी को ले जाना हिन्दी के विकास की दृष्टि से समीचीन नहीं है। यह तो हिन्दी के विकास की गति को रोक देना अथवा उसे मन्द करने का प्रयास ही माना जाना चाहिए, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार के सभी प्रयास, जो हिन्दी को उसके वास्तविक स्थान से वंचित करना चाहते हैं और उसकी प्रगति के मार्ग में अवरोध उपस्थित करना चाहते हैं, समर्थनीय नहीं हैं।

इस संबंध में अगली विचारधारा उन लोगों की है जो अंग्रेजी के हिमायती हैं, और जिन्होंने अपने जीवन में अंग्रेजी भाषा का ही व्यवहार करना सीखा है। ऐसे लोग वे हैं, जिनकी शिक्षा-दीक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही हुई है और जो यह मानते हैं कि शिक्षा के स्तर को बनाये रखने के लिए और ज्ञान की परम्परा को जीवित रखने के लिए अंग्रेजी भाषा के माध्यम का बनाये रखना नितान्त आवश्यक है और किसी भी भारतीय भाषा को यह स्थान देना उचित नहीं है। ये लोग वस्तुतः अपनी-अपनी राज्य भाषाओं और साहित्यों से प्रायः सर्वथा अपरिचित हैं। इनकी यह बद्धमूल धारणा है कि शिक्षा तथा राजकीय प्रशासन आदि के क्षेत्र में अंग्रेजी को ही बनाये

रखना उचित है, पर ये प्रकाश्य रूप से यह न कह कर, कहते यह हैं कि राज्य भाषाओं को तथा हिन्दी को राजकीय व्यवहार में लाये जाने के योग्य पहले बना लेने के बाद ही उनका प्रयोग उन क्षेत्रों में किया जाना चाहिए। इसके लिए वे यह आवश्यक समझते हैं कि राजभाषा हिन्दी में समस्त पारिभाषिक शब्दावली अंग्रेजी से ज्यों-की त्यों ले लेनी चाहिए। इसे वे अंग्रेजी शब्दावली न कहकर अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली की संज्ञा देते हैं और इसे स्वीकार करने के लिए भाँति-भाँति के तर्क प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार इस विचारधारा के लोग हिन्दी भाषा में अंग्रेजी की शब्दावली को ग्रहण करके उसका एक नया ही रूप विकसित करना चाहते हैं जिसे हिन्दुस्तानी के ही वजन पर इंगलिस्तानी कहा जा सकता है। इस मत की समीक्षा में कुछ भी कहना कम ही समझा जाना चाहिए क्योंकि इस मत के समर्थक एक ऐसे भाषा-रूप को जन्म देने और पल्लवित करने की बात कहते हैं, जिसका व्यवहार में ला पाना ही कठिन है। इन लोगों का तर्क कि यूरोप की प्रायः सभी भाषाएँ लैटिन भाषा पर आधृत पारिभाषिक शब्दावली का वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रयोग करती हैं, भारतीय परिस्थितियों में लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि लैटिन भाषा का संबंध अन्य यूरोपीय भाषाओं से काफी गहरा रहा है और पिछले डेढ़ दो हजार सालों में लैटिन भाषा ने प्रायः सभी भाषाओं के विकास को प्रभावित किया है क्योंकि यूरोप की सात-आठ भाषाएँ तो लैटिन से उद्भूत ही हैं और शेष भी लैटिन से काफी प्रभावित हैं। इसलिए यूरोपीय भाषा का लैटिन शब्दावली ग्रहण करना स्वाभाविक और उपयुक्त है पर वही संबंध लैटिन अथवा अंग्रेजी से भारतीय भाषाओं का नहीं है और इसलिए लैटिन शब्दावली अथवा अंग्रेजी की तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली हिन्दी में ले आना सर्वथा अनुपयुक्त है और भाषा के विकास की दृष्टि से एक ऐसा दुस्साहस है जिसके सफल होने की तो कोई सम्भावना करनी ही नहीं चाहिए, हाँ जिससे भाषा के वर्तमान रूप को गहरी क्षति पहुँच सकती है और अंततः उसके स्वरूप के छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाने की भी आशंका हो सकती है। इस मत के पोषकों के विषय में जैसा कि मैं इसके पूर्व भी कह चुका हूँ, प्रायः वे ही लोग हैं जो किसी न किसी उपाय से अंग्रेजी को बनाये रखना चाहते हैं और हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकृत कर लिये जाने के बाद भी, उसे उस स्थान पर पहुँचने से किसी-न-किसी उपाय द्वारा रोक रखना चाहते हैं। इस प्रकार यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दी के भावी रूप के विकास के संबंध में इस मत के समर्थकों के पास कोई रचनात्मक सुझाव नहीं हैं।

इस विषय में पाँचवीं और अन्तिम विचाराधारा संस्कृत की ओर झुकने वाले विद्वानों की है। इस प्रकार के विद्वानों की धारणा तो पहले काफी समय तक यह रही है कि संस्कृत को भारतवर्ष की राजभाषा होना चाहिए, पर अब परिस्थिति के अनुरोध से इन्होंने यह विचार परिवर्तित कर लिया है, यद्यपि छोड़ा तो नहीं है। इनका यह विचार है कि हिन्दी को राजभाषा बनाने के लिए उसे संस्कृतगर्भित रूप दिया

जाना चाहिए, उसकी शब्दावली में संस्कृत शब्दों की बहुलता होना चाहिए और उसका रूप ऐसा हो जाना चाहिए कि वह आपाततः संस्कृत ही प्रतीत होने लगे। इसी दृष्टि-कोण के फलस्वरूप हिन्दी पढ़ने वाले छात्रों को संस्कृत का ज्ञान आवश्यक समझा जाने लगा है और संस्कृत को हिन्दी के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत स्थान दिया जा रहा है। मैं यह मानता हूँ कि संस्कृत हमारे देश की संस्कृति की रक्षा करनेवाली भाषा रही है और उसमें अपने देश की प्राचीन दार्शनिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्परा विद्य-मान है, तथा संस्कृत भाषा की जानकारी से हिन्दी का रूप समझने में सहायता मिलती है, पर यह बात हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी सत्य है और जहाँ तक मैं जानता हूँ किसी भी अन्य भारतीय आर्यभाषा के पाठ्यक्रम में संस्कृत को इस प्रकार का स्थान नहा दिया जा रहा है। आर्येतर परिवारों की भाषाओं की तो बात ही दूर रही, जिन भाषाओं के वक्ता भी भारतीय संस्कृति की विरासत पर उतना ही गर्व अनुभव करते या कर सकते हैं जितना हम। इस मत के समर्थकों का यह भी विचार है कि पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में बनाये जाने वाले शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द ही होने चाहिए अथवा संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही बनाये जाने चाहिए। इनका यह विचार है कि इस प्रकार के शब्द अन्य भारतीय भाषाभाषियों को आसानी से समझ में आ जायेंगे, क्योंकि सभी आधुनिक आर्य भाषाएँ तो संस्कृत से विकसित ही हुई हैं, द्रविड़ परिवार की भाषाएँ भी शब्दावली के क्षेत्र में संस्कृत की बहुत ऋणी हैं। इस मत पर विचार करते समय हमें भारतीय भाषाओं के आधुनिक रूप और संस्कृत से उनके संबंध आदि विषयों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना पड़ेगा। इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत की प्राचीन संस्कृति उसका साहित्य, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान आदि सभी कुछ संस्कृत भाषा में है और यह भी सत्य है कि उसका बड़ा गहरा प्रभाव भारतीय चिन्तनधारा के आधुनिक स्वरूप के साथ ही आधुनिक भाषाओं पर भी पड़ा है पर इन सब को स्वीकार करते हुए भी हमें इस बात से अपनी आँखें न मूँद लेनी चाहिए कि यदि किसी भाषा में किसी दूसरी भाषा का इतना अधिक मिश्रण बरबस कर दिया जायगा तो उसका क्या प्रभाव पड़ेगा। संस्कृत एक विभक्ति-प्रधान संश्लिष्ट भाषा है और हिन्दी तथा अन्य सभी वर्तमान भारतीय भाषाएँ विश्लिष्ट हो चुकी हैं, अतएव संस्कृत भाषा की गठन से आधुनिक भारतीय भाषाओं का गठन सर्वथा स्वतंत्र और भिन्न है। ऐसी स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि हिन्दी पर संस्कृत का संश्लिष्ट व्याकरणिक ढाँचा लादा जा सके। जहाँ तक शब्दावली का प्रश्न है, यह सत्य है, कि विभिन्न भारतीय आर्यभाषाएँ संस्कृत परम्परा से विकसित हुई हैं, पर यह भी समझ लेना चाहिए कि इन भाषाओं का विकास सीधे संस्कृत से नहीं हुआ है, वरन् मध्य-भारतीय-आर्यभाषा-काल की विभिन्न भाषा-स्थितियों अर्थात् पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के मार्ग से ही हुआ है और इन भाषाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक भारतीय आर्य-

भाषाएँ संस्कृत की अपेक्षा इनके अधिक समीप हैं। उनके शब्द-समूह पर तो मध्य-भारतीय-आर्यभाषाओं का प्रभाव पड़ा ही है, उससे भी अधिक उनके संघटनात्मक रूप पर पड़ा है। यही कारण है कि संस्कृत के समय-समय पर शब्दावली ग्रहण करने के बावजूद भी इन भाषाओं का शब्द समूह प्रकृत्या इनका अपना ही है। जहाँ तक इस तर्क की बात है कि हिन्दी में संस्कृत शब्दों की बहुलता होने पर अन्य सभी भाषा भाषी उसे आसानी से समझ सकेंगे, हम देखते हैं कि बात इतनी सीधी और सरल नहीं है। यह सत्य है कि प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं ने संस्कृत से शब्द लिये हैं पर ध्यान देने की बात है कि यह कार्य एक लम्बे अरसे में इतने धीरे-धीरे हुआ है कि ये भाषाएँ उस शब्दावली को अपनी गठन के अनुरूप बनाकर आत्मसात् करती गयी हैं। यदि इस समय एक साथ ही बड़ी संख्या में संस्कृत शब्दों को हिन्दी में ग्रहण किया जायगा, तो हिन्दी इन शब्दों को अपने संघटन में पचा न सकेगी और न कोई भाषा पचा ही सकती है तथा ऐसी स्थिति में इस प्रकार के कार्य का हिन्दी के रूप पर विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। दूसरी बात यह भी है कि सभी आधुनिक आर्य-भाषाओं में संस्कृत शब्दों की मात्रा भी तो समान नहीं है। सिन्धी और पंजाबी में संस्कृत से लिये हुए शब्दों की संख्या आनुपातिक दृष्टि से बहुत कम है, जबकि बंगला में बहुत अधिक। जहाँ तक द्रविड़ भाषाओं की बात है, यह सत्य है कि इन भाषाओं ने भी संस्कृत से समय-समय पर शब्द ग्रहण किये हैं, पर इस विषय में ध्यान देने की बात यह है कि ये शब्द इन भाषाओं के द्वारा ग्रहण करते समय ही अपनी प्रकृति के अनुकूल परिवर्तित कर लिये गये हैं और अब एक लम्बे अरसे तक उनका प्रयोग होने के कारण वे ध्वनि और अर्थ दोनों दृष्टियों से इतने बदल गये हैं कि सामान्य द्रविड़-भाषाभाषी यह भी नहीं जानता कि उनका मूल द्रविड़ है या वे संस्कृत से उधार लिये हुए हैं। अतएव ऐसी स्थिति में यह कहना, कि हिन्दी को संस्कृत-बहुल बना देने से अन्य भाषाभाषियों को सुविधा हो जायगी, बहुत सार्थक नहीं है। हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि जब हिन्दी स्वयं शब्द न गढ़ सकती हो और उसे उधार लेने की आवश्यकता पड़े तो उसे अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत से शब्द लेना चाहिए, पर यह कार्य नितान्त अनिवार्य होने पर ही किया जाना चाहिए और भरसक ग्रहण किये हुए शब्द सरल होने चाहिए। अनावश्यक रूप से हिन्दी में संस्कृत शब्दों का समावेश करने से हिन्दी भाषा के रूप को क्षति पहुँचने की आशंका रहेगी और उसकी स्वाभाविकता, सरलता और प्रवाहमयता को बाधा पहुँचेगी, अतएव उसे इस प्रकार की स्थिति से भरसक बचाकर एक जीवित भाषा के गुणों से युक्त बनाये रखना चाहिए।

'हिन्दी का भावी रूप क्या होना चाहिए' इस विषय पर विभिन्न धारणाओं का आलोचनात्मक अध्ययन कर लेने के उपरान्त अब हम समस्या के दूसरे पक्ष की ओर मुड़ते हैं। भविष्य में हिन्दी के राजभाषा बन जाने के फलस्वरूप उसमें कुछ-न-कुछ

परिवर्तन तो अवश्य होंगे और एतदर्थ आवश्यक परिवर्तन होना भी चाहिए। यह परिवर्तन किस प्रकार के होंगे इसका अनुभव किया जा सकता है। अनुमान के लिए हमारे पास दो आधार हैं—संसार की भाषाओं के विकास की दिशाओं का इतिहास और भाषा-विकास के सामान्य आधारभूत सिद्धान्त। इन दो आधारों पर वैज्ञानिक रीति से हिन्दी के भावी रूप की परिवर्तनोय दिशाओं के विषय में कुछ सम्भावनाएँ की जा सकती हैं। अब हम क्रमशः इन सम्भावित परिवर्तनों को विवेचना करेंगे।

सर्वप्रथम हम हिन्दी शब्दों के उच्चारण और हिन्दी के व्याकरणिक स्वरूप में सम्भावित परिवर्तनों को लेते हैं। जहाँ तक हिन्दी भाषा में शब्दों के उच्चारण का प्रश्न है हिन्दी भाषा में विशेष स्थानों में शब्दों के मध्य में और अन्त में तो प्रायः सर्वत्र ही ह्रस्व आकार की ध्वनि का लोप हो गया है। उसे हम लिखते तो हैं पर उसका उच्चारण नहीं करते। उदाहरणार्थ हम लिखते हैं 'कमला', 'विमला', 'परमात्मा', 'जनता', 'विनती' आदि पर बोलते हैं 'कम्ला', 'विम्ला', 'पर्मात्मा', 'जन्ता', 'विन्ती'। इसी प्रकार हम लिखते हैं 'चलन', 'घर', 'अब', 'कब' आदि पर बोलते हैं 'चलन्', 'घर्', 'अब्', 'कब्', आदि। अहिन्दी भाषा-भाषी लोग हिन्दी को उसके लिखित रूप के आधार पर सीख रहे हैं ओर इस बात की सम्भावना है कि यह ह्रस्व अकार जिसका हिन्दी प्रदेश में लोप हो चुका है पुनः अखिल भारतीय राजभाषा हिन्दी में उच्चरित होने लगे। दक्षिण के द्रविड़-भाषी प्रदेश के हिन्दी वक्ता आज भी इस अकार का उच्चारण करते हैं और इस प्रवृत्ति के और अधिक फैलने की सम्भावना है। यह असम्भव भी नहीं है। हमने देखा है कि पिछले पचास वर्षों में हिन्दी में अन्तःस्थ वकार का सही उच्चारण, 'क्ष' के पुराने उच्चारण 'छ' या 'च्छ' के स्थान पर उसका 'क्ष' उच्चारण, तालव्य 'श' और मूर्धन्य 'ष' के पुराने उच्चारण 'स' और 'ख' के स्थान पर पुनः 'श' आदि का ग्रहण किया गया है। इसी प्रकार से हिन्दी की उच्चारण-रीति में इस नये विकास की भी सम्भावना है। जहाँ तक व्याकरण का प्रश्न है हिन्दी में किसी विशेष परिवर्तन की सम्भावना नहीं पायी जाती है। यह सत्य है कि हिन्दी का अहिन्दी-भाषियों के द्वारा प्रयोग किये जाने के आरम्भिक काल में उनसे व्याकरण संबंधी त्रुटियाँ होंगी और यह स्वाभाविक भी है, पर कालान्तर में इस प्रकार की अव्यवस्था समाप्त हो जायगी, और हिन्दी का व्याकरण भी स्थिर और एकरूप हो जायगा। यह कहना कि हिन्दी का लिंग-विधान अथवा 'ने' का प्रयोग या इसी प्रकार के कुछ और व्याकरणिक नियम अन्य भाषाभाषियों के लिए जटिलता उत्पन्न करने वाले हैं और इन्हें हटा देना चाहिए। समस्या को सर्वथा दूसरी ओर मोड़ ले जाने का प्रयास करना है। इस प्रकार यदि प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के बोलने वालों को ध्यान में रखकर हिन्दी के व्याकरणिक रूप में संशोधन करने की बात सोची जायगी, तो शायद दो भिन्न-भिन्न प्रादेशिक भाषाओं के वक्ताओं के द्वारा परस्पर विरोधी संशोधनों के सुझाव भी आ सकते हैं, उदाहरणार्थ यदि बंगला बोलने वालों की सुविधा के लिए लिंग हटाने की बात उठती

है तो मराठी-भाषी की सुविधा के लिए तो दो लिंग भी पर्याप्त नहीं हैं वरन् नपुंसक लिंग भी हिन्दी में आ जाना चाहिए, क्योंकि मराठी में नपुंसक लिंग भी होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी का व्याकरण यथारूप रहने की ही सम्भावना अधिक है। भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार किसी भी भाषा के व्याकरणिक रूप में कृत्रिम ढंग से एकाएक परिवर्तन करना सम्भव नहीं है और न हिन्दी में ही यह सम्भव होगा। जहाँ तक वाक्य-रचना का प्रश्न है, इस क्षेत्र में भी कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं पायी जाती। यह अवश्य है कि राजभाषा हिन्दी का व्याकरणिक रूप और उसका वाक्य-विधान-दोनों ही अपेक्षाकृत लचीले और आवश्यकतानुसारी होगें ओर एक व्यापक और जीवित भाषा में ऐसा होना भी चाहिए। इस बात की सम्भावना अवश्य है कि जैसे-जैसे अन्य भाषा-भाषी हिन्दी का प्रयोग करते चलेंगे हिन्दी में उनकी अपनी मातृभाषाओं को उच्चारण-रीति, स्वर-भंगिमा, वाक्य-रीति, अभिव्यंजना-पद्धति आदि का प्रभाव कुछ न कुछ तो पड़ेगा ही, पर यह ऐसा नहीं होगा कि हिन्दी भाषा की संघटना पर कोई स्थायी प्रभाव पड़े और उसका रूप ही बदल जाय।

अब हिन्दी के सम्भावित रूप से संबद्ध दूसरी समस्या अर्थात् पारिभाषिक शब्दावली की कमी को दूर करने के लिए किये गये प्रयासों का अध्ययन संक्षेप में कर लेना चाहिए। यह बात प्रायः सभी लोग कहते हैं कि हिन्दी में प्रशासनिक कार्यों के प्रयोग में आने वाले शब्दों की कमी है। इतना ही नहीं सामाजिक शास्त्र, विज्ञान, शिल्प एवं प्राविधिक विषयों आदि के उच्चस्तरीय अध्ययन और अध्यापन से संबद्ध शब्दावली की भी बड़ी कमी है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है और इस पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। किसी भी भाषा का जिस-जिस क्षेत्र में प्रयोग किया जाता है उस क्षेत्र से संबद्ध शब्दावली ही उसमें प्राप्त होती है। हिन्दी का अभी तक इन क्षेत्रों में उपयोग नहीं किया गया और इसीलिए तदर्थ शब्दावली भी नहीं है। इस संबंध में हमें ध्यान में रखने की बात यह है कि भाषाएं शब्दों को कृत्रिम ढंग से गढ़ कर नहीं सम्पन्न की जातीं। विभिन्न विशिष्ट क्षेत्रों में प्रयुक्त करने योग्य शब्दावली के निर्माण का काम उन क्षेत्रों में भाषा का प्रयोग करने से भिन्न नही है। शब्दों की उपयुक्तता की कसौटी उनका प्रयोग ही है। अतएव आजकल जो यह सोचा जाता है कि पहले हिन्दी में विभिन्न विषयों और क्षेत्रों में प्रयोग करने के लिए शब्दों की रचना कर ली जाय, और फिर जब यह शब्दावली तैयार हो जाय, तभी हिन्दी का प्रयोग उन क्षेत्रों में प्रारम्भ किया जाय, सर्वथा अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक है। इससे श्रम और व्यय के व्यर्थ हो जाने की आशंका अधिक है। शब्दावली के निर्माण की बात आजकल चारों ओर सुनायी पड़ती है और विभिन्न हिन्दी-भाषी प्रदेशों की सरकारें और केन्द्रीय सरकार अपने-अपने सरकारी विभागों के द्वारा और सलाहकार-मण्डलों के द्वारा शब्दावली के निर्माण का कार्य सम्पन्न करा रही हैं। इसके अलावा व्यक्तिगत रूप से भी पारिभाषिक शब्दावली के कोषों के निर्माण भी किये गये हैं एवं किये जा

रहे हैं। ऐसे प्रयासों से निर्मित कोषों में डॉ० रघुवीर का कोष प्रधान है। यह पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य जो हो रहा है, वस्तुतः अभी प्रायोगिक ही समझा जाना चाहिए। इस कार्य को रोकने की आवश्यकता तो नहीं है, पर इन पारिभाषिक शब्दों के प्रति विशेष आग्रह रखना भी अनुपयुक्त है। अभी इस बात की परख होना बाकी है कि इनमें से कितने शब्द उपयुक्त और भावव्यंजना में समर्थ है। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, शब्दों की उपयुक्तता की परीक्षा उनके सफल और उपयुक्त प्रयोग में होती है, और इस संपूर्ण पारिभाषिक शब्दावली की जब इस कसौटी पर परख होगी, तो इनमें से बहुत से शब्द छोड़ने पड़ेंगे, परिवर्तित करने पड़ेगे और पुनः नये शब्दों का निर्माण करना होगा। वस्तुतः आवश्यकता यह है कि इन समस्त क्षेत्रों में साहित्य निर्माण हो और उसमें इस समस्त शब्दावली की परख की जाय तथा आवश्यकतानुसार संशोधन किया जाय। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि इन शब्दों का रूप और स्तर भी हमारे विद्वानों, लेखकों, पाठकों तथा छात्रों के स्तर के ही अनुसार रखा जाना चाहिए। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि सामान्य नीति तो यही होना चाहिए कि संस्कृत शब्दों पर ही आधारित पारिभाषिक शब्दों का निर्माण किया जाय पर अनावश्यक रूप से भाषा का संस्कृतीकरण नहीं किया जाना चाहिए और जहाँ तक हो सके हिन्दी के शब्दों को ही बनाये रखना चाहिए। यदि बोलियों में शब्द मिल जायं तो उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए और इसके बाद ही संस्कृत का कोष तथा व्याकरण प्रयोग में लाये जाने चाहिए। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के साहित्य-निर्माण को प्रोत्साहन देने के लिए तथा ऐसे साहित्य के प्रसार के लिए क्षेत्र बनाने के विचार से हिन्दी का प्रयोग भी धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में प्रारम्भ कर दिया जाना चाहिए। यह कार्य सर्वप्रथम हिन्दी-भाषी प्रदेशों में किया जाना चाहिए और इस विषय में उनका जो दायित्व है, उससे अलग रहने का प्रयत्न इन राज्य सरकारों को न करना चाहिए, वरन् इस दायित्व का सोत्साह निर्वाह करना चाहिए। इस संबंध में यह किया जा सकता है कि पहले सीमित क्षेत्रों में तथा सीमित परिमाण में हिन्दी का प्रयोग किया जाय और फिर धीरे-धीरे उसे विस्तृत करते जाया जाय। हिन्दी भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों को भी शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को शीघ्र ही अपना लेना चाहिए। इस विषय में यह आशंका करना, कि अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी माध्यम कर देने से शिक्षा के स्तर में ह्रास हो जायगा, सर्वथा भ्रामक है। चीन का उदाहरण हमारे सामने हैं जहाँ साम्यवादी सरकार ने चीनी भाषा को माध्यम बनाने में रंचमात्र भी सोच विचार नहीं किया; न तो शब्दावली निर्माण की बाट जोही और न शिक्षा के स्तर में ह्रास की आशंका से ही त्रस्त हुई। आँकड़ों से पता चलता है कि वहाँ माध्यम परिवर्तन का कोई दुष्परिणाम नहीं हुआ है, वरन् सुपरिणाम ही सामने आया है। हमारी सरकारों को भी इस विषय में संकोच और पशोपेश को छोड़कर दृढ़ निश्चय से काम लेना चाहिए और विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम हिन्दी कर दिया जाना चाहिए। इससे

उच्चस्तरीय साहित्य के सर्जन में सुविधा और शीघ्रता होगी और उसमें पारिभाषिक शब्दावली की परख होती चलेगी तथा शीघ्र ही पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण की प्रयोगावस्था समाप्त हो जायगी। तात्पर्य यह है कि पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण से पूर्व या अधिक से अधिक साथ-साथ, विभिन्न विषयों का साहित्य भी हिन्दी में तैयार किया जाना चाहिए और हिन्दी का शीघ्रातिशीघ्र व्यावहारिक रूप से अधिकाधिक क्षेत्रों में प्रयोग करना प्रारम्भ कर देना चाहिए। इसमें संकोच अथवा टालमटोल करने से हिन्दी की क्षति हो रही है। इस दिशा में हिन्दी-भाषी राज्य सरकारों को आगे आना चाहिए और इन राज्यों के विश्वविद्यालयों को भी अपना गुरुतर दायित्व वहन करने के लिए शीघ्र ही अग्रसर होना चाहिए।

जहाँ तक शब्दावली निर्माण का प्रश्न है इस विषय में भी दो तीन बातों की ओर ध्यान दिला देना नितान्त आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि सरकारी विभागों के द्वारा शब्दावली निर्माण का कार्य किया जाना उतना उपयोगी नहीं है, जितना स्वतंत्र संस्थाओं के द्वारा। होना यह चाहिए कि नागरी प्रचारिणी सभा आदि के समान पुरानी और ख्यात संस्थाओं को यह कार्य सौंपा जाय और इन्हें सरकारी अनुदान इतना पर्याप्त दिया जाना चाहिए कि कार्य उत्कृष्ट कोटि का हो सके। सरकारी तंत्र में अपेक्षित अनुभव और पद्धति की कमी है और ऐसा होना स्वाभाविक है। सरकार को इन संस्थाओं के पुराने अनुभवों का लाभ उठाना चाहिए। इन संस्थाओं के माध्यम से सरकार को विद्वानों के अधिक सक्रिय सहयोग मिल सकने की भी सम्भावना है। साहित्य निर्माण के कार्य में भी इसी प्रकार से संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों को अनुदान देकर उनके माध्यम से काम कराना अधिक उपयोगी होगा। अगली बात यह है कि पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के कार्य में केवल हिन्दी के विद्वानों का सहयोग लेने मात्र से काम नहीं चल सकता। शब्दों का वास्तविक तात्पर्य, उनकी व्यंजना आदि का सही-सही ज्ञान तो उन विशिष्ट विषयों के विद्वानों को ही होता और हो सकता है। अतएव शब्दावली निर्माण के कार्य में तीन प्रकार के विशेषज्ञों का सहयोग होना चाहिए, तभी उपयुक्त और सक्षम शब्दावली का निर्माण सम्भव है। ये तीन प्रकार के विशेषज्ञ हैं—हिन्दी के विद्वान्, संबद्ध विषयों के अधिकारी विद्वान्, और भाषा-वैज्ञानिक। पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण के कार्य में और सामान्यतः भाषाविषयक अन्य सभी समस्याओं में आधिकारिक रूप से मत देने में भाषावैज्ञानिक ही समर्थ होते हैं और इन सभी प्रसंगों में उनकी सलाह ली जानी चाहिए। भारत जैसे विविध भाषा-भाषी देश में तो, जहाँ भाषा-विषयक समस्याएँ बड़ी जटिल हैं, भाषावैज्ञानिकों की और भी अधिक आवश्यकता है। तात्पर्य यह है कि इस कार्य में न केवल भाषावैज्ञानिक की सहायता ही ली जानी चाहिए वरन् अन्ततः उसे ही प्रमाण मानना चाहिए। तीसरी बात इस संबंध में ध्यान देने की यह है कि पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करते समय हमें अंग्रेजी अथवा किसी अन्य भाषा में प्रयुक्त शब्दावली का अक्षरशः अनुवाद

करने पर ही आग्रह न रखना चाहिए। प्रत्येक भाषा की अपनी एक विशिष्ट अभिव्यंजना-शैली होती है और वह उस भाषा की संघटना और प्रकृति पर निर्भर होती है। एक भाषा किसी बात को एक ढंग से कहती है तो दूसरी किसी सर्वथा भिन्न ढंग से। अतएव इस विषय में शब्दानुशब्द अनुवाद के स्थान पर संबद्ध विषयों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थों की व्यंजना करने वाले शब्दों का निर्माण करना अधिक उपयोगी और उचित होगा।

अब हिन्दी के भावी रूप पर विभिन्न राज्य भाषाओं के प्रभाव से क्या-क्या परिवर्तन सम्भावित हैं, इसका भी विचार कर लेना चाहिए। हिन्दी के केन्द्रीय भाषा हो जाने के उपरान्त विभिन्न आर्य और आर्येतर भाषाभाषी इसका उपयोग करेंगे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूप से उनकी अपनी प्रादेशिक भाषाओं की अभिव्यंजना पद्धति का हिन्दी पर कुछ न कुछ प्रभाव पड़ेगा ही, पर यह स्पष्ट समझ लेने की बात है कि इनका कोई ऐसा प्रभाव पड़ने की सम्भावना न है और न करना ही चाहिए कि जो हिन्दी में कोई महत्त्वपूर्ण संघटनात्मक परिवर्तन उत्पन्न कर दे, क्योंकि हिन्दी का प्रादेशिक स्तर पर भी प्रयोग निरन्तर हिन्दी भाषी प्रदेशों में होता रहेगा और हिन्दी के रूप के विषय में ये प्रदेश और इनमें रहने वाले हिन्दी भाषाभाषी ही अन्ततः प्रमाण रहेंगे। इसलिए भाषा का कोई भी संघटनात्मक परिवर्तन तभी सम्भव है जब उसे ये मान लेने के लिए तैयार हों। इस स्थिति में भाषा के रूप के निर्धारण का महत्त्वपूर्ण दायित्व हिन्दी भाषियों के ही हाथों में बने रहने की सम्भावना है। इसीलिए मेरा यह विचार है कि न तो डॉ० सुनीत कुमार चटर्जी द्वारा प्रतिपादित 'लघु-हिंदी शैली' के ही चल पाने की सम्भावना है और न हिन्दी के भावी रूप-निर्धारण में राज्य भाषाओं और उनके बोलने वालों का ही कोई महत्त्वपूर्ण स्थान होने जा रहा है। यह अवश्य है कि विभिन्न भाषाभाषियों के द्वारा हिन्दी का उपयोग करने से हिन्दी की अभिव्यंजना-पद्धति में नवीनता, विविधता और सम्पन्नता आने की सम्भावना है। उसकी शब्दावली की अर्थशक्ति का विकास हो जाने की सम्भावना है और हिन्दी के साहित्यिक रूप और शैली के परिष्कृत हो जाने और निखर आने की सम्भावना है। राज्य भाषाओं का इसी क्षेत्र में हिन्दी पर प्रभाव पड़ सकता है और पड़ेगा, उसके व्याकरणिक रूप और संघटना पर नहीं। इसके स्थान पर सम्भावना इस बात की अधिक है कि हिन्दी इन विभिन्न भाषाओं की संघटना पर, उनकी गठन पर और साथ ही उनके साहित्यिक रूप पर अधिक गहरा और स्थायी प्रभाव डाले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के भावी रूप के विकास में विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ और प्रक्रियाएँ कार्य कर रही हैं। इन सब का विस्तृत अध्ययन करने से निष्कर्ष यह निकलता है कि हिन्दी के भावी रूप में कोई आमूल परिवर्तन सम्भावित नहीं है, और न ऐसा कोई परिवर्तन कृत्रिम ढंग से किया ही जा सकता है। साथ ही यह भी अत्यन्त स्पष्ट है कि हिन्दी का विकास उसका विभिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों

में अधिकाधिक प्रयोग करने पर निर्भर है, और जैसे-जैसे विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग किया जायगा, हिन्दी सशक्त, सक्षम और परिपुष्ट होती जायगी। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय लोगों के मन में बसी हीनता की भावना को दूर किया जाय और उन्हें अपनी भाषाओं पर स्वाभिमान करना सिखाया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा का वातावरण भारतीय किया जाना चाहिए और उसमें सांस्कृतिक तत्त्वों का समावेश करके उसे राष्ट्रीय बनाया जाना चाहिए। इसके अलावा हिन्दी में शीघ्रातिशीघ्र विभिन्न वैज्ञानिक, प्राविधिक और समाज-शास्त्रीय विषयों पर उच्चस्तरीय साहित्य की रचना भी नितान्त आवश्यक है। इससे पारिभाषिक शब्दावली और अभिव्यक्ति की समस्या आपसे आप हल हो जायगी और फिर हिन्दी की उपयुक्तता के विषय में सन्देह करने का अवकाश न रहेगा। व्यावहारिक और उपयोगी साहित्य के निर्माण का यह कार्य वस्तुतः हो भी रहा है और विभिन्न विषयों के हिन्दी प्रेमी विद्वान् अपने-अपने विषयों के ग्रंथ हिन्दी में प्रस्तुत भी कर रहे हैं। यह कार्य बड़ी ही शान्ति और लगन के साथ ऐसे लोग कर रहे हैं और ऐसे ही लोग वस्तुतः हिन्दी के भावी रूप को बनाने जा रहे हैं। हिन्दी को उसके साहित्यकार, कवि अथवा आलोचक भावी दिशा देने नहीं जा रहे हैं वरन् वह ऐसे ही मौन साधकों के बल पर बढ़ रही है और बढ़ती रहेगी। हिन्दी सदैव जनता के आश्रय में पली और विकसित हुई है, और जब तक जनता का स्नेह और सम्बल उसे प्राप्त है, चन्द स्थिर-स्वार्थी-वर्ग के लोगों का विरोध उसकी कोई क्षति नहीं कर सकता। हिन्दी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है और यह भविष्य भिन्न-भिन्न विषयों के लेखकों के हाथों में सुरक्षित है।

ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली

[डॉ० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित, महाराजा कालिज, छतरपुर, म०प्र०]

जहाँ तक ब्रज-प्रदेश के प्राकृतिक सीमा-विभाजन का प्रश्न है, कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती है। यमुना-तट पर बसे हुए मथुरा-वृन्दावन के समीपवर्ती चौरासी-कोस के क्षेत्र को 'ब्रज' कहा जाता है। मुग़ल-साम्राज्य के दिनों में, जब राजधानी दिल्ली से हट कर आगरा में अर्थात् ब्रज-प्रदेश में आयी तो एक बार इस प्रदेश का समुत्थान राजनीतिक और भाषा के दृष्टिकोण से पुनः हो गया।

संस्कृत 'व्रज्' धातु का अर्थ है 'जाना'—इस प्रकार यह शब्द संस्कृत-तत्सम है। पौराणिक साहित्य में, भागवत और हरिवंशपुराण में 'व्रज' का अर्थ क्षेत्र-विशेष के लिए किया गया है, जिस पर श्रीकृष्ण के पिता नन्द का आधिपत्य माना गया है। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में 'वृजि' शब्द प्रयुक्त हुआ है परन्तु देशवासियों के नाम के अर्थ में। इस ब्रज-प्रदेश की बोली के लिए, प्राचीन लेखकों ने, 'भाषा' या 'भाखा' शब्द का ही प्रयोग किया है। आगे चल कर केवल ब्रज ही रह गया।

यह भी निर्णीत है कि १८वीं शताब्दी से पूर्व ब्रजभाषा का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। परन्तु उससे पूर्व जो भी पद्य-साहित्य उपलब्ध है, क्या वह ब्रजभाषा नहीं है?

अब यह सर्वमान्य हो चुका है कि हिन्दी साहित्य का प्राचीनतम रूप बारहवीं शताब्दी में प्राप्त होता है। सन् ११५५ ई० में अजमेर के राजा बीसलदेव के राजाश्रय में, नरपति नाल्ह ने 'बीसलदेव रासो' की रचना की थी। इसकी प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति १६१२ ई० की उपलब्ध है। परन्तु भाषा के धरातल पर यह रचना राजस्थानी की प्रमाणित होती है।

दूसरी रचना है—"पृथ्वीराज रासो" जो दिल्ली-नरेश महाराज पृथ्वीराज के आश्रित कवि चन्द कृत मानी जाती है। इसकी भाषा भी प्राचीनतम हस्तलिपि १५८५ ई० की पायी जाती है। इसकी भाषा प्रधानतया ब्रज है, जो मध्यकालीन ब्रजभाषा कही जाने योग्य है। परन्तु इसकी वास्तविकता के विषय में अनेकानेक विद्वानों को सन्देह है।

परन्तु, मध्य-देश में, बुन्देलखण्ड के महोबा-नगर में, जगनिक द्वारा रचित 'आल्ह-खण्ड' का वर्णन भी विचारणीय है। इसमें पृथ्वीराज के विरुद्ध युद्ध-रत आल्हा, मलखान और ऊदल के शौर्य्य का वीरतापूर्ण-वर्णन है, आज भी बड़ी अभिरुचि से गाया और

पढ़ा जाता है। परन्तु इसकी भाषा को ब्रज नहीं कहा जा सकता है। उस पर बुन्देली का प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह वीर-काव्य कई-सौ वर्ष तक 'कण्ठाग्र' ही रहा और सम्भवतः १९वीं शताब्दी में किसी समय लिपि-बद्ध हुआ।

यवन-शासन की तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा-साहित्य का कुछ भी पता नहीं लगता है। १२५५-१३२४ ई० में, अमीर खुसरो की पहेलियाँ और मुकरियाँ अवश्य उपलब्ध होती हैं, परन्तु वे निश्चय ही ब्रजभाषा में नहीं हैं। इसके साथ ही जो साहित्यिक गोरखनाथ जी को ब्रजभाषा गद्य का सर्व प्रथम लेखक मानते हैं, वे कोई सबल प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके हैं। उनकी रचनाएँ प्रायः १३५० ई० के आस-पास की ही मानी जाती हैं।

हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग में (१४००-१८०० ई०) कबीर का नामोल्लेख सर्वोपरि हो सकता है, परन्तु उनकी भाषा में विभिन्न बोलियों का अनोखा मिश्रण है। भोजपुरी, अवधी, पंजाबी, गुजराती, ब्रज और खड़ी बोली के रूप भी उपलब्ध हैं। इसी प्रकार १६०४ ई० में संकलित 'गुरु ग्रन्थ साहब' की भाषा भी मिश्रित है।

सोलहवीं-शताब्दी में मीराँ का प्रादुर्भाव महत्त्वपूर्ण है। वे कुछ समय तक ब्रज में रही भी थीं। यद्यपि उनकी रचनाओं में ब्रजभाषा के शब्द बिखरे हुए रूपों में मिलते हैं, परन्तु मीराँ की काव्य-भाषा राजस्थानी और गुजराती के सन्निकट है।

हाँ, सोलहवीं शताब्दी तक का साहित्य निःसन्देह ब्रजभाषा का है। मलिक मुहम्मद जायसी का पद्मावत (१५४० ई०) तथा महात्मा तुलसीदास जी का रामचरित मानस (१५७५ ई०) अवधी में हैं, शेष सभी रचनाएँ प्रायः ब्रजभाषा में हैं।

वास्तविकता यह है कि ब्रजभाषा-साहित्य का प्रारम्भ १५९१ ई० से होता है। इस समय गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी का मन्दिर भी निर्मित हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सतत् कीर्त्तन की व्यवस्था का संकल्प किया। परिणाम स्वरूप कवि-गायकों को प्रश्रय मिला और पुष्टिमार्ग की संस्थापना हुई। पुष्टि का अर्थ है अनुग्रह। इस प्रकार पुष्टि मार्ग का तात्पर्य है प्रभु के अनुग्रह की प्राप्ति कराने वाला भक्ति-पथ। सूरदास और नन्ददास दो प्रमुख कवि साहित्यिक धरातल पर अवतीर्ण हुए। सूर का रचना-काल १५३०-१५५० ई० माना जाता है। वल्लभाचार्य जी के पुत्र विट्ठलनाथ जी तथा पौत्र गोकुलनाथ जी की प्रेरणा से "चौरासी वैष्णवों की वार्ता" नामक गद्य-ग्रन्थ की रचना हुई, जिसे ब्रजभाषा का प्रथम गद्य माना जाता है। विट्ठलनाथ जी ने तो 'अष्टछाप' की स्थापना की और इस मण्डल में, उन्होंने अपने पिता के चार शिष्य-कवि लिये तथा चार अपने कवि शिष्य रखे। सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविंद स्वामी।

इस युग में विभिन्न सम्प्रदायों की स्थापनाएँ भी हुईं। इनमें राधावल्लभीय सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी हितहरिवंश जी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उनकी भाषा शुद्ध ब्रज है। आपने राधा को अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते हुए चौरासी पद लिखे हैं।

सोलहवीं शताब्दी में, तुलसीदास, नाभादास और नरोत्तमदास आदि महाकवियों ने भी ब्रजभाषा में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में जो साहित्यिक परिवर्तन हुआ, उसकी पृष्ठ-भूमि में राजनीतिक-संतुष्टि भी प्रधान थी। मुगल-साम्राज्य पूर्णरूपेण स्थापित हो चुका था और अकबर जैसा उदारचेता तथा परमराजनीतिज्ञ तथा राजनयज्ञ व्यक्ति का प्रादुर्भाव भी हुआ। दासता की लौह शृंखला सम्मान-सुवर्ण में परिवर्तित हो गयी थी, इसलिए स्वाभाविक रूप मे 'दरबारों' में शौर्य्य का स्थान सौन्दर्य्य ने और वीरता का विहार ने ले लिया। ब्रजभाषा ने भक्ति के गेय-पदों का परित्याग करके, नख-शिख वर्णन की ओर प्रगति की धारा मोड़ दी। इस धारा के परम प्रसिद्ध कवि आचार्य केशवदास हैं। "रामचन्द्र की चन्द्रिका बरनत हौं बहु छन्द" का संकल्प लेकर अपने विविध छन्दों में, नाना प्रकार के अलंकारों से युक्त 'रामचन्द्रिका' की रचना करके कविता को स्वच्छन्द-विहारिणी बना दिया और इस प्रकार युग-परिवर्तन की सूचना देते हुए अपने आपको युग-प्रवर्तक प्रमाणित किया।

शृंगारिक कवियों में, विहारीलाल जी का स्थान अद्वितीय है। इस महाकवि ने केवल सात-सौ दोहों की रचना करके अपने आपको अमर बना लिया है। सतसई की बीसियों टीकाएँ हुई हैं और एक-एक दोहे के अनेकों अर्थ ग्रहण किये गये हैं।

अन्य कवियों में, मतिराम और भूषण भी उल्लेखनीय हैं। वे अलंकार शास्त्र के मान्य-आचार्य हैं। मतिराम ने अपने उदाहरण शृंगार में दिये हैं, तो भूषण ने वीर रस में—यही विभिन्नता है।

अठारहवीं शताब्दी में, पन्ना के लाल कवि अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं। आपका 'छत्र प्रकाश' अनुपम ग्रन्थ है। इसी युग के मान्य आचार्य देव भी हैं जो प्रौढ़ शैलीकार हैं और जिनकी भाषा में तोड़-मरोड़ विशेष नहीं पायी जाती है। घनानन्द, रसखान तथा सेनापति भी इसी श्रेणी के कवि हैं। घनानन्द में आत्मानुभूति और आन्तरिक पीड़ा का जो दर्शन होता है वह ब्रजभाषा साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य परम्परा के अन्तिम कवि भिखारीदास हैं।

१७६२-१८२५ ई० में लल्लूलाल जी ब्रजभाषा के लेखक हुए हैं। उनको खड़ी बोली का साहित्यिक भी माना जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ ही साथ खड़ी बोली का प्रवेश होता है। नयी भाषा, नयी शैली, नये छन्द और नयी परम्पराएँ आरंभ हो जाती हैं। परन्तु ऐसा क्यों हुआ ? यह एक विचारणीय विषय है।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम काल तक ब्रजभाषा सर्वमान्य तथा साहित्यिक और जीवित भाषा थी और उसे तीन प्रकार के संरक्षण प्राप्त थे; कृष्णभक्ति का, राजा-लोगों का तथा संगीत का। गद्दियों के गोस्वामी-गण, दिव्य-प्रेम के स्थान पर श्रीमानों को शिष्य बनाने में अधिक अनुरक्त हो गये। वासना का अधिकार उपासना पर होने

लगा। परिणाम यह हुआ कि देश-व्यापिनी भक्ति की धारा सूख गयी। दरबारों में, ऐहिक सुखोपभोग की प्रवृत्ति बढ़ी तो कवियों में 'राजकवि' होने की लालसा बलवती हो गयी। इसके साथ ही साथ, अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार ने तो युगान्तर उपस्थित कर दिया। १७६४ ई० में बक्सर का युद्ध और १८०३ ई० में मरहठों का पतन हुआ, फलतः गंगा-यमुना का क्षेत्र अंग्रेजी आधिपत्य में आ गया। इसके पश्चात् धीरे-धीरे सभी राजागण स्वयं आश्रित हो गये और ब्रजभाषा के कवियों के गौरव प्रदाता 'दरबार' समाप्त हो गये। जन साधारण की भाषा, खड़ी बोली आगे बढ़ चली।

ब्रजभाषा और संगीत का अविछिन्न सम्बन्ध रहा है। प्रायः सम्पूर्ण वैष्णव-साहित्य राग-रागिनियों में ही रचा गया है। भारतीय संगीत का आनन्द लेने के लिए कितने ही बादशाहों और नवाबों ने ब्रजभाषा को आदर दिया। परन्तु अंग्रेजों के राजनीतिक शोषण के फलस्वरूप जनता रोग-शोक से पूरित हुई तो राजा लोग उजड़ गये। संगीत भी समाप्त हो गया। ब्रजभाषा मृतप्राय हो गयी।

वैसे तो खड़ी बोली का अस्तित्व चौदहवीं शताब्दी से दिखायी देने लगता है। फिर भी, उसका क्रमिक विकास नहीं हो पाया। मुसलमान कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली यत्र-तत्र प्रतिबिम्बित होती है। अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) ऐसे ही कवि हुए हैं।

"एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर थाल वह फिरे, मोती एक न उससे गिरे॥"

आपकी खड़ी बोली प्राञ्जल और शुद्ध है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि खुसरो के परवर्ती कवियों में, ऐसी सुन्दर खड़ी बोली के दर्शन नहीं होते। जो भी हो, खड़ी बोली को साहित्यिक रूप तो भारतेन्दु-युग में ही मिला। इसका एक मूल कारण उर्दू के साथ प्रतिद्वन्द्विता भी थी। अंग्रेजों ने, भारतीय संस्कृति के मूल पर कुठाराघात करने के लिए फारसी-लिपि वाली उर्दू को प्रोत्साहन दिया और मुंशियों ने उसे अरबी-फारसी के दुरूह शब्दों से बोझिल बना दिया। परन्तु काव्य के धरातल पर उर्दू वालों को हिन्दी का आश्रय ही ग्रहण करना पड़ा। फलस्वरूप हिन्दी छन्दों के आधार पर ही उर्दू-काव्य-रचना हुई।

इस अदालती और शासकीय उर्दू का मुकाबला करने के लिए एक ऐसी समर्थ भाषा की आवश्यकता थी, जिसमें गद्य-पद्य दोनों प्रकार की रचना हो सके। ब्रजभाषा में यह एक निर्बलता रही कि वह गद्य के उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकी। खड़ी बोली ने अपनी इस क्षमता और सामर्थ्य का प्रदर्शन काव्य के माध्यम से प्रदर्शित किया और 'योगवाशिष्ठ' तथा 'जैन पद्म-पुराण' जैसे ग्रन्थों के रचयिताओं ने उसे बल प्रदान किया था। उसी की प्रतिच्छाया 'प्रेम-सागर' में दिखायी दी। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली ही ऐसी बोली प्रमाणित हुई जिसे काव्य के हेतु भी अपनाया जा सकता था, और दैनिक व्यवहार में भी उसका उपयोग सम्भव था।

सबसे पहले भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ने १८८१ ई० में, खड़ी बोली में कुछ पदों की रचना की और उसे 'भारतमित्र' में प्रकाशित कराया। इस प्रकार साहित्यिकों का ध्यान एक नवीन प्रयोग की ओर आकर्षित हुआ। परिणाम स्वरूप बहुत-से साहित्यिकों ने सफल प्रयास किये। श्री अयोध्या प्रसाद खत्री ने १८८७ ई० में, एक पुस्तक 'खड़ी-बोली का पद्य' नाम से प्रकाशित करायी, जिसमें कुछ कविताओं का संग्रह था।

भारतेन्दु-युग में ही, खड़ी बोली गद्य की भाषा स्वीकृत हो गयी और उसमें अनेकानेक लेखकों ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।

भारतेन्दु-युग, हमारे देश के लिए क्रान्ति का युग रहा है। उनके जन्म से छह-सात वर्ष पश्चात् ही 'पहला गदर' हुआ। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में अनेकानेक सुधारवादी नेतागण अवतरित हुए। हिन्दी साहित्य इन सभी प्रकार के परिवर्तनों से प्रभावित हुआ।

'भारत-मित्र' के सम्पादक को बाबू हरिश्चन्द्र ने पत्र में लिखा था—"प्रचलित साधु-भाषा में कविता भेजी है, देखिएगा इसमें क्या कसर है और किस उपाय के अवलम्बन करने से भाषा में काव्य सुन्दर बन सकता है। तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के लिए कि किस छन्द में, इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। उनके तीनों छन्द निम्नलिखित थे:—

दोहा— **"बरसा सिर पर आ गयी, हरी हुई सब भूमि।**
बागों में झूले पड़े, रहे भ्रमरगण झूम॥
खोल-खोल छाता चले, लोग सड़क के बीच।
कीचड़ में जूते फँसे, जैसे अघ में नीच॥"

गीत:— **"गरमी के आगम दिखलाए रात लगी घटने।**
कुहू-कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥
ठंढा पानी लगा सुहाने, आलस फिर आई।
सरस सुगन्ध सिरस फूलों की, कोसों तक छाई॥
उपवन में कचनार, बनों में टेसू हैं फूले।
मदमाते भौंरे फूलों पर फिरते हैं भूले॥

उर्दू छन्द:— **"कहाँ हो ए हमारे राम प्यारे।**
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे॥
बुढ़ापे में ये दुख भी देखना था।
इसी को देखने को मैं बचा था॥"

सत्य तो यह है कि भारतेन्दु ब्रजभाषा के रस-सिद्ध कवि थे; इसलिए खड़ी बोली में काव्य-रचना करना उनके लिए श्रम-साध्य था। फिर भी उन्होंने अपने प्रयत्न को विफल नहीं होने दिया। नाटकों और लेखों के माध्यम से वे खड़ी बोली को बढ़ाते ही रहे।

श्री शुकदेव बिहारी मिश्र ने लिखा है :—"खड़ी बोली का काव्य-क्षेत्र में वस्तुतः सच्चा संचार भारतेन्दु बाबू ने ही किया और उसकी ओर सुकवियों का ध्यान स्वयमेव पथ-प्रदर्शन करते हुए, उन्होंने आकर्षित किया है। उनसे ही प्रभावित होकर, उनकी मित्र-मण्डली के कतिपय कवियों ने, खड़ी बोली में भी रचनाएँ कीं और इस प्रकार खड़ी बोली को काव्य के क्षेत्र में आगे बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया।"

खड़ी बोली काव्य-रचना में सिद्धहस्त न हो सकने की चर्चा भारतेन्दु ने कई स्थानों पर की थी—यह एक वास्तविकता भी थी, परन्तु बाबू साहब के जीवन-काल में किसी ने उस कथन का अनुसरण नहीं किया, सब मिल कर खड़ी बोली का रथ खींचते रहे। परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् ब्रजभाषा और खड़ी बोली के मध्य दोनों की श्रेष्ठता से सम्बद्ध गहरा विवाद उठ खड़ा हुआ। ब्रजभाषा के समर्थकों का कहना था कि खड़ी बोली के दीर्घ क्रिया-पद और मोटे-मोटे शब्द काव्य में सरसता के बाधक हैं। इधर खड़ी बोली के अनुमोदकों का तर्क था कि भारतेन्दु यदि सफलतापूर्वक खड़ी बोली में काव्य-रचना नहीं कर सके तो इसका तात्पर्य यह तो नहीं लिया जा सकता है कि खड़ी बोली अक्षम है, अशक्त है। एक मात्र उसी में गद्य लिखने की क्षमता है, ब्रजभाषा जिसके लिए कभी उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकी है। खड़ी बोली के दूसरे समर्थ-लेखक थे पं० श्रीधर पाठक, जिन्होंने खण्ड-काव्यों की रचना के द्वारा उसे सशक्त प्रमाणित किया।

वस्तुतः ब्रजभाषा और खड़ीबोली का परस्पर विवाद नहीं चल पड़ता तो, हमारी सम्मति में, खड़ीबोली की प्रगति इतनी शीघ्रता से नहीं हो पाती। खड़ी बोली के समर्थक असमर्थता के आकाश में विचरण करने वाले, प्राचीनता के परों से युक्त पंछी नहीं थे। उन्होंने 'असम्भव' की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया। प्रगतिशीलता ने उनके चरणों पर चमत्कार का चन्दन चढ़ा दिया था।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली का यह साहित्यिक-विवाद लम्बे अरसे तक चलता रहा। श्री पिन्काट और डॉ० ग्रियर्सन जैसे अंग्रेज विद्वानों ने भी उस आन्दोलन में भाग लिया। परिणाम यह हुआ कि श्रीधर पाठक जैसे अनेकों कवि मैदान में आ गये। पाठक जी की भाषा का नमूना देखिए :—

"साधारण अति रहन-सहन, मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर-मधुर मुसकान मनोहर, मनुजवंश का उजियाला॥"

—'एकान्तवासी योगी' से

खड़ी बोली के पदार्पण से एक बात अवश्य हुई कि कविता के बन्धन टूट गये। रीतिकाल में जो नियम और भेदोपभेद निश्चित किये गये थे, उन शृंखलाओं से काव्य की सरिता मुक्त हो गयी और उसका प्रवाह स्वाभाविक हो गया। कवित्त, सवैया और घनाक्षरी जैसे छन्दों की सीमा में बन्दी और गतिहीन भाषा को, न केवल केशवदास द्वारा ही विभिन्न छन्द प्राप्त हुए वरन् खड़ी बोली के कवियों ने भी उसे बल प्रदान किया।

१९०३ ई० में, हिन्दी-साहित्य एक नये मोड़ पर आकर खड़ा हो गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' मासिक पत्रिका का सम्पादन आरंभ किया तो खड़ी बोली को नवीन शक्ति प्राप्त हुई। द्विवेदी-युग ने श्री मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय, पं० लोचनप्रसाद पाण्डेय, ठाकुर गोपाल शरण सिंह, पं० गयाप्रसाद जी शुक्ल 'सनेही', बा० सियाराम शरण गुप्त और पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी आदि का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व और कवि-कर्तृत्व प्राप्त किया। द्विवेदी जी स्वयं कवि थे, लेखक और समालोचक भी। अतएव 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली प्रत्येक कृति द्विवेदी जी की प्रखर प्रतिभा-समन्वित होने लगी।

इस युग में, खड़ी बोली का समर्थ अनुमोदन और तर्कपूर्ण प्रचार तथा प्रसार बा० श्यामसुन्दर दास जी ने किया। वे निरन्तर खड़ी बोली का पक्ष शक्तिशाली बनाते रहे। उन्होंने निर्भीकता से कहा—"कवि पुराना चरखा कातने नहीं बैठ सकता और न वह चुप ही रह सकता है। उसकी कविता का अक्षर-अक्षर देश की कल्याण-कामना से रँगा होगा। दो-चार ब्रजभाषा के प्रेमी इसे भावोत्कर्ष भले ही न कहें, पर जनता इसका मूल्य खूब जानती है।"

कतिपय साहित्यकारों ने संस्कृत-वृत्तों पर ही खड़ी बोली को जमा दिया। इनमें पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' प्रधान हैं। आपका 'प्रिय-प्रवास' ऐसा ही काव्य-ग्रन्थ है।

लगभग १९२५ ई० में, हिन्दी साहित्य ने 'छायावाद' का प्रभाव प्राप्त किया। एक प्रकार से, यह आन्दोलन रीतिकालीन माँसल-सौन्दर्य्य-वर्णन के प्रति विद्रोह था, जो मानसीकरण या मानवीकरण को साथ लेकर सूक्ष्म की सुन्दरता की ओर अभिमुख हुआ और श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', श्री जयशंकर प्रसाद तथा श्रीमती महादेवी वर्मा प्रभृति साहित्यकारों ने खड़ी बोली को भाव-व्यंजना तथा सात्विक अनुभूतियों से अलंकृत कर दिया। ब्रजभाषा के समर्थकों ने छायावाद का विरोध भी आरंभ कर दिया। इसका मूल कारण चारों ओर से परिवर्तन ही था। भाषा, भाव, छन्द, रस, रीति और अलङ्कार सभी बदल गये थे। छायावाद युग की यह विशेष देन 'नवीन युग के लिए नवीन वाणी' लेकर आयी, तो पन्त ने उद्घोषणा कर दी :—

"तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार।
वाणी मेरी ! क्या तुम्हें चाहिए अलङ्कार ?"

इस युग में ब्रजभाषा पर वैसे ही प्रहार हुए, उसी प्रकार उसकी निन्दा की गयी, जैसा कि खड़ी बोली के साथ हुआ था। उस पर संकीर्णता, अशुद्धता, हीनता और अश्लीलता का दोष भी लगाया गया।

परन्तु ब्रजभाषा निःशेष नहीं हुई। श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न, वियोगी हरि, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश', दुलारेलाल भार्गव आदि ने अपनी रचनाओं से उसे अलंकृत किया।

खड़ी बोली का एक दूसरा पक्ष भी है—उसका गद्य-साहित्य। भारतेन्दु युग से ही उसकी नींव पड़ चुकी थी। सरदार पूर्ण सिंह, बदरीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट आदि अनेकानेक लेखकों ने खड़ी बोली गद्य में अपनी रचनाओं से उसकी अभिवृद्धि की तथा उसे आगे बढ़ाया।

द्विवेदी-युग में गद्य-साहित्य को पर्याप्त बल मिला। डॉ० श्यामसुन्दर दास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना के मान स्थिर किये तथा डॉ० दास द्वारा भाषा-विज्ञान पर सम्यक् प्रकाश डाला गया। वैचारिक-निबन्धों के अतिरिक्त भावात्मक, विश्लेषणात्मक और प्रभाववादी लेखों का प्रचलन हुआ। उपन्यास तथा नाटकों के क्षेत्र से उर्दू का प्रभाव निरस्त हो गया। प्रसाद, प्रेमचन्द, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि अनेक साहित्यकारों ने सरस्वती का भण्डार भर दिया। आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रदान करके अनुपम कार्य किया। कहानियों का उद्भव और उनमें नवीन प्रयोग तथा एकांकी नाटकों का प्रादुर्भाव खड़ी बोली के गद्य-साहित्य को नव-जीवन दे रहे हैं।

आज की खड़ी बोली संस्कृत-शब्दावली-समन्वित होने से जन-साधारण के लिए कुछ-कुछ दुर्बोध नहीं तो दुरूह-सी होती जा रही है। यही कारण है कि पन्त और निराला के 'क्लिष्ट काव्य' को 'केशव' से कम नहीं समझा जाता, परन्तु यही कविवर जब सरल शब्दों में कुछ कहने लगते हैं तो जन-साधारण के कवि जान पड़ते हैं।

खड़ी बोली के कारण हिन्दी-साहित्य को एक लाभ तो सबसे बड़ा हुआ है और वह यह है कि गद्य और पद्य की भाषा एक ही हो गयी है। दैनिक व्यवहार में भाषा-प्रयोग की कठिनाई का समाधान हो गया है और व्याकरण-सम्मत तथा मर्यादित होने के कारण उसका अपना सौन्दर्य्य आकर्षण का मूल बन गया है।

परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाया जाना चाहिए कि ब्रजभाषा निःशेष हो गयी है। वह आज भी ब्रज और उसके आस-पास की बोली है और उसमें काव्य-रचना भी हो रही है, लेकिन अब उनके क्षेत्र भिन्न हो चुके हैं। ब्रजभाषा में 'समस्या-पूर्ति' कवि की प्रतिभा का प्रमाण समझा जाता था परन्तु आज खड़ी बोली का कवि 'अपने आप में' सबको समेट कर चलता है। उसकी पीड़ा सबकी वेदना होती है। निराला जी ने लिखा है—

यमुने ! तेरी इन लहरों में, किन अधरों की आकुल तान।
पथिक-प्रिया-सी जाग रही है, उस अतीत के नीरव-गान॥"

—'अपरा' से

अन्त में, संक्षिप्त रूप से यह दर्शनीय है कि असहयोग-आन्दोलन ने भी खड़ी बोली को पर्याप्त उन्नत किया। प्रायः सभी साहित्यकारों ने, जिनमें कोमल-कान्त-पदावली के पन्त भी सम्मिलित हैं, राष्ट्रीय-चेतना को जाग्रत किया है। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने लिखा :—

"असहयोग पर मर मिट जाना, यह तेरा जीवन होगा।
हम होंगे स्वाधीन, विश्व का वैभव तेरा धन होगा।"

—"मुकुल" से

इसी प्रकार पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी और रामधारी सिंह दिनकर आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

वर्तमान-युग प्रगतिवादी है जिसमें प्रयोगवाद का बोलबाला है। नये पथ खोजे जा रहे हैं, नयी बातें कही जा रही हैं और सब कुछ 'प्रयोग-शाला' में ढाला-निकाला जा रहा है।

श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ ने अपनी सम्मति देते हुए, बहुत ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है—"हिन्दी कविता कामिनी का जब से भारतीय रंगमंच पर प्रवेश हुआ है, विविध पट-परिवर्तन हुए हैं। कभी तो इसने प्राकृत-मिश्रित-भाषा का रूप धारण कर रणचण्डी का भेष बनाया, कभी ब्रजभाषा की सुन्दर सारी पहन कर नागर नटवर के संग नृत्य किया और फिर खड़ी बोली रूपी आभूषण से सुसज्जित होकर साहित्य-जगत् को जगमगा दिया।"

"पूर्ववर्ती साहित्यकार बीज होते हैं, परवर्ती साहित्यकार फल होते हैं।" इस कथन से यही तात्पर्य है कि हम जो भी कुछ साहित्यिक सृजन करते हैं, वह आगामी सन्तति को स्वस्थ, सबल और योग्य बनाने के लिए होता है। उनमें अथवा उनके द्वारा हन ही प्रतिविम्बित होते हैं। इसी आधार पर ब्रजभाषा को खड़ी बोली के लिए आसन रिक्त करना ही चाहिए था क्योंकि परिवर्तन ही प्रगति है, जीवन है। जैसे दीप से दीप सँजोया जाता है, वैसे ही ब्रजभाषा ने खड़ी बोली को सम्मानित किया है। दोनों का अपना-अपना स्थान है। तर्क-वितर्क तक विद्वत्ता रहती है, कुतर्क करने वाले अज्ञान माने जाते हैं।

देवनागरी लिपि का विकास और महत्त्व

[डॉ० श्रीपति शर्मा, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर]

सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् किस काल में आदि मानव ने लिपि की कला का आविष्कार किया, यह आज भी अनुसंधान और जिज्ञासा का विषय बना हुआ है, परन्तु यह तो एक निर्विवाद सत्य है कि भारत में आर्यों को बहुत प्राचीन काल से यह कला ज्ञात थी। विशेषकर सिन्धु घाटी की खुदाइयों ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि ईसा से पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतीय आर्य लिपि कला से केवल परिचित ही नहीं थे, वरन् इसका उन्हें सम्यक् ज्ञान था। ऐसी दशा में कुछ यूरोपीय विद्वानों का यह मत अत्यंत भ्रम पूर्ण है कि भारतीय लोगों ने चौथी, आठवीं, या दसवीं शताब्दी ईसा पूर्व किन्हीं विदेशी जातियों से लिखने की कला सीखी। सुमेरीय सभ्यता तथा लिपि विशेषज्ञ लैग्डन, स्मिथ तथा गैड आदि विद्वानों के मतानुसार सिंधु-घाटी की लिपि के प्रतीकों की संख्या प्रायः तीन सौ के है। यह लिपि कुछ अंशों में भावात्मक तथा कुछ अंशों में ध्वन्यात्मक थी। सिंधु-घाटी की लिपि की तुलना कुछ विद्वानों ने एलामीय तथा क्रीटीय लिपियों से की है, और दोनों में पर्याप्त समानताओं का विश्लेषण किया है। वर्तमान देवनागरी लिपि जिसकी उत्पत्ति ब्राह्मी लिपि से है, और जो भारत की किसी समय राष्ट्रीय लिपि थी, उसका सम्बन्ध सिन्धु घाटी की लिपि से कुछ अवश्य था। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के पश्चात् वैदिक तथा बौद्ध काल में भारतीय आर्य लिपि की कला से पूर्ण परिचित थे, इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। वैदिक काल की ऋचाओं और छन्दों का वास्तविक रूप केवल कंठस्थ करने से ही नहीं, वरन् लिपि के द्वारा ही सुरक्षित रह सका था। छन्दों के अतिरिक्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद ग्रंथ सभी कंठस्थ कर लिये जाते थे, यह संभव नहीं जान पड़ता। बौद्ध-काल में लिपि की स्थिति के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। जातक कथाओं में कर्ण हटक कथा में पन्न या पत्र का प्रयोग मिलता है, जो एक पात्र द्वारा भेजा जाता है। यदि लिपि की जानकारी न होती तो पत्र लेखन असम्भव था। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से अपने दो शिष्यों को इस प्रकार का आदेश दिया था कि बौद्ध धर्म ग्रन्थों को छन्दस् अर्थात वैदिक संस्कृत में न लिखें। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बौद्ध-काल में लिपि का पूर्ण प्रचार था। पाणिनि के समय में लिपि की सुनिश्चित परम्परा थी जिसके लिए अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। पाणिनि की कृतियों में लिपिकार और ग्रन्थ

शब्दों का उल्लेख मिलता है। संख्या शब्द भी बहुत बार प्रयुक्त हुआ है। उस समय की परम्परा के अनुसार जानवरों को गिनने के लिए उनके शरीर पर संख्याओं का चिह्न दिया जाता था जिससे जानवर कहीं भटक न जायँ। संख्या तथा लिपिकार इन दो शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि उस समय सुनिश्चित लिपि का प्रयोग होता था। इसके उपरान्त रामायण, महाभारत, स्मृति ग्रंथ, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा अन्य परवर्ती ग्रन्थों में लिपि-कला का पूर्ण उल्लेख मिलता है। मौर्यकाल तक तो ब्राह्मी सारे भारत की राष्ट्र लिपि हो चली थी।

ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी लिपि का सम्बन्ध इसी ब्राह्मी लिपि से है, जो भारत की सबसे प्राचीन राष्ट्रीय लिपि थी। मध्य युग तथा आधुनिक काल की समस्त भारतीय लिपियों की उत्पत्ति प्राचीन ब्राह्मी लिपि से ही हुई, यह निर्विवाद है। इस दृष्टि से इस लिपि का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, अतः इस पर विशेष रूप से विचार करना आवश्यक है। परन्तु ब्राह्मी के अतिरिक्त प्राचीन भारत में एक खरोष्ठी नामक लिपि भी थी, जो उर्दू लिपि की भाँति दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का सम्बन्ध विदेशी सेमिटिक अरमइक लिपि से था और इसका विशेष प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश के आस-पास तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा। खरोष्ठी शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी लोगों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानों का कथन है कि खरोष्ठ शब्द ईरानी खर-पोश्त से बना है, जिसका अर्थ गधे की खाल है, जिस पर मध्य एशिया में लिपि का कार्य किया जाता था। परन्तु यह निश्चित है कि यह आर्य लिपि नहीं थी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसकी उत्पत्ति बूलर के मतानुसार आर्मेइक लिपि से हुई, जो एक विदेशी लिपि थी। पश्चिमोत्तर प्रान्तों को छोड़ कर समस्त भारत में ब्राह्मी लिपि का ही प्रचार था।

ब्राह्मी लिपि के विकास पर विचार करने के पूर्व उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों की भी व्याख्या आवश्यक है, क्योंकि इस विषय पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। मुख्य रूप से ब्राह्मी की उत्पत्ति सम्बन्धी विचारधारा को हम दो वर्गों में रख सकते हैं, प्रथम वर्ग के अन्तर्गत वे विद्वान आते हैं, जो ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध किसी-न-किसी विदेशी लिपि से जोड़ते हैं। विदेशी उद्भव बतलाने वाले विद्वानों को भी दो समूहों में रक्खा जा सकता है। जेम्स प्रिंसेप, सेनार्ट, जोजेफ हारवे तथा विलसन का यह मत है कि इसकी उत्पत्ति ग्रीक लिपि से हुई है परन्तु प्रो० बूलर ने इस सिद्धान्त का खंडन किया और इसे असंगत सिद्ध किया है। वैसे यह किसी प्रकार सम्भव भी नहीं है क्योंकि मौर्य-काल के कई शताब्दी पूर्व ब्राह्मी लिपि प्रचलित थी, इसलिए इसका सम्बन्ध ग्रीक लिपि से जोड़ना ठीक नहीं। दूसरे वर्ग के विदेशी विद्वान वे हैं जो ब्राह्मी लिपि का उद्गम सामी लिपि से मानते हैं। परन्तु सामी लिपि की किस शाखा से इसका उद्भव हुआ, इस विषय में उनकी एक राय नहीं है। कुछ लोग इसकी उत्पत्ति उत्तरी सेमेटिक लिपि से मानते हैं। उदाहरण के लिए बूहलर ने यह सिद्ध करने की

चेष्टा की है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमेटिक लिपि से लिये गये हैं और शेष वर्ण उन्हीं के आधार पर बना लिये गये। इसके विपरीत कुछ विदेशी विद्वानों का मत है कि ब्राह्मी का उद्भव और विकास दक्षिणी सामी से हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन काल में भारत का सम्बन्ध अरब देशों से रहा, परन्तु केवल इतने ही से लिपि का साम्य एक दूर की खींचतान होगी। दूसरे ब्राह्मी तथा दक्षिणी सामी में किसी प्रकार की समानता नहीं मिलती। उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों प्रकार की सामी लिपियों से ब्राह्मी का कोई सम्बन्ध नहीं था, इसका समर्थन डॉ० राजबली पांडेय ने अपनी पुस्तक में अनेक सुस्पष्ट तर्कों द्वारा किया है।[1] उनका कथन है कि बूलर तथा डिरिगर ने बलात् यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि सामी और ब्राह्मी के प्रतीकों में समानता है, और इसलिए ब्राह्मी, सामी से प्रभावित है। केवल साम्य मात्र से ही ब्राह्मी की उत्पत्ति सामी से नहीं कही जा सकती। प्रतीक-साम्य के आधार पर ही विदेशी विद्वानों का एक वर्ग जिसमें बूलर, बेवर तथा जेन्सेन प्रसिद्ध हैं, ब्राह्मी का सम्बन्ध फोनेशियन लिपि से मानता है। परन्तु जैसा कि डाक्टर राजबली पांडेय का कथन है कि भारत से ही फोनेशियन जाति भूमध्य सागर के तट पर गयी थी, इसलिए यहीं से लिपि भी लेती गयी, यही कारण है कि दोनों लिपियों में प्रतीकों की समानता है।

इसके पश्चात् उन विद्वानों के मतों पर भी विचार करना चाहिये, जो ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति विदेशी लिपि से नहीं मानते। इन विद्वानों में डाउसन, कनिंघम तथा ओझा जी इत्यादि हैं। ओझा जी का कथन है कि यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। डाउसन तथा कनिंघम का सिद्धान्त यह है कि वैदिक पुरोहितों ने प्राचीन भारतीय चित्र लिपि से ब्राह्मी को विकसित किया यद्यपि इस सिद्धान्त का प्रबल खण्डन बूलर तथा डेविड डिरिगर ने किया है। डाक्टर राजबली पांडेय ने निम्नांकित तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की है, कि ब्राह्मी लिपि, सामी तथा अन्य विदेशी लिपियों से भिन्न होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।—(१) सभी ध्वनियों के लिए निश्चित प्रतीक चिह्न हैं, जो अन्य लिपियों में नहीं हैं। (२) सभी अक्षर ठीक उसी रूप में लिखे जाते हैं, जिस रूप में इनका उच्चारण होता है। (३) ह्रस्व और दीर्घ स्वरों के लिए अलग-अलग चिह्न हैं। (४) स्वरों तथा व्यंजनों के मेल के लिए मात्राओं का प्रयोग होता है, जो अन्य लिपियों में नहीं प्राप्त होता है। इन विशेषताओं द्वारा यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मी की उत्पत्ति भारतीय है, और उसका आविष्कार यहाँ के आर्यों ने किया, जिसका मूल रूप सिन्धु घाटी की लिपि में प्राप्त होता है।

अशोक के काल में ब्राह्मी लिपि भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक तो फैल ही चुकी थी, सिंघल आदि द्वीपों में धर्म प्रचारकों द्वारा इसका विस्तार हुआ। अशोक के सम्पूर्ण शिला लेखों तथा प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही थी। कुछ समय पश्चात्

1—Indian palaeography.—Dr. Raj Bali Pande, Page 40—41

ब्राह्मी लिपि के उत्तरी और दक्षिणी दो रूप हो गये, जिनकी शैलियों में काफी अन्तर हो गया। तामिल, तेलगू तथा दक्षिण भारत की आधुनिक लिपियों का सम्बन्ध ब्राह्मी की दक्षिणी शैली से था। उत्तरी ब्राह्मी ने चौथी शताब्दी से लगभग एक भिन्न रूप धारण कर लिया जिसका नाम गुप्त लिपि या गुप्त ब्राह्मी कहा गया। यह युग भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग था, जब सुदूर पूर्व तथा मध्य एशिया में इसी लिपि के द्वारा भारतीय संस्कृति का ज्ञान दीप आलोकित और प्रसारित हुआ। 'गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियाँ नागरी से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगीं। शिरोरेखा जो पहले बहुत छोटी थी लम्बी होने लगी, और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नये रूपों में परिणत हो गये। छठीं तथा सातवीं शताब्दी में राजनीतिक अशान्ति के कारण भारत में छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना हुई, अतः लिपि सम्बन्धी एकता भी टूट गयी, फलतः उत्तरी ब्राह्मी के तीन प्रमुख रूप हुए। १—शारदा २—नागरी और ३—कुटिल। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, ढाकरी, तथा गुरुमुखी लिपियाँ निकलीं। गुप्त लिपि से ही कुटिल लिपि विकसित हुई। इसका नाम कुटिल लिपि इसलिए पड़ा कि इसमें अक्षरों को आकृति कुटिल होती थी। कुटिल लिपि से ही नागरी लिपि का विकास हुआ है। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवीं शताब्दी के आस-पास प्राचीन बंगला लिपि विकसित हुई, जिससे आधुनिक बंगला, मैथिली, उड़िया तथा आसामी लिपियाँ निकलीं। गुप्त तथा कुटिल लिपि से ही नागरी लिपि के अनेक वर्णों की समानता पायी जाती है। यशोधर्मन तथा तोरमाण के अभिलेखों के वर्ण नागरी से बहुत कुछ साम्य रखते हैं। हर्षवर्द्धन के ताम्र लेख तथा मुद्रा लिपियाँ नागरी के अत्यंत निकट हैं। हर्ष की लिपि अत्यंत सुंदर और सजावट से पूर्ण थी, जिसका रूप भविष्य में नहीं प्राप्त होता। आठवीं शताब्दी में उत्तरी भारत के प्रतिहार राजाओं के समय की लिपि के कई वर्ण नागरी से एकदम मिलने लगे। ११वीं तथा १२वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से प्रायः एकदम मिलती है, और १३वीं शताब्दी तक नागरी का वर्तमान रूप बन चुका था, जो अब तक पाया जाता है। अतः उत्तर भारत में नागरी लिपि का विकास दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ, यद्यपि दक्षिण में इसका विकास कुछ पूर्व हो चुका था। दक्षिण की नागरी का नाम नंदि नागरी रक्खा गया। ११वीं, १२वीं तथा १३वीं शताब्दियों में दक्षिणी नागरी लिपि का विकास पल्लवों, चालुक्यों तथा देवगिरि के राजाओं द्वारा हुआ। १५वीं शताब्दी में विजय गिरि के ताम्र पत्रों पर नन्दि नागरी लिपि ही अंकित दिखायी देती है। नागरी लिपि से ही वर्तमान कैथी, महाजनी, राजस्थानी तथा गुजराती लिपियों का विकास हुआ है। उत्तर प्रदेश, विहार,, मध्य भारत तथा विंध्य प्रदेश में लिखने के अतिरिक्त छपाई में भी वही लिपि प्रयोग होती है। हिन्दी के राष्ट्र भाषा घोषित हो जाने के कारण नित्य प्रति इस लिपि का प्रचार हमारे देश में बढ़ता जा रहा है। देवनागरी लिपि के नामकरण तथा इसके महत्त्व पर भी विचार करना आवश्यक है।

देवनागरी लिपि के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इसका सम्बन्ध नागर ब्राह्मणों से है, अतः इसे देवनागरी लिपि की संज्ञा दी गयी। कुछ अन्य विद्वानों का कथन है कि यह लिपि नगर के पढ़े-लिखे शिष्ट व्यक्तियों की लिपि थी, अतः इसका नाम देवनागरी लिपि पड़ा। शाम शास्त्री का कथन है कि प्राचीन काल में देवताओं की उपासना के लिए त्रिभुजाकार प्रतीक बनाये जाते थे, जिसे देवनगर कहते थे। इसीलिए इसका नाम देवनागरी पड़ा। उपर्युक्त मतों में से कौन-सा मत उपयुक्त और संगत है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। जो भी हो, यह आज हिन्दी की राष्ट्र लिपि के रूप में है।

देवनागरी लिपि में कुछ दोषों को दूर करने के लिए यद्यपि इधर सुधार की चर्चा हो रही है, पर इस पर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह संसार की प्रसिद्ध वैज्ञानिक लिपियों में से है। इस दृष्टि से किसी भी भाषा तत्व विशारद का ध्यान इसकी निम्नांकित विशेषताओं की ओर स्वभावतः आकर्षित हो उठता है :—

१—इस लिपि में सभी प्रकार की ध्वनियों को उच्चारित करने के लिए वर्ण हैं, और उनका क्रम अत्यन्त वैज्ञानिक और सुन्दर है। उच्चारण स्थान के अनुसार क्रमशः कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त्य तथा ओष्ठ्य से बोले जाने वाले वर्णों को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है। उर्दू और रोमन लिपियों में यह क्रम नहीं है। उर्दू में अलिफ के बाद बे, तब पे, उसी प्रकार अंग्रेजी में उच्चारण अवयव के अनुसार वर्णों का क्रम नहीं रखा गया है।

२—देवनागरी लिपि की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें जो कुछ लिखा जाता है, वह उसी रूप में पढ़ा जाता है। क लिखकर क ही कहा जायगा और प लिखकर उसे प ही पढ़ा जायगा। उर्दू की तरह क के लिए काफ और क़ाफ नहीं पढ़ेंगे और न अंग्रेजी की तरह के K और C पढ़ेंगे। इस दृष्टि से उर्दू और रोमन लिपियाँ अत्यन्त दोषपूर्ण हैं। उन लिपियों में लिखित ध्वनि तथा उच्चरित ध्वनि में महान् अन्तर है। उर्दू में तो यह कमी बहुत अधिक पायी जाती है। सभी जानते हैं कि 'बिलकुल' पढ़ने के लिए 'बालकुल' लिखना पड़ता है। कहीं-कहीं तो यह दोष अत्यन्त बेढंगा और हास्यप्रद-सा लगता है। एक पुस्तक में एक स्थान पर उर्दू में लिखित रूप था, 'इन सूक्तों के'; पर पढ़ा गया 'इन सौ कुत्तों के'। 'वे अजमेर गये' के बदले 'वे आज मर गये' भी पढ़ा जाता है। उर्दू लिपि की इस सदोषता की ओर अधिकारियों का भी ध्यान गया है। १९४५ में जब उत्तर प्रदेश में निर्वाचक सूची निर्मित हो रही थी, तब अधिकारियों को यह बात मालूम हुई कि उर्दू लिपि में जो हिन्दी नाम लिखे जाते हैं, वे ठीक-ठीक नहीं पढ़े जा सकते, अतः वे नागरी लिपि में भी रखे जायँ। नागरी लिपि की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि प्रत्येक ध्वनि के लिए निश्चित प्रतीक हैं। ऐसा नहीं है फ़ ध्वनि के लिए एफ़ या फ़े कहा जाय।

३—देवनागरी लिपि में वर्णों की संख्या पूर्ण है। इसमें ४८ मूल चिह्न हैं। १४ स्वर और सन्ध्यक्षर तथा ३४ मूल व्यंजन। सभी वर्गों की अनुनासिक ध्वनियों के

लिए अलग-अलग लिपि चिह्न हैं। इस दृष्टि से रोमन लिपि अत्यन्त अपूर्ण है। केवल २६ रोमन अक्षरों से किसी भाषा की वर्णमाला पूर्ण नहीं कही जा सकती। इसी अपूर्णता की ओर इशारा करते हुए एक बार जार्ज बर्नार्ड शा ने कहा था कि अंग्रेजी भाषा में घटित ४२ उच्चारणों के लिए जो आदमी ४२ अक्षरों की एक वर्णमाला तैयार कर दे, उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति देने को तैयार हूँ।

देवनागरी लिपि इस दृष्टि से अत्यन्त वैज्ञानिक और पूर्ण लिपि है। संसार के भाषा तत्व विशारदों ने इसकी परीक्षा की है। वर्णों की आकृति के मिट्टी के खोखले बनाये गये, उसमें फूंक मारी गयी, उनसे उसी प्रकार की ध्वनियाँ निकलीं जैसी नागरी वर्णों की है। इसी से उसकी वैज्ञानिकता तथा पूर्णता का परिचय मिला। मात्राओं की दृष्टि से भी यह लिपि अत्यन्त सुन्दर है। उर्दू में मंदिर का मंदर रह जाता है। रामचन्द्र का रामचन्दर हो जाता है। अंग्रेजी में भी इस प्रकार की अपूर्णता है।

परन्तु इन गुणों के होते हुए भी देवनागरी लिपि में कुछ त्रुटियाँ भी पायी जाती हैं जिनके सुधार की चर्चा बड़े जोरों पर है। देवनागरी वर्णमाला में वर्णों की संख्या अधिक है जिनकी खपत मुद्रण यंत्रों तथा टंकण मशीनों में नहीं हो सकती। श, ष, स सबके उच्चारण प्रायः एक हैं, पर रूप अलग-अलग हैं, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं। इस दृष्टि से रोमन वर्णमाला चाहे कितनी भी अपूर्ण हो परन्तु मुद्रण और टंकण तथा शीघ्र लिपि लेखन की दष्टि से रोमन लिपि, नागरी लिपि से कहीं अच्छी है। रोमन अक्षरों के मुकाबिले देवनागरी के वर्णों की आकृति इतनी पेचीली और दुरूह होती है कि विवश होकर उनके टाइप बड़े आकार के ढालने पड़ते हैं, फल यह होता है कि जो सामग्री रोमन लिपि के एक पृष्ठ में छप जाती है, वह देवनागरी लिपि के दो पृष्ठों को घेरती है। अतः इस लिपि द्वारा समय तथा कागज और पैसे का अपव्यय होता है। पं० जवाहर लाल नेहरू ने इसी बात की ओर संकेत करते हुए १३ जून, १९४५ के अपने एक भाषण में लखनऊ में एक बार कहा था कि 'आजकल किसी भाषा की अच्छाई इस बात से नहीं देखी जाती, कि उसका व्याकरण कितना पूर्ण है बल्कि वह तो इस दृष्टि से देखी जाती है कि उस भाषा के लिखने, छापने और योग करने में सबसे ज्यादा सहूलियत होती है। यद्यपि पं० जवाहर लाल जी का यह कथन पूर्णतः ठीक नहीं है, क्योंकि भाषा का उच्चारण और व्याकरण उसके वैज्ञानिक रूप को स्थिर करता है, पर अंशतः तो उनका कथन ठीक ही है। मुद्रण तथा टंकण के लिए रोमन लिपि देवनागरी से बहुत आगे है, इसी से वह आज एक तिहाई संसार की लिपि हो रही है।

इधर अनेक संस्थाओं द्वारा देवनागरी लिपि में सुधार की योजना प्रस्तुत की गयी है। राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति वर्धा ने लिपि सुधार की नवीन योजना लागू की थी। काका कालेलकर इस प्रकार के सुधारकों में प्रमुख थे। १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने नागरी लिपि सुधार की एक उपसमिति का निर्माण किया था, जिसने

अनेक सुझाव दिये। उदाहरण के लिए इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, के स्थान पर अ की बारह खड़ी काम में लायी जाय। (२) ऋ, ष, ङ और ञ को हटाकर रि, श और ण का प्रयोग किया जाय। (३) संयुक्ताक्षर वर्ण उच्चारण के क्रम से लिखे जायँ अर्थात् प्रेम के स्थान पर प्रेम, इन्द्र के स्थान पर इन्द्र लिखा जाय।

इन सुझावों को राष्ट्र-भाषा-प्रचार समिति वर्धा ने अपनाया, परन्तु सभी जगह इसका आदर नहीं किया गया। इसके पश्चात् १९४७ ई० में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में उत्तर प्रदेशीय सरकार ने लिपि सुधार के लिए एक समिति का निर्माण किया। १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भी हिन्दी शीघ्र लिपि तथा लेखन-यंत्र सुधार समिति द्वारा लिपि सुधार की ओर ध्यान दिया। दोनों समितियों ने मिल-जुल कर कुछ सुधार की योजना रखी, जिनमें निम्नांकित प्रमुख विशेषताएँ थीं :—

१—अक्षरों की मात्राएँ ऊपर या नीचे, कुछ दूर हटकर दाहिनी ओर लगायी जायँ।

२—अनुस्वार के लिए शून्य तथा अनुनासिक के लिए बिन्दी का प्रयोग किया जाय। इसके उपरान्त लखनऊ में उत्तर प्रदेशीय सरकार ने एतदर्थ सभी राज्यों के शिक्षा मंत्रियों तथा भाषा तत्व विशारदों की एक सभा १९५३ में की, उसमें उपर्युक्त सभी सुझाव मान लिये गये। इ की मात्रा दाहिनी ओर वाली ही स्वीकृत हुई, परन्तु उसकी आधी पाई ही रखी गयी, जैसे ह्रीन्दी। यह निश्चित किया गया कि सभी प्रदेशों में यह लिपि लागू की जाय, परन्तु उत्तर प्रदेश की बेसिक कक्षाओं को छोड़ कर कहीं भी इसका प्रयोग नहीं किया गया। लिपि सम्बन्धी इन योजनाओं का जनता तथा विद्वन्मण्डली ने घोर विरोध किया, फलतः १९, २० अक्टूबर १९५७ को पुनः एक राज्य सम्मेलन हुआ है, जिसमें पहले के निर्णयों को सरकार ने फिर स्वीकार कर लिया है और पहले के संशोधनों को समाप्त कर दिया है।

उपर्युक्त योजनाओं के अनुसार यदि नागरी लिपि को बदल दिया तो शताब्दियों की अर्जित लिपि-परम्परा की सम्पत्ति जिसे हमने अनेक कठिनाइयों के पश्चात् सुरक्षित रखा है, कुछ ही समय में नष्ट हो जायगी। इस प्रकार प्राचीन तथा नवीन साहित्य को समझने के लिए दो लिपियों की आवश्यकता पड़ेगी। इससे अर्थ तथा समय दोनों का अपव्यय होगा। नयी लिपि यदि कुछ दिनों तक चलती रही, तो प्राचीन साहित्य को हम बहुत जल्दी भूल बैठेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक लिपि राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न करती है। देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता को, जो सदियों के विकास का फल है, सुधार के लिए सुधार को ध्यान में रखकर हम नष्ट नहीं कर सकते। यंत्र आवश्यकताओं केअनुसार लिपि में परिवर्तन नहीं होना चाहिए, वरन् लिपि के अनुसार यंत्र का परिवर्तन ही स्वस्थ सिद्धान्त हो सकता है। अतः सुधार का स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए, जो भाषा के मूल गठन तथा सौंदर्य को ही बदल दे और जो समस्त समाज को स्वीकार न हो। भाषा और लिपि का सम्बन्ध सम्पूर्ण जनता से होता है, अतएव किसी भी प्रकार का सुधार जनता की राय से ही करना उचित और न्याय संगत है।

विविध निबन्ध

भारतीय संस्कृति

[डॉ० शिवशेखर मिश्र, एम्० ए० (अं०, सं०, भा० संस्कृति) पी०-एच० डी०
संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्राकृतिक विधान के अनुरूप संस्कार की हुई पद्धति का नाम संस्कृति है। संस्कृति शब्द संस्कृत की कृ धातु में सम् उपसर्ग लगाकर भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके क्तिन् प्रत्यय लगाकर बना है। अतः इसका अर्थ है भूषणभूत सम् (सम्यक्) कृति अर्थात् सदाचार युक्त सम्यक् कृति अथवा चेष्टा। सम्यक्-असम्यक् कर्मों का भेद मनुष्य ही कर सकता है क्योंकि अन्य जीवों की चेष्टाएँ केवल स्वाभाविक हुआ करती हैं। अतएव मनुष्य की भूषणभूत सम्यक् चेष्टा को ही संस्कृति कह सकते हैं। वाचिक कर्म के मूल में मानसिक कर्म होने तथा उसका उपयोग कायिक कर्मों में होने के कारण शास्त्रानुमोदित मानसिक, वाचिक एवं कायिक सत्कर्मों को संस्कृति कहा जा सकता है।

मानव की पूर्ण मानवता संस्कृति पर आधारित है जबकि सभ्यता उसके दैनिक जीवन से सम्बन्ध रखती है। संस्कृति का सम्बन्ध आत्मा से है। वह मनुष्य के आत्मिक उत्थान एवं उत्कर्ष द्वारा आत्म दर्शन के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर करती है जब कि सभ्यता शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। संस्कृति अन्तःपक्ष है और सभ्यता वाह्य पक्ष। किसी देश के संस्कारों, नियमों आदि से उसकी संस्कृति के विषय में और वहाँ के निवासियों के रहन-सहन तथा औद्योगिक उन्नति से वहाँ की सभ्यता के विषय में ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

भारतवर्ष विचारशील होने के साथ-साथ आचार एवं धर्म प्रधान देश है। इसी कारण इस देश में सभ्यता की अपेक्षा संस्कृति को सदैव अधिक महत्त्व दिया गया है। बिना संस्कृति की उन्नति के आत्मिक शान्ति एवं सन्तोष की प्राप्ति नहीं हो सकती। सभ्यता का आश्रय ग्रहण कर मनुष्य वास्तविक शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। जितना ही वह सभ्यता की ओर बढ़ेगा उतना ही असन्तोष एवं अशान्ति का अनुभव करेगा। भारतीय संस्कृति का मुख्य ध्येय 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् अपने को जानो है। भारतवर्ष की शिक्षा यहीं से आरम्भ होती है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर हमारे प्राचीन महर्षियों ने नंगे सिर, नंगे पैर रहकर तथा साधारण वस्त्र धारण कर संतप्त जनता को 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा 'तत्त्वमसि' का उपदेश देते हुए जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित की।

भारतीय संस्कृति की सबसे महती विशेषता है उसके मूल में निहित समन्वय की भावना। जब हम किसी भी संस्कृति को उच्च स्थान प्रदान करते हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि निस्सन्देह उसमें अन्य संस्कृतियों के शाश्वत एवं सार्वभौमिक गुणों का समावेश अवश्य होगा। विश्व में वही व्यक्ति, समाज संस्था, परम्परा अथवा विचारधारा महत्त्वपूर्ण हो सकती है जिसकी लोकोत्तर गरिमा एवं महिमा में सर्वसाधारण एवं इतर अंशों की विभिन्न विभूतियाँ पग-पग पर परिलक्षित होती हैं। महासागर की महत्ता उसके अपूर्व गाम्भीर्य में तो है ही, किन्तु साथ ही साथ कुछ सीमा तक उसमें गिरने वाली सहस्रों सरिताओं के कारण भी है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति जहाँ अपनी जगद्विख्यात साधना, ऐश्वर्य, त्याग एवं अन्य धार्मिक तत्त्वों के कारण एक अद्वितीय स्थान रखती है, वहाँ उसमें विश्व की अन्य संस्कृतियों के अंश भी विद्यमान हैं।

भारतीय संस्कृति में समन्वय की भावना हम प्रागैतिहासिक युग से देखते आ रहे हैं। भारतीय संस्कृति को आर्य संस्कृति के नाम से भी पुकारते हैं। आर्यों और अनार्यों के पारस्परिक तुमुल युद्धों तथा संघर्षों का इतिहास साक्षी है। कालान्तर में विजेताओं तथा पराजितों दोनों में प्राकृतिक आदान-प्रदान के नियमों ने काम किया और जिस आर्य संस्कृति के आज हम दर्शन करते हैं, उसके जीवन के सम्पूर्ण इतिहास में अनेक ऐसे पृष्ठ हैं जिनको तथा-कथित अनार्यों ने लिखा है। उदाहरण के लिए सृष्टि सम्बन्धी कुछ विचार द्राविड़ी प्रतीत होते हैं। द्रविड़ों के देवताओं का ग्रहण आर्य देवालयों में हुआ। द्रविड़ों के पर्वतों तथा मरुस्थलों के देवता के नाम का अनुवाद सम्भवतः आर्य-भाषा में 'रुद्र' हुआ और तत्पश्चात् आर्यो के देवता रुद्र से उसकी समानता की गयी। इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि द्राविड़ी भाषा के नाम तामिल शिवन् (रक्तवर्ण), शेम्बु (ताम्र) शिव तथा शम्भु के रूप में ग्रहण किये गये।

डॉ० जाँ सिलुस्की (Gean Przyluski) ने भाषा विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धानों द्वारा संस्कृत तथा अन्य भारतीय-आर्य भाषाओं में आग्नेय (Austric) शब्दों का वर्तमान होना बतलाया है जो कोल अथवा मुंडा समुदाय की अपेक्षा मौन-ख्मेर भाषाओं से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इन आर्येतर (द्रविड़ तथा आग्नेय) तत्त्वों तथा आर्य जाति के अंशों के सम्मिश्रण से हिन्दू संस्कृति के विकसित रूप का जन्म हुआ। आर्यों की भाषा इस संस्कृति के प्रकाशन का माध्यम हुई और इसके साथ ही साथ उसका बाह्य संगठन भी आर्य था।

भारतीय संस्कृति मनुष्य को ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का पाठ पढ़ाती है। केवल ज्ञान अथवा केवल भक्ति द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' कहकर फल की आसक्ति को त्याग कर कर्म में रत रहने का आदेश देती है। निष्काम कर्म करके ज्ञान मार्ग का अनुसरण करता हुआ व्यक्ति भगवान् की भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

भारतीय संस्कृति का विशाल भवन पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष पर आधारित है। इन चारों तत्त्वों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें मोक्ष परम पुरुषार्थ है जिसकी प्राप्ति प्रथम तीन तत्त्वों के समुचित पालन द्वारा हो सकती है। धर्म अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुरुषार्थ है और यही सबके मूल में स्थित है। अर्थ और काम यद्यपि दृष्ट पुरुषार्थ हैं और उनका साक्षात् सम्बन्ध भौतिक जगत से है किन्तु उनका धर्मानुकूल सेवन मोक्ष की ओर अग्रसर करता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में लिखा है कि धर्मानुकूल अर्थ और काम का भोग करना चाहिये—'धर्मानुकूलो अर्थकामौ सेवेत्।' वात्स्यायन ने भी अपने कामशास्त्र में धर्म की प्रधानता स्वीकार की है। काम की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि शरीर की स्थिति के लिए धर्मानुकूल आहार ही काम है-'शरीरस्थितिहेतुत्वादाहारसधर्माणो हि कामाः'-कामसूत्र १/२/४६।

भारतीय संस्कृति का अचल स्तम्भ वर्णाश्रम धर्म पर अवलम्बित है। उसके द्वारा निर्धारित की हुई वर्णव्यवस्था मानव की ऐहिक एवं पारलौकिक कृत्यों की पूर्ति का सुलभ साधन है। हमारी भारतीय संस्कृति ने समाज की उन्नति के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों के लिए कार्य निश्चित कर उनकी सीमा भी निर्धारित की। वर्णव्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टिपात करने पर यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था वेदों के समय में भी वर्तमान थी क्योंकि ऋग्वेद के दशम मण्डल में पुरुषसूक्त के एक मन्त्र में वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत आयी हुई ब्राह्मण,क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष से बतायी गयी है। उस विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की, भुजाओं से क्षत्रियों की, जंघा से वैश्यों को तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई।[1] अतः वर्णव्यवस्था को हम उतनी ही प्राचीन कह सकते हैं जितना प्राचीन ऋग्वेद है, यद्यपि इसका वाह्य रूप समय-समय पर परिवर्तित होता गया।

ब्राह्मण समाज में सभी वर्णों द्वारा पूज्य थे। वे सदाचार पूर्ण, धर्म प्रेमी एवं तीव्र बुद्धि वाले होते थे तथा समाज के आध्यात्मिक सम्बल थे। उनमें सत्व गुण की प्रधानता थी। अतः स्वाध्याय, तप आदि ही उनका कर्त्तव्य था। उनके भरण-पोषण का भार समाज पर था। क्षत्रियों में रजोगुण की प्रधानता थी। समाज की शत्रुओं से रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था। कृषि, व्यवसाय, पशु पालन आदि का कार्य-भार वैश्यों को सौंपा गया। ये तीनों वर्ण एक श्रेणी में आते हैं। इनमें यज्ञोपवीत संस्कार होता था। अतः ये द्विज नाम से विख्यात हैं। शूद्र इन तीनों वर्णों से भिन्न थे। ये 'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' के आदर्श को मान कर अहंकार रहित होकर समाज के अन्य वर्णों की सेवा करते थे। उन्हें भी समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का मुख्य ध्येय यही था कि प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति को अपने अनुरूप सांसारिक कार्य करने के पश्चात् ब्रह्म के चिन्तन का अवसर प्राप्त हो सके। इसका पूर्ण रूप से पालन कर किसी भी वर्ण का व्यक्ति अपनी अल्प शक्ति एवं सीमित सामर्थ्य

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (ऋग्वेद १०/९०/१२)

द्वारा अनन्त ब्रह्म की ओर अग्रसर हो सकता था। अतः परमानन्द की प्राप्ति में यह व्यवस्था अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है।

वर्ण-व्यवस्था के दो आधार माने जाते हैं:—

१. गुण तथा कर्मानुसार

२. जन्म के अनुसार

प्राचीन भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण एवं कर्म था। गुणों के अनुसार ही व्यक्ति को कार्य सौंपे जाते थे और वह जिस प्रकार के कर्म करता था उसी के आधार पर उसकी जाति का निर्णय होता था। गुण एवं कर्म के आधार पर जाति के निर्णय के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है :—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'।

पहले ब्राह्मण चारों वर्णों में, क्षत्रिय तीन वर्णों में, और वैश्य दो जातियों में विवाह कर सकते थे, किन्तु शनैः-शनैः ब्राह्मणादि जातियाँ अपने तक ही सीमित रहने लगीं और वे अपनी सन्तानों को भी अपने वर्णानुकूल शिक्षा देने लगीं जिसके फलस्वरूप चारों वर्णों के कार्य संकुचित सीमा में आबद्ध हो गये और जाति का निश्चय जन्म के आधार पर होने लगा।

भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था से समाज को अत्यधिक लाभ हुआ। इस व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के स्वातन्त्र्य की रक्षा हुई। प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना कार्य करने में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र था। इस व्यवस्था द्वारा प्राणियों में एकता की भावना का संचार हुआ। वास्तव में समाज को एक सुदृढ़ सूत्र में बाँधना ही वर्ण-व्यवस्था की स्थापना का परम लक्ष्य था। इसके द्वारा केवल समान जाति वालों में ही अपनत्व की भावना जागृत नहीं हुई वरन् सभी वर्ण के व्यक्ति दूसरे वर्णों की सहायता के लिए सदैव कटिबद्ध रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था द्वारा कला एवं शिल्प के क्षेत्र में भी अधिक उन्नति हुई क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर सदैव यह प्रवृत्ति विद्यमान रहती थी कि वह अपने क्षेत्र में उच्चतम उन्नति करे। कला तथा शिल्प का विकास मुख्यतया विशेष कुलों के अन्तर्गत सीमित था जिसके कारण उनकी परम्परा कायम रही और प्रत्येक पुत्र अपने पिता से उनका ज्ञान प्राप्त करता हुआ उन्हीं के विकास में संलग्न रहता था।

वर्ण-व्यवस्था द्वारा समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था का साम्राज्य था। सभी व्यक्ति अपने वर्णानुकूल कार्य करते हुए शान्ति को स्थापित करने में पूर्ण रूप से सहयोग देते थे। समाज में चारों वर्णों की समान रूप से आवश्यकता थी। किसी एक के भी अभाव में समाज का कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता था।

इस व्यवस्था का सबसे बड़ा लाभ था इसके मूल में निहित मोक्ष की भावना। चारों वर्णों के व्यक्ति समुचित रूप से अपने कर्मों का सम्पादन करते हुए अपना शेष समय पारलौकिक चिन्तन में व्यतीत करते थे। कार्य विभाजन की योजना द्वारा

व्यक्तियों की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का अधिक व्यय नहीं होता था। उन्हें आध्यात्मिकता की ओर मन लगाने के लिए पर्याप्त अवकाश मिलता था। इस प्रकार सभी व्यक्ति पुरुषार्थों का पालन करते हुए अपने लौकिक एवं पारलौकिक दोनों क्षेत्रों को प्रशस्त बना सकते थे।

आश्रमों के द्वारा मानव-जाति का जीवन सुव्यवस्थित होता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए १०० वर्ष की आयु अपेक्षित है जैसा कि निम्नलिखित वेदमन्त्र से स्पष्ट है—

जीवेम शरदः शतम
पश्येम शरदः शतम
शृणुयाम शरदः शतम

इस सौ वर्ष की अपेक्षित परमायु को प्राचीन महर्षियों ने चार भागों में विभक्त किया है जो आश्रम के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास हैं। इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य जगत की प्रत्येक वस्तु का भोग सुचारु रूप से कर सकता है और अन्त में ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।

ब्रह्मचर्याश्रम में गुरु-शिष्य के व्यवहार की उत्कृष्टता है। इस अवस्था में शिष्य सांसारिक प्रपंचों से दूर गुरु के पास रहकर वेदाध्ययन करता था और उसकी आज्ञा का पालन करता था जिसके बदले में गुरु उसे पठन-पाठन द्वारा अपने आगामी जीवन को प्रशस्त बनाने का उपदेश देता था। इसकी अवधि २५ वर्ष की आयु तक थी।

जीवन के २५ वर्ष बिताने के पश्चात् शिष्य विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। प्राचीन काल में गृहस्थाश्रम भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड था। वह जीवन का विलासमय तथा ऐश्वर्यपूर्ण अंग न होकर साधनापूर्ण एवं त्यागमय जीवन था। प्रत्येक गृहस्थ ब्रह्मचर्याश्रम में सीखी अपनी धर्मपूर्ण शिक्षा का सदुपयोग गृहस्थाश्रम में करता था और इसी कारण अर्थ और काम पुरुषार्थ से सम्बद्ध गृहस्थ जीवन को भी वह धर्म के आधार पर व्यतीत करता था। गृहस्थ के प्रत्येक कार्य में लोकहित के साथ-साथ परलोकहित का अंश भी विद्यमान रहता था। प्रत्येक गृहस्थ के समक्ष 'मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।' का आदर्श रहता था। इसके साथ-ही-साथ देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण से भी मुक्त होने का गृहस्थाश्रम एकमात्र साधन था। पंच यज्ञादि का सम्पादन कर वह देव ऋण से, स्वाध्याय कर तथा गुरु के द्वारा कथित उपदेशों का अपने जीवन में आचरण कर ऋषि ऋण से तथा योग्य पुत्र उत्पन्न कर वह पितृ ऋण से उऋण होने का प्रयत्न करता था। भारतीय संस्कृति के अनुसार 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' का परम आदर्श गृहस्थों के समक्ष रहता था जिसके अनुसार वंशच्छेद दुर्भाग्य माना जाता था।

इस प्रकार जीवन के ५० वर्षों को व्यतीत कर लेने के पश्चात् व्यक्ति वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करता था जिसके द्वारा वह पुनः सुदृढ़ सांसारिक बन्धनों से अपने को

मुक्त करने का प्रयास करता था। वन में जाकर त्याग एवं तपस्यामय जीवन व्यतीत कर स्वाध्याय, यज्ञादि करना ही उसका मुख्य कर्त्तव्य था। उसे अपने को नागरिक जीवन से अलग रखना पड़ता था। ७५ वर्ष तक की इस व्यवस्था में वह जीवन में पुनः धर्म पुरुषार्थ द्वारा अर्थ तथा काम को गौण बनाकर प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर होता था।

अन्त में ७५ वर्ष की अवस्था तक मनुष्य का मन नितान्त असांसारिक हो जाता था। तब वह संन्यासाश्रम से प्रवेश कर उपनिषदों आदि के अनुशीलन द्वारा अध्यात्म विद्या की प्राप्ति में तत्पर होता था। इस आश्रम में रह कर वह मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता था और ब्रह्म का अधिकारी हो जाता था। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था द्वारा प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गो का सम्पादन हो जाता है।

इन महती विशेषताओं के साथ भारतीय संस्कृति की कुछ अन्य विशेषताएँ हैं जो उसको अमर बनाने में सहायक होती हैं। भारतीय संस्कृति ने समत्व को प्रधानता दी है जिसके फलस्वरूप इसके अन्तर्गत घृणा को कोई स्थान नहीं। वह मानव समाज का हित चाहती है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के उच्चादर्श के अनुसार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भारतीय संस्कृति की अपूर्व विशेषता है। उसके अनुसार प्रत्येक को अपने कर्मानुसार जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने का अधिकार है। अतः हिन्दू संस्कृति सर्वकल्याणकारिणी है।

संस्कृत शब्द प्रायः संस्कृति का समानार्थी है। हिन्दू संस्कृति में संस्कारों को अग्रिम मान्यता है। मनुष्य के जीवन में अनेक संस्कार होते हैं। संस्कारों द्वारा गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त सभी प्रकार के विकार नष्ट हो जाते हैं जिससे मनुष्य चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। अतः गर्भाधान, जातकर्म, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि आदि संस्कार भारतीय संस्कृति में अत्यन्त उपयोगी स्थान ग्रहण करते हैं।

धर्मशास्त्रों में संस्कारों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। संस्कारों द्वारा मनुष्य की आन्तरिक वृत्तियों का विकास होता है। ये मनुष्य के आन्तरिक विकास के वाह्य प्रतीक हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने को सामूहिक जीवन के उपयुक्त बनाता है। संस्कृत मनुष्य को समाज में एक नियत पद प्राप्त होता है। इस प्रकार संस्कार द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों का विकास होता है।

मनुस्मृति के अनुसार गर्भाधान, जातकर्म, चूड़ाकर्म तथा मौंजीबन्ध संस्कार में किये हुए होमों से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के गर्भ और बीज के दोषादि की शुद्धि होती है :—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौंजीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥

—मनुस्मृति २/२७

इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन, व्रत, होम, इज्याकर्म, पुत्रोत्पादनादि तथा पंचमहायज्ञों एवं यज्ञों से ब्राह्मी तनु प्राप्त होता है:—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्य ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।

—मनुस्मृति २/२८

याज्ञवल्क्य ने गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन तथा—जातकर्म संस्कार का उल्लेख करने के पश्चात् कहा है कि इनके करने से बीज और गर्भ की अपवित्रता दूर होती है :—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम् ।

—याज्ञवल्क्य स्मृति १/१३

कुछ संस्कार आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व रखते हैं यथा उपनयन । उपनयन संस्कार द्वारा वैदिक अध्ययन के लिए द्वार खुल जाता है और कुछ विशेष अधिकार प्राप्त हो जाते हैं । यद्यपि साथ ही साथ कुछ विशेष कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है । नामकरण, अन्नप्राशन आदि कुछ ऐसे संस्कार हैं जिनके द्वारा पारस्परिक प्रेमप्रदर्शन तथा उत्सवादि करने का अवसर प्राप्त होता है । अन्त में विवाह संस्कार द्वारा दो व्यक्तियों का मिलन होता है जिससे समाज का विकास होता है ।

संस्कारों की संख्या के विषय में धर्मग्रन्थों में बड़ा मतभेद है । इनकी संख्या ९ या १० से लेकर ४० अथवा उससे भी अधिक मिलती है । अधिकांश धर्मग्रन्थों में षोडश मुख्य संस्कार माने गये हैं किन्तु इन सोलह संस्कारों के विषय में भी मतभेद है । साधारणतया ये सोलह संस्कार इस प्रकार हैं :—

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, विष्णुबलि, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, वेदव्रतचतुष्टय, समावर्तन तथा विवाह —

तत्र संस्काराः । गर्भाधान————————विवाहश्चेत्यावश्यकाः संस्काराः ।

—स्मृत्यर्थसार पृष्ठ ३

संस्कार दो प्रकार के हैं—मलापनयन और अतिशयाधान । मलापनयन का अर्थ है मैल का साफ करना । जिस प्रकार चूने द्वारा दर्पण का मैल साफ किया जाता है उसी प्रकार इन संस्कारों द्वारा मनुष्य की शुद्धि होती है । गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन तथा चौलकर्म ये आठ मलापनयन संस्कार हैं । ये पिता द्वारा सम्पादित होते हैं । अतः इन्हें पितृकर्तृकाः भी कहते हैं । अतिशयाधान संस्कार आचार्य द्वारा सम्पादित होते हैं । अतः वे आचार्यकर्तृकाः भी कहे जाते हैं । किसी वस्तु को चमकीला व सुन्दर बनाने की क्रिया को अतिशयाधान कहते हैं । कर्णबेध, उपनयन, व्रतादेश, वेदस्वाध्याय, केशान्त, स्नान, विवाह, अग्निपरिग्रह ये आठ अतिशयाधान संस्कार हैं ।

हारीत ने दो प्रकार के संस्कार माने हैं—ब्राह्म तथा दैव । गर्भाधान आदि संस्कार जिनका उल्लेख स्मृतियों में मिलता है ब्राह्म संस्कार की कोटि में गिने जाते हैं । इनको

करने से मनुष्य संस्कृत होकर ऋषियों की समानता को प्राप्त होता है और उन्हीं के लोक में रहता है। दैव संस्कारों के अन्तर्गत पाक यज्ञ, हविर्यज्ञ तथा सोमयज्ञ आते हैं। इनको करने से मनुष्य देवों के लोक को प्राप्त कर उनकी समानता तथा सामीप्य को प्राप्त करता है।

हिन्दुओं की साधना शैली भी भारतीय संस्कृति की एक बड़ी विशेषता है। इस साधना शैली के अन्तर्गत अनेक योगों का उल्लेख है यथा मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग एवं भक्ति की अनेक प्रक्रियाएँ। ये मनुष्य को ब्रह्म की प्राप्ति कराने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त निष्कामता का पाठ पढ़ाकर यह प्रत्येक क्षेत्र को उपासना मय बना देती है।

भारतीय समाज में सदा से नारी को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। हिन्दू जाति ने नारी को शक्ति का प्रतीक माना है और उसका आदर और सम्मान करना परमावश्यक बतलाया है क्योंकि जिस घर या समाज में नारियों की पूजा होती है वहाँ देवताओं का निवास बतलाया गया है :—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'

भारतीय गृहस्थ के जीवन में पग-पग पर नारी की व्यावहारिक सार्थकता सिद्ध होती है। अपने जीवन के प्रत्येक अंश में वह कुछ-न-कुछ अपना अलग ही महत्त्व रखती है। वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करनेवाली आर्य जाति के अन्तर्गत स्त्री-पुरुषों का विवाह संस्कार अत्यन्त वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित है। विवाह संस्कार की इतनी पवित्रता संसार के किसी देश में नहीं है। हमारे प्राचीन महर्षियों ने आर्यों के स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन विचार किया है। महाभारत के शान्ति पर्व के एक स्थल पर स्त्री के महत्त्व का बहुत सुन्दर वर्णन है। उसके अनुसार गृहिणी या स्त्री ही घर का निर्माण करती है। स्त्री से रहित घर घर नहीं है वरन् वह वन के सदृश है :—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशम् मतम्॥

—शान्ति पर्व १४४/६

अन्त में भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को संक्षेप में तीन 'तकारों' में निहित कर सकते हैं—त्याग, तपस्या तथा तपोवन। त्याग भारत का महामन्त्र है और सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख अंग है। मनुष्य के अन्दर दो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं—पहली भोग की तथा दूसरी त्याग की। जीवन में पूर्ण सफलता की प्राप्ति त्याग द्वारा ही सम्भव है, भोग द्वारा नहीं। पाश्चात्य देशों की भौतिकवादी सभ्यता भोग पर अधिक बल देती है किन्तु उसके विपरीत भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति ने त्याग का वास्तविक महत्त्व एवं मूल्य समझ कर तदनुकूल आचरण करने का उपदेश दिया है। पाश्चात्य सभ्यता दूसरे के भाग को छीनने में भी गौरव समझती है।

किन्तु भारतीय संस्कृति का मुख्य उद्देश्य स्वार्थ का परित्याग कर परार्थ का संरक्षण करना है। गीता में निःस्वार्थ कर्म की सुन्दर शिक्षा दी गयी है।

प्राचीन भारत की आश्रम-व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में क्रमशः त्याग की शिक्षा ग्रहण करे। हिन्दू जीवन की आधारशिला धर्म एवं त्याग है। जीवन का आरम्भ धार्मिक शिक्षा तथा शुद्धाचरण से होता है। गृहस्थाश्रम में वह 'त्यागमय भोग' का जीवन बिताता है। वह गृहस्थ धर्म के अनुसार भोगों को भोगता है किन्तु भोगासक्त नहीं रहता। यही कारण है कि 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' शब्दों द्वारा इस आश्रम का गुणगान किया गया है। वासना का क्षय होने पर मनुष्य वानप्रस्थाश्रम में सहधर्मिणी के साथ वन में प्रवेश करता हुआ 'संयोगी वियोग' का जीवन बिताता है और इस प्रकार के कठिन अनुशासन एवं तप का पालन कर वह संन्यास का अधिकारी होता है। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों से पूर्ण है और त्याग एवं भोग का सुन्दर समन्वय है। इस प्रकार का समन्वय किसी भी अन्य जीवन अथवा सामाजिक व्यवस्था में नहीं प्राप्त होता।

त्याग के लिए तप अत्यन्त आवश्यक है। तपस्या द्वारा मनुष्य की समग्र कामनाओं की सिद्धि होती है। केवल यही नहीं तपस्या द्वारा वह परोपकार के विधिवत् सम्पादन की योग्यता प्राप्त करता है। बिना तप के मनुष्य का जीवन निर्मल नहीं होता। हमारे भारत का इतिहास युग-युग की तपस्याओं का इतिहास है। इसके अन्तर्गत प्राचीन महर्षियों की तपस्या, राजर्षियों की तपस्या, प्रजा की तपस्या अथवा सारे हिन्दू समाज की तपस्या प्रकाशित हो रही है। त्याग एवं तपस्या से अर्जित शक्ति का नाम तपोबल है। इसी तपोबल के कारण ही सारे संसार ने भारत को अपना पथप्रदर्शक एवं गुरु माना है।

भारतीय सस्कृति का समुदय तपोवन से होता है। तपोवन में ही तपस्या के लिए उपयुक्त स्थान प्राप्त होता है। तपोवन के शान्त वातावरण में हमारी संस्कृति फली फूली। वहीं पर प्राचीन महर्षियों से स्वार्थ एवं परमार्थ, स्वजीवन एवं परजीवन के सामंजस्य के पाठ की शिक्षा प्राप्त हुई। त्याग, तपस्या तथा तपोवन के कारण ही भारतीय संस्कृति में मृत्युंजयता आदि गुण वर्तमान हैं।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के कारण ही भारतीय संस्कृति अनेक आघातों को सहती हुई भी अचल एवं दृढ़ रही। सबसे पहला आघात महान् विजेता सिकन्दर के द्वारा हुआ। वह भारत पर अपना आधिपत्य जमा कर यहाँ की संस्कृति को समूल नष्ट करना चाहता था, किन्तु भारत में कौटिल्य जैसा कूटनीतिज्ञ ब्राह्मण वर्तमान था जिसने चन्द्रगुप्त के समान शक्तिशाली एवं तेजस्वी शासक बनाया और सिकन्दर सिन्धु नदी के आस-पास मंडराता हुआ अपने देश को वापस गया।

सम्राट् विक्रमादित्य के समय में शकों ने देश पर भयंकर आक्रमण किये। वे भारत की उर्वरा भूमि को पददलित करना चाहते थे किन्तु वे अपने प्रयास में सफल

न हो सके। विक्रमादित्य ने शकों को परास्त किया। उस तेजस्वी सम्राट् के नाम से आज भी विक्रम सम्वत् चल रहा है। विक्रमादित्य के समय में ही संस्कृत के कवि शिरोमणि कालिदास ने अपनी मनोरम रचनाओं द्वारा भारतीयों के हृदयों में अदम्य उत्साह जागृत किया।

तीसरा कठोर आघात मुसलमानों द्वारा हुआ जिन्होंने भारतीय संस्कृति को नष्ट करने में कोई कसर बाकी न रखी किन्तु उस समय भी छत्रपति महाराज शिवाजी जैसे योद्धा इस भारत भूमि पर उत्पन्न हुए। उन्होंने मुसलमानों से टक्कर ली और प्राचीन संस्कृति की रक्षा की।

इसके बाद इस पवित्र भूमि पर अंग्रेजों ने पदार्पण किया। आये थे व्यापार करने किन्तु यहाँ के शासक बन गये। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार किया और भारतीयों को अंग्रेजी सभ्यता में रँगना आरम्भ किया किन्तु भारतीय संस्कृति के अमर सूत्र जो हमारे रोम-रोम में प्रविष्ट हैं नष्ट न हो सके। हमारी युगों की कमाई हुई त्याग, तपस्या तथा तपोवन की शक्ति ने उसका सामना किया। उनके भयंकर अस्त्र-शस्त्र अहिंसा के महामन्त्र के सामने कुछ भी प्रभाव न जमा सके। परिणाम यह हुआ कि सत्य पर आश्रित भारतीय संस्कृति की विजय हुई।

इस प्रकार सदियों विदेशी शासकों द्वारा कुचले जाने पर भी भारतीय संस्कृति तपाये हुये सोने की भाँति उत्तरोत्तर अधिक कान्ति को प्राप्त होती गयी। भारत के प्राचीन लोगों ने केवल विश्व कल्याण की भावना से ही संस्कृति का प्रचार किया। अन्य देशों की भाँति कभी राज्य स्थापित करने का प्रयास नहीं किया।

गाँधीवाद और मार्क्सवाद

[डॉ० रामविलास शर्मा, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा]

गाँधीवाद और मार्क्सवाद पर लिखते हुए सबसे पहले प्रश्न उठता है; क्या गाँधीवाद नाम का कोई वाद भी है ?

एक गाँधीवादी विचारक श्री किशोर लाल घ० मशरूवाला ने इस विषय में गाँधीजी के ये शब्द उद्धृत किये हैं "गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु है ही नहीं; और न मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ।" (देखिये, काका कालेलकर द्वारा सम्पादित गाँधीवाद : समाजवाद" सस्ता साहित्य मंडल)।

दूसरे गाँधीवादी विचारक श्री पट्टाभि सीतारमैया ने गाँधी जी का दूसरा वाक्य उद्धृत किया है, "गाँधी मर सकता है, किन्तु गाँधीवाद अमर रहेगा।" (उप०)

गाँधीवाद के बारे में इन विरोधी उक्तियों के विपरीत मार्क्सवाद के विषय में ऐसी कोई दुविधा नहीं है। मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद का ही दूसरा नाम है। उसके संस्थापक मार्क्स और एंगेल्स थे। उसे बीसवीं शताब्दी में लेनिन, स्तालिन और माओत्से तुंग ने संवर्द्धित किया है। मार्क्सवाद का अनुसरण करनेवाली विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं। भारत में कांग्रेस भी एक गाँधीवादी पार्टी है, यह कहना कठिन होगा। यह भी बताना कठिन होगा कि विनोबाजी और प्रधान मन्त्री नेहरू में वास्तविक गाँधीवादी कौन है, अथवा दोनों हैं या दोनों में कोई नहीं है।

गाँधीवाद के सिद्धान्तों के लिए हम यहाँ उसके व्याख्याकारों सर्व श्री मशरूवाला, हरिभाऊ उपाध्याय और पट्टाभि सीतारमैया के निबन्धों को सामने रख सकते हैं। सबसे पहले गाँधीवाद और मार्क्सवाद के विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोण हैं। गाँधीवाद भाववादी अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर चलता है। उसके लिए यह संसार ईश्वरकृत है। विभिन्न धर्म ईश्वर की उपासना करते हैं। गाँधीवाद धार्मिक समन्वय पर जोर देता है। मार्क्सवाद के लिए ईश्वर मानवकृत कल्पना है। पदार्थ और चेतना में आदि तत्व पदार्थ है; उसका विकसित रूप वह भौतिक तत्व है जिसका गुण चेतना है। मार्क्सवाद के लिए कहा जाता है कि उसके अनुसार धर्म एक प्रकार की अफ़ीम है। किन्तु स्तालिन ने वर्ग संस्कृतियों की व्याख्या करते हुए कहा था वर्गयुक्त समाज में एक धर्म शोषकों का होता है, दूसरा शोषितों का। इससे स्वभावतः दोनों का समान रूप से विरोध नहीं किया जा सकता। भारत में भी भक्त कवि जनता की धार्मिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते थे; उनका धर्म उच्च वर्गों के कर्मकाण्ड से काफी भिन्न था। वर्तमान काल में मार्क्सवादी नेता धर्म के मामले में सहिष्णुता से काम लेते हैं। वे उसे व्यक्ति के विश्वास की वस्तु मानते हैं; उनकी नीति है कि राज्यसत्ता धर्म के मामले में हस्तक्षेप न करे, साथ ही धार्मिक नेता राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप

न करें। भारत में मध्यकाल की तरह आगामी धर्म के प्रति गाँधीवादी सहिष्णुता और साम्प्रदायिक धर्मान्धता में बहुत अन्तर है। कोई भी मार्क्सवादी इस अन्तर को भुला नहीं सकता। जहाँ गाँधीवाद अन्य धर्मों, विशेषकर इस्लाम के प्रति उदारता का व्यवहार करता है, वहाँ सम्प्रदायवादी प्रचारक मुसलमानों को भारत का सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं। इस प्रकार धर्म के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण रखते हुए भी धार्मिक सहिष्णुता के कारण गाँधीवाद और मार्क्सवाद एक दूसरे के काफी निकट हैं। कहना न होगा कि धर्म के झगड़ों से फायदा उठाने वाले लोग साम्राज्यवादी हैं या पूँजीपति और जमींदार। इनके शोषण का अन्त होने पर ही धार्मिक विद्वेष कम होता है और व्यक्ति को सच्ची धार्मिक स्वतंत्रता मिलती है। रूस में पहले मुसलमान, यहूदी, ईसाई मतों के लोग आपस में दंगे करते थे जिनसे जारशाही को लाभ होता था। समाजवादी व्यवस्था में इस तरह के झगड़े समाप्त हो गये हैं।

गाँधीजी की धर्म चर्चा में नैतिकता पर अधिक बल होता है। फिर भी जब-तब वे रहस्यवादियों की तरह अपने अन्तःकरण में ईश्वर की आवाज सुनने की बात भी करते थे। मार्क्सवाद अन्तःकरण को अस्वीकार नहीं करता लेकिन उसकी आवाज को ईश्वर की देन न मानकर मनुष्य की ही मानता है। गाँधी जी सत्य और ईश्वर को एक ही मानकर अपनी नीति की व्याख्या करते थे। मार्क्सवाद के लिए सत्य निरपेक्ष और पूर्ण न होकर मनुष्य के सामाजिक जीवन और उसकी चेतना के विकास पर निर्भर होता है। इसी कारण समाज के विभिन्न वर्ग बहुधा नैतिक सत्य के बारे में विरोधी धारणाएँ रखते हैं। प्रकृति और समाज के नियम निरपेक्ष और मानव इच्छा से स्वतन्त्र हैं। उन नियमों को जानकर ही मनुष्य प्रकृति और समाज को नियंत्रित और परिवर्तित कर सकता है। इसी तरह के नियमों का ज्ञान भी सामाजिक विकास पर निर्भर है।

कहा जाता है कि गाँधीवाद और मार्क्सवाद का मौलिक भेद सत्य और अहिंसा को लेकर है। श्री मशरूवाला के अनुसार सत्य का अर्थ है, "पूर्वग्रह से दूषित न होना, किन्तु सत्य को मानने के लिए सदा तैयार रहना; और इस कारण असत्य से, फिर वह कितना ही पुराना या बहुमान्य क्यों न हो, और उसमें हम कितने ही आगे क्यों न बढ़ चुके हों, वापस लौटने में भय या लज्जा न रखना, और साथ ही, जिस समय जिस बात के बारे में सत्यता का विश्वास हो उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार रहना" इसका अर्थ यही है कि मनुष्य को अन्धविश्वास छोड़कर वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए और उसके लिए त्याग करने को उद्यत रहना चाहिए। यदि केवल व्याख्या का प्रश्न हो तो कोई भी मार्क्सवादी इस व्याख्या को अस्वीकार न करेगा वरन् शायद यह जोड़ देगा कि हमें उस दृष्टिकोण को अपनाना चाहिए जिससे समाज के शोषित जनों का हित हो और उसके लिए संघर्ष करने की प्रेरणा मिले।

सत्य से अधिक मतभेद है अहिंसा को लेकर। गाँधीवाद के अनुसार अहिंसा का अर्थ है अन्याय का विरोध आत्मबल से करना। विरोधी को दण्ड देकर नहीं, स्वयं

कष्ट सहकर उसका हृदय परिवर्तन करना चाहिए। यदि न्याय के लिए हिंसा का सहारा लिया गया तो साधन दूषित हो जायँगे और जो विजय प्राप्त होगी, वह पवित्र और स्थिर न होगी। हिंसा से शोषण समाप्त हुआ तो "आज शोषण का अन्त होता भले ही दिखायी दे, इस खून-खराबी से जो प्रतिहिंसा की भावनाएँ प्रबल होंगी वे शक्तियाँ मौका पाते ही तुम्हारी व्यवस्था में दखल देकर तुम्हारे बनाये ढाँचे को बिगाड़ देंगी। इसके अलावा वह सर्वोदय के आदर्श और आत्मीयता की वृत्ति के विपरीत है। एक आत्मीय दूसरे को सुधारेगा, उसका नाश नहीं चाहेगा।" (हरिभाऊ उपाध्याय)

यह बात सही है कि एक आत्मीय दूसरे आत्मीय को सुधारेगा, उसका नाश न चाहेगा। लेकिन यदि दूसरा आत्मीय आपको सुधारने का मौका ही न दे ? सुधारने की बात करते ही आपको जेल में डाल दे या गोली मार दे ? हिटलर और मुसोलिनी ने इस तरह सत्ता कायम की थी और उसका उपयोग अपनी जनता को दबाने के लिए ही नहीं किया वरन् दूसरे देशों की जनता को गुलाम बनाने के लिए भी किया। हृदय-परिवर्तन करना अच्छी बात है बशर्ते कि अन्यायी के हृदय भी हो। हर अन्यायी हृदय हीन नहीं होता; हर अन्यायी को हिंसा द्वारा मिटाया जाय, यह आवश्यक नहीं किन्तु कुछ अन्यायी हृदयहीन होते हैं; उनके हृदय-परिवर्तन की संभावना न होने पर उनका नाश करना वैसे ही न्याय-संगत माना जायगा जैसे शरीर में प्रवेश करने वाले मलेरिया के कीटाणुओं का विनाश। कश्मीर पर आक्रमण होने पर हाथ पर हाथ धर कर बैठना या वहाँ सत्याग्रह करना मूर्खता होती। वहाँ सेना भेजना उचित ही था। जैसे सेना की उस कार्यवाही को गाँधीवाद ने अनुचित नहीं ठहराया, वैसे ही साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता के संघर्ष को उचित ठहराना चाहिए। रानी लक्ष्मीबाई से लेकर भगतसिंह तक हजारों भारतीय वीरों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र लेकर संग्राम किया। क्या कोई यह दावा कर सकता है कि इनके हाथों में शासनसत्ता आ जाती तो वे जनता से प्रति हिंसा का व्यवहार करते ? एक सीधा सा प्रश्न यह है कि जिन्होंने स्वराज्य के लिए अहिंसा का मार्ग अपनाया, वे स्वराज्य मिलने पर विद्यार्थियों, मजदूरों, किसानों आदि की हलचल को दबाने के लिए गोलियाँ क्यों चलवाते रहे हैं ? व्यवहारक्षेत्र में यह नहीं दिखायी देता कि जिन्होंने अहिंसा और सत्याग्रह की सदा दुहाई दी हो, उन्होंने इस देश की जनता को "सुधारने" के लिए आत्मबल का ही सहारा लिया हो। ऐसी स्थिति में यदि केवल साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्षों में हिंसा निषिद्ध मानी जाय तो यही कहा जायगा कि यह अहिंसा साम्राज्यवाद से समझौता करने का एक बहाना है और सत्ता हाथ में आते ही बहुत जल्दी वह हिंसा का रूप धारण कर लेती है।

श्री पट्टाभि सीतारमैया का कहना है, "समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है; गाँधीवाद मानव सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है।" व्यवहार जगत को छोड़कर घृणा और फूट की व्याख्या नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए अंग्रेज कह सकते थे कि हिन्दुस्तान के स्वाधीनता प्रेमी लोग ब्रिटिश

साम्राज्य में फूट डालते हैं; वे अंग्रेज़ों के सभ्य और सुसंस्कृत शासन के प्रति घृणा का प्रचार करते हैं। आज भी ब्रिटिश साम्राज्य की जगह कॉमनवेल्थ स्थिर है। इस कॉमनवेल्थ के अन्दर साइप्रस, कीन्या आदि देशों में अंग्रेज शासक हिंसा द्वारा वहाँ के जन-आन्दोलनों का दमन करते हैं। यदि कोई कहे कि भारत इस कॉमनवेल्थ से अलग हो जाय, तो कहा जा सकता है कि यह फूट और घृणा का प्रचार हुआ। किन्तु कॉमनवेल्थ के अन्दर होने वाले अत्याचारों का विरोध न करना, वरन् उस कॉमनवेल्थ से, एकता के नाम पर, संबद्ध रहना वास्तव में अन्याय और हिंसा को प्रश्रय देना होगा।

मार्क्सवाद अन्य नैतिक मूल्यों की तरह अहिंसा की व्याख्या भी व्यवहार जगत् को ध्यान में रखते हुए करता है। समाजवाद की प्राप्ति के लिए हिंसा का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। जारशाही के पतन के बाद रूस में पूंजीवादी राज्यसत्ता के साथ-साथ मजदूरों और सैनिकों की सोवियतें (पंचायतें) कायम थीं। इस कारण अहिंसक क्रान्ति की संभावना पर बल देते हुए लेनिन ने जून १९१७ में लिखा था, "संसार में एक देश है जो पूंजीपतियों के विपरीत वर्गरीति से, साम्राज्यवादी युद्ध को समाप्त करने के लिए हिंसक क्रान्ति के बिना अभी कदम उठा सकता है। ऐसा केवल एक देश है और वह देश है रूस। और वह तब तक ऐसा रहेगा जब तक मजदूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की सोवियतें विद्यमान हैं।" प्रारंभ में सोवियतों ने बहुत आसानी से राज्यसत्ता पर अधिकार कर लिया अथवा पूंजीवादी सत्ता भंग करके वे स्वयं नवीन जनसत्ता की संस्थाएँ बन गयीं। किन्तु यह युग साम्राज्यवाद का है। जहाँ भी समाजवाद और स्वाधीनता के लिए संघर्ष होता है, साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसका दमन करने पहुँच जाती हैं। यही बात रूस में हुई। विदेशी ताकतों ने हस्तक्षेप किया, पराजित वर्गों को फौजी सहायता पहुँचायी और क्रान्ति ने हिंसक गृहयुद्ध का रूप ले लिया। इसी तरह चीन में अमरीकी हस्तक्षेप के कारण युद्ध अनिवार्य हुआ, वरना मार्क्सवादियों का प्रयत्न था कि च्याङ् काई शेक के साथ मिली जुली राष्ट्रीय सरकार बनायी ज य। इसी प्रकार हिन्द एशिया, मिस्र आदि देशों को अपनी स्वाधीनता की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। कश्मीर में एक बार भारत-सरकार फौज भेजकर आतताइयों को आंशिक रूप से खदेड़ चुकी है। यदि साम्राज्यवादियों के उकसावे मे पाकिस्तान के फौजी शासकों ने भारत पर आक्रमण कर दिया तो उस समय देश की रक्षा के लिए शस्त्र उठाना उचित और अनिवार्य हो जायगा। हिंसा और अहिंसा का प्रश्न साम्राज्यवाद की वर्तमान स्थिति को भुलाकर हल नहीं किया जा सकता। जहाँ तक भारत में समाजवाद की स्थापना का प्रश्न है, उसके लिए हिंसा का प्रयोग अनिवार्य नहीं है। जनतांत्रिक सुविधाएँ प्राप्त रहने पर जो कुछ केरल में हुआ है, वह सारे देश में हो सकता है। इसके विपरीत यदि कोई भारतीय जनरल अयूबखाँ बनकर जनतंत्र को समाप्त करके तानाशाही कायम करे तो समाजवाद की ओर शान्ति-पूर्ण संक्रमण असंभव हो जायगा।

संसार में वर्गहीन समाज कायम हो, मनुष्य एक दूसरे का शोषण न करे, श्रेष्ठ मानव संगठन वर्ग-हिंसा के बदले वर्गहीन अहिंसा पर ही कायम हो—यह आदर्श सच्चे गाँधीवादियों और मार्क्सवादियों में समान रूप से मिलता है। कोई आश्चर्य नहीं कि जब गाँधीवादी विचारक पं० सुन्दरलाल चीन गये तो वहाँ की जनक्रान्ति देखकर उन्होंने लिखा, "किसी ने मुझसे पूछा था कि चीन में ईश्वर है या नहीं। मुझे मालूम नहीं ! कम-से-कम मैंने वहाँ लोगों को उसका व्यर्थ नाम लेते नहीं सुना। लेकिन मैं यह जानता हूँ कि संसार के किसी भी भाग की अपेक्षा वहाँ अधिक सच्चा और मानवीय देवत्व है। और मुझे वर्धा में बहुत दिन पहले की एक बातचीत याद आती है। बूढ़े ने ईश्वर, न्याय, नीति, धर्म और शासन की अपनी व्याख्या सुनायी जो मेरी पहुँच से परे थी और मैंने साफ-साफ उनसे कह दिया। गाँधी जी ने कहा 'धीरज धरो बेटे, बड़े होगे तब समझ जाओगे।' मेरा विचार है कि चीन जाकर मैं वह सब समझ गया जो गाँधी जी मुझे बताना चाहते थे। वहाँ मैंने अपने चारों ओर वह सब सजीव रूप में घटित होते देखा। हम अपनी अहिंसा में गाँधी को भूल गये हैं। चीनियों ने अपनी क्रांति की हिंसा और शक्ति द्वारा किसी प्रकार उन्हें पुनर्जीवित कर लिया है। यह भी एक चमत्कार है जो चीन जाकर ही देखा और समझा जा सकता है।"

गाँधीवाद के अनुसार "व्यक्ति सम्पत्ति का संग्रह भले करे; पर वह उसका स्वामी न बने, ट्रस्टी बन कर रहे।" (हरिभाऊ उपाध्याय)। ट्रस्टी बनने की बात पूँजीपति और जमींदार ही नहीं करते, अंग्रेज भी भारत के ट्रस्टी बनते थे। उनके हृदय-परिवर्त्तन के लिए हमने प्रयत्न किये। किन्तु वे आज भी अनेक पराधीन देशों के ट्रस्टी बने हुए हैं। श्री मशरूवाला के शब्दों में "अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने कई बार कहा है कि हिन्दुस्तान में ब्रिटिश सरकार का अस्तित्व भारतीय जनता के कल्याण के लिए और उसके ट्रस्टी के रूप में है। लेकिन हमें अनुभव तो यह हुआ है कि इस भाषा के अनुसार आचरण करने की उनकी रत्ती भर भी नीयत नहीं है।" अंग्रेजों को ट्रस्टी बना कर भारत उन्हें नहीं सौंपा गया; उन्हें हर तरह के साधनों का प्रयोग करके भारत से निकाला गया। जब इन ट्रस्टियों ने देख लिया कि बंबई के नाविक-विद्रोह के बाद सेना का भरोसा नहीं किया जा सकता, तब भारत-विभाजन करके अपना अपरिवर्तित हृदय लिये हुए वे यहाँ से विदा हुए। आजकल पूँजीपतियों का अनुभव क्या कहता है ? उनमें कोई ट्रस्टी बनता नजर नहीं आता; उल्टे राज्यगत धन्धों की तीव्र आलोचना वे अवश्य करते हैं। भूदान से भूमि समस्या भी हल नहीं हुई और कानून द्वारा भूमि-वितरण का प्रस्ताव सामने है। पूँजीवादी व्यवस्था को बदलने का अर्थ पूँजीपतियों का व्यक्तिगत विनाश नहीं होता। उनके कल-कारखानों में सामूहिक उत्पादन होता है किन्तु हजारों मजदूरों की बनायी हुई चीज पर स्वामित्व पूँजीपतियों का होता है। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार मुनाफा है। इस मुनाफे के बल पर ही पूँजीपति अपनी सम्पत्ति एकत्र कर सकता है। शोषण के बिना इस सम्पत्ति को एकत्र करना संभव

नहीं है। पूंजीपति अन्याय से प्राप्त की हुई संपत्ति का ट्रस्टी बने—यह बात न युक्ति-संगत है, न न्याय संगत।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय का विचार है कि ट्रस्टी हुए बिना समाजवाद का भी संचालन नहीं हो सकता। उनकी युक्ति इस प्रकार है, "वर्गहीन समाज में सरकार तो रहेगी नहीं; परन्तु जमीन, छोटे-बड़े कारखाने, मकान, कलाभवन, आदि तो रहेंगे ही। आखिर किसी न किसी के चार्ज में इनके रहे बिना गति नहीं है। तो जिनके चार्ज में ये रहेंगे उनका इनसे क्या सम्बन्ध रहेगा? किसी के दबाव से तो कोई उनका चार्ज लेगा नहीं, क्योंकि दबाव रखने वाली सरकार तो रहेगी नहीं। अपनी खुशी से ही लोग उनको अपने चार्ज में रक्खेंगे। वे क्यों रक्खेंगे—या तो मुनाफा उठाने के लिए या समाज की सेवा के लिए। उनको संभाल रखने में जितना खर्च होगा और सँभाल रखने वाले के निर्वाह के लिए जितना आवश्यक होगा उतना धन तो उसे मिलना जरूरी है। अब सरकार के अभाव में उन्हें वेतन देनेवाला तो कोई रहेगा नहीं तब मुनाफे के ही रूप में वह खर्च वह लेगा। हाँ. शोषण उसमें न रहेगा। इस मुनाफे पर तो एतराज़ किया ही कैसे जा सकता है? आवश्यकता से अधिक मुनाफा न लेना, यह उसकी समाजसेवा की वृत्ति हुई। अब या तो वह इन चीजों का मालिक बनकर रह सकता है या समाज की तरफ से उनका ट्रस्टी बन कर। मालिक बनाना आप चाहते नहीं, तो फिर ट्रस्टी बने बिना दूसरा क्या रास्ता है? ट्रस्टी के माने मालिक नहीं, समाज की तरफ से उस वस्तु का चौकीदार।"

वर्गहीन समाज स्थापित करने की दो मंजिलें हैं। पहली मंजिल में मजदूरवर्ग के नेतृत्व में जनता अपनी राज्यसत्ता कायम करती है और उसका उपयोग सत्ताहीन वर्गों के विरोध को दबाने के लिए करती है। इस मंजिल में नौकरशाहों, हिसाब-किताब रखनेवालों, कौशल-विशेषज्ञों की आवश्यकता रहती है। जिस पूंजीवादी व्यवस्था में लोग रहने के आदी हैं, उससे निकल कर अचानक वे अधिकारियों और विशेषज्ञों के बिना काम नहीं चला सकते। किन्तु इस पहली मंजिल में भी ये अधिकारी और विशेषज्ञ सम्पत्ति के ट्रस्टी न होकर श्रमिक जनता के वेतनभोगी "प्रबन्धक" (मैनेजर) होते हैं। "राज्यसत्ता और क्रान्ति" नाम की पुस्तक में लेनिन ने इन्हें और सभी राज-कर्मचारियों को साधारण मजदूरों के समान वेतन देने की बात लिखी है। समाजवादी देशों के राजकर्मचारी राजा न होकर जनता के वास्तविक सेवक बनते हैं। इस मंजिल में प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुसार पारिश्रमिक मिलता है। क्रमशः बौद्धिक और शारीरिक श्रम का भेद मिटता जाता है। यह भेद मिटाये बिना नौकरशाही खत्म नहीं की जा सकती। चीन में अधिकारियों के लिए शारीरिक श्रम अनिवार्य करके इस दिशा में प्रगति की गयी है। वहाँ के कम्यूनों में संगठित होकर किसानों ने, निम्न स्तरों पर अर्थतंत्र के अलावा, शासनतंत्र भी अपने हाथ में ले लिया है। वर्गहीन समाज में यह आवश्यक नहीं है कि चौकीदारों का एक विशेष वर्ग बनाया जाय। चौकीदारों की आवश्यकता होती है उस समाज में, जहाँ जनता के नैतिक मानदंड बदले नहीं हैं, जहाँ

उसमें स्वामित्व का भाव उत्पन्न नहीं हुआ। समाजवादी व्यवस्था की दूसरी मंजिल में न केवल उत्पादन में बहुत बड़ी उन्नति होगी वरन् जनता का नैतिक स्तर भी बदलेगा, श्रम के प्रति उसकी धारणा भी बदलेगी, इसलिए ट्रस्टी बनने वाले विशेष वर्ग की आवश्यकता भी न होगी। समाजवादी व्यवस्था की पहली मंजिल में भी जनसत्ता के वेतन-भोगी कर्मचारियों को सामाजिक सम्पत्ति का ट्रस्टी वैसे ही नहीं कहा जा सकता जैसे बिड़ला की किसी मिल के चौकीदार को उसका मालिक नहीं कहा जा सकता।

पूँजीपति ट्रस्टी बनें—इस स्थापना को लागू करने का सवाल उसी हालत में उठेगा जब समाज में पूँजीवाद हो। गाँधीवाद की आदर्श समाज-व्यवस्था में बड़े-बड़े कल-कारखानों को स्थान नहीं है। उसका अधिक बल विकेन्द्रीकरण और गृह-उद्योगों पर है। विकेन्द्रीकरण से समाजवाद का विरोध नहीं है। पूँजीवादी व्यवस्था में कल-कारखानों का निर्माण करते हुए इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि ये उद्योग-धन्धे उन्हीं स्थानों में कायम किये जायँ जहाँ कच्चा माल प्राप्त होता है। मान लीजिए कपास होती है मालवे में तो मिलें होंगी बंबई में। पूँजीवादी उत्पादन अनियोजित होने के कारण उद्योगधन्धों को अराजकतावादी ढंग से केन्द्रित कर देता है। नगर गाँवों का शोषण करते हैं। नागरिक और ग्रामीण की संस्कृति में गहरी खाई पैदा हो जाती है। बड़े-बड़े शहरों में जनसंख्या की अस्वाभाविक वृद्धि होती है। आर्थिक दृष्टि से सारा देश औद्योगिक केन्द्रों और कच्चा माल भेजने वाले—और तैयार माल खरीदने-वाले—उपनिवेश में विभाजित हो जाता है। इस वैषम्य को समाजवादी उत्पादन और वितरण की व्यवस्था से समाप्त किया जा सकता है। इसलिए विकेन्द्रीकरण को लेकर गाँधीवाद और मार्क्सवाद के बीच न पाटी जा सकने वाली खाई नहीं है।

मार्क्सवाद गृह-उद्योगों के विरुद्ध नहीं है। पिछड़े हुए देशों के उद्योगीकरण के लिए इंगलैण्ड और अमरीका की नकल करने के बदले गृह-उद्योगों, गांवों में छोटे उद्योग-धन्धों को नियोजित ढंग से चलाना आवश्यक होता है। यह खेद की बात है कि भारत में, यहाँ गाँधीवाद का इतना प्रभाव है, योजनाओं में बड़े उद्योग-धन्धों के निर्माण ही पर अधिक जोर है। यह प्रवृत्ति बड़े-बड़े बाँधों और लोहे के कारखानों के सम्बन्ध में ही नहीं दिखायी देती। किसी विश्वविद्यालय का भवन बने, किसी स्टेशन की इमारत खड़ी करनी हो तो पहले तो पुरानी मजबूत इमारतें हथौड़ों से तोड़ी जायँगी, फिर भारत की जलवायु का (यहाँ के स्थापत्य की तो बात ही क्या !) ध्यान रखे बिना ऐसे नये डिज़ाइन की बिल्डिंगें तैयार की जायेंगी कि उद्घाटन के पहले ही दीवालों में दरारें नज़र आने लगें ! इस तरह के निर्माण की तुलना में गाँधीवाद के सीधे-सादे उद्योग धन्धे अच्छे। चीन ने किसानों द्वारा देश का उद्योगीकरण संभव दिखाकर मार्क्स-वाद को और समृद्ध किया है। वहाँ बड़े उद्योगधन्धों का बहिष्कार नहीं किया गया; उनके साथ देश की स्थिति देखते हुए छोटे उद्योगधन्धों पर पूरा जोर दिया गया है।

मशीनें मनुष्य के श्रम को कम करने, उसे सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में

भाग लेने के लिए अवकाश देने के उद्देश्य से आवश्यक हैं। मशीनों का कहां कैसा उपयोग होता है, यह समाज-व्यवस्था पर निर्भर है। पूंजीवादी व्यवस्था में अनेक दोष होने पर यातायात के साधन बढ़ने से, कौशल की उन्नति होने से मानव जाति का ज्ञान बढ़ा है; वैज्ञानिक उन्नति से मानव जीवन को सुखी बनाने और प्रकृति के अनेक रहस्यों का पता लगाने की संभावनाएँ बढ़ी हैं। इन उपलब्धियों को छोड़कर चर्खे और बैल-गाड़ी के युग की ओर लौट चलना न तो संभव है, न बुद्धि संगत। पूंजीवाद की औद्योगिक उन्नति को, उत्पादन व्यवस्था बदल कर, मानव समाज के हित में लगाना ही श्रेयस्कर होगा। गाँधीवाद के अनुसार "व्यक्तिगत स्वामित्व ही अकेला दोषी नहीं है; मशीनरी खुद भी, कारखाना खुद भी, एक हद तक दोषी है और जिस हद तक वे दोषी हैं उस हद तक उनमें या उनकी प्रणाली में भी सुधार करना होगा।" (हरिभाऊ उपाध्याय)। इसके विपरीत मार्क्सवाद का कहना है कि मशीनों द्वारा उत्पादन आरंभ होने के पहले बहुत से सन्तों ने समाज को बदलने के प्रयत्न किये, किसानों और कारीगरों ने संघर्ष भी किये लेकिन वे शोषण व्यवस्था मिटा न सके। आधुनिक पूंजीवादी उत्पादन से ही पूंजीवाद को समाप्त करने की क्षमता रखनेवाला वर्ग—मजदूर वर्ग—उत्पन्न होता है। यह वर्ग किसानों के साथ दृढ़ एका कायम करके, तथा पूंजीवादी व्यवस्था से पीड़ित अन्य मध्यवर्गीय तत्त्वों को मिलाकर, शोषण-व्यवस्था समाप्त करता है और मुनाफा कमाने के बदले समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पादन और वितरण का संगठन करता है। मशीनरी खुद ही खराब है —यह कथन उन पिछड़े हुए दस्तकारों के दृष्टिकोण का सूचक है जो मशीनों के चलने के कारण बेकार हो जाते हैं। इंगलैण्ड में किसी समय बेकार मजदूरों ने मशीनें तोड़ डाली थीं। किन्तु आज कोई भी इस तरह के विनाश द्वारा बेकारी दूर करने का स्वप्न नहीं देखता।

गाँधीवाद और मार्क्सवाद को व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से देखें तो देश के जागरण में दोनों ही की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करनी होगी। गाँधीजी और उनकी विचारधारा ने भारतीय जनता को आन्दोलित किया और उसे स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर अग्रसर किया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद गांधीवाद का प्रभाव क्षीण होने लगा है। साधारण जनता ने स्वाधीनता से जो आशाएँ लगायी थीं, वे पूरी नहीं हुईं। मजदूर वर्ग ने विशेषरूप से मार्क्सवादी नेताओं की देख-रेख में अपने संगठन दृढ़ किये हैं। देश के समाजवादी निर्माण के लिए मार्क्सवाद एक सुनिश्चित योजना पेश करता है। इस निर्माण के लिए भारत से विदेश को मुनाफा जाना बन्द होना चाहिए। यहाँ अभी करोड़ों रुपये की अंग्रेजी पूंजी लगी है। उसका मुनाफा विलायत जाता है। इसके अलावा अमरीका से करोड़ों रुपये कर्ज लेकर देश के भविष्य को गिरवी रखा जा रहा है। हिन्दुस्तान के बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, भूमि का पुनर्वितरण, बड़े और छोटे उद्योगों के संतुलित निर्माण द्वारा उद्योगीकरण—यह मार्ग हमारे सामने है। कांग्रेस के नेतृत्व ने भी समाजवाद को अपना उद्देश्य घोषित किया है। इससे सिद्ध होता है कि पूंजीवादी व्यवस्था के दिन गिने हुए हैं और भावी भारत समाजवादी भारत ही होगा।

जीवन में श्रम और त्याग का महत्त्व

[श्री ईश्वरलाल देसाई, आर्ट्स कालेज, डभोई, बड़ौदा]

'आराम हराम है' का सूत्र सुनते ही जीवन में श्रम और त्याग के महत्त्व की ओर हमारा ध्यान अनायास ही पहुँच जाता है। जिस देश में गीता ने कर्मयोग की बातें कीं उसके लिए श्रम कोई नवीन शब्द है नहीं और हमारी सांस्कृतिक विरासत ही 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' द्वारा हमें त्याग का महत्त्व भी बता जाती है। लेकिन फिर भी जीवन जितना संकुल है, श्रम और त्याग के महत्त्व का प्रश्न भी उतना ही संकुल है।

आज के बौद्धिक युग में जीवन को भी वैज्ञानिक ढंग से देखा जाता है। जीवन जीवित वस्तुओं के गुण से परखा जाता है। जीवित वस्तुओं के विशेष गुण निम्न हैं। प्रत्येक जीवित वस्तु एक समष्टि रूप में काम करती है, चाहे कितने ही अवयव हों। वह अपने आन्तरिक स्वभाव से तथा किसी उद्देश्य के लिए कार्य करते हैं। उनकी गति आन्तरिक प्रभावों और प्रेरणाओं से होती है। उसके सब अवयव और शक्तियाँ उसके आत्माभिव्यंजन और पूर्णता के लिए कार्य करती हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि जीवन चैतन्य का ही दूसरा नाम है और चैतन्य तथा क्रियाशीलता पर्याय-से हैं। जीवित वस्तु की क्रियाएँ उसमें निहित चेतन सत्ता के कारण ही आत्मोन्नति, आत्म-रक्षा और अपनी शक्तियों के विकास के लिए होती हैं। जीवन की इस झलक में श्रम का महत्त्व अपने आप निखर उठता है।

प्रकृति ने मनुष्य को विश्वकर्मा बनाया है। मानव जबसे इस सृष्टि में साँस लेने लगा, वह संघर्षों से जूझता चला और प्रकृति को अनुवर्तिनी बनाने के लिए श्रम करता रहा। युग-युग का इतिहास साक्षी है कि समय के पाँव तो डगमगाये हैं, मगर मनुष्य का हाथ नहीं काँपा है। इतिहास चक्र का वह कर्मवीर बना है और इसी रूप में वह जिया भी है। आज के ये बड़े-बड़े नगर, ये भव्य भवन, ये सड़कें, ये बाँध, ये कल-कारखाने, ये रेल-मोटर-वायुयान, ये अंतरिक्ष को भी भेदने वाले राकेट, सभी कुछ उसके श्रमसिंचन का ही तो फल हैं। वह श्रम चाहे शारीरिक हो, चाहे मानसिक किन्तु जीवन और जगत् की फुलवारी में श्रमसीकर सिंचित होने से ही आज यह बाग लहलहा रहा है। इसका सौरभ आज पाताल से लेकर अंतरिक्ष को भी भेदकर चंद्र और सूर्य तक को सुरभित करने लगा है।

युग की भौतिकता और वैज्ञानिकता के साथ-साथ लोगों की श्रम से सम्बन्धित दृष्टि भी आज बदल गयी है। किन्तु श्रम का महत्त्व तो इस यांत्रिक युग में भी कम नहीं हुआ है उल्टा बढ़ गया है। आज भी सोफोकल्स के मतानुसार, "उन्नति का द्वार केवल श्रम की चाबी ही खोल सकती है।" फिर भी श्रम की परिभाषा में अत्यन्त भौतिकता आ गयी है इसमें सन्देह नहीं है। मार्शल की परिभाषा है—"Any exerton of mind or body undergone partly or wholly with a view to some good, other than the pleasure derived directly from

the work is called labour" अर्थात् श्रम मनुष्य का वह शारीरिक या मानसिक यत्न है जो थोड़े बहुत अंशों में इस यत्न में से प्राप्त आनन्द के अलावा अन्य लाभ के लिए किया जाता है। अर्थशास्त्र की दृष्टि में किसी की निगरानी में, वस्तु या अर्थ की अपेक्षा में किया गया शारीरिक या मानसिक प्रयत्न या कार्य, श्रम कहलाता है।

प्रकृति ने चारों ओर अपने उपहार बिछाये हैं। धरती, खदान, समुद्र, पहाड़ आदि नाना भाँति के खजाने भरे हैं। किन्तु यदि जमीन जोतने वाला किसान नहीं होगा, खदान को खोदने वाले खदान-मजदूर नहीं होंगे, समुद्र के पानी का संचय कर के उसमें से नमक और अन्य क्षार बनाने वाला कोई न होगा और न ही कोई पहाड़ की वन-संपत्ति और पत्थरों को निकालने वाला हो तो इस समृद्धि का अर्थ क्या ? उत्पादन की प्रक्रिया के लिए इस संचय के साथ ही श्रम भी लाजिमी है।

आरंभ में आदम स्मिथ जैसे अर्थशास्त्रियों का मत था कि जिस प्रयत्न से स्थूल चीजों की उत्पत्ति हो सकती है, वही आर्थिक श्रम है। अर्थात् आहार, वस्त्र, इमारत, पुस्तक आदि स्थूल चीजों के उत्पादन से सम्बन्धित प्रयत्न ही वास्तविक श्रम है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के मत में जो मूर्त या अमूर्त कार्य व्यक्ति की इच्छाओं की तुष्टि में सहायक सिद्ध हों वे भी श्रम के अंतर्गत गिने जाते हैं। इस रूप में डॉक्टर, वकील, प्राध्यापक, संगीतकार, नृत्यकार आदि के कार्य भी श्रम में परिणत होते हैं। इस रूप में श्रम की पारिभाषिक भौतिकता की दीवारें अब ढहने लगी हैं।

अर्थशास्त्र जिसका आज के भौतिक विश्व में बोलबाला है, उत्पादन के सभी साधनों में श्रम को विशिष्ट स्थान देता है। उसकी दृष्टि में श्रम के विशिष्ट लक्षण ये हैं--(१) श्रम श्रमिक से भिन्न नहीं है। श्रमिक जहाँ भी जायगा, श्रम को अपने अन्दर भर कर जायगा। (२) श्रम नाशवन्त है। समय के साथ वह नष्ट होता जाता है और भर्तृहरि के इस कथन--'कालो न यातः वयमेव याताः' (काल नहीं किन्तु हमीं क्षीण होते हैं) को सार्थक सिद्ध करता है। श्रमिक यदि आज श्रम नहीं करेगा तो कल वह दुगुना श्रम नहीं कर सकता, क्योंकि इसका संग्रह नहीं हो सकता। बीता हुआ समय उसके लिए लौट नहीं सकता। (३) श्रम की पूर्ति लचकदार (Elastic) नहीं है। मांग के साथ अन्य चीजों का उत्पादन भले ही बढ़ सके, श्रम उतनी तेजी से बढ़ाया नहीं जा सकता। (४) श्रम की गतिशीलता—स्थान गतिशीलता और व्यवसाय गतिशीलता, दोनों प्रकार की—अत्यन्त कम है।

अर्थ शास्त्री श्रम के दो भेद करते हैं—उत्पादक और अनुत्पादक। फ्रांस के निसर्ग-पन्थी अर्थशास्त्री खेती के कार्य में प्रयुक्त श्रम को ही उत्पादन श्रम कहते थे। खेती में मानव के साथ प्रकृति का भी सहयोग है। प्रकृति का सहयोग पाने के लिए श्रम या खर्च की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती। इसी कारण से खेती के उत्पादन का मूल्य उसमें प्रयुक्त मानव शक्ति के मूल्य से अधिक है। इसी से यह उत्पादक व्यवसाय गिना जाता है। व्यापार और वाणिज्य केवल वस्तुओं का स्थानान्तर ही करते हैं या

उसका स्वरूप बदलते हैं। नवीन चीज का उत्पादन उसमें नहीं होता। इसी से यह श्रम अनुत्पादक श्रम है। अर्थशास्त्र के पिता आदम स्मिथ अर्थशास्त्र को भौतिक कल्याण से सम्बन्धित शास्त्र मानते थे और इसी कारण से यह तो डॉक्टर, शिक्षक आदि के श्रम को भी अनुत्पादक श्रम मानते थे। किन्तु आज यह परिभाषा ठीक नहीं मानी जाती। आज तो किसी भी प्रकार का श्रम, जो संपत्ति के उत्पादन में सहायक है या संपत्ति पैदा कर सके या सेवा करे वह उत्पादक ही है। इस प्रकार अर्थशास्त्र भी श्रम को भौतिक जीवन की अमूल्य आवश्यकता मानता है।

परन्तु आज अर्थशास्त्र का भौतिक मूल्य चाहे कितना ही हो, हमारी दृष्टि और जीवन अब भौतिकता की कोरी दीवारों में घिर नहीं सकते। आज तो ये दीवारें ढह रही हैं और हम अंतरिक्ष भेदन के साथ ही जीवन को घेरने वाली भौतिक दीवारों को भी भेद रहे हैं। इन्हीं कारणों से श्रम को देखने की हमारी दृष्टि में भी परिवर्तन होने लगा है। इस रूप में हमें जीवन में श्रम के महत्त्व को देखना होगा।

श्रम का महत्त्व देखने के लिए हम इसे दो विभागों में विभाजित करेंगे। एक तो है शारीरिक श्रम और दूसरा मानसिक जो कि बौद्धिक श्रम से लेकर आध्यात्मिक महत्त्व तक पहुँचता है। हमारा शरीर आत्मा का पिंजड़ा है, पिंजड़ा ही नहीं उसे टिकाये रखने वाला अस्थि-मांस-मज्जा का एक विशिष्ट ढाँचा है जो उसके लिए होने पर भी उसी के आधार पर जीवित है। जीवन की सभी क्रियाएँ और चैतन्य शरीर की विभिन्न क्रियाओं में परिणत होते हैं। इस रूप में शरीर न केवल अनुभावों को प्रदर्शित करना है अपितु प्रयत्नकर्त्ता भी है। शरीर का श्रम स्नायविक हलचल तक सीमित होने के साथ ही वह उनकी पुष्टि में भी सहायक है। अर्थात् शारीरिक श्रम से शरीर के स्नायुओं को पोषण भी मिलता है। हेतु की दृष्टि से शारीरिक श्रम के दो भेद किये जा सकते हैं—

१. श्रम या मजदूरी। २. व्यायाम।

शारीरिक श्रम का 'श्रम या मजदूरी' रूप वही है जो कि उक्त अर्थशास्त्रीय दृष्टि-कोण में देखा है। यह श्रम शरीर को यंत्र-सा बना देता है। जब यह शरीर की शक्ति से बाहर चला जाता है तो सभी स्नायुओं को शिथिल बना देता है और शरीर थककर चूर हो जाता है। किन्तु इससे जो उत्पादन होता है, वह मानसिक आनन्द का प्रदाता बनता है। मन की यह प्रसन्नता शरीर में रक्त के संचार को पुनः पूर्ववत् बनाने में कभी-कभी सहायक बन जाती है। दूसरे इससे जो भौतिक उपलब्धि होती है वह पुनः स्नायविक पुष्टि के लिए आवश्यक चीजों के पीछे खर्च होती है। इससे पुनः शक्ति का संचय होता है। किन्तु शक्ति की क्षीणता और संचय के दोनों पलड़े बराबर नहीं रह पाते हैं, अतः समय के साथ-साथ शरीर क्षीण होता जाता है। इस रूप में श्रम का यह पक्ष जीवन में भौतिक उपलब्धि तक ही सीमित रहता है। इस पर भी इस उपलब्धि का मूल्य या महत्त्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसका महत्त्व हमें तब लगता है जब बेकारी की अवस्था आ जाती है।

श्रम करने की पर्याप्त शक्ति होने पर भी जब मनुष्य को इसके लिए अवसर नहीं

मिलता तो चिन्ता, उद्विग्नता और व्यग्रता के कीट उसके जीवन वृक्ष को कुतर-कुतर कर खोखला बना देते हैं और एक दिन वह वृक्ष मिट्टी में मिल जाता है। ऐसे अवसर पर रूस के संविधान के उन स्वर्णाक्षरों का—Work is our birth right [कार्य (श्रम) हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है] महत्त्व स्पष्ट होता है। ऐसे ही अवसर पर हमें कार्लायल के Work is Worship शब्द जीवन के सत्य के निचोड़ जैसे लगते हैं। ऐसे ही अवसर पर हीगल की Philosophy of Rights के शब्द यथार्थ रूप लेकर हमारे चित्ताकाश पर छा जाते हैं। उनकी गूँज हमारे मुख से यही कहलवाती है कि "व्यक्ति से काम करने का अधिकार छीन लेना उसका जीवन छीन लेने के बराबर है।" बल्कि हम तो एक पद आगे बढ़कर यही कहेंगे कि व्यक्ति से काम करने का अधिकार छीन लेने के स्थान पर बेहतर यही है कि उसका जीवन ही छीन लिया जाय। बगैर श्रम की यह बेकार अवस्था कुतर-कुतर कर सजीव शरीर को दहलाती हुई चिन्ता से तनिक भी अच्छा नहीं है। और इसी से श्रम का महत्त्व भी स्पष्ट हो उठता है।

श्रम न केवल जीवन को जीने योग्य बनाता है अपितु जीवन के सर्वांगीण विकास की चाबी का भी काम देता है। यह जितना व्यक्तिगत उन्नति में सहायक है उतना ही बल्कि उससे भी अधिक सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय उन्नति में भी सहायक है। मार्क्स के सिद्धांत और विचारों के प्रवर्तन के बाद विश्व के सभी श्रमिक अपने आपको एक ही जाति के मानने लगे हैं। वे सब परमपिता के आशीर्वाद पूर्ण नीले छत्र के नीचे अपनी शक्ति को जीवन के उपयोगी रूप में परिवर्तित करने में संलग्न हैं। श्रम ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दीवारें तोड़ दी हैं और जाति के किले भी ढहा दिये हैं। उसने सभी को मानवता के उस शिखर पर ला खड़ा किया है जहाँ से वे इस विश्व को तो क्या अंतरिक्ष तक को भेदने में समर्थ हो गये हैं। आज श्रम के 'बोरिंग' ने संकीर्णता और जड़ता की चट्टानों को भेदकर मानवता का मधुर स्रोत बहा दिया है।

शारीरिक श्रम जब शक्ति की सीमा में बँधा होता है तब तो वह अत्यंत आकर्षक रूप ले लेता है। राम के श्यामल तनु पर ऐसे ही श्रमज बिन्दुमय मोती देखकर साकेत की सीता जी राजहंसिनी से कहती हैं—

अयि राजहंसि, तू तरस तरस क्यों रोती,
तू मुक्ति-वंचिता कहीं मैथिली होती,
तो श्यामल तनु के श्रमज-बिन्दुमय मोती,
निज व्यजन-पक्ष से तू अंकोर सुध खोती,
जिन पर मानस ने पद्म-रूप मुँह बाया,
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया॥

और साकेत की पंचवटी के लक्ष्मण भी सीताजी के श्रम का स्मरण करते करते श्रम के स्वर्गीय महत्त्व का उद्घाटन कर जाते हैं—

अपने पौधों में जब भाभी भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निरातीं जब वे अपनी खेती हैं।

पाती हैं तब कितना गौरव, कितना सुख, कितना संतोष,
स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष ।।

और आज भी जब आबालवृद्ध मिलकर श्रमदान में लग जाते हैं तब हमें उन पर कुबेर का कोष भी न्यौछावर होता हुआ स्पष्ट दिखायी देता है। यही है श्रम का सांस्कृतिक पहलू जो हृदय-हृदय को निकट खींचता है और सामूहिकता का पावन सोता बहाता है।

शारीरिक श्रम का दूसरा रूप है व्यायाम। व्यायाम श्रम के उपर्युक्त प्रकार से अत्यंत मिलता-जुलता है। किन्तु व्यायाम में स्नायविक पुष्टि ही प्रमुख लक्ष्य होने से इसका रूप अलग होता है। जहाँ तक श्रम की सीमा का प्रश्न है यह श्रम का उपर्युक्त द्वितीय रूप ही है, किन्तु स्वरूप में भेद अवश्य है। जहाँ श्रम शरीर के गिने चुने स्नायुओं के संचालन तक ही सीमित है, व्यायाम में प्रत्येक स्नायु के पोषण का उद्देश्य है। उद्देश्य के कारण उसमें जो वैज्ञानिकता आती है उसी से व्यायाम से शरीर क्षीण होने के स्थान पर सुदृढ़ बनता है। शरीर को यह सुदृढ़ता जीवन में चैतन्य, उल्लास, आनन्द और सुख का संचार करती है और यही उसका महत्त्व भी है। परन्तु जब व्यायाम भी सीमा लांघ जाता है तो वह शरीर को क्षीण करने वाला श्रम ही बन जाता है।

मानसिक श्रम आज बौद्धिक श्रम का पर्याय-सा बन गया है। अध्ययन, लेखन आदि इसी के अंतर्गत आते हैं। श्रम के इन रूपों से मानसिक शिथिलत या ऊब पैदा होगी या नहीं यह व्यक्ति की उस कार्य के प्रति रुचि-अरुचि पर विशेष रूप से निर्भर है। मनोविज्ञान की भाषा में यदि इस कार्य में व्यक्ति का ध्यान ऐच्छिक (Voluntary) सेन्द्रिय और बौद्धिक (Sensorial & Intellectual) या अव्यवहित (Immediate) होगा तो वह चित्त की अस्वस्थता का, शिथिलता का या ऊब का अनुभव नहीं करेगा। इस की विरोधी अवस्था में उसके मन की वही दशा होगी जो सीमा से बाहर के श्रम से शरीर की होती है। किन्तु चिन्तन, मनन या एकान्तता इस कोटि में नहीं आ सकते। क्योंकि इसमें अनैच्छिक या व्यवहित ध्यान का प्रश्न ही नहीं रहता। चित्त की एकाग्रता से मनुष्य अस्मिता का आस्वादन करता है और वह इस दशा में डूबे हुए मनुष्य जैसा ही सन्तोष, आनन्द और प्रसन्नता का अनुभव करता है।

इस प्रकार मनुष्य के जीवन में श्रम सुख का प्रदाता है। वह न केवल भौतिक व सांसारिक उन्नति का द्वार खोलता है अपितु मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने में सहायक होता है। चित्त का केन्द्रीकरण या एकाग्रता, साधना की महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है और यही सीढ़ी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर ले जाती है। जीवन का चरम उद्देश्य भौतिक मूल्यों में ही मानने पर श्रम जितना मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है उतना ही वह जीवन के आध्यात्मिक मूल्य की दृष्टि में भी है। इस प्रकार जीवन-तरु का फल चाहे भौतिक हो चाहे आध्यात्मिक, श्रम उस आवश्यक खाद या क्षार का कार्य करता है जिसके अभाव में वृक्ष भले ही मर न जाय किन्तु वह एक ठूँठ से अच्छे रूप में कभी नहीं रह सकता। श्रम के सिंचन से ही उसमें नयी ताज़गी, नवीन उल्लास व नवीन यौवन प्रविष्ट होता है और वह सांसारिक झंझा में भी झुक-झुक कर झूमता है।

त्याग जीवन-तरु के मूल में निहित ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसका महत्त्व श्रम से यदि अधिक नहीं है तो कम भी नहीं है। श्रम जहाँ प्राप्ति का प्रयत्न है त्याग विरक्ति का। भारतीय संस्कृति की इमारत त्याग की नींव पर ही खड़ी है। यहाँ पिता के वचनों पर राजसी सुखों का त्याग करके चौदह वर्ष तक वनवास भोगने वाले रामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम माने जाते हैं, वृन्दावन की करील कुंजों के कण-कण से अनुलिप्त होने पर भी उसका त्याग करके मथुरा और द्वारका में बसकर प्रजापालन में संलग्न श्रीकृष्ण परम पुरुषोत्तम गिने जाते हैं, मानवोत्थान के लिए अपनी प्रिय पत्नी, पुत्र और महल के सुखों का त्याग करने वाले गौतम बुद्ध, भगवान् के रूप में पूजे जाते हैं। सांसारिक सुखों का त्याग करके जितेन्द्रिय बनने वाले महावीर स्वामी भी तीर्थङ्कर के रूप में पूजित होते हैं, ऐसे देश में भला त्याग का महत्त्व क्या समझायें?

राग से मुक्ति का नाम ही त्याग है। राग अनुरक्ति बढ़ाता है। पार्थिव, अपार्थिव चीजों व जीवों के प्रति आकर्षण बढ़ाता है। इसी आकर्षण के फलस्वरूप मन व हृदय उनमें रम जाता है और जाल में बँधे हुए जीव की नाईं उसकी सारी शक्ति, समग्र प्रवृत्तियाँ उसी की ओर होती हैं। और खूबी तो यह है कि यह जाल उसे अत्यंत मधुर लगता है। इसके मधुर पाश में फँसकर वह अत्यंत मधुर ढंग से अपने आपको उसके हाथ में सौंप देता है। साहित्य में इसी को रति कहते हैं। इसके कई प्रकार माने जाते हैं प्रमुखतः देव विषयक रति, देश विषयक रति, दाम्पत्य रति और वात्सल्य रति। रति के उदय से मन की जो अवस्था होती है, त्याग में इससे पूर्णतया विपक्षी। यथा रति के विषय में साहित्य दर्पण में वि वनाथ ने लिखा है—"रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्" अर्थात् प्रिय वस्तु में मन के प्रेमपूर्वक उन्मुख होने का भाव। त्याग में वह वस्तु प्रिय लगने पर भी मन को उससे फेरना होता है। यहीं पर त्याग और विराग में भेद हो जाता है।

त्याग और विराग में स्पष्ट भेद है। जहाँ विराग राग का विरोधी है, त्याग राग के साथ सम्बन्ध रखता है। राग में डूबने के बाद उसे छोड़ना अपनी मधुर वृत्ति को निर्वेद में परिवर्तित करने में या मोड़ने में ही त्याग है। इसीलिए जीवन में त्याग कठिन माना गया है और है भी। विराग की अपेक्षा त्याग दुष्कर भी है और महत्त्वपूर्ण भी। आरंभ से ही सांसारिक वासना और विलास से दूर व्यक्ति का विरागी बनना विशेष कठिन नहीं है। किन्तु जो बचपन से ही संसार के भोगविलास में पलता आया है, मानव हृदय के प्रेमपाश में आबद्ध हुआ है, उसके लिए संसार का त्याग कितना कष्टकर सिद्ध होगा?

त्याग का औदार्य और हृदय की विशालता से अत्यंत गहन संबंध है। हृदय की यह विशालता तथा उदारता बुद्धिपक्ष पर भी अवलम्बित है। भोलाभाला हृदय भावना के तार गूँथता जाता है और दिल में किसी की मूर्ति संजोता जाता है, बुद्धि उसे सारासार का विवेक बतलाती है और केवल सारपूर्ण चीजों को ही ग्रहण करने की चेतावनी देती है। राग और बुद्धि के इसी संघर्ष में त्याग का महत्त्व भी निहित है। यह संघर्ष जितना बड़ा होगा, राग का जाल जितना दृढ़ होगा त्याग भी उतना ही महान् गिना

जायगा। राजसी सुखों के तथा गृहस्थ सुखों के तानेबाने में गौतम बुरी तरह आबद्ध थे किन्तु एक रात की आत्मिक जाग्रति ने उनके यह बंधन काट डाले और वे अत्यंत महान् त्यागी बन गये। शुकदेवजी के त्याग की महानता के मूल में भी यही राग और बुद्धि का संघर्ष है।

राग की ही मात्रा के अनुपात में त्याग की विभिन्न कोटियाँ मानी जा सकती हैं। त्याग हमेशा रागजनित होने से इसका प्रभाव हृदय एवं बुद्धि दोनों पर पड़ता है। ये ही दोनों मानवजीवन के नियंत्रक हैं और इसी कारण से त्याग का मानव जीवन में अत्यंत महत्त्व है। बाल हृदय में राग विलासोन्मुख होता है, उसकी मात्रा कम होती है इसलिए बड़े से बड़ा त्याग भी उसको उतना परिश्रम सिद्ध या कष्टकर नहीं होता जितना बालिगों को होता है। तभी तो अध्ययन के लिए घर या नगर को छोड़कर आश्रमों में जा बसना किसी के लिए कठिन नहीं था किन्तु वे ही रामचन्द्र जब अयोध्या छोड़कर वनवास के लिए चले तो माता-पिता और स्नेही स्वजन की क्या कहें समग्र नगर का आर्तनाद सुना नहीं जाता था—

राम चलत अति भयउ विषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥

किन्तु यदि रामचन्द्र जी इस पर कर्त्तव्यच्युत हो जाते तो? नगर के आर्तनाद से द्रवित होकर वन-गमन न करते तो? इस 'तो' में ही जीवन में त्याग का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। त्याग की बेला अत्यंत असह्य बन जाती है। मनुष्य की सारी संवेदना, चित्त की सारी शक्ति एक असह्य पीड़ा से भन्नाने लगती है। किन्तु प्रसव की असह्य वेदना के बाद ही तो कुल दीपक, दिल के टुकड़े और आँखों के तारे का जन्म होता है न? त्याग का फल भी ऐसा ही होता है।

किन्तु त्याग केवल असार का ही होना चाहिए। सारासार विवेकशून्य मनुष्य यदि असार और दुर्वृत्तियों का त्याग करने के स्थान पर सार और सद्वृतियों का त्याग कर दे तो कभी-कभी अत्यंत अनिष्टकर परिणाम हो जाते हैं। जीवन को हानि पहुँचाने वाले व्यसनों का त्याग सभी अवस्था में लाभकर सिद्ध होता है। किन्तु वासना और भोगविलास के त्याग की एक सीमा होती है। यदि सारा संसार वासना का त्याग कर दे तो संसार-रथ चलेगा कैसे? यदि भोगविलास का सभी संपूर्ण त्याग करके अपरिग्रही बन जायेंगे तो पुरुषार्थ की आवश्यकता कहाँ रहेगी? और सभी शुकदेव, गौतमबुद्ध या महावीर स्वामी बन गये तो समाज और संसार का भविष्य क्या होगा? इसीसे हम यह कह सकते हैं कि त्याग की भी एक सीमा है। ऐसी सीमा रखने से इसका महत्त्व तनिक भी कम नहीं होता। श्री अरविन्द के स्वर में स्वर मिलाते हुए हम भी यही कहेंगे कि "त्याग के तरु पर खिला सुमन ही तो पारिजात पुष्प है।" इस पुष्प के सौरभ से ही राग का संसार भी सुरभित रहता है।

इस प्रकार श्रम और त्याग जीवन तरु को सींचनेवाले, परिपुष्ट करने वाले, पुष्पित और पल्लवित करनेवाले तत्त्व हैं। इनकी नींव पर ही जीवन का भवन भव्य, भव्यतर और भव्यतम बनाया जा सकता है।

संस्कृति और सभ्यता

[श्री रामधारी सिंह 'दिनकर']

जब से भारत स्वाधीन हुआ, हमारे देश में दो प्रवृत्तियाँ बड़े जोर से बढ़ने लगी हैं। एक प्रवृत्ति तो है कल-कारखानों के विकास की ओर दूसरी वह जिससे प्रेरित होकर हम नृत्य, संगीत, नाटक और खेल-कूद में ज्यादा दिलचस्पी लेने लगे हैं। और ये दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से संबद्ध हैं। दिन-भर डट कर काम करने वाला आदमी शाम को मनोरंजन खोजता है। दिन भर धूप में जलनेवाला प्राणी शाम होते ही चाँदनी में घूमना चाहता है, फूलों की गन्ध से मत्त होना चाहता है अथवा नदी के किनारे बैठ कर सब कुछ भूल जाना चाहता है। मन बहलाव का यह कार्य-क्रम संस्कृति के नाम से पुकारा जाता है और भारत के नगरों में संस्कृति का अर्थ नाच, गान और नाटक माना जा रहा है। अगर यह बात ठीक है तो कहना पड़ेगा कि भारत का मन अपनी ऊँचाई से लुढ़क कर नीचे आ रहा है।

नाच, गान, नाटक और खेल-कूद, संस्कृति के भीतर इन सब का स्थान है, किन्तु संस्कृति केवल नाच, गान, नाटक और खेल-कूद तक ही सीमित नहीं है। वह इन सबसे आगे बहुत दूर तक जाती है। बहुत बार सभ्यता और संस्कृति लगभग एक-सी दिखायी देती है, किन्तु, वे एक नहीं हैं। सभ्यता वह वस्तु है जो हमारे पास है। संस्कृति वह चीज है जो हम स्वयं हैं। कल-कारखाने, मोटर, महल, सड़क और हवाई जहाज तथा भोजन और पोशाक, ये संस्कृति नहीं, सभ्यता के उपकरण हैं। किन्तु, भोजन करने और पोशाक पहनने में हम जिस रुचि का परिचय देते हैं, वह हमारी संस्कृति है। इसी प्रकार, कल-कारखाने, मोटर और महल बनाने में हम जिस रुचि से काम लेते हैं उससे हमारी संस्कृति का परिचय मिलता है।

प्रत्येक सुसभ्य व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं होता, क्योंकि संस्कृति का निवास मोटर, महल और पोशाक में नहीं, मनुष्य के हृदय में होता है। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो अच्छी पोशाक में होने पर भी तबीयत से नंगे होते हैं और तबीयत से नंगा होना संस्कृति के खिलाफ बात है। और बहुत-से ऐसे लोग भी हैं जिनके पास मोटर, और महल तो क्या अच्छी पोशाकों का भी अभाव है। किन्तु, उनमें दया-माया, शील-सौजन्य एवं परोपकार की भावना की कमी नहीं है। अतएव, ऐसे लोगों के नाम सुसंस्कृत व्यक्तियों की सबसे ऊपरवाली सूची में लिखे जाने चाहिए। सुना है, दुनिया में आज ऐसे भी समृद्ध

देश हैं जहाँ समाज में सम्मान पाने के लिए कवियों को भी मोटर और बैंक बैलेंस की आवश्यकता होती है। अवश्य ही, ये वे देश हैं जहाँ सभ्यता संस्कृति के माथे पर चढ़ बैठी है। किन्तु, भारत की परम्परा ठीक इसके विपरीत रही है। भारत में राजाओं से बहुत अधिक आदर उन ऋषियों का होता था जिनके पास महल नही थे, रथ और घोड़े व हाथी भी नहीं थे। ये ऋषि सभ्यता के कोलाहल से दूर वनों में रहते थे, वल्कल पहनते थे, मिट्टी के बरतनों में भोजन पका कर केले के पत्तों पर खाते थे और अपने हाथ से मोटा काम करने में उन्हें शर्म नहीं आती थी। आज की परिभाषा के अनुसार इन ऋषियों को सभ्यता के दायरे में गिनना जरा कठिन होगा। किन्तु, सुसंस्कृत तो वे इतने थे कि सारे इतिहास में उनका जोड़ नहीं मिलता।

सभ्यता के पीछे शहरीपन का स्पर्श है; वह नगरों से निकली हुई चीज मालूम होती है। किन्तु, संस्कृति ग्रामों के सहज जीवन की याद दिलाती है। सच पूछिये तो "कलचर" का सही अनुवाद संस्कार नहीं, "कृष्टि" होगा जो कर्षण अथवा खेत जोतने का पर्याय है। मनुष्य की आत्मा भी खेत के समान है। उसके भीतर हल की जितनी ही रेखाएँ खींची जाती हैं, वह उतना ही मुलायम और उर्वर होता जाता है। सभ्यता वहिर्मुखी गुण है। वह शरीर को सजाती है। संस्कृति मनुष्य की आत्मा की चीज है। वह उसे भीतर से कोमल, दयालु और विनम्र बनाती है।

एक तरह से देखिए तो संस्कृति प्रकृति से भी भिन्न गुण है। क्रोध करना प्रकृति है। किन्तु, क्रोध को रोक रखना संस्कृति है। काम का उल्लंघन आचार प्रकृति है। किन्तु, काम को बँधे घाट में बहाना संस्कृति है। प्रतिशोध की भावना प्रकृति है। किन्तु, जहर पचाकर उसे अमृत बना देना संस्कृति का काम है। प्रकृति हिंसा है जिसके लपेट में पड़ी हुई दुनिया बेचैन हो रही है। संस्कृति अहिंसा है जो इस जलते हुए संसार को अग्नि से बाहर लाना चाहती है। सभ्यता बहुत बढ़ी तो एटम बम लेकर खड़ी हो गयी। संस्कृति मनुष्य का वह गुण है जिसके विकसित होने पर यह संहारक बम गुलाब का फूल बन जायगा।

जब तक विज्ञान नहीं आया था, सभ्यता और संस्कृति के बीच वह दूरी नहीं थी जो आज दिखायी देती है। सभ्यता शरीर का गुण है और विज्ञान की सारी सेवाएँ शरीर के लिए हैं। अतएव, विज्ञान की उन्नति से सभ्यता का अति विकास आप से आप हो गया। किन्तु, आत्मा विज्ञान के क्षेत्र से बाहर पड़ती है, इसलिए, विज्ञान का कोई लाभ आत्मा के गुणों को प्राप्त न हो सका। परिणाम यह है कि विज्ञान अपनी शक्तियों से स्वयं भयभीत हो उठा है। आज परिस्थिति यह है कि जिन्होंने एटम और हाइड्रोजन बमों के आविष्कार में सोत्साह भाग लिया था, स्वयं वे वैज्ञानिक ही दुनिया को आगाह कर रहे हैं कि विज्ञान से जो शक्तियाँ निकली हैं वे अत्यन्त घातक हैं और उनकी जाँच-पड़ताल का लोभ हमें छोड़ देना चाहिए। किन्तु, आगाही की यह आवाज केवल उन्हें सुनायी पड़ती है जो छोटे और कमजोर हैं। जो बड़े देश हैं

उनके कान बहरे हो गये हैं। वहाँ सभ्यता संस्कृति की छाती पर चढ़ बैठी है और शरीर ने आत्मा को कुचल कर पाँवों के नीचे दबा रखा है।

सभ्यता के इस अत्याचार से संस्कृति का त्राण कैसे किया जाय, यही वह विषय है जिसे लेकर आज का विश्व चिन्तन अपना मस्तक धुन रहा है। किन्तु, यह त्राण तब तक नहीं मिलेगा जब तक मनुष्य प्राचीन विश्व के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं लाता। ऐसा नहीं है कि मनुष्य का नवीन ज्ञान बिलकुल ठीक और उसका प्राचीन ज्ञान सब का सब गलत है। विज्ञान अधिक से अधिक पिछले दो सौ वर्षों में बढ़ा है, किन्तु, मनुष्य की सभ्यता कम से कम छः हजार वर्ष प्राचीन है। और इन छः हजार वर्षों में मनुष्य ने जो कुछ सोचा उसमें ऐसी बातें भी थीं जो अपनी उपयोगिता के साथ समाप्त हो गयीं और बहुत-सी ऐसी भी हैं जो मरना नहीं जानतीं और जिनका आज भी उपयोग है।

विशेषतः, भारतवर्ष की ओर संसार जिस आशा से देख रहा है उसका लक्ष्य नवीन नहीं, प्राचीन भारतवर्ष है। जैसे नवीन विश्व के नेता अमरीका और रूस में हैं, वैसे ही, प्राचीन विश्व का नेता भारतवर्ष था। किन्तु, नवीनता के साथ लड़ाई में यह प्राचीन विश्व सर्वत्र पराजित हो गया। केवल भारतवर्ष में वह आज भी युद्ध दे रहा है। भारत का यह अतीत महात्मा गाँधी के भीतर से बोला था जो वर्तमान विश्व के सबसे बड़े महापुरुष थे। भारत का यह अतीत विनोबा जी के भीतर से बोल रहा है जो आज हमारे देश में सबसे बड़े विचारक महापुरुष हैं। और भारत का यह अतीत उन सभी वैज्ञानिकों के भीतर से बोल रहा है जो एटम तोड़ने के लिए प्रयोगशाला में जाने के पूर्व भगवान् का ध्यान करने को पूजा-गृह में बैठा करते हैं। ये बातें और कहीं नहीं, केवल भारत में संभव हैं और इन बातों पर हँसने के बजाय हमें गर्व करना चाहिए। अभिनव सभ्यता से पीड़ित संसार भारत की ओर जिस रहस्यमयी आशा से देख रहा है, उसका और कोई कारण नहीं है। उसका कारण सिर्फ यह है कि केवल भारत ही वह देश है जो नवीनता के साथ प्राचीनता को एकाकार करना चाहता है।

किन्तु, भारतवर्ष किस प्रकार अपने को इस योग्य बना सकता है कि वह संसार की इस आशा को पूर्ण कर सके? क्या विज्ञान के त्याग के द्वारा? विज्ञान का त्याग असम्भव है और वह हमारे अर्वाचीन इतिहास की शिक्षा के भी विपरीत होगा। अभिनव भारत का जन्म उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ था और तब से इस देश में विचारों के जो भी नेता हुए उनके आपसी मतभेद चाहे जो भी रहे हों, किन्तु, इस बात में वे सब के सब एक थे कि भारत न तो अपने प्राचीन ज्ञान का त्याग कर सकता है, न यूरोप के नवीन ज्ञान का। भारत की राजनीतिक राष्ट्रीयता उसकी सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की देन है। राममोहन, केशवचन्द्र, रामकृष्ण, विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, एनीबेसेंट, अरविन्द, गाँधी और रवीन्द्र, ये हमारे अर्वाचीन आकाश के

जाज्वल्यमान ज्योतिष्पिंड हुए हैं और ये सब के सब किसी न किसी सीमा तक धार्मिक थे। उनका ज्ञान पश्चिम से किन्तु, उनकी सारी प्रेरणाएँ भारत के अतीत से आयी थीं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि भारत अहिंसा के द्वारा स्वाधीन हुआ और अहिंसा से ही सामंतशाही एवं जमींदारी प्रथाओं का उन्मूलन करके वह समाजवाद की ओर बढ़ रहा है।

जातियों की प्रगति के मार्ग बाहर से नहीं आते, वे उनके सुदूर और निकट के इतिहास से निकलते हैं। भारत की प्रगति के लिए भारत के इतिहास से जो मार्ग निकला है वह धर्म और विज्ञान के समन्वय का मार्ग है, वह राजनीति और संस्कृति के मिलन का मार्ग है, वह प्राचीन और नवीन के आलिंगन का मार्ग है। ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया, कर्म के स्तर पर उसका वही रूप हो सकता था जो उसे गाँधी जी के हाथों प्राप्त हुआ है।

और वर्तमान विश्व यह चाहता भी नहीं कि भारत आँख मूँद कर पश्चिम के समृद्ध देशों का अनुकरण करे। भारत गरीब देश है और गरीबी को दूर करने के लिए जितनी समृद्धि की आवश्यकता है उतनी समृद्धि तो हमें भी चाहिए। किन्तु, केवल आधिभौतिक समृद्धि काफी नहीं है, यह सत्य पश्चिम के प्रयोग से प्रत्यक्ष हो चुका है। भारत अपने इतिहास को सार्थक तभी कर सकता है जब उसमें यह सोचने की ताकत हो कि अभी भी ऐसा कोई उपाय है या नहीं जिससे धर्म और विज्ञान, प्राचीन और नवीन, गाँधी तथा मार्क्स अथवा विनोबा और जवाहरलाल के बीच समन्वय पाया जा सके।

और गाँधी जी विज्ञान के द्रोही थे, यह बात भी कही जाने के योग्य नही है। दुनिया में बहुत-से राजनीतिज्ञ हुए हैं जो धर्म के परिधान में छिप कर चलते थे; गाँधी जी शुद्ध धार्मिक पुरुष थे जिन्हें राजनीति के वेश में रहना पड़ा। वे देह के उत्सव में भूले हुए मनुष्य को आत्मा की याद दिलाने आये थे। विज्ञान के विरुद्ध उन्होंने जो कुछ भी कहा उसका उद्देश्य मनुष्य को यह बताना था कि शरीर ही सब कुछ नही है, कुछ थोड़ी सेवा आत्मा की भी होनी चाहिए; सुख-समृद्धि ही सब कुछ नही है, मनुष्य की असली शोभा उसकी विनयशीलता, अहिंसा और अस्तेय से है।

गाँधी जी भारत के धार्मिक इतिहास के प्रतीक थे और हमारे इतिहास ने अपने को जीवित और चैतन्य सिद्ध करने लिए ही उन्हें उत्पन्न किया था। वे यदि नहीं आते तो भारत का इतिहास झूठा हो गया होता। हिंसा से पीड़ित विश्व में अहिंसा की ज्योति छिटका कर वे हमारे इतिहास को आगामी सदियों के लिए जिला गये हैं। प्रत्येक भारतवासी का धर्म है कि वह गाँधी को समझे, क्योंकि गाँधी भारतवर्ष की सब से नवीन टीका है।

गाँधी वह विनयपूर्ण भाषा है जिसके द्वारा प्राचीन विश्व ने नवीन विश्व को शान्ति का मार्ग बताया है। सभ्यता यानी बाहरी ठाट-बाट की उपासना बहुत हो

चुकी, अब जरा उन गुणों की भी पूजा करो जिन्हें संस्कृति कहते हैं। संस्कृति सुख नही, सदाचार है। संस्कृति ताकत नहीं विनम्रता है। संस्कृति संचय नहीं, त्याग है। संस्कृति विजय नही मैत्री है। और सबसे बढ़ कर संस्कृति की चरम साधना अहिंसा में प्रकट होती है। और अहिंसा केवल अनाघात को नहीं कहते हैं। सच्चा अहिंसक वह है जो विरोधी के मन को भी क्लेश नहीं देता, जो चिन्तन के धरातल पर भी गुस्से में नहीं आता। जो सुसंस्कृत होगा वह यह दुराग्रह नहीं करेगा कि मैं जो कुछ कहता हूँ वह ठीक और दूसरे लोग जो कुछ कहते हैं वह गलत है। संस्कृति अनेकान्त-वादिनी होती है। वह अपना पक्ष भी समझती है और विरोधियों के मतों का भी आदर करती है। जो व्यक्ति सुसंस्कृत होता है वह अपने हृदय की आधी सहानुभूति अपने विरोधियों के लिए सुरक्षित रखता है। सहिष्णुता, सहअस्तिव, संस्कृति और पंच-शील, ये एक ही चीज के अनेक नाम हैं। लोग चाहते हैं कि दुनिया पर बमों से आग न बरसे। किन्तु, यह तो तभी सम्भव होगा जब लोग बहस के समय आँखों से आग बरसाना छोड़ दें।